गगनाञ्चल

वर्ष 22 अंक 3 जुलाई-सितंबर 1999

विश्व हिंदी विशेषांक

छठा विश्व हिंदी सम्मेलन, लंदन
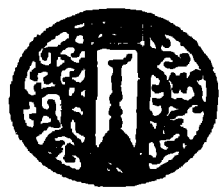
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक

हिमाचल सोम
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक
कन्हैयालाल नन्दन

सहयोगी संपादक
अजय कुमार गुप्ता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 मे परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त सात त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है, जो हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेजी (*इंडियन होराइजन्स और अफ्रीका क्वार्टरली*), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), स्पेनिश (*पपलेस दे ला इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौंत्र अवेक लैंद*) और जर्मन (*इंडेन इन डेर गेगेनवार्ट*) भाषाओं में हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक *'गगनाञ्चल'* से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली-110002

गगनाञ्चल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुज्ञा दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। *गगनाञ्चल में व्यक्त किए गए विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद्* की नीति को प्रकट नहीं करते।

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० 25.00	रु० 100.00	रु० 250.00
US$ 10.00	US$ 40.00	US$ 100.00
£4.00	£16.00	£40.00

उपरोक्त शुल्क दरों का अग्रिम भुगतान "भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली" को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

ISSN 0971-1430

आवरण रेखाचित्र : बी०सी० सान्याल

मुद्रक: विमल ऑफसेट, 1/11804 पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

VASUNDHARA RAJE

MINISTER OF STATE FOR EXTERNAL AFFAIRS
INDIA
विदेश राज्य मंत्री
भारत
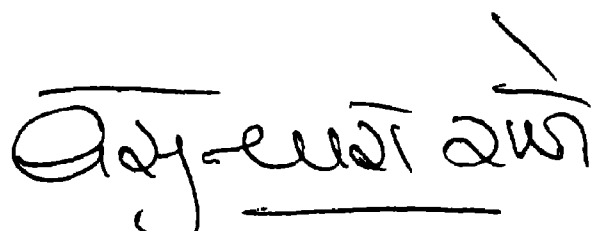
अगस्त, १९९९

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि लंदन (यू०के०) में १४ से १८ सितम्बर, १९९९ तक आयोजित होने वाले छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर गगनांचल का विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है । इस पहल के लिए मैं इसके प्रकाशकों को शुभकामनाएं देती हूं । इस छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन का विशेष महत्व है क्योंकि १४ सितम्बर को हिन्दी को राजभाषा घोषित किये जाने की स्वर्ण जयन्ती है । इन पचास वर्षों में सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग में काफी प्रगति हुई है । समूचे विश्व में इसका प्रचार-प्रसार हुआ है । अब यह केवल भारतीय भाषा नहीं रही है बल्कि विश्व की भाषा बन गई है । समूचे विश्व में फैले भारतीय मूल के लोगों की सम्पर्क भाषा, चाहे वे पंजाबी, गुजराती, मलयाली, तमिल, मराठी अथवा बंगाली भाषा-भाषी क्यों न हों, हिन्दी ही है । अधिक से अधिक विदेशी विद्वान न केवल हिन्दी सीख रहे हैं, अपितु समकालीन हिन्दी साहित्य में अपना योगदान भी दे रहे हैं ।

मैं जानती हूं कि "गंगनांचल" पत्रिका समूचे विश्व में हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने में व्यापक योगदान दे रही है । मुझे इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि आने वाले वर्षों में इस पत्रिका का और विस्तार होगा जिससे विश्व के सुदूर क्षेत्रों में हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार-प्रसार सुनिश्चित होगा ।

वसुन्धरा राजे

(वसुन्धरा राजे)

हिंदी में जो ध्वनि संगीत है, जो शांति का सूक्ष्म झंकार परिव्याप्त है, जो पवित्रता है वो बेजोड़ है। भावी मनुष्यत्व के तत्त्वों से हिंदी परिपूर्ण होगी। भविष्य में संस्कृति का जो नवीन संस्करण होगा, उसे हिंदी अपने में समाहित करेगी।

सुमित्रानंदन पंत

हमें तो हिंदी भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण से साधारण मजदूर से लेकर अत्यंत विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान बहाव से विहार कर सके।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

दुनिया की आत्मा भूखी है, उसे प्रेम चाहिए, संवेदना चाहिए। यह सब भारत के पास है जिसे वह हिंदी के माध्यम से विश्व को दे सकता है।

डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन'

आज भाषा का संबंध विस्तृति से इतना हीं जितना संस्कृति से है। आज संस्कृति के नये दायरे बन रहे हैं। मनुष्य संवेदना की खोज कर रहा है और हिंदी उसकी सेवा में उपस्थित है।

जैनेंद्र कुमार

हिंदी जनसाधारण की भाषा है और बहुजनहिताय के धर्म को निभा रही है। सर्वजनहिताय बनने के लिए और विश्व मानव की भावना के व्यापक प्रसार के लिए उसे अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित किया जाना चाहिए।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोर तक फैलाने में हिंदी का सब से अधिक हाथ रहा है।

श्री वियोगी हरि

प्रांतीय शिक्षा और साहित्य का विकास प्रांतीय भाषाओं के द्वारा ही होगा, लेकिन एक प्रांत दूसरे प्रांत से मिले तो पारस्परिक विचार विनिमय का माध्यम हिंदी ही होनी चाहिए।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

हिंदी हम सबकी परिभाषा

कोटि-कोटि कंठों की भाषा,
जनगण की मुखरित अभिलाषा,
हिंदी है पहचान हमारी,
हिंदी हम सबकी परिभाषा।

आज़ादी के दीप्त भाल की,
बहुभाषी वसुधा विशाल की,
सहृदयता के एक सूत्र में,
यह परिभाषा देश-काल की।

निज भाषा जो स्वाभिमान को,
आम आदमी की जुबान को,
मानव गरिमा के विहान को,
अर्थ दे रही संविधान को।

हिंदी आज चाहती हमसे—
हम सब निश्छल अंतस्तल से,
सहज विनम्र अथक यत्नों से,
मांगें न्याय आज से, कल से।

कोटि-कोटि कंठों की भाषा,
जनगण की मुखरित अभिलाषा,
हिंदी है पहचान हमारी,
हिंदी हम सबकी परिभाषा।

—डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

तीसरे, पांचवें तथा छठे विश्व हिंदी सम्मेलन का बोध गीत, विधिवेत्ता सांसद (राज्य सभा) एवं ब्रिटेन में पूर्व भारतीय राजदूत कवि-चिंतक डॉ० सिंघवी की कलम से।

हिंदी : महात्मा गांधी के शब्दों में

- परभाषा का ज्ञान प्राप्त करने में श्रम करने की अपेक्षा स्वभाषा मे प्रवीणता प्राप्त करने के निमित्त अध्ययन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है।
- देश सेवा करने के लिए उत्सुक सब हैं परंतु राष्ट्रसेवा तब तक संभव नहीं, जब तक कोई राष्ट्रभाषा न हो।
- जैसे अंग्रेज अपनी मादरी जबान अंग्रेजी में बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें।
- साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिंदी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रांत की होगी, तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिंदी राष्ट्र की भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा।
- मेरा नम्र लेकिन दृढ़ अभिप्राय है कि जब तक हिंदी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते तब तक स्वराज की सब बातें निरर्थक हैं।
- मातृभाषा का अनादर मां के अनादर के बराबर है। जो मातृभाषा का अपमान करता है वह स्वदेश भक्त कहलाने लायक नहीं।
- अंग्रेजी भाषा का मोह अभी तक हमारे दिल से दूर नहीं हुआ। जब तक वह नहीं छूटेगा, हमारी भाषाएं कंगाल रहेंगी।
- विदेशी शासन के अनेक दोषों में देश के नौजवानों में डाला गया विदेशी भाषा के माध्यम का घातक बोझ—इतिहास में सबसे बड़ा दोष माना जाएगा। इस माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति हर ली है, विद्यार्थियों की आयु घटा दी है, उन्हें आम जनता से दूर कर दिया गया है और शिक्षण को बिना कारण खर्चीला बना दिया है।

प्रकाशक की ओर से

संसार का कोई भी देश अपनी राष्ट्रभाषा से छिटककर अपनी संपूर्ण पहचान को स्थापित नहीं कर सकता है। राष्ट्रभाषा किसी भी राष्ट्र की वह विशिष्ट वाणी होती है जिसमें वह अभिव्यक्त होती है। भारत जैसे विशाल देश में अनेक भाषाओं और बोलियों के चलते, हमारे संविधान ने यह विवेकपूर्ण निर्देश दिया है कि सरकारी कामकाज की भाषा में हिंदी को अपनाया जाए।

राजभाषा हिंदी को भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की हिंदी पत्रिका के प्रस्तुत अंक में अनेक दृष्टिकोणों, आयामों, सूचनाओं और रचनाओं से सुसज्जित किया गया है। इस वर्ष 14 सितंबर को हिंदी को राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त होने की जहां एक ओर हम स्वर्ण जयंती मना रहे हैं, वहीं इसी दिन लंदन में हम छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन से भी हर्षित हैं। यह हिंदी के लिए शुभतम् दिवस है। हिंदी के इस वसंत काल में *गगनाञ्चल* भी कुछ योगदान दे—इस प्रयास के रूप में प्रस्तुत अंक आपके हाथों में सौंपते हुए परिषद् गौरवान्वित है।

हिंदी के भूत, वर्तमान और भविष्य पर यदि दृष्टि ले जाएं तो यह हमें एक विशिष्ट संस्कारशील तथा साथ ही उस प्रगतिशील एक बड़े कुटुंब की तरह दीखती है जिसमें सब देशी-विदेशी आत्मीयजन रहते हैं। हिंदी का यह स्वजन समूह चाहे भारत के किसी भी प्रांत में, और विश्व के किसी भी देश में रहता हो, वह हिंदी के साथ अपना सगापन नहीं छोड़ता है तथा यही विराट 'हमारापन' हिंदी को नित नया विस्तार देता है। प्रस्तुत अंक में हिंदी के गौरव को दर्शाती कुछ सामग्री दी गई है तो कुछ सामग्री ऐसी भी है जहां हिंदी अपनी भावी चुनौतियों से जूझती नजर आती है। आत्म विश्लेषण की प्रक्रिया से निकलकर ही हम किसी सकारात्मक परिणाम तक पहुंचते हैं। अतः यह अंक हिंदी को लेकर वैचारिक मंथन और सृजन की एक समकालीन झांकी प्रस्तुत कर सके—ऐसा हमारा प्रयास रहा है।

हिंदी में मूल रूप से लिखी गई रचनाओं के साथ-साथ, कुछ अनूदित रचनाएं

इस अंक का अन्य आकर्षण हैं। भारतीय मानस के मर्यादाग्रंथ रामायण पर केंद्रित कुछ सामग्री है तो दुनिया के अन्य देशों में हिंदी की क्या स्थिति/गतिविधियां हैं—इस विषय पर भी सामग्री है। हिंदी की प्रकृति, आकृति और आत्मा की सम्यक् उपस्थिति इस एक अंक में प्रतिबिंबित हो सके—हमारा यह प्रयास सार्थक हुआ है कि नहीं, यह निर्णय हम विवेकशील पाठकों पर छोड़ रहे हैं।

हिंदी दिवस के इन ऐतिहासिक क्षणों में *गगनाञ्चल* की शुभकामनाएं स्वीकार करने की कृपा करें।

हिमाचल सोम

महानिदेशक

संपादक की ओर से

छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन एवं संविधान में हिंदी को भारत संघ की राजभाषा का पद दिए जाने की 50 वीं वर्षगांठ पर विशेष रूप से प्रस्तुत *गगनाञ्चल* के इस अंक में, भारतीय साहित्य के लिए एकमात्र नोबेल पुरस्कार प्राप्त बांग्ला के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दो काव्य-पंक्तियां मंगलाचरण के रूप में देने का मन है:

घर कइनु बाहिर, बाहिर कइनु घर,
पर कइनु आपन, आपन कइनु पर।

अर्थात् घर को हमने 'बाहर' बना दिया है और 'बाहर' को घर; पराये को अपना बना दिया है और अपने को पराया। संकेत आप समझ गये होंगे कि हिंदी के ही हतभाग्य में ऐसा हुआ है।

अपनी मातृभाषा और जन संपर्क की राष्ट्रभाषा, मनुष्य के अस्तित्व में रक्त की तरह दौड़ती हैं। भाषा के विषय में विचार करना हर एक योग्य व्यक्तित्व का मुख्य विषय रहा है। हिंदी के संदर्भ में तो हम कह सकते हैं कि यह प्राय: चिंता और चिंतन का विषय रहा है। समय की अनिवार्य मांग के तहत हिंदी के प्रसंग में हमने उसकी सामर्थ्य एवं सीमा पर सार्थक चर्चाएं की हैं ताकि उसकी समकालीन स्थिति का खुलासा किया जा सके। अगली शताब्दी के द्वार पर हम स्वभाषा की शक्तिशाली दस्तक दे सकें, इसके लिए भी यह अपेक्षित है कि हम हिंदी के विरोधी दांवपेंचों की आज ही खबर लें और हिंदी की सत्ता को सत्यता का सांचा सौंपें। हिंदी की शक्ति, ऊर्जा, संपन्नता, अस्मिता और उसकी चाहना का विश्वव्यापी रूप निखर कर सामने आये, इसके लिए अनेक संदिग्धताओं का कोहरा छांटना जरूरी है और जरूरी यह भी है कि हम हिंदी की अंतरंग दुर्बलताओं के 'सत्यानुरागों' से परिचित हो सकें। हिंदी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वैश्विक भाषा के रूप में मान्यता मिले, यह शुभकामना हमें गौरव से भरती अवश्य है, मगर इस लक्ष्य को अर्जित करने के लिए सरकारी एवं गैरसरकारी प्रयासों के रथ कहां ठहरे हुए हैं, हमें उन बिंदुओं की पहचान करनी है तथा अपेक्षित उपचारी उपाय भी। हम समझते हैं कि असफलता हमें चुनौती देती है। हम उसे इसी रूप में लें। लज्जित तो हमें तब होना पड़ता है, जब असफलता का

झांसा हमें चरम सत्य प्रतीत होने लगता है। हिंदी का आखेट अनेक कारणों से कर सकना संभव लगता है, जिसमें कुटिलताएं, दुर्भाव, कुसंस्कार और संकीर्ण दुराशय जैसे विचार कार्यरत हैं; मगर हिंदी ने अपने जन्मजात पुण्य से, नीतियुक्तता से, सज्जनता से, शील से, उदारता से और सत्संकल्प से विश्व को यह दिखा दिया है कि वह प्रत्येक राष्ट्रनिष्ठ भारतीय की भाषा है, कि अपने व्यवहार में वह आदर्श है तथा सबसे बड़ी बात यह कि संस्कृत की मानस पुत्री होने के कारण देवनागरी लिपि में वह एक पवित्र भाषा है।
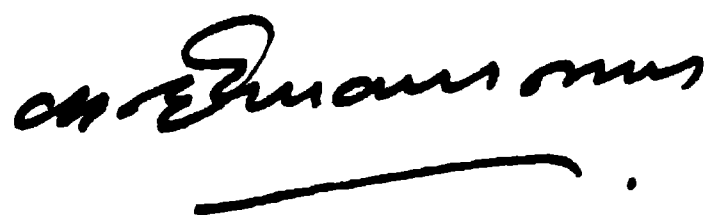
यह एक सर्जनात्मक तथ्य है कि अपनी मातृभाषा में अपने अनुभवों की सूक्ष्मताओं, भावनाओं और अनुभूतियों को जितनी गहनता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है, उतनी गहराई से अन्य किसी भाषा में नहीं। शायद यही कारण है कि अपनी रचना में विश्वासघात की आशंका को टालते हुए, अनेक लेखकों ने मात्र अपनी मातृभाषा में ही लिखना पसंद किया है। परभाषा में सृजन करने के भारतीय अपवाद हमें प्राय: देखने को नहीं मिलते हैं। और इस तथ्य के प्रकाश में देखें तो हिंदी भाषा का रचना समाज अत्यंत विशाल एवं समर्थ समाज है। पिछले दिनों विश्व की एक स्तरीय और अंतरराष्ट्रीय प्रकाशन संस्था ने हिंदी के अनेक रचनाकारों की कालजयी कृतियों के अनुवाद प्रकाशित करके अप्रत्यक्षत: हिंदी की 'अंतरराष्ट्रीयता' को ही प्रमाणित किया है। हिंदी की यह सामर्थ्य क्यों है—यदि इस बात पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि हिंदी मात्र एक राष्ट्रभाषा ही नहीं है, वरन वह मनुष्यता की सर्वोच्च मानवीय अनुगूंजों की अभिव्यक्ति है, जो उसकी अतिसमृद्ध संस्कृति की थाती है। विदेशों के अनेक हिंदी प्रेमी इस तथ्य को अनवरत स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कृति को उसके नैसर्गिक रूप में जानने की जिज्ञासावश उन्होंने हिंदी को सीखने का मन बनाया है।

हज़ार-हज़ार बांहों वाली हिंदी के शीर्ष पर्वतों, मनोरम घाटियों, विशाल समंदरों, विस्तृत कृषि-क्षेत्रों, खुशबूदार फूलों और स्वादिष्ट फलों के इस महादेश में, अपने यथार्थ को पकड़ने की कोशिश में हम महीनों इसलिए जूझे हैं ताकि *गगनाञ्चल* के इस विशेषांक में हिंदी का सम्यक् 'ज़िंदगीनामा' पेश किया जा सके। सामंजस्य और अंतर्विरोधों के इस हिंदीमय वातावरण को बेजोड़ तरीके से सामने लाया जा सके, इसे विश्वस्त बनाया जा सके। इसके लिए आवश्यक था कि हम अपने हिंदी गर्व और गौरव की झांकी प्रस्तुत करने के साथ-साथ उस छद्म अहम् का निषेध भी प्रदर्शित करें, जो हिंदी के प्रचार-प्रसार में बाधक है। हिंदी के क्रमवार विकास को उद्घाटित करती रचनाएं यहां हैं तो विदेशों के परिवेश में हिंदी का आकलन-संकलन भी। हिंदी के व्यक्तित्व का सुदर्शन रूप है तो इसकी यातना-यात्रा के कुछ संकेत भी। इस विशेषांक के रचना खण्ड में हमने देश-विदेश में हिंदी में लिखी जा रही रचनाओं को शामिल किया है। हिंदी की इस विशाल परिक्रमा में जो

अमृत-विष हमें मिले, उन्हें हम अपने विशाल पाठक को सादर प्रस्तुत कर रहे हैं, क्योंकि हिंदी अंततः व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ आवाज है, जो निजी कर्म होते हुए भी, एकाकी कर्म नहीं हो सकता।

इस अंक को हमने हिंदी की वैश्विक स्थितियों के मूल्यों और मान्यताओं के आलोक में तैयार किया है। हम यह ध्यान दिलाना चाहते हैं कि *गगनाञ्चल* ऐसे विशिष्ट देश की विशिष्ट भाषा की प्रतिनिधि पत्रिका है, जिसमें जन्म, मृत्यु और सौंदर्य—सबको जीवन की अर्थवत्ता से संबंधित होने का सलीका ज्ञात है। संभवतः रचना का उद्गम यहां बौद्धिक ऐश्वर्यता से संचालित नहीं होता, बल्कि पीड़ा से होता है। इसीलिए कवींद्र रवींद्र की पंक्तियां शुरू में ही उद्धृत की गयी हैं। फिर भी हिंदी का समकालीन परिदृश्य हमें आशान्वित करता है कि अगली सदी में हिंदी भाषा को हम विश्वभाषा का अभिन्न अंग अवश्य बना सकते हैं।

अपने सभी रचनाकार अग्रजों एवं मित्रों का मैं हृदय से आभारी हूं कि उन्होंने इस अंक के लिए हमारे आग्रह की रक्षा की और रचनात्मक सहयोग दिया। विशेषकर उन रचनाकारों के जिन्होंने इतने कम समय में अपना आलेख हमें भेजा, इतने कम समय में तो लोग प्रायः पत्रों के उत्तर भी नहीं दे पाते हैं। इस अंक में पाठक पाएंगे कि विश्वभर में कितने-कितने लोग अभी भी चाव से हिंदी पढ़ रहे हैं, पढ़ा रहे हैं। हिंदी के इस विस्तृत कैनवास को समेटते हुए, विभिन्न दृष्टिकोणों और आयामों के लेख इस अंक में समाहित हैं। हिंदी सेवी विश्व अपनी संपूर्ण तस्वीर के साथ हमारे सामने है। यह प्रयास *गगनाञ्चल* के रूप में लंदन में हो रहे छठे विश्व हिंदी सम्मेलन तथा राजभाषा की स्वर्ण जयंती के ऐतिहासिक अवसर पर आपके हाथों में सौंपते हुए हमें अपार प्रसन्नता है।

कन्हैयालाल नन्दन
संपादक

मेरी दृष्टि में हिंदी सदा से आधुनिक रही है। हिंदी का देश ही भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है। हिंदी उन संगमों से ही विकसित हुई है। अतः वह संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाए रखा, भारतीयता के बोध को जीवित रखा। वह विकासमान संस्कारों और पनपते विद्रोहों की भाषा रही है: किसी क्षेत्र की सांप्रदायिक भाषा नहीं। कभी आगरा-मथुरा को, कभी कलकत्ता-बंबई-को, कभी दिल्ली को केंद्र बनाकर वह सारे देश के संस्कारों और परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है। आधुनिक का संस्कार सदा इसके साथ रहा है। हिंदी का यह परंपरागत दायित्व है कि वह जिस अर्थ में आधुनिक थी, उसी अर्थ में आधुनिक बनी रहे।

अज्ञेय

अनुक्रम

हिंदी: विचार खण्ड

हिंदी: रचना खण्ड

हिंदी
विचार खण्ड

हिंदी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौंदर्य इसमें लाना चाहिए। हिंदी ही हमारे एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है।

डॉ० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

पूरे राष्ट्र में हिंदी को एक संपर्क भाषा के रूप में देखने का जो हमारे पूर्वज नेताओं का सपना था, हमें हर हाल में पूरा करना चाहिए और क्षेत्रीय भाषाओं को भरपूर इज्जत देनी चाहिए।

कुमुदबेन जोशी

हिंदी का विकास इस तरह हो कि देश के प्रत्येक भाग के लोग इसे अपनी भाषा समझें और तभी वह स्वर्णिम दिन आएगा जब वह राष्ट्रभाषा के रूप में पूजित होगी।

डॉ० कर्ण सिंह

हिंदी की विविधता तो नवीनता का सामंजस्य है। यही उसकी विशेषता है।

राष्ट्रकवि माखनलाल चतुर्वेदी

हिंदी भाषा और उसका साहित्य

महावीरप्रसाद द्विवेदी

महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938) हिंदी के श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से उन्होंने अनेक वर्षों तक हिंदी की विलक्षण सेवा की है। भाषा, विज्ञान, आलोचना, इतिहास, जीवनी, अनुवाद, कविता, कहानी, दर्शन आदि की उनकी लगभग 85 पुस्तकें प्रकाशित हुईं। हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक दो दशकों को 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है।

फरवरी-मार्च 1903 की 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके लंबे आलेख के प्रमुख अंश यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इस निबंध में द्विवेदी जी जहां हिंदी रचना और भाषा के उदय काल की खोज करते हैं वहीं अपने समय की हिंदी की भाषागत आवश्यकताओं को भी रेखांकित करते हैं।

पहले हम 'हिंदी' शब्द की उत्पत्ति का विचार करना चाहते हैं। हिंदी के दो अर्थ हैं। एक 'हिंदुओं की भाषा'; दूसरा 'हिंद (हिंदुस्थान) की भाषा'। ये दोनों अर्थ बहुत व्यापक हैं। दोनों ही यह सूचित करते हैं कि इस देश की प्रधान भाषा हिंदी ही है। यदि इसे हिंद की भाषा मानें तो यह सारे देश की भाषा हुई, और यदि हिंदुओं की भाषा मानें तो सारे हिंदुओं की भाषा हुई। हिंदू ही इस देश में और जातियों से अधिक बसते हैं। इसलिए, पहले अर्थ में भी हिंदी की व्यापकता का गौरव, किसी प्रकार, कम नहीं। क्योंकि ऐसा कौन प्रांत है जहां हिंदू नहीं? और ऐसी कौन जाति है

जो हिंदी नहीं समझती! अतः, इस देश की यदि कोई भाषा हो सकती है तो वह हिंदी ही है।

'हिंद' शब्द फ़ारसी भाषा का है। जान पड़ता है 'हिंद' ही से अंगरेज़ी 'इंडिया' शब्द की उत्पत्ति हुई है। फ़ारसी शब्द 'हिंद' बहुत पुराना है। उसका प्रचार, इस देश में, मुसलमानों के द्वारा हुआ। संभव है, इस देश के निवासी हिंदुओं के ही नामानुकूल फारसवालों ने 'हिंद' शब्द की उत्त्पत्ति की हो। संस्कृत के व्याकरण के अनुसार 'हिंदी' शब्द की उत्त्पत्ति का करने में पहले 'हिंदू' शब्द को सिद्ध करना पड़ेगा, क्योंकि हिंदुओं ही की भाषा का नाम 'हिंदी' है। संस्कृत में एक धातु 'हिसि' है। उसका अर्थ 'हिंसा करना' है। इस 'हिसि' धातु से कर्त्तार्थक प्रत्यय करने से 'हिन्' और 'हिंसक' आदि शब्द सिद्ध होते हैं। इन शब्दों में 'खंडन' और 'परिताप' अर्थ के बोधक 'दो' और 'दूङ्' धातुओं के योग से क्रमशः 'हिंदु' और 'हिंदू' शब्द सिद्ध होते हैं। अतएव 'हिंदू' शब्द का धात्वर्थ 'हिंसा करनेवालों को खंडन करने अथवा संताप पहुंचानेवाला' हुआ। यह उपपत्ति इस देश के सब मतवालों के अनुकूल जान पड़ती है। वेदांत आदि षड्दर्शन तथा वैदिक, बौद्ध और जैन सिद्धांतों के अनुयायी, सभी, व्यर्थ हिंसा न करना अपने मत का एक प्रधान अंग मानते हैं। अतएव हिंसा करने वालों से प्रतिकूलता करना उनके लिए स्वाभाविक ही है। 'हिंदू' शब्द का प्रयोग संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है।

व्याकरण से जब 'हिंदू' शब्द सिद्ध हो गया तब हिंदुओं की भाषा 'हिंदी' आप ही सिद्ध हो गई। उसके पृथक् सिद्ध करने की आवश्यकता न रही। तथापि वह एक दूसरे प्रकार से भी सिद्ध हो सकती है। यथा—'हिंदू' शब्द से, स्त्रीलिंग में तद्धित प्रत्यय करने से 'हैंदवी' शब्द हुआ। उसके अपभ्रंश 'हिंदवी', 'हिंदुई'। होते-होते इसी 'हिंदुई' का 'हिंदी' हो गया।

इस देश में बोली जाने वाली भाषाएं दो बड़े-बड़े भागों में विभक्त हैं—एक आर्य्य भाषा, दूसरी द्राविड़ भाषा।

द्राविड़ भाषाओं में कनारी, तामिल, तैलंगी और मलयालम मुख्य हैं। ये भाषाएं मदरास की ओर बोली जाती हैं। जहां से आर्य्य भाषा की उत्पत्ति है वहां से, द्राविड़ भाषा की उत्पत्ति नहीं, इसलिए आर्य्य और द्राविड़ ये दो विभाग करने पड़े।

आर्य्य भाषा के मुख्य सात विभाग हो सकते हैं। यथा : हिंदी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया और बंगला। इनके अतिरिक्त और भी कई विभाग किए जा सकते हैं, परन्तु वे विभाग गौण और इन्हीं सातों के अंतर्गत आ जाते हैं। इन सातों भाषाओं में हिंदी सबसे प्रधान है। पूर्व में गण्डक नदी से लेकर पश्चिम में पंजाब तक, और उत्तर में कुमायूं से लेकर दक्षिण में विंध्याचल पर्वत के भी उस पार तक की प्रचलित भाषा हिंदी ही है। सच तो यह है कि हिंदी बोलनेवालों की सीमा नहीं बांधी जा सकती। वह देश-व्यापक भाषा है। उसके बोलने और समझनेवाले किस प्रांत में नहीं?

आदि में इस देश की भाषा संस्कृत थी। विद्वानों का अनुमान है कि आज से कोई 2500 वर्ष पहले सर्वसाधारण के बोलचाल में इस भाषा का प्रयोग उठ गया। उसके अनंतर प्राकृत भाषाओं का प्रचार हुआ। जो प्रकृति—स्वभाव—से उत्पन्न हो उसे प्राकृत कहते हैं। अर्थात् ये प्राकृत भाषाएं स्वाभाविक रीति पर, आप ही आप, संस्कृत से उत्पन्न हो गई थीं। इन प्राकृत भाषाओं के कई भेद हैं। उनमें महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी अर्थात् पुरानी पाली, पैशाची और अपभ्रंश ये पांच मुख्य हैं। यद्यपि संस्कृत की बोलचाल उठ गये हजारों वर्ष हुए, तथापि विद्वान् लोग अपने ग्रंथ इसी भाषा में लिखते रहे और अब तक भी लिखते हैं। संस्कृत भाषा के प्रवीण पंडित इसे, समय पड़ने पर, बोलते भी हैं। परंतु गौतम बुद्ध ने सर्वसाधारण को अपने उपदेश प्राकृत ही में दिये। बौद्ध-संप्रदाय के ग्रंथ भी प्राकृत ही में हैं। जो प्रजामात्र की भाषा हो उसी में उपदेश देना और उसी में ग्रंथ लिखना हितकर होता भी है। इस समय, हमारी भाषा हिंदी है। अतएव विचारने की बात है कि यदि देहली दरबार का वृत्तांत संस्कृत में लिखा जाए तो वह कितना लाभकारी होगा और उसे कितने लोग समझ सकेंगे?

हिंदी भाषा में कई प्राकृत भाषाओं के बीज हैं, परंतु विशेष करके वह सौरसेनी से उत्पन्न हुई है। प्राचीन समय में मथुरा और उसके आसपास का प्रदेश 'सूरसेन' कहलाता था। इसी प्रदेश की भाषा का नाम सौरसेनी था। स्वाभाविक रीति पर फेर-फार होते-होते इसी सौरसेनी से हिंदी उत्पन्न हुई और क्रम-क्रम से वह रूप प्राप्त हुआ जिस रूप में हम उसे, इस समय, देखते हैं। प्राकृत भाषाओं में भी अनेक शब्द संस्कृत के विद्यमान थे। उनमें से अनेक शब्द हिंदी में भी वैसे ही बने हुए हैं और प्रतिदिन बोलचाल में आते हैं। उदाहरणार्थ, माता, पिता, पुत्र, कवि, पंडित, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि। बहुत शब्द प्राकृत के भी अपने पूर्व-रूप में बने हुए हैं, परंतु विशेष करके वे परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। प्राकृत के परिवर्तित शब्द अनेक हैं। उदाहरण के लिए हम यहां दो-चार शब्द लिखते हैं :

हिंदी	**प्राकृत**	**संस्कृत**
काम	कम्म	कर्म्म
कान	कण्ण	कर्ण
आठ	अट्ठ	अष्ट
हाथ	हथ्थ	हस्त
बात	वत्ता	वात्त
आज	अज्ज	अद्य
आग	अग्गि	अग्नि
दूध	दुद्ध	दुग्ध

संपर्क से भाषाओं में परिवर्तन हुआ ही करता है। सहवास के अनुसार गुण-दोष आ ही जाते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। हिंदी में संस्कृत और प्राकृत शब्दों के मेल के सिवा, मुसलमानों के संपर्क से अनेक शब्द, फ़ारसी, अरबी और तुर्की तक के आ गये हैं। इस देश में योरप से पहले-पहल पोर्त्तगीज़ लोग आये। उन्होंने भी कुछ शब्द हिंदी में प्रविष्ट कर दिये। उनके द्वारा प्रयोग किए गए 'कैमरा' (Camera) का 'कमरा' हो गया और हैमर (Hammer) से 'हथौड़ा' की उत्पत्ति हुई। अंगेरज़ों के योग से तो अनेक शब्द नये बने और प्रतिदिन बनते जाते हैं। 'अपील', 'डिगरी', 'इंच', 'फुट', 'जज', 'डाक्टर', 'कमिश्नर', 'अस्पताल', 'बोतल' इत्यादि शब्द अब हिंदी बन बैठे हैं और गांवों में स्त्रियां और लड़के तक उनको बोलते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह हमारी हिंदी संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पोर्त्तुगीज़ और अंगरेज़ी आदि भाषाओं की खिचड़ी है। ऐसा होना कोई लज्जा अथवा हानि अथवा दोष की बात नहीं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार, संपर्क से, भाषाओं में परिवर्तन हुआ ही करता है। इस जगत् में ऐसी एक भी भाषा न होगी जिसने किसी अन्य भाषा का एक भी शब्द न ग्रहण किया हो।

कोई-कोई हिंदी को नागरी कहते हैं। यह उनकी भूल है। नागरी कोई भाषा नहीं। नागरी एक लिपि विशेष का नाम है। नागर अक्षरों में जो लिपि लिखी जाती है उसे नागरी कहते हैं। नागरी अक्षरों में हिंदी, फ़ारसी, बंगला, गुजराती इत्यादि सभी भाषाएं लिखी जा सकती हैं। अतएव यह स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी एक भाषा का नाम है और नागरी एक लिपि का।

हिंदी-साहित्य का काल-निर्णय करने के विषय में हिंदी लेखकों में कई बार वाद-विवाद हुआ है। इस प्रकार के वाद-विवाद से हम कोई विशेष लाभ नहीं देखते। यह एक अत्यंत गौण विषय है। मुख्य विषय साहित्य की उन्नति करना है। हिंदी का साहित्य बड़ी ही दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है। उसकी अभिवृद्धि करने की इच्छा से अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखना इस समय अत्यावश्यक है। हिंदी बोलनेवालों का यह परम धर्म्म है। काल-निर्णय के संबंध में शुष्क विवाद करते बैठना व्यर्थ काल-क्षय करना है।

हिंदी-साहित्य के, कई प्रकार से, कई भाग हो सकते हैं। हम समझते हैं कि यदि उसके—प्राचीन, माध्यमिक और आधुनिक—ये तीन ही विभाग किये जायें तो भी उसकी विभाग-परंपरा नहीं बिगड़ सकती। ये तीन विभाग इस प्रकार किये जा सकते हैं :

1. प्राचीन—1200 से 1570 ईसवी तक
2. माध्यमिक—1570 से 1800 ईसवी तक
3. आधुनिक—1800 से आज तक

प्रामाणिक रीति पर इसका, इस समय, पता लगाना बहुत कठिन है कि कब प्राचीन हिंदी प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई, अथवा कब प्राचीन हिंदी के साहित्य की सृष्टि

हुई, और किस विषय की कौन पुस्तक पहले-पहल लिखी गई। अवंती के राजा मान के यहां 826 ईसवी में पुष्प नामक एक कवि था। सुनते हैं उसी ने पहले-पहल हिंदी में कविता की। राजपूताना में वेणा नामक एक हिंदी का कवि 1198 ईसवी में हो गया है। जगनिक कवि, वेणा के भी पहले, अर्थात् 1180 ईसवी में विद्यमान था। परंतु इन कवियों का एक भी सर्वमान्य ग्रंथ नहीं पाया जाता। किसी-किसी का उल्लेख राजस्थान में है; किसी का कहीं, किसी का कहीं; किसी के दो-चार पद्य मिले भी तो उससे वह ग्रंथकार नहीं कहा जा सकता। इन बातों से इतना अवश्य जाना जाता है कि हिंदी की कविता नवीं शताब्दी में होने लगी थी। अतएव, जब तक और प्राचीन पुस्तकें उपलब्ध न हों तब तक बारहवीं शताब्दी में होनेवाले चन्द ही को प्राचीन हिंदी के साहित्य का पिता कहना पड़ता है। चन्द का 'पृथ्वीराज रासौ' ही, इस हिसाब से, प्राचीन हिंदी का प्रथम ग्रंथ है। परंतु इस ग्रंथ की छंदोरचना और आलंकारिक वर्णन की प्रणाली इस बात का साक्ष्य अवश्य देती है कि चन्द के पहले हिंदी के और कवि हो चुके हैं।

यद्यपि 'पृथ्वीराज रासौ' के अनेक स्थलों में सरस और चित्त को उत्तेजित करने वाले वर्णन हैं, तथापि सब बातों का विचार करके यही कहना पड़ता है कि उसमें शब्दों का प्राचुर्य्य अधिक और अर्थ का प्राचुर्य्य कम है। प्राचीनता के विचार से रासौ हिंदी बोलनेवालों के आदर का पात्र है। इतिहास के विचार से भी वह उपादेय है। इन बातों को सभी स्वीकार करेंगे। परंतु काव्यांश में वह हीन है। इसका कारण एक तो यह है कि उसकी प्राचीन भाषा, जिसमें ट वर्ग और द्वित्व से अधिक काम लिया गया है, कान को अच्छी नहीं लगती। दूसरा कारण यह भी है कि पढ़ने के साथ ही, सब कहीं, अर्थ का तत्काल बोध न होने से उसे पढ़कर मन मुदित नहीं होता। वीर रसात्मक काव्य होने के कारण, संभव है, चन्द ने जान-बूझकर ट वर्ग अधिक प्रयोग किया हो और रचना में कठोरता उत्पन्न करने के लिए अक्षरों को द्वित्व भी शायद जान-बूझकर ही प्रदान किया हो।

नामदेव, कबीर और दादू इत्यादि भक्तों ने भी हिंदी साहित्य के इसी विभाग के अंतर्गत पद्य-रचना की है। कबीर और दादू की कविता का बड़ा आदर है, परंतु इनकी कविता सरल नहीं। दादू के कोई-कोई पद्य बहुत ही अच्छे हैं। यद्यपि वे प्राचीन हैं तथापि कहीं-कहीं उनकी कविता में प्राचीनता के विशेष चिह्न नहीं, गुरु नानक का आदि ग्रंथ (अर्थात् गुरु नानक से लेकर गुरु अर्जुन तक का संग्रह) भी हिंदी साहित्य ही के अंतर्गत समझना चाहिए, क्योंकि उसकी भाषा पंजाबी की अपेक्षा प्राचीन हिंदी से अधिक मिलती है। गुरु नानक की मृत्यु 1538 ईसवी में हुई। कबीर, दादू और नामदेव, ये तीनों महात्मा गुरु नानक से पहले हुए हैं। इनके अतिरिक्त 1200 और 1570 ईसवी के बीच मीराबाई, साङ्गंधर और राना कुम्भ इत्यादि कई और कवियों ने भी कविता की है, परंतु रासौ के समान उनके ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं हैं। हां, 1560 में मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' नामक एक अच्छा काव्य बनाया। वह अब तक

आदर के साथ पढ़ा जाता है। उसकी भाषा रासौ की भाषा के समान यद्यपि क्लिष्ट नहीं, तथापि हिंदी के माध्यमिक साहित्य में गिने जाने के योग्य सरल भी नहीं।

प्राचीन हिंदी-साहित्य में गद्य का तो नाम ही न लीजिए। पद्य में भी दो ही चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। भाषा के वाङ्मय की समग्र सामग्री को साहित्य कहते हैं, दो-चार काव्यों को नहीं। परंतु हमारे प्राचीन साहित्य की सामग्री बहुत ही थोड़ी है।

हिंदी साहित्य के माध्यमिक विभाग में उसकी विशेष उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, ब्रजवासीदास, बिहारीलाल इत्यादि प्रसिद्ध कवि इसी समय हुए। यदि इनके ग्रंथ निकाल लिये जायें तो हिंदी भाषा के साहित्य में प्राय: शून्य ही रह जाय। इस काल में दो-एक ऐसे भी कवि हुए हैं जिनकी भाषा तुलसीदास आदि की भाषा से नहीं मिलती। परंतु इन कवियों की प्रयोग की गई भाषा ऐसी नहीं है कि वह चन्द की भाषा से मिलती हो। अतएव हिंदी के प्राचीन साहित्य की भाषा के साथ उसे आसन नहीं दिया जा सकता।

इसी समय नाभा जी ने अपना 'भक्तमाल' बनाया। माध्यमिक काल में ब्रजभाषा ने यद्यपि कवियों पर अपना पूरा-पूरा अधिकार जमा लिया था और उस भाषा में ऐसे-ऐसे ग्रंथ निकलने लगे थे जो सर्वसाधारण की समझ में आ जायें, तथापि नाभा जी में यह बात नहीं पाई जाती। उनकी कविता बहुत विलक्षण है। किसी-किसी का तो यह मत है कि यदि कृष्णदास और प्रियादास 'भक्तमाल' की टीका न बनाते तो नाभा जी का भावार्थ समझने में बड़ी ही कठिनता उपस्थित होती। दुर्दैववश ये टीकाएं भी विशेष सरल नहीं, तथापि मूल का आशय समझने में थोड़ी-बहुत सहायता देती ही हैं।

इस समय हिंदी के अनेक उत्तमोत्तम कवि हुए। परंतु कविता ही की ओर सबका ध्यान रहा। कवियों का ध्यान कविता के सिवा और किस ओर हो सकता है? छंद, अलंकार, नायिकाभेद आदि पर भी अनेक ग्रंथ, इसी समय, बने। भगवद्भक्तों ने अपने-अपने इष्ट देवता के गुण-गान से गर्भित अनेक पुस्तकें लिखीं। बिहारीलाल ने अपने 700 दोहों में शृंगार रस की पराकाष्ठा कर दी, सूरदास ने अपने पदों में भक्ति की पराकाष्ठा कर दी और भूषण ने अपनी कविता में वीर रस की पराकाष्ठा कर दी। सूर, तुलसी, बिहारी और केशव इस माध्यमिक साहित्य की आत्मा हैं; अन्य सहस्रावधि कवियों के होते हुए भी इनके बिना साहित्य-शरीर को निर्जीव ही समझना चाहिए।

जिस समय ब्रजभाषा के रूप में हिंदी अपना आधिपत्य जमा रही थी उसी समय उसकी एक दूसरी शाखा उससे पृथक् हो गई। इस शाखा का नाम उर्दू है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। उसमें चाहे कोई जितने फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द भर दे उसकी क्रियाएं हिंदी ही की बनी रहती हैं; उसकी रचना हिंदी ही के व्याकरण का अनुसरण करती है। वली और सौदा के काव्यों में जो भाषा है, वही तुलसीदास और

बिहारीलाल के भी काव्यों में है। 'मेरा बाप' के स्थान में 'बाप मेरा' अथवा 'आप के हुक्म से' के स्थान में 'ब हुक्म आपके' करने से कहीं भाषा दूसरी हो सकती है? वही 'बाप', वही 'मेरा', वही 'हुक्म', और वही 'आप' दोनों प्रकार के उदाहरणों में विद्यमान हैं। यदि कोई कहे कि जिसे हम शुद्ध हिंदी कहते हैं वह भी उर्दू ही है तो हम उसे उन्मत्त अथवा भूमिष्ठ कहेंगे। फ़ारसी और अरबी के शब्दों से मिली हुई उर्दू-नामधारिणी हिंदी अभी कल उत्पन्न हुई है। सोलहवीं शताब्दी के पहले उसके साहित्य का नाम तक न था। परंतु नवीं शताब्दी ही में हिंदी में कविता होने लगी थी और बारहवीं शताब्दी के तो ग्रंथ विद्यमान हैं। उर्दू-नामधारिणी हिंदी में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता होने और देवनागरी अक्षरों को छोड़कर फ़ारसी अक्षरों में उसके लिखे जाने से जो लोग उसे एक भिन्न भाषा समझते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। वह कदापि भिन्न भाषा नहीं। वह भी सर्वथा हिंदी ही है। संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होने से जैसे हमारी विशुद्ध हिंदी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती वैसे ही फ़ारसी आदिक विदेशी शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू-नामधारिणी हिंदी भी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती।

जब से मुसलमानों ने इस देश में पदार्पण किया, तभी से फ़ारसी शब्द हिंदी बोलचाल में आने लगे। शब्दों के मेल का आरंभ नवीं शताब्दी में हुआ। यही अनुमान संभव जान पड़ता है। क्योंकि अंगरेजों के आगमन से यदि हिंदी में उनकी भाषा के शब्द बोले जाने लगे तो मुसलमानों के आने पर उनकी भाषा के शब्द भी अवश्य बोले जाने लगे होंगे। परंतु सोलहवीं शताब्दी तक उन शब्दों का प्रयोग लिखने में नहीं हुआ। मुसलमान बादशाहों ने राज्य के दफ्तरों की भाषा फ़ारसी ही रक्खी थी, अत: जिसे अब हम उर्दू कहते हैं उसके प्रयोग की कोई आवश्यकता ही न थी। 1600 ईसवी के पहले जो मुसलमान कवि हुए हैं उन्होंने हिंदी ही में कविता की है, फ़ारसी के छंद:-शास्त्र के अनुकूल प्राय: एक भी छंद उन्होंने नहीं लिखा। जब से टोडरमल ने लगान-संबंधी नये नियम प्रचलित किये और हिंदू अधिकारियों को फ़ारसी पढ़ने के लिए विवश किया, तभी से फ़ारसी शब्द हमारी लिखित भाषा और हमारी बोली में अधिकता से प्रयुक्त होने लगे। अब भी हम देखते हैं कि जब अंगरेजी पढ़े-लिखे इस देश के लोग अपनी भाषा बोलते हैं तब वही अंगरेज़ी शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। हिंदी बोलते समय अंगरेज लोग बहुत ही कम अंगरेज़ी शब्द काम में लाते हैं। यदि उनको कोई हिंदी शब्द स्मरण नहीं आता तभी वे, विवश होकर, हिंदी बोलते समय, अपनी भाषा का शब्द कहकर अपने मन का भाव प्रकट करते हैं।

'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है। उसका अर्थ पड़ाव, डेरा अथवा तम्बू है। जब अमीर तैमूर देहली आया, तब उसने अपने पड़ाव का बाज़ार शहर में लगवा दिया। अतएव देहली का बाज़ार 'उर्दू' कहलाया जाने लगा। तभी से इस शब्द की उत्पत्ति हुई। अकबर के समय में जब अनेक देशों से अनेक जातियों के लोग देहली में एकत्र

होने लगे और प्रतिदिन के हेलमेल से जब उन सबको परस्पर एक-दूसरे से बातचीत करने का काम पड़ने लगा तब एक नये प्रकार की बोली प्रचार में आई और वही क्रम-क्रम से उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

उर्दू के संबंध में हमको, यहां पर, कुछ विस्तार करना पड़ा। यह विषय विचारणीय था; इसीलिए हमको यहां पर इतना लिखना पड़ा। उर्दू का साहित्य भी, एक प्रकार से, हिंदी ही का साहित्य है। अतएव, आगे चलकर, हमको इस साहित्य पर अभी कुछ और लिखना पड़ेगा। पूर्वोक्त कथन से यह सूचित हुआ कि माध्यमिक काल में हिंदी साहित्य के दो भेद हो गये एक ब्रजभाषा का साहित्य; दूसरा उर्दू का साहित्य। इस काल में भी, उर्दू में दो-एक ग्रंथों को छोड़कर, गद्य का कोई ग्रंथ शुद्ध हिंदी में नहीं बना। समस्त साहित्य छंदोबद्ध ही रहा। विशेषता इस काल में इतनी हुई कि चरित, आख्यायिका और मनोरंजक कहानियों की उत्पत्ति कहीं-कहीं होने लगी।

हिंदी के आधुनिक साहित्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ समझना चाहिए। इस काल में मुख्य बात यह हुई कि लल्लूजी और सदल मिश्र ने गद्य में ग्रंथ लिखने की परिपाटी प्रचलित की। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने इस रचना का आरंभ अवश्य किया और उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। परंतु विशेष धन्यवाद के पात्र फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारी डाक्टर गिलक्राइस्ट हैं। उन्हीं ने कई हिंदी और उर्दू के विद्वानों को अपने आश्रय में रक्खा और उनसे अच्छे-अच्छे उपयोगी ग्रंथ गद्य में लिखवाये। अतएव हम लोग, गद्य के संबंध में पूर्वोक्त डाक्टर साहब के विशेष कृतज्ञ हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य के संबंध में जो कुछ हुआ है और जो कुछ हो रहा है वह हिंदी के प्रेमियों से छिपा नहीं। इसलिए इस निबंध में हम उसका विचार नहीं करना चाहते। समाचारपत्र, मासिक पुस्तक, उपन्यास, प्रहसन, नाटक, जीवनचरित और समालोचनाओं का जन्म इसी काल में हुआ। परंतु, जहां तक हम जानते हैं, साहित्य का वर्णन पुस्तकाकार आज तक किसी हिंदी के ज्ञाता ने नहीं किया। हिंदी की दशा बड़ी ही दीन हो रही है। अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें एक भी हिंदी ग्रंथ नहीं। अतएव, इस दशा में साहित्य के इतिहास बनने की आशा रखना व्यर्थ है। हम लोगों के आलस्य और निरुत्साह की सीमा नहीं। अपनी मातृभाषा से हम लोगों को कुछ भी रुचि नहीं। यह बड़े शोक और लज्जा की बात है। हमको पाश्चात्य पंडितों की विद्याभिरुचि और उनके उद्योग को देखकर भी लज्जा नहीं आती। हम यात्रा-संबंधी अथवा इतिहास-संबंधी एक छोटी-सी भी अच्छी पुस्तक नहीं लिख सकते; परंतु फ्रांस के विद्वान् दस हजार मील दूर बैठकर हमारी हिंदी भाषा का इतिहास लिखते हैं। एम० गार्सन डिट्रासी फ्रांस के निवासी थे। उन्होंने हिंदी भाषा का इतिहास लिखा है। यही नहीं, किंतु 1850 से 1877 ईसवी तक इस भाषा में जो कुछ परिवर्तन हुआ और जो-जो समाचारपत्र अथवा पुस्तकें नाम लेने योग्य निकलीं उनकी भी आलोचना उन्होंने

की है। हार्नले, बीम और ग्रियर्सन साहबों ने भी हिंदी के संबंध में कुछ कम नहीं लिखा। परंतु हम लोग मुंह फैलाये बैठे हैं। कहीं दो-चार उपन्यास लिखकर पेट पालने का हमने यत्न किया; कहीं एक-आध 'मोहिनी' अथवा 'रोहिणी' नामक मासिक पत्रिका लिखकर अपनी विद्वत्ता प्रकट की; कहीं कभी वर्ष-छः महीने के लिए एक समाचारपत्र निकालकर संपादक बन बैठे! बस यही किया!! और कुछ नहीं!!!

आधुनिक काल में जो कुछ उन्नति हिंदी की हुई उसके विशेष कारण पंडित वंशीधर वाजपेयी, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद और पंडित प्रतापनारायण इत्यादि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखक हैं। जीवन-चरित, नाटक, समालोचना, मासिक पुस्तक और समाचारपत्र इत्यादि लिखना और निकालना पंडित वंशीधर और बाबू हरिश्चन्द्र ही ने हम सबको सिखलाया। जो कुछ इस समय हिंदी में देख पड़ता है उसका सूत्रपात प्रायः उन्हीं ने किया। नागरी-प्रचारिणी सभा भी, अब, इस समय, हिंदी की बहुत कुछ उन्नति कर रही है। उसी के उद्योग से हिंदी को गवर्नमेंट ने कचहरियों में स्थान दिया है।

इस समय देखने में आता है कि जो लोग किसी प्रकार समाचारपत्र अथवा पुस्तक लिखने के योग्य नहीं वे भी हाथ की चपलता दिखाए बिना नहीं रहते। यह बहुत बुरी बात है। मनुष्य को अपनी योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार करके कोई काम करना चाहिए। इस प्रकार के लेखक अपना तो उपहास कराते ही हैं, अपने साथ हिंदी भाषा को भी कलंकित करते हैं। अतएव ऐसे लोगों को लेखनी कदापि न उठानी चाहिए। इस समय जो बुरे-बुरे उपन्यास बनते जाते हैं उनका बनना बंद होना चाहिए। जिस भाषा की उन्नति हुई है उसमें पहले उपन्यासों ही की अधिकता हुई है। औपन्यासिक साहित्य सामान्य मनुष्यों को अधिक मनोरंजक होता है। इसीलिए उसकी चाह अधिक रहती है। हमारा यह कदापि मत नहीं कि उपन्यास की शाखा साहित्य से निकाल दी जाय। हम यह कह सकते हैं कि बेसिर-पैर की बातों से भरे हुए जैसे उपन्यास आजकल निकल रहे हैं उनका निकलना बंद होना चाहिए।

नायिका-भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की इस समय आवश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि 'जसवन्त जसोभूषण' जैसे ग्रंथों से भाषा को कुछ लाभ भी नहीं पहुंचा। यदि इन ग्रंथों के बनाने (अथवा बनवाने) और छपाने में जो धन व्यय किया गया वह जीवन-चरित, इतिहास अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रंथ के लिए व्यय किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सद्व्यय होता। जैसे अंगरेजों ने ग्रीक और लैटिन भाषा की सहायता से अंगरेजी की उन्नति की और उन भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रंथों का अनुवाद करके अपने साहित्य की शोभा बढ़ाई, वैसे ही हमको भी करना चाहिए। इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा-वर्णन, जीवन-चरित और समालोचनाओं की हिंदी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिंदी बोलनेवालों का परम धर्म है। कुछ दिनों से हिंदी के लेखकों का ध्यान

पद्य की भाषा की ओर गया है। अब तक हिंदी का पद्य ब्रजभाषा ही में था। अब बोलचाल की भाषा में भी कविता होने लगी है। इस विषय की ओर पहले-पहल बाबू अयोध्या प्रसाद का ध्यान गया। बोलचाल की भाषा में ही कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हम लोग बोलें एक भाषा और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और भी उत्तम हो।

इस निबंध को समाप्त करने के पहले हिंदी की शाखा उर्दू के साहित्य के विषय में भी हम कुछ कहना आवश्यक समझते हैं। उर्दू की उत्पत्ति यद्यपि देहली में हुई तथापि उसके साहित्य के जन्मदाता अच्छे-अच्छे कवि पहले-पहल दक्षिण के गोलकुण्डा और बीजापुर में हुए। अमीर खुसरू के अनंतर शुजाउद्दीन नूरी ने उर्दू में कविता की। नूरी फैज़ी के मित्र थे। नूरी गोलकुण्डा के नव्वाब सुलतान अबुलहसन कुतुबशाह के मंत्री के पुत्र के शिक्षक थे। नूरी ने अनेक गज़लें कही हैं। 1581 और 1611 ईसवी के लगभग गोलकुण्डा के नव्वाब कुली कुतुबशाह और अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भी उर्दू में कविता की और अनेक ग़ज़लें, रुबाई, मसनवी और क़सीदे बनाये। तहसीनुद्दीन ने 'कामरूप और कला' नाम की मसनवी और इबन निशाती ने 'फूलबन' नाम की कहानी इसी समय के लगभग लिखी। इब्राहीम आदिलशाह ने, बीजापुर में, 1579 से 1626 ईसवी तक राज्य किया। उसने 'नवरस' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम यद्यपि शुद्ध हिंदी है तथापि यह लिखी उर्दू ही में गई। इब्राहीम आदिलशाह के अनंतर अली आदिलशाह के समय में नसरती नामक कवि ने 'गुलशने इश्क' और 'अलीनामा' नाम के दो ग्रंथ लिखे। यह कवि हिंदू था। 'अलीनामा' में उसने अली आदिलशाह का चरित लिखा है।

दक्षिण में सबसे प्रसिद्ध उर्दू के दो कवि औरंगाबाद में हुए; उनके नाम वली और शीराज हैं। वली का काल 1680 और 1720 के बीच में है। वली को तो लोग 'रेख़ता का पिता' (बाबाय रेख़ता) कहते हैं। यह बात सभी मानते हैं कि उत्तरी हिंदुस्तान में उर्दू कविता की जो उन्नति अट्ठारहवीं शताब्दी में हुई, उसका मूल कारण वली ही थे। उन्हीं की कविता को आदर्श मानकर और-और कवियों ने कविता की। औरंगज़ेब के राज्य-काल के अंतिम भाग में वली देहली गये और वहां शाह गुलशन नामक विद्वान् की सलाह से उन्होंने फ़ारसी के कवियों की उक्तियों को उर्दू में लिखना आरंभ किया।

देहली के उर्दू-कवियों में ज़हीरुद्दीन हातिम पहले कवि थे। वे 1699 में उत्पन्न हुए और 1792 में मरे। मीर तक़ी, ख़ान आरज़ू, इनामुल्ला ख़ां और मीरदर्द भी देहली में उर्दू के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उर्दू के कवियों में सौदा और मीर तक़ी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के आरंभ में सौदा का जन्म देहली में हुआ। उन्होंने हातिम से शिक्षा पाई। देहली के बिगड़ने पर सौदा लखनऊ चले गए। वहां

नव्वाब शुजाउद्दौला ने 6000 रुपये साल की जागीर उन्हें दी। वे लखनऊ ही में मरे। उनकी मृत्यु 1780 ईसवी में हुई। उन्होंने कई काव्य लिखे। उर्दू-काव्य में जितने प्रकार हैं प्रायः सबमें उन्होंने कविता की है। सौदा की व्याज-स्तुति (मज़म्मत) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मीर तक़ी का जन्म आगरे में हुआ। परंतु लड़कपन ही में वे देहली चले गये और वहां आरज़ू से कविता सीखी। सौदा की मृत्यु के समय मीर तक़ी देहली ही में थे। 1782 ईसवी में वे लखनऊ गए; वहां उनको भी एक अच्छी जागीर मिली। मीर तक़ी की मृत्यु 1810 ईसवी में हुई। मीर तक़ी ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से 6 दीवान हैं। गज़ल और मसनवी में मीर तक़ी सौदा से भी बढ़ गए हैं; परन्तु क़सीदा और मज़म्मत में सौदा ही का नंबर पहला है। सौदा और मीर तक़ी के समान मीर हसन (1786), मीर मुहम्मद सोज़ (1800) और क़लन्दर बख्श जुरात (1810) भी देहली से लखनऊ चले आये थे। ये भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। मीर हसन-कृत 'सिहरुल् बायन' और 'गुलज़ारेइरम' नामक दो पुस्तकें बहुत हैं। जुरात ने दोहे और कवित्त भी लिखे हैं। मिस्कीन नामक कवि के मरसियों की बड़ी प्रशंसा है। नासिख की मृत्यु 1841 और आतिश की 1847 में हुई। इन दोनों कवियों ने गज़ल लिखने में अच्छा नाम पाया। 'फ़िसाने अजायब' के कर्त्ता रजबअली बेग और अनीस लखनऊ की नव्वाबी के समय के अंतिम कवि हुए हैं। वाजिदअली शाह स्वयं कविता करते थे। कविता में वे अपना नाम अख़्तर देते थे।

देहली के अंतिम बादशाहों ने भी कविता की है। शाहआलम (1761-1806) ने 'मनज़ूमे-अक़दस' नाम का एक उपन्यास लिखा है। एक दीवान भी उन्होंने बनाया है। शाहआलम के लड़के सुलेमां शिकोह ने भी एक दीवान की रचना की है। बहादुरशाह (1862) ने भी कविता की है। उन्होंने शेख इबराहीम ज़ौक़ से कविता सीखी थी। देहली के अंतिम कवियों में मुशफ़्फ़ी का बड़ा नाम है। वे लखनऊ के रहने वाले थे; परंतु 1777 ईसवी में वे देहली चले गये थे। वहां एक कवि-समाज स्थापित करके उन्होंने कविता की बहुत कुछ उन्नति की। आगरे के मीर वली महम्मद (नज़ीर) भी अच्छे कवियों में गिने जाते हैं। नज़ीर के जोगीनामा, कौड़ीनामा, चूहानामा, बनजारेनामा कौन नहीं जानता?

फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के डाक्टर गिलक्राइस्ट ने जैसे लल्लूजी लाल और सदल मिश्र इत्यादि को शुद्ध हिंदी में पुस्तकें लिखने के लिए आश्रय दिया था, वैसे ही कई विद्वानों को उर्दू में पुस्तकें लिखने के लिए भी उन्होंने रखा था। उर्दू लिखनेवालों में से सैयद महम्मद बख़्श (हैदरी), मीर बहादुर अली (हुसेनी), मीर अमनलुत्फ़, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद, शेरअली, क़ाज़िम अली, मज़हर अली और निहालचंद मुख्य थे। इन लोगों ने उर्दू में अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें गुलज़ारे-दानिश, तारीख़े-नादिरी, अख़लाके-हिंदी, बाग़ोबहार, चहारदरवेश, इख़वानुस्सफ़ा, और शकुन्तला नाटक प्रधान हैं।

जिस प्रकार शुद्ध हिंदी के कवि संस्कृत के छंदों का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं उसी प्रकार उर्दू के कवि फ़ारसी के छंदों का प्रयोग करते हैं; उर्दू की कविता में नूतनता बहुत ही कम है। वही-वही बातें बार-बार कही जाती हैं। प्रत्येक कवि बहुधा एक ही विषय का पिष्टपेषण करता है और पुरानी उक्तियों को नये ढंग पर कहने का यत्न करता है। बड़ी-बड़ी मसनवियों में भी कथाप्रसंग का विचार कम, परंतु कहने की प्रणाली और अलंकारों की योजना का विचार अधिक रहता है। गत मनुष्यगणना से यह सिद्ध है कि देवनागरी अक्षरों के जाननेवाले इन प्रांतों में फ़ारसी अक्षरों के जाननेवालों से कई गुने अधिक हैं। उर्दू चाहे कितनी सरल हो, उसमें कुछ न कुछ फ़ारसी शब्दों का मेल होता ही है। इन प्रांतों के ग्रामीण और साधारण मनुष्य संस्कृत के कम कठिन शब्द चाहे समझ भी लें, परंतु फ़ारसी के वे नहीं समझ सकते। क्योंकि फ़ारसी विदेशी भाषा है। संस्कृत, फिर भी, इसी देश की भाषा है।

पिछली मनुष्यगणना की रिपोर्ट के लेखक कहते हैं नागरीप्रचारिणी सभा संस्कृत शब्दों को अधिक काम में लाना ही भाषा को शुद्ध करना समझती है। यह उनकी भूल है। जहां तक हम जानते हैं, सभा कदापि यह नहीं करना चाहती; और न कभी उसने ऐसा करने का यत्न ही किया। सभा ने उलटा, व्यर्थ संस्कृत शब्द लिखने के प्रतिकूल, अपना अभिप्राय प्रकट किया है। साहब के लिखने से जान पड़ता है कि आप 'हुक्म' और 'क़ायदा' इत्यादि शब्दों के समान फ़ारसी के शब्दों से भरी हुई भाषा ही के पक्षपाती हैं। आपने अपनी रिपोर्ट में हिंदी का एक वाक्य लिखा है। वह वाक्य यह है—''परंतु उसमें एक कठिनाई पड़ती थी। मनुष्यमात्र की गणना की अपेक्षा थोड़ी ही गउओं को यह रोग था; इस कारण इस चेप का बहुधा अभाव बना रहता था।''

यह बहुत ही बुरा वाक्य, उदाहरण के लिए चुना गया है। बुरी हिंदी का यह एक अच्छा नमूना है। ऐसा न करना चाहिए था। साहब कहते हैं कि इस वाक्य के जो-जो शब्द मोटे अक्षरों में दिए गये हैं; उनमें से केवल दो शब्द उनके दफ्तर के हिंदू-कर्म्मचारियों की समझ में आए। ये कर्म्मचारी, साहब के कहने के अनुसार, हिंदी नहीं जानते थे। परंतु हमारा अनुमान है कि वे बिल्कुल हिंदी नहीं जानते थे, नागरी अक्षर पढ़ चाहे भले ही सकते हों। इस वाक्य में 'अभाव' और 'मनुष्यमात्र' ये दो शब्द कुछ कठिन हैं, परंतु जिसने थोड़ी भी हिंदी पढ़ी है और तुलसीदासकृत रामायण भी पढ़ता और समझता है, उसे इस वाक्य का अर्थ समझने में कुछ भी कठिनता न पड़ेगी। इसी से अनुमान होता है कि वे कर्म्मचारी हिंदी के नहीं किंतु उर्दू जानने वाले हैं।

पूर्वोक्त रिपोर्ट के लिखने वाले सुपरिंटेंडेंट साहब आधुनिक हिंदी को बोलचाल की भाषा नहीं बतलाते। वे उसे उच्च हिंदी कहते हैं। उनका मत है कि जैसी हिंदी लिखी जाती है वैसी बोली नहीं जाती। साहब स्वयं हिंदी नहीं जानते इसमें कोई संशय नहीं। यदि वे जानते तो पूर्वोक्त वाक्य अपने कर्मचारियों से न पढ़ाते। इस दशा में, उनको हिंदी के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। यह सत्य है कि

कोई-कोई लेखक अपने लेखों में संस्कृत-शब्द बहुत प्रयोग करके भाषा को क्लिष्ट कर देते हैं, परंतु सरल लिखनेवाले भी हैं। फिर एक बात यह भी है कि बोलचाल की भाषा से लिखित भाषा में कुछ अंतर अवश्य होता है। क्या सुपरिंटेंडेंट साहब कह सकेंगे कि जिस भाषा में उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिखी है, उसी प्रकार की भाषा में वे अपनी मेम साहबा अथवा अपने लड़के-लड़कियों से बातचीत करते हैं? अथवा मेकाले, बेकन, लिटन, स्काट, ऐडिसन, बर्फ इत्यादि सब काल, सब कहीं, वैसी ही भाषा बोलते थे जैसी भाषा उन्होंने अपने ग्रंथों में लिखी है? लिखते समय लेख को अधिक मनोरंजक करने के लिए लेखक अच्छे-अच्छे शब्द रखता है; परंतु बोलने के समय इस बात का उतना विचार नहीं किया जाता। फिर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो उच्च भाषा ही में बातचीत करते हैं और उच्च भाषा ही में अपने मन में विचार-संग्रह करके उनको वैसे ही लिखते हैं। अतएव ऐसे विद्वानों के ऊपर जानबूझकर उच्च और अस्वाभाविक भाषा लिखने का दोष नहीं लगाया जा सकता। तथापि, जहां तक हो सके, विषय पर ध्यान रखकर, यथासंभव, सरल ही भाषा लिखना उचित है।

इन प्रांतों में शुद्ध हिंदी जाननेवाले अधिक हैं। जब से गवर्नमेंट ने नागरी अक्षरों का प्रचार कचहरियों में किया तब से सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर अधिक खिंचा है। आशा है बहुत ही शीघ्र इसका अच्छा फल देखने में आवे। परंतु इस भाषा में अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अभाव है। बंगला, मराठी, गुजराती और तैलंगी आदि भाषाओं में, हम देखते हैं, एम०ए० और बी०ए० पास लोग लिखते हैं और ऐसा करना अपना गौरव समझते हैं; परंतु इन प्रांतों के विद्वान् कान में तेल डाले हुए बैठे हैं 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' नामक अंगरेज़ी की पुस्तक को खोलने से दीख पड़ता है कि जो लोग यहां लेफ्टिनेंट गवर्नर, गवर्नर और गवर्नर-जनरल तक रह चुके हैं, उन्होंने भी उस पुस्तक में लेख दिये हैं। अपनी भाषा में लेख अथवा पुस्तकें लिखने से किसी की प्रतिष्ठा कम नहीं हो जाती; उलटा बढ़ती है। परंतु हमारे प्रांतवासी, अपनी लेखनी को घूंघट की ओट में छिपाए हुए हैं; उसे बाहर निकलने ही नहीं देते। यह लज्जा का विषय है; अथवा अपनी भाषा के दुर्भाग्य का विषय है। जिन विद्वानों को लिखने का सामर्थ्य भी है वे भी लेखनी नहीं उठाते। पंडित मदनमोहन मालवीय ने कुछ काल तक हिंदी की संपादकता भी की है और हिंदी-संबंधी पुस्तकें भी अंगरेज़ी में लिखी हैं। आप अनेक देशहितकारी कामों में भी सदा लगे रहते हैं। दूसरों को लिखने-पढ़ने के विषय में उपदेश भी देते हैं। हिंदी-प्रचार के लिए आपने जो उद्योग किया है वह किसी से छिपा भी नहीं है। तथापि, खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वयं एक पंक्ति तक अब आप, हिंदी में, नहीं लिखते। हम जानते हैं, आपको सैकड़ों काम रहते हैं, परंतु यदि वर्ष में आप एक भी लेख लिखें तो औरों के लिए वे उदाहरण हो जाएं; उनको देख कर दूसरे विद्वानों को भी लिखने का उत्साह हो। यदि वे स्वयं नहीं लिख सकते तो अपने परिचित, अपने मित्र, अथवा अपने पड़ोसी

विद्वानों ही को उत्तेजित करके उनसे कभी-कभी लिखवावें; क्योंकि हिंदी के ज्ञाता समर्थ होकर भी यदि उसमें कुछ लिखने का यत्न न करेंगे तो उसकी उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। मालवीयजी के लिए जो कुछ हमने लिखा वह कटाक्ष नहीं; वह उलाहना है। उलाहना भी नहीं, किंतु प्रेमपूर्वक विनय है। उन्हीं से नहीं; किंतु हिंदी लिखने की जिनमें शक्ति है ऐसे अंगरेज़ी में प्रवीण सभी विद्वानों से हमारी यह प्रार्थना है कि जब तक वे अपनी लेखनी का घूंघट न खोलेंगे, जब तक वे अंगरेज़ी के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अनुवाद न करेंगे; जब तक वे उत्तमोत्तम लेख न लिखेंगे, तब तक हमारी मातृ-भाषा हिंदी का दरिद्र दूर न होगा।

□

फरवरी-मार्च 1903 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'साहित्यालाप' में संकलित।

अगर सोचें कि देश की कोई भाषा न हो, तो भी हम देश की एकता को सुरक्षित रख सकेंगे—ऐसा सोचना हमारी भूल होगी। जहां हम चाहते हैं कि क्षेत्रीय भाषा का विकास हो, वहां हम जब तक एक भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में नहीं मानेंगे, तब तक हम देश की भाषा के प्रश्न को ही नहीं, देश की एकता के सवाल को भी हल नहीं कर सकेंगे।

लालबहादुर शास्त्री

स्वाधीनता संग्राम और उसके बाद हिंदी

सीताराम केसरी

भारत के वरिष्ठ राजनेता केसरी जी ने स्वतंत्रता से पूर्व और उसके बाद राजनीति के क्षेत्र में अनथक कार्य किया है। हिंदी की स्थिति पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि आजादी से पहले हिंदी प्रगति पर थी, हिंदी पत्रकारिता भी समृद्ध स्थिति में थी लेकिन आज स्थिति वैसी संतोषजनक नहीं है। हिंदी के इस वर्तमान आरोह-अवरोह पर केसरी जी का आलेख।

हिंदी मेरी मातृभाषा है, इसलिए मैं स्वाभाविक रूप से इस भाषा में बोलता हूं, पढ़ता हूं और सोचता हूं। मेरी दिनचर्या हिंदी में शुरू होकर हिंदी में ही समाप्त होती है। मेरी आंख हिंदी में ही खुली इसलिए दुनिया को देखने, परखने और समझने का काम मैंने हिंदी में ही किया है। जब तक जरूरी न हो अंग्रेजी भाषा का इस्तेमाल नहीं करता हूं। अंग्रेजीपरस्त माहौल में भी मुझे हिंदुस्तानी मिजाज में रहना असहज नहीं लगता है। मैं शान से कहता हूं कि मेरी सारी दुनिया हिंदी में ही गतिशील होती है। यही वजह है कि अपने लोगों से विदेशी भाषा में बतियाना मुझे अटपटा लगता है और इसमें ओछी मानसिकता भी झलकती है। अपनी बोली-भाषा में अपनत्व, प्रेम और आत्मीयता का भाव विद्यमान रहता है जबकि विदेशी भाषा में सिर्फ औपचारिकता होती है। मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि 21वीं सदी में हमारा प्रवेश अपनत्व के सिकुड़ते परिवेश और औपचारिकता के बढ़ते सम्मोहन के साथ हो रहा है। यह सुखद स्थिति नहीं है।

सन् 1930 से लेकर आज तक देश का लगभग हर हिस्सा घूम चुका हूं।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान रेलों, बसों में तथा पैदल चलकर अनेक लंबी यात्राएं की हैं। आए दिन यात्रा पर ही रहना पड़ता था। यहां तक कि जेल-यात्राओं में भी प्रशासन एक जगह ज्यादा देर तक नहीं रखता था। इस तरह भ्रमणशीलता जीवन का हिस्सा बनता गया, इसलिए घूमे-फिरे बिना आज भी चैन नहीं मिलता है। समय-समय पर सारा देश घूमने के बाद मेरा यह विश्वास पुख्ता हुआ कि सचमुच हम भारतीयों की आत्मा एक है। हमारे यहां भाषाई एवं क्षेत्रीय विविधता है। लेकिन संस्कारगत विविधता हमारे यहां नहीं है। देश की जिस भाषा को भी आप बोलते हुए सुनोगे, आपके पढ़े अथवा सुने हुए शब्द आपको जरूर मिलेंगे। यही भाषाई पृष्ठभूमि कहीं न कहीं हमारी सांस्कृतिक एवं संस्कारगत एकता का आधार है जो अंग्रेजी अथवा किसी दूसरी विदेशी भाषा से हमें नहीं मिल सकता है। मेरा मानना है कि अंग्रेजी मंच पर मात्र औपचारिकता है जिसने हमारी सभ्यता और संस्कृति में विकृति का रस घोल दिया है। अंग्रेजों ने हमें विभाजन के कगार पर खड़ा किया और अंग्रेजी हमें भारत की आत्मा से दूर रखने का काम कर रही है।

आज देश की हर पीढ़ी को यही लगता है कि सन् 1947 में अंग्रेजों के साथ यदि अंग्रेजी भी चली गई होती तो हमारी विकास प्रक्रिया पूर्णतः हमारे संस्कारों के आधार पर होती। निस्संदेह अंग्रेजी की जगह वही हिंदी हमारे विकास प्रक्रिया की भाषा होती जिसके सहारे राष्ट्रपिता ने देश के गांव-गांव तक आजादी की अलख जगाते हुए कहा था, 'हमें अपनी सभी प्रादेशिक कार्रवाइयां अपनी-अपनी भाषाओं में चलानी चाहिए तथा हमारी राष्ट्रीय कार्रवाई की भाषा हिंदी ही होनी चाहिए। हिंदी के द्वारा करोड़ों व्यक्तियों में आसानी से काम किया जा सकता है। इसलिए उसे उचित स्थान मिलने में जितनी देरी होगी उतना ही देश का नुकसान होगा।' बापू ने सारे देश में हिंदी में ही वार्तालाप किया था। आजादी के आंदोलन के दौरान ऐसे अवसर भी आए हैं जब बापू ने सिर्फ हिंदी में बात करने की शर्त पर अंग्रेज शासकों की वार्ता की पेशकश को स्वीकारा। उनका तर्क होता कि हिंदुस्तान पर राज करने वालों को कम-से-कम हिंदुस्तान की आम जनता की भाषा में बातचीत करनी तो आनी ही चाहिए।

पीछे मुड़कर देखता हूं तो मुझे लगता है कि आजादी से पहले हिंदी विकास पथ पर निरंतर आगे बढ़ रही थी। आज उसका विकास भले ही रुका न हो लेकिन उसकी गति निरंतर और तेजी से घट रही है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश की आजादी सही मायने में हिंदी में लड़ी गई थी। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान चारों तरफ हिंदी का ही माहौल था। सारे देश के क्रांतिकारियों की संपर्क भाषा हिंदी ही थीं। हिंदी की पुस्तकें और पत्रिकाएं पूरी तरह से आजादी की जंग लड़ रही थीं। 'चांद' पत्रिका का 'फांसी अंक' सत्ता के लिए खतरा बन गया था इसलिए इस अंक को तत्काल जब्त किया गया। क्रांतिकारी हिंदी में लिखे हुए राष्ट्रभक्ति के गीत गुनगुनाते रहते। हिंदी के प्रति चारों तरफ भावनात्मक माहौल था। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल

चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, दिनकर आदि कवियों की क्रांतिकारी कविताएं आजादी के दीवाने याद करते रहते। अहिंदीभाषी क्षेत्रों के कार्यकर्ता भी अपनी मातृभाषा की तरह हिंदी के गीत गाते थे।

अहिंदीभाषी प्रांतों में हिंदी की प्रचार सभाओं की स्थापना हिंदी के प्रति पूरे देश की सहानुभूति एवं स्वीकृति का प्रतीक थी। हिंदी की पत्रिकाएं तथा पुस्तकें पढ़ने की होड़ लगी रहती थी। हिंदी के बड़े पत्रकार तथा साहित्यकार आम लोगों से घुले-मिले रहते थे। वे सारे लोग क्रांतिकारी थे इसलिए सारा साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाएं आंदोलन की धड़कनें बनी हुई थीं। आज कहां गई गंगा, चांद, सरस्वती, हंस (तब की), विशाल भारत, मासिक विश्वमित्र, अग्रदूत आदि पत्रिकाएं जो हर दिल की धड़कन से जुड़ी हुई थीं। मुझे याद है कि पटना से 1937 में रामवृक्ष बेनीपुरी जी के संपादन में 'जनता' नाम से एक साप्ताहिक पत्रिका निकलती थी। हम लोग उसके नए अंक का बेसब्री से इंतजार करते थे। इसी तरह क्रांतिकारी लेखों तथा सामाजिक सरोकार से जुड़ी 'जोगी' पत्रिका थी। आज कहां गईं ये सारी पत्रिकाएं। मध्य प्रदेश से तो असंख्य पत्र-पत्रिकाएं निकलती थीं। तब हिंदी की पत्रिकाएं निकालने में लोगों को आनंद आता था। आज स्थितियां उलटी हैं। बड़े-बड़े प्रकाशन घरानों की सभी प्रतिष्ठित साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाएं बंद हुई हैं। आज अंग्रेजी की पत्रिकाएं बाजार में हैं लेकिन हिंदी की कोई ऐसी प्रतिष्ठित पत्रिका बाजार में नहीं है जिसे चाव और लालसा से पढ़ा जा सके। पहले लोग बड़ी लालसा से पत्रिकाएं और पत्रों के संपादकीय तथा अग्रलेख पढ़ा करते थे। जन सामान्य में भी पढ़ने की गहरी रुचि थी। किस पत्रिका में क्या छपा है, लोगों को इसकी जानकारी रहती थी। आज पत्र-पत्रिकाएं खोजी पत्रकारिता के नाम पर रसहीन राजनीतिक अथवा अपराध से जुड़ी चटपटी खबरों से भरी रहती हैं।

मेरा मानना है कि आजादी से पहले हिंदी प्रगति पर थी। हिंदी पत्रकारिता भी समृद्ध स्थिति में थी लेकिन आज उलट स्थिति है। इस सवाल पर हमें सोचना होगा कि हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिकाएं एक-एक कर बंद क्यों हुईं। देश के विकास के साथ हिंदी का विकास अवरुद्ध किन कारणों से हुआ है। हिंदी आजादी के बाद पहले की तरह अखिल भारतीय संपर्क भाषा के स्तर पर निरंतर क्यों नहीं बढ़ती गई। इस सवाल पर हमें सोचना होगा कि पहले हिंदी बोलने अथवा पढ़ने में जो सम्मान मिलता था उसमें कमी किन कारणों से आई है। हिंदी बोलने वाला और हिंदी की पुस्तकें, पत्रिकाएं अथवा समाचार-पत्र पढ़ने वाले दोयम दर्जे के लोग क्यों समझे जाते हैं। आजादी के बाद हिंदी वालों की प्रतिष्ठा तथा उत्कृष्टता में कमी क्यों आई है?

मैं यह नहीं कहता हूं कि आज प्रतिभाओं का अभाव है, लेकिन मैं यह अवश्य कहूंगा कि आज हिंदी में अच्छे पाठकों की कमी निरंतर बढ़ रही है। पाठकों की वजह से लेखकों को प्रोत्साहन मिलता है। पाठक ही लेखक का प्राण है। लेखक की कुंठा और प्रोत्साहन की कमान पाठक के हाथ में होती है। मेरा मानना है कि पाठक समृद्ध

मानसिकता के होंगे तो लेखक उत्कृष्ट रचनाएं प्रस्तुत करेंगे।

आजादी से पहले हिंदी के प्रसार में बापू के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता है। वे सार्वजनिक मंचों पर हिंदी की उपेक्षा से चिंतित रहते और इस संदर्भ में जो महसूस करते किसी की परवाह किए बिना स्पष्ट कहते थे। 1942 की एक घटना है। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह चल रहा था। मंच पर डॉ० राधाकृष्णन तथा मालवीय जी भी थे। बापू ने कहा —'यहां आकर देखकर मेरे मन में जो चीज पैदा हुई, वह शायद आपको चुभेगी। मेरा ख्याल था कि कम-से-कम यहां तो सारी कार्रवाई अंग्रेजी में नहीं बल्कि राष्ट्रभाषा में ही होगी। मैं यहां बैठा यही इंतजार कर रहा था कि कोई-न-कोई तो आखिर हिंदी या उर्दू में कुछ कहेगा। लेकिन मेरी सब आशाएं निष्फल हुईं।... यहां आते हुए विश्वविद्यालय के प्रवेश द्वार पर नजर गई तो देखा, नागरी लिपि में 'हिंदू विश्वविद्यालय' इतने छोटे अक्षरों में लिखा है कि ऐनक लगाने पर भी नहीं पढ़ पाते पर अंग्रेजी में बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी ने तीन-चौथाई से भी ज्यादा जगह घेर रखी थी। मैं हैरान हुआ कि यह क्या मामला है... अंग्रेजों को हम गाली देते हैं कि उन्होंने हमें गुलाम बना रखा है, लेकिन अंग्रेजी के तो हम खुद गुलाम बन गए हैं। गुलाम बनाए रखने के लिए अंग्रेजों की कड़ी से कड़ी आलोचना मैंने की है लेकिन अंग्रेजी की इस गुलामी के लिए मैं उनको जिम्मेदार नहीं समझता। हिंदी के लिए बापू की भाषा बोलने वाला आज कोई नहीं है। हिंदी वाले भी अंग्रेजी के सहारे आज हिंदी की प्रगति की राह देख रहे हैं। हिंदी जनभाषा के रूप में विस्तार पाती रहे ताकि बापू के सपने को साकार करने की प्रक्रिया बाधित न हो। बापू प्रांतीय भाषाओं के सम्मान को यथावत बनाए रखने और हिंदी को राष्ट्र की संपर्क भाषा बनाने के समर्थक थे। आजादी के बाद सरकारी हिंदी के सहारे बापू के सपनों को पूरा करने का प्रयास हुआ है लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि सरकारी अथवा तकनीकी हिंदी और जन हिंदी में अंतर है। जन हिंदी ही जनभाषा है जो हमारे विकास के लिए हमें प्रेरित कर सकती है।

सरकारी तंत्र की हिंदी पढ़ने का मौका केंद्रीय सरकार के मंत्रालयों में देखने को मिलता रहा है। सरकारी हिंदी की भाषा का अटपटापन देखकर यही सवाल मन में उठता है कि आखिर वह हिंदी कहां गई जिससे प्रेरित होकर बापू ने देश को एक सूत्र में बांधने का काम किया था। आज आवश्यकता बोलचाल की हिंदी के सहारे हिंदी को राष्ट्रभाषा अथवा जनभाषा के रूप में स्थापित करने की है।

□

हिंदी : अंतरराष्ट्रीय क्षितिज में

हिमांशु जोशी

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की जो वर्तमान स्थिति है, उसकी मजबूती के पीछे अनेक कारण रहे हैं। हिंदी के भविष्य के प्रति गहरी आशा का भाव है क्योंकि इसके भी ठोस कारण हैं। हिंदी को यह मान-सम्मान क्यों प्राप्त है तथा उसकी विश्व-स्तर पर क्या स्थिति एवं प्रगति है — इस पर व्यापक दृष्टि डाल रहे हैं हिमांशु जोशी। श्री जोशी हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं तथा विश्व के अनेक देशों में उन्होंने हिंदी तथा हिंदी साहित्य का प्रचार-प्रसार किया है, वहां के कार्यक्रमों में प्रतिभागी रहे हैं। इस आलेख में जोशी जी का अध्ययन तथा अनुभव—दोनों अभिव्यक्त हुए हैं।

विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा कही जाती है हिंदी। पिछली जनगणना के अनुसार भारत में हिंदी-भाषियों की कुल संख्या लगभग 46 करोड़ थी, जिसमें लगभग 19 करोड़ वे लोग थे, जिनकी मातृभाषा हिंदी न होते हुए भी, उसे उसी तरह व्यवहार में लाने की क्षमता रखते हैं, जैसे मूल हिंदी-भाषी। एक करोड़ बीस लाख भारतीय मूल के लोग विश्व के 132 देशों में बिखरे हुए हैं, जिनमें आधे से अधिक हिंदी से परिचित ही नहीं, उसे व्यवहार में भी लाते हैं। इस दृष्टि से विवेचन करें तो आज संसार में हिंदी जानने वालों की संख्या अंग्रेजी जानने वालों से कहीं अधिक है। यदि किंचित गहराई से देखें तो और भी विस्मयकारी तथ्य उजागर होंगे। जिस चीनी भाषा को संसार में सबसे बड़ी भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है, वह है—

'कोइ' भाषा। कहा जाता है, राष्ट्रभाषा होते हुए भी इसके जानने वाले चीन में हर कहीं उपलब्ध नहीं हैं। जिस क्षेत्र-विशेष की यह भाषा है, उसकी आबादी बीस करोड़ से अधिक नहीं है। चूंकि राष्ट्रसंघ में इसे मान्यता मिली है, चीन के राजकाज की भी भाषा यही है, इसलिए इसके जानने वालों की संख्या निश्चित ही अधिक होगी, परंतु विशेषज्ञों का मानना है कि कुल मिलाकर भी यह हिंदी से बहुत अधिक नहीं होगी।

जिस तरह हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा होते हुए भी केवल आधे भारतीय ही हिंदी जानते हैं, वही स्थिति चीन में चीनी भाषा की है और इंग्लैंड में अंग्रेजी की। अंग्रेजी संसार के मात्र पांच देशों की भाषा है। इंग्लैंड (ब्रिटेन) में अंग्रेजी के साथ-साथ वेल्स, स्काटिश और ऑयरिश भाषा-भाषी भी पर्याप्त हैं। कनाडा में अंग्रेजी के समानांतर फ्रेंच भाषा भी चलती है। अमेरिका में सर्वत्र अंग्रेजी का ही वर्चस्व है, यह धारणा भी व्यर्थ है। वहां स्पेनिशभाषियों की संख्या करोड़ों में है।

विश्व के मानचित्र में जहां हिंदी तथा अंग्रेजी अथवा चीनी की यह स्थिति है, वहीं भारत में अंग्रेजी की स्थिति और भी विस्मयकारी है। आंकड़ों के विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में हिंदी जानने वालों की संख्या, कुल जनसंख्या का जहां लगभग पचास प्रतिशत है, और अंग्रेजी जानने वाले केवल (दशमलव) .58 प्रतिशत मात्र ही हैं। एक प्रतिशत भी पूरे नहीं।

गत 50 वर्षों में हिंदी की शब्द-संपदा में जितना विस्तार हुआ है, उतना विश्व की शायद ही किसी भाषा में हुआ हो। आज शब्द-संख्या की दृष्टि से हिंदी संसार की सबसे समृद्ध भाषाओं में से एक मानी जाती है। अंग्रेजी, जिसे महत्त्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय भाषा का गौरव प्राप्त है, उसके मूल शब्द जहां मात्र 10 हजार हैं, वहां हिंदी के दो लाख पचास हजार से भी अधिक।

विश्व में बिखरे हुए हिंदी जानने वालों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वे देश, जहां भारतीय श्रमिक दासों के रूप में, लगभग सौ-डेढ़ सौ साल पहले गए थे, और आज वहां के प्रमुख नागरिकों के रूप में जिनकी गणना होती है। फीजी, मॉरीशस, गियाना, सूरीनाम, त्रिनीडाड आदि। भोजपुरी, अवधी भाषी ये लोग आज भी वहां बहुत बड़ी संख्या में हैं। दूसरे हैं, ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, नीदरलैंड, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी, नार्वे आदि। इसमें केन्या, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों के आप्रवासियों को भी शामिल किया जा सकता है। दक्षिण-पूर्व एशिया में, यानी म्यांमार (बर्मा), थाईलैंड, सिंगापुर, मलेशिया में बसे हिंदी-प्रेमी भारतीय मूल के लोगों को भी। नेपाल की आधी से अधिक आबादी हिंदी से परिचित है। थाईलैंड में हिंदी जानने वालों की संख्या लगभग एक लाख है। इनमें अधिकांश लोग दूसरे विश्व-युद्ध के समय यहां स्थायी रूप से बस गए थे। बर्मा में भारतीय मूल के लोग लाखों की संख्या में हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार से संबंधित होने के कारण हिंदी के प्रति इनका विशेष लगाव है। जिन-जिन देशों या द्वीपों में भारतवंशीय बसे, वहां

हिंदी को जीवित रखने में 'आर्य-समाज' 'सनातन-धर्म' तथा अन्य धार्मिक संगठनों का विशेष योगदान रहा है। अपनी गृह भाषा भोजपुरी, अवधी आदि को उन्होंने अपनी अस्मिता से जोड़े रखा, जिसका परिणाम हुआ कि हिंदी भी किसी-न-किसी रूप में वहां जीवित रही।

सन् 1910 में मॉरीशस में 'आर्य-समाज' की स्थापना के पश्चात् हिंदी को उस द्वीप में एक नई दिशा मिली। अपनी सभी पाठशालाओं में 'आर्य-समाज' ने हिंदी को एक अनिवार्य विषय के रूप में मान्यता दिलाई। सन् 1935 में जब भारतीय मूल के लोगों के यहां आगमन क़ी शताब्दी मनाई गई तो हिंदी की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। जिसका परिणाम है कि आज वहां अनेक संस्थाएं सक्रिय हैं और हिंदी एक नई दिशा-दृष्टि के साथ आगे बढ़ रही है। अकेले नन्हे-से इस द्वीप ने कई प्रतिभाशाली लेखक हिंदी को दिए। स्वर्गीय सोमदत्त बखोरी, उपन्यासकार अभिमन्यु अनत, रामदेव धुरंधर आदि मॉरीशस की कई प्रतिभाएं हैं, जिन्होंने हिंदी की श्रीवृद्धि में अपना विशेष योगदान ही नहीं दिया, बल्कि फ्रांसीसी और अंग्रेजी के प्रबल प्रभाव के बीच हिंदी के वर्चस्व को बनाए रखने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह भी किया।

आस्ट्रेलिया के निकट है, एक और छोटा-सा द्वीप—फिजी, जहां हिंदी को हमेशा प्रतिष्ठा मिली। अनेक पत्र-पत्रिकाएं वहां से प्रकाशित होती रही हैं। वहां के बाजारों में, दूकानों पर नामपट्ट अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी में भी लिखे रहते हैं। सड़कों के नाम भी दो भाषाओं में। वहां की सरकार द्वारा भी हिंदी को मान्यता मिली है। सन् 1916 में भारतीयों ने यहां अपनी पहली पाठशाला स्थापित की थी, जिसे आज एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहां हिंदी-शिक्षण का कार्य एक धार्मिक अनुष्ठान की तरह चलता आ रहा है। अब भारतीय मूल के नेताओं के हाथ में शासन की बाग़डोर है, इसलिए हिंदी उभरने लगी है।

त्रिनीडाड, जहां 'पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन' आयोजित हुआ है, वहां भी हिंदी के प्रति गहरा लगाव है। वहां की कुल आबादी के आधे से अधिक लोग भारतवंशीय हैं। भारतीयों के संपर्क में आने के कारण वहां रह रहे अफ्रीकी मूल के लोगों ने अनेक हिंदी शब्दों को आत्मसात कर लिया है। 'आम' को वहां के अफ्रीकी आम ही उच्चारित करते हैं और 'अचार' को अचार। परंतु सूरीनाम का उदाहरण इससे कम रोचक नहीं। वहां देवनागरी के साथ-साथ हिंदी रोमन लिपि में भी लिखी जा रही है, जिसे 'सरनामी हिंदी' कहा जाता है। नीदरलैंड के लॉयडन तथा उप्रखल विश्वविद्यालयों में भी एम०ए०स्नातकोत्तर तक 'सरनामी हिंदी' पढ़ाई जा रही है। परंतु धीरे-धीरे अब यहां परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं, देवनागरी लिपि के समर्थकों की संख्या बढ़ रही है। यहां के सैकड़ों छात्र प्रति वर्ष 'हिंदी प्रचार समिति, वर्धा' द्वारा आयोजित परीक्षाओं में बैठ रहे हैं। इसके लिए वहां बाकायदा एक आंदोलन चल रहा

है। हिंदी में एक पत्रिका का प्रकाशन भी वहां के भारतीय कर रहे हैं। सन् 1890 में सूरीनाम में हिंदी-भाषियों के लिए डचों ने 'कुली-पाठशालाओं' की स्थापना की थी, किंतु कालांतर में, कुछ राजनीतिक कारणों से उन्हें बंद कर देना पड़ा था। अब एक नए रूप में हिंदी पुष्पित-पल्लवित हो रही है। वहां एक बात यह देखने में आती है कि जो आदमी हिंदी नहीं जानता, उसका मंत्री बनना प्राय: असंभव-सा रहता है।

फ्रैंच गियाना और ब्रिटिश गियाना में भी हिंदी की स्थिति लगभग ऐसी ही है। 'आर्य-समाज' द्वारा स्थापित पाठशालाएं तथा अन्य धार्मिक / सांस्कृतिक संस्थानों में हिंदी जानने वालों की एक नई पौध तैयार कर रहे हैं।

न्यूजीलैंड में इस समय बीस हजार से अधिक लोग भारत और भारतीयता से जुड़े हैं। यहां के मूल निवासी यानी आदिवासी मॉओरी भी अपने को भारतीय मूल का ही मानते हैं। उनका कहना है कि सैकड़ों वर्ष पूर्व उनके पूर्वज कभी भारत से यहां आकर बस गए होंगे। उनके रहन-सहन, खान-पान में भारतीयता की स्पष्ट झलक दीखती है। हिंदी सिनेमा वहां विशेष लोकप्रिय है। हिंदी के कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए, वहां के भारतीय मूल के लोग अपना अलग से दूरदर्शन एवं आकाशवाणी केंद्र स्थापित करने जा रहे हैं। कुछ वर्षों से आकलैंड से 'भारत दर्शन' नाम की एक हिंदी पत्रिका का प्रकाशन भी हो रहा है।

इंडोनेशिया की भाषा का तो नाम ही 'भाषा इंडोनेशिया' है। उनकी भाषा के 18 प्रतिशत से अधिक शब्द संस्कृत अथवा हिंदी के हैं। वहां के रास्तों में 'डेंजर' या 'खतरा' नहीं, 'भय' लिखा रहता है। वहां की तीनों सेनाओं की जो समाचार-पत्रिका प्रकाशित हो रही है, उसका नाम 'त्रिशक्ति' है। सारा का सारा इंडोनेशिया भारतमय यानी हिंदीमय लगता है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीय मूल के लोगों का अपना विशिष्ट स्थान हैं। यहां का अधिकांशत: व्यवसाय भारतीयों के पास है। इसलिए हिंदी, गुजराती भाषाओं को, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बावजूद भी पनपने का पर्याप्त अवसर मिला। पिछले अनेक वर्षों से जौहान्सबर्ग विश्वविद्यालय में हिंदी के पूर्ण प्रशिक्षण का प्रबंध है। नेलसन मंडेला प्रशासन के पश्चात् वहां भारतीयों के विकास के अनेक द्वार खुले हैं। वहां की पाठशालाओं में हिंदी पठन-पाठन की व्यवस्था की जा रही है। सन् 1908 में वहां प्रथम पाठशाला खुली थी, पर आज इस क्षेत्र में अनेक शिक्षण-केंद्र सक्रिय हैं।

अफ्रीका महाद्वीप के ही केन्या, युगांडा, जाम्बिया आदि अनेक देशों में स्वाहिली भाषा के माध्यम से, हिंदी ही नहीं, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाएं भी पढ़ाई जा रही हैं। कम्पाला, तंजानिया, नाइजीरिया में लाखों की संख्या में भारतीय हैं जो आर्थिक रूप से बहुत समृद्ध हैं। उनके द्वारा संचालित धार्मिक संस्थाएं भी इस क्षेत्र में सक्रिय हैं।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के विकास में विद्यालयों / विश्वविद्यालयों के हिंदी

विभागों का योगदान कुछ कम नहीं। इस समय विदेशों के 146 विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है। इनके अलावा छोटे-बड़े अनेक स्तरीय संस्थान हैं, जो वर्षों से हिंदी-सेवा के कार्य में संलग्न हैं। अकेले जापान में 8 विश्वविद्यालय एवं संस्थान हिंदी की पढ़ाई में जुटे हैं। लगभग तीन सौ जापानी छात्र हिंदी सीख रहे हैं। जापान में हिंदी का शिक्षण सर्वप्रथम विधिवत् अब से लगभग साठ साल पूर्व तोक्यो विश्वविद्यालय में प्रो० क्योओ दोई ने आरंभ किया था। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय में एम०ए०ही नहीं, पी-एच०डी० की उपाधि भी प्राप्त की थी। उन्होंने प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' का मूल हिंदी से जापानी में अनुवाद किया था, जिसकी पांच लाख प्रतियां बिकी थीं। जापान में आकाशवाणी से नियमित रूप से हिंदी के समाचार ही नहीं, अन्य साहित्यिक, सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रसारित होते हैं। ओसाका विश्वविद्यालय में भी उच्च स्तर पर हिंदी के शिक्षण की व्यवस्था है। लगभग 20 वर्ष से जापान में 'सर्वोदय' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। अभी कुछ समय पूर्व जापान में आप्रवासी भारतीयों ने अपने ही प्रयासों से एक नई हिंदी मासिक पत्रिका 'जापान भारती' का प्रकाशन आरंभ किया है। कुछ वर्ष पूर्व हिंदी-सेवी योशियाकि सुजुकि ने जापान से 'ज्वालामुखी' नामक पत्रिका प्रकाशित की थी, जिसमें छपने की शर्त थी— केवल जापानी ही इसमें लिखेंगे। केवल हिंदी में लिखी रचनाओं को ही स्थान मिलेगा। पिछले दिनों हिंदी कहानियों का जापानी में एक संकलन आया है।

लगभग दो सौ कोरियाई छात्र इन दिनों हिंदी सीख रहे हैं। सीयोल स्थित विदेशी भाषाओं का विश्वविद्यालय हांकुक इस कार्य में प्रमुख रूप से सक्रिय है। एम० ए० तक हिंदी पढ़ाने की इसमें व्यवस्था है। कोरियाई भाषा में हिंदी कृतियों के अनुवाद का भी कुछ कार्य चल रहा है।

लगभग सत्तर साल पहले पेइचिंग विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं को पढ़ाने के लिए एक नया विभाग खुला था। प्रो० ची-श्येन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने आधुनिक चीन में भारत-विद्या का श्रीगणेश किया था। प्रो० ची-श्येन विश्व में संस्कृत के अग्रणी विद्वान हैं। जर्मनी के गौटिंगन विश्वविद्यालय में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था। चीन लौटकर उन्होंने संस्कृत विभाग ही नहीं खोला, बल्कि 'वाल्मीकि रामायण' का चीनी में पद्यबद्ध अनुवाद भी किया था। प्रो० चिन्तिन-हान, प्रो० ल्यू को-नान आदि समर्पित विद्वानों को श्रेय दिया जा सकता है— प्रो० ची-श्येन द्वारा स्थापित 'भारत विद्या विभाग' में हिंदी के पाठ्यक्रम को विधिवत आरंभ करने का। प्रो० चिन्तिन-हान द्वारा चीनी में अनूदित पहली हिंदी पुस्तक थी, मुंशी प्रेमचन्द की कृति 'निर्मला'। लगभग सात वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात उन्होंने 'रामचरित मानस' का पद्यबद्ध अनुवाद चीनी में प्रकाशित किया था। अपने कर्मठ जीवन के 32 वर्षों में प्रो० चिन्तिन-हान ने लगभग 620 छात्रों को हिंदी का ज्ञान कराया था।

हिंदी से चीनी अनुवाद के कार्य को विशेष गति दी थी—प्रो० ल्यू० को-नान

ने। उनकी योजना थी—भारतीय भाषाओं की सौ प्रतिनिधि रचनाओं की चीनी भाषा में रूपांतर की, जो उनकी अकालमृत्यु के कारण अधूरी रह गई। उनके द्वारा हिंदी से, चीनी में अनूदित अंतिम रचना थी—'कगार की आग'। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सत्तर पुस्तकों के अनुवाद चीनी में प्रकाशित हुए। 'चित्रलेखा', 'मैला आंचल' जैसी अनेक कालजयी कृतियों के अनुवाद चीनी पाठकों तक पहुंच चुके हैं। चीन में जहां पेइचिंग रेडियो प्रतिदिन हिंदी के अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा है, वहां गत तीस वर्षों से 'सचित्र चीन' का हिंदी-संस्करण निरंतर प्रकाशित हो रहा है। भारतीय वाङ्मय के प्रति चीन में बड़ा आदर-भाव है। चीनी इस सत्य को आज भी सहर्ष स्वीकार करते हैं कि चीनी भाषा के निर्माण में पाणिनी के व्याकरण का विशेष योगदान है। अनेक अंतर्विरोधों के बावजूद चीन आज भी कहीं भारतमय लगता है। चीन की ऐतिहासिक दीवार की स्वागत-शिला पर अंकित वाक्य 'ओम नमो भगवते' आज भी दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहता।

श्रीलंका के तीनों विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर तक हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था है। पाकिस्तान के 'लोक सेवा आयोग' की परीक्षाओं में हिंदी एक वैकल्पिक विषय है। वहां के कई शायर अपनी नज्मों में संस्कृतनिष्ठ हिंदी शब्दों का बेधड़क प्रयोग करते हैं। आखिर हमारी सांझी संस्कृति का प्रभाव कहीं तो रहेगा, कुछ।

संपूर्ण पश्चिमी दुनिया में हिंदी के प्रचार-प्रसार में विश्वविद्यालयों का उल्लेखनीय योगदान है। यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया का शायद ही कोई स्तरीय विश्वविद्यालय है, जहां आज हिंदी के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था न हो। फिनलैंड के हेलसिंकी विश्वविद्यालय में गत अनेक वर्षों से हिंदी पढ़ाई जा रही है। वहां के प्राध्यापक प्रो० बातिन तिक्के ने 'गोदान' का फिनिस भाषा में रूपांतर ही नहीं किया, बल्कि हिंदी-फिनिश शब्दकोश भी तैयार किया है। स्वीडन में सन् 1968 से हिंदी-विभाग का प्रारंभ हुआ—वहां के प्राचीन विश्वविद्यालय उपशाला में। स्टाकहोम विश्वविद्यालय में भी भारतीय विद्या का एक अलग समृद्ध विभाग है जिसमें संस्कृत, तमिल, बांग्ला तथा हिंदी साथ-साथ पढ़ाई जा रही हैं। इसी तरह नार्वे के ओस्लो विश्वविद्यालय में भी हिंदी की विशेष व्यवस्था है। वहां हिंदी तथा इरानी-परिवार की सभी भाषाएं पढ़ाई जाती हैं। 'शांतिदूत', 'आप्रवासी टाइम्स' आदि पत्रिकाएं भी वहां से प्रकाशित हो रही हैं। हिंदी से नार्वेजियन में अनुवाद का कार्य भी चल रहा है।

युगोस्लाविया के जाग्रेव तथा बेल्ग्रेड विश्वविद्यालयों में गत अनेक वर्षों से हिंदी अध्ययन का कार्य चल रहा है। बुल्गारिया, हंगरी में हिंदी का कार्य और भी बड़े पैमाने पर है। हिंदी साहित्य का प्रचुर मात्रा में अनुवाद भी हुआ है। पोलैंड इस दिशा में और भी आगे हैं। पोलैंड के भारत में पूर्व राजदूत प्रो० मारिया क्रिस्तोफ बृस्की संस्कृत और हिंदी के जाने-माने विद्वान हैं। पोर्नोवस्की ने 'गोदान' का अनुवाद पोलिश भाषा में किया था, 'प्राच्य विद्या संस्थान' की डॉ० दानूता स्वाशिक का योगदान भी

अविस्मरणीय है। चेक गणराज्य का भारतीय साहित्य के प्रति विशेष मोह रहा है। प्राहा स्थित चार्ल्स विश्वविद्यालय में गत सौ वर्ष से भी अधिक समय से संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था है। आधुनिक युग में हिंदी के अनेक विद्वान तैयार किए हैं, यूरोप के इस प्राचीन विश्वविद्यालय ने। वहां के पूर्व हिंदी प्राध्यापक स्वर्गीय डॉ० ओदोलेन स्मैकल हिंदी के विद्वान ही नहीं, हिंदी के सुप्रतिष्ठित कवि भी थे। उनके हिंदी में लिखे आठ काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं। प्रो० बृस्की की तरह स्मैकल भी भारत में अपने देश चेक गणराज्य के राजदूत रहे। डॉ० स्मैकल ने जहां 'गोदान' का चेक भाषा में अनुवाद किया, वहां डॉ० सारका लितविनोवा तथा डॉ० दागमार मारकोवा ने जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, मोहन राकेश की कई कृतियों का।

रोमानिया के बुकारेस्ट विश्वविद्यालय में भी हिंदी का एक स्वतंत्र विभाग है। वहां स्नातक स्तर पर हिंदी का पाठ्यक्रम है। अनुवाद का भी कुछ कार्य हुआ है। गत तीस वर्षों में इस विभाग के माध्यम से अनेक रोमानियन छात्रों ने हिंदी में महारत हासिल की। हिंदी से रोमानियन में अनुवाद का भी कार्य चल रहा है। फ्रांस में कुछ प्रबुद्ध आप्रवासी भारतीय इन दिनों एक पुस्तक तैयार कर रहे हैं, जिसका उद्देश्य यह है कि यदि फ्रांस के लोग रोमन के स्थान पर देवनागरी लिपि अपनी भाषा के लिए अपना लें तो उन्हें कितनी सुविधा होगी! आज ये लिखते 'गाइडे माउपासेण्ट' हैं, और पढ़ते हैं—'गीद मोपांसा'। देवनागरी लिपि से उनकी ये सारी समस्याएं सुलझ जाएंगी। जैसा लिखेंगे उसे उसी तरह उच्चारित भी कर पाएंगे।

फ्रांस के सौवन विश्वविद्यालय में पिछले अनेक वर्षों से हिंदी पढ़ाई जा रही है। 'गोदान', 'मैला आंचल', 'त्यागपत्र' आदि कृतियों के फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद भी छपे हैं। क्षेत्रफल एवं जनसंख्या की दृष्टि से बेलजियम छोटा-सा देश है। परंतु गत 35 वर्षों से, वहां के गेंट, ल्युबेन और ल्येज विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था है। इटली का भारतीय साहित्य एवं दर्शन के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। वहां के नेपल्स तथा वेनिस विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में कई इटालियन छात्र हिंदी के अध्ययन में संलग्न हैं।

कभी अंग्रेजों का साम्राज्य था सारे विश्व में, आज अंग्रेजी का है। किंतु हिंदी ने जो कीर्तिमान यहां स्थापित किया है, वह ऐतिहासिक महत्त्व का है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि जिस हिंदी की अपने ही देश में हम उपेक्षा करते हैं, आज सारे इंग्लैंड में अंग्रेजी के पश्चात जो भाषा सबसे अधिक बोली जाती है, वह यही हिंदी है। कैम्ब्रिज, यॉर्क तथा लंदन विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तर तक हिंदी के पढ़ाए जाने की पूर्ण व्यवस्था है। लंदन विश्वविद्यालय के अंग्रेज हिंदी प्राध्यापक डॉ० रूपर्ट स्नेल हिंदी के ही नहीं, ब्रज भाषा के भी अनन्य भक्त हैं। ब्रज भाषा में कविताएं लिखते हैं। इन दिनों ब्रज भाषा के एक प्राचीनतम काव्य का अंग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद कर रहे हैं। हिंदी की कई कहानियों के अंग्रेजी रूपांतर इन्होंने विश्वप्रसिद्ध

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराए हैं। हिंदी की ध्वजा लंदन तक फहराने का श्रेय इन्हें ही जाता है।

आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में जर्मन सबसे अधिक विज्ञान-संगत भाषा है, इसका कारण है, जर्मन भाषा के व्याकरण पर संस्कृत का गहरा प्रभाव। जर्मनी में संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं के प्रति सदैव आदर का भाव रहा है। संस्कृत वहां अब से नहीं, डेढ़-दो सौ साल से विधिवत पढ़ाई जा रही है। जर्मनी के 17 विश्वविद्यालयों में आज हिंदी के स्वतंत्र विभाग हैं। जर्मनी का रेडियौ-कोलोन संसार का एकमात्र केंद्र है, जहां संस्कृत में समाचार ही नहीं, प्रति सप्ताह नियमित रूप से संस्कृत में शोधपूर्ण आलेख भी प्रसारित किए जाते हैं। डेनमार्क, स्विट्‌जरलैंड, आस्ट्रिया—यूरोप के प्राय: सभी देशों में अनेक विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जा रही है।

हिंदी-शिक्षण के प्रश्न पर सोवियत संघ कभी अपना विशिष्ट स्थान रखता था। रूस सहित उसके सभी गणराज्यों में 34 से भी अधिक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में हिंदी के पाठ्‌यक्रम चलते थे। मंगोलिया, रोमानिया, आस्ट्रिया, पोलैंड आदि पूर्वी यूरोपीय देशों के छात्र उच्च हिंदी शिक्षा के लिए लेनिनग्राद अथवा मॉस्को विश्वविद्यालयों में आते थे। रूसी में हिंदी पुस्तकों का जितना अनुवाद प्रकाशित हुआ, उतना शायद ही संसार की किसी अन्य भाषा में हुआ हो, परंतु आजकल यह कार्य भी स्थगित-सा ही है। हां, मध्य एशियाई देशों से भारत का व्यापार बढ़ रहा है, इससे आशा बंधती है कि हिंदी-शिक्षण का कार्य भी अब उन देशों में कुछ तीव्र गति से होगा।

कनाडा में भारतीय आप्रवासी कुछ कम संख्या में नहीं। पंजाब से गए लोग पंजाबी के साथ-साथ हिंदी का भी प्रयोग करते हैं। वहां से हिंदी में दो स्थानीय समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं। बैंकूवर, टोरंटो, मैगलिक, विंडसर विश्वविद्यालयों में हिंदी विभाग हैं। टोरंटो में आधुनिक ही नहीं, 'मध्यकालीन हिंदी साहित्य' भी वर्षों से पढ़ाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त 'वैदिक-सभा', 'आर्य समाज', 'शांतिनिकेतन कल्चलर काउंसिल' आदि अनेक धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं हैं, जो हिंदी के प्रति समर्पित भाव से संलग्न हैं।

आस्ट्रेलिया के दो विश्वविद्यालय हिंदी पढ़ा रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। वहां के 28 विश्वविद्यालय तथा अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं हिंदी के प्रति समर्पित भाव से जुटी हैं। यों तो संस्कृत का अध्यापन वहां सन् 1815 से प्रारंभ हो गया था, परंतु उसका क्षेत्र पुरानी भाषा होने के कारण इतना व्यापक एवं विस्तृत नहीं था। सन् 1875 में अमेरिका में हिंदी का व्याकरण तैयार किया गया था, जो आज भी अपनी उपयोगिता बनाए हुए है।

गत अनेक वर्षों से मैक्सिको तथा अनेक लॉतीनी अमेरिकी देशों में हिंदी का विस्तार बढ़ा है। क्यूबा, वेनेजुएला, कोलंबिया, पेरु, अर्जेन्टीना, चीली आदि इसके

जीवंत उदाहरण हैं।

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् विश्वभर में हिंदी को जो मान्यता मिली, वह विश्व की अनेक भाषाओं के लिए दुर्लभ है। हिंदी के इस जगतव्यापी प्रचार-प्रसार में चलचित्रों की भी मुख्य भूमिका रही है। हिंदी-फिल्मों के कारण हिंदी भारत भर में ही नहीं फैली, बल्कि इसे कहीं सारे संसार में ठोस आधार भी मिला है। जो लोग हिंदी नहीं जानते, किसी भी भारतीय भाषा से परिचित नहीं—अनेक सागरों के पार एक दूसरी दुनिया में बसे हैं, उन्हें भी हिंदी-फिल्में रिझाती रही हैं, यह एक और विस्मय की बात है। फीजी, मॉरीशस, केन्या, युगाण्डा या मध्य-पूर्व के देशों में तो हिंदी चलचित्र खूब देखे ही जाते हैं, क्योंकि यहां भारतीय मूल के लोग रहते हैं, परंतु लॉतीनी-अमेरिकी देशों में, जहां भारतीय संस्कृति का विशेष प्रभाव नहीं, न भारतीय भाषाओं का ही किंचित ज्ञान, वहां लाखों दर्शक स्पेनिश सब-टाइटिल्स के साथ, और कभी-कभी बिना सब-टाइटिल्स के भी बड़े चाव से देखते हैं। पेरु में थोड़े से परिवार हैं, आप्रवासी सिंधी व्यापारियों के। उनके दो छविगृह हैं, जिनमें नियमित रूप से हिंदी फिल्में दिखलाई जाती हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में भी हिंदी फिल्मों की लोकप्रियता कुछ कम नहीं। इंडोनेशिया, थाईलैंड, हांगकांग, मलेशिया में हिंदी-फिल्मों के लिए अच्छा बाजार है। रूस, मध्य एशियाई देश भी कम दीवाने नहीं। सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान डॉ० प० अ० बारान्निकोव आजकल रूसी भाषा में हिंदी-फिल्मों पर एक समाचार-पत्र निकाल रहे हैं, उसी से उनकी रोजी-रोटी चल रही है। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् बहुत कुछ बदल गया है, परंतु हिंदी-फिल्मों के प्रति लगाव अभी तक बना हुआ है।

जर्मनी के हाइडलबर्ग शहर में रविवार को छविगृहों में हिंदी तथा भारतीय भाषाओं की फिल्में प्रदर्शित की जाती हैं। अमेरिका के कैलीफोर्निया दूरदर्शन पर हर शनिवार को 'सिनेमा-सिनेमा' कार्यक्रम के अंतर्गत नियमित रूप से हिंदी फिल्में दिखलाई जाती हैं। इंग्लैंड के बी०बी०सी० दूरदर्शन पर 'महाभारत' इतना लोकप्रिय हुआ कि भारतीय ही नहीं, अन्य देशों के आप्रवासी ही नहीं, स्वयं ब्रिटेन के तरुण/वृद्ध भी अतीत के भारत की इस शौर्यगाथा पर मुग्ध हो गए थे। लोकप्रियता के इसने कई कीर्तिमान स्थापित किए थे। सूरीनाम के दूरदर्शन पर दो बार इसका प्रदर्शन हुआ। जापानी दर्शकों ने इस धारावाहिक के संवादों को जोड़-जोड़कर जापानी में 'महाभारत' की एक अलग पुस्तक तैयार कर डाली, जो बहुत लोकप्रिय हुई।

तुर्की, ईराक, सउदी अरब, मिस्र, लीबिया, युगाण्डा, अल्जीरिया आदि इस्लामी देशों का भी हिंदी-फिल्मों के प्रति विशेष आत्मभाव रहा। मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर एक बार भारत की यात्रा पर आए हुए थे। एक शाम उन्हें भारतीय फिल्म दिखाने का कार्यक्रम निश्चित किया गया। नेहरू जी के सुझाव पर 'मदर इंडिया' का प्रदर्शन राष्ट्रपति भवन के सभागार में रखा गया। नेहरू जी ने कह तो दिया 'मदर

इंडिया' के लिए, परंतु उनके मन में किंचित संदेह था कि कहीं राष्ट्रपति नासिर को फिल्म पसंद न भी आए! प्रदर्शन समाप्त हुआ तो नेहरू जी ने यों ही औपचारिकता से पूछा, 'हमारी यह फिल्म आपको कैसी लगी?' राष्ट्रपति नासिर ने हंसते हुए कहा, 'बहुत अच्छी। इससे पूर्व काहिरा में इसे मैं तीन बार देख चुका हूं। यह चौथी बार है।' यह है, हिंदी फिल्मों की अपार लोकप्रियता।

दृश्य और श्रव्य माध्यमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके लिए लिपि सीखने की आवश्यकता नहीं होती। देखकर, सुनकर ही बहुत कुछ समझ में आ जाता है। हिंदी को अंतरराष्ट्रीय क्षितिज तक ले जाने में हिंदी सिनेमा, दूरदर्शन तथा वीडियो की विशेष भूमिका रही है। उसे और अधिक व्यापक एवं विस्तृत कराने में 'कैसेट कल्चर' का योगदान और भी उल्लेखनीय रहा।

यह देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहा जाता कि कनाडा, अमेरिका, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, मॉरीशस, त्रिनिडाड, मलयेशिया, सिंगापुर, हांगकांग—जहां-जहां भारतीय, पाकिस्तानी, बांग्लादेशी या नेपाली मूल के लोग रहते हैं, वहां के बाजार हिंदी फिल्मों के कैसेटों से भरे पड़े हैं। बिना भेद-भाव के सब इन्हें देखते हैं। हिंदी फिल्में जो पहले बड़े पर्दे तक सीमित थीं, अब करोड़ों लोगों के ड्राइंग-रूम तक पहुंच गई हैं। सैटेलाइट चैनलों ने इन्हें और सुलभ बना दिया है। सारी दुनिया में जितनी फिल्में आज हिंदी की देखी जा रही हैं, उतनी शायद ही किसी भाषा की हों। 'हम आपके हैं कौन' फिल्म की जितनी टिकटें खिड़की से बिकीं, उतनी आज तक संसार-भर में किसी भी फिल्म की नहीं। हिंदी की विश्वव्यापी लोकप्रियता के ऐसे अनेक कीर्तिमान हैं।

विश्व में अब उसी भाषा को प्रधानता मिलेगी, जिसका व्याकरण विज्ञान-संगत होगा। जिसकी लिपि कंप्यूटर की लिपि होगी। संस्कृत की पुत्री होने के कारण हिंदी को यह आधार मिला है। इसलिए इसमें अंग्रेजी, फ्रैंच आदि की अपेक्षा अधिक संभावनाएं हैं सही अर्थों में विश्वभाषा बनने की। इक्कीसवीं शताब्दी भारत की ही नहीं, विश्व की अग्रणी भाषा के रूप में हिंदी की भी होगी—इसमें संदेह नहीं।

□

लंदन में छठे विश्व हिंदी सम्मेलन तक की अनुभव यात्रा

पद्मेश गुप्त

"यू०के० में 1990 से मैं हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगा हुआ हूं। इन 9 वर्षों में भारत के पचास से अधिक साहित्यकारों को लंदन में अंतरराष्ट्रीय मंच का आतिथ्य देने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। अंग्रेजी के इस देश में हिंदी के कार्यक्रमों एवं हिंदी-प्रेमियों से जुड़ना एवं उन्हें जोड़ने का अनुभव इस लेख के द्वारा प्रस्तुत कर रहा हूं।" इस लेखकीय वक्तव्य के साथ छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के संयोजक पद्मेश गुप्त का आलेख।

हिंदी साहित्य के माहौल में मेरा जन्म हुआ। लखनऊ के जिस आंगन में बचपन बीता उसके चारों ओर कबीर के दोहों की तख्तियां लगी हुईं थीं। मेरे पिता डॉ० दाऊजी गुप्त का साहित्यकार होना और घर में अकसर गोष्ठियों के आयोजन मेरे हृदय में हिंदी साहित्य के प्रति आदर एवं प्रेम की नींव रखते रहे। परंतु अंग्रेजी एवं फ्रेंच माध्यम में पढ़ने के उपरांत फ्रांस से जब लंदन आया और व्यापार की दुनिया में संघर्ष करने लगा, हिंदी साहित्य से कोई विशेष जुड़ाव न रहा। हां, कलम अवश्य कागज को कभी-कभी कविताओं से रंग देता।

लंदन में भारतीय परिवारों से घनिष्ठता एवं मित्रता बढ़ती रही। नई पीढ़ी को देखकर एक चिंता उभरने लगी। महसूस हुआ कि अपनी भाषा से दूर होती यह पीढ़ी

भारतीय परंपराओं, भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति की नींव तो दूर, उसकी शाख को भी नहीं छू पा रही। भारतीयों की नई पीढ़ी जो विदेशों में जन्म ले रही है— संभवत: अपने को भारतीय मूल का कहने से भी इंकार कर दे, और भारत भविष्य की शिक्षित, सम्पन्न एवं सुनहरी पीढ़ी को खो दे। मैंने महसूस किया कि अपनी भाषा ही अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की संवाहिका है और मेरे मन में हिंदी के लिए कुछ करने की इच्छा उभरने लगी।

मैंने लंदन में हिंदी के अध्यापक श्री प्रेमचन्द सूद के नेतृत्व में हिंदी समिति की स्थापना की। कुछ और भारतीय परिवारों के साथ हिंदी के कुछ अंग्रेज विद्यार्थी भी हम से जुड़े। सितंबर 1990 को भारत से पधारे विश्वात्मा बावरा जी महाराज के कर कमलों द्वारा हिंदी समिति का उद्घाटन हुआ। इसी बीच पधारे भारत से श्री वेदप्रताप वैदिक। वे मेरे ही निवास पर ठहरे और उनके सानिध्य से मुझे काफी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन मिला।

मैं लंदन में 'हिंदी' नाम से एक पत्र निकालने लगा। आरंभ में इसे भारत में छपवाता था। फिर अपने कम्प्यूटर पर निकालने लगा। लंदन के एक कार्यक्रम में मेरी भेंट हुई भारतीय उच्चायोग के हिंदी अधिकारी डॉ० सुरेन्द्र अरोड़ा से। सुरेन्द्र जी ने सर्वप्रथम मेरे अंदर सो रही कविता को जगाया और मेरा प्रथम काव्य-संकलन 'आकृति' प्रकाशित हुआ।

इस बीच मेरी मुलाकात हुई श्री के०बी०एल० सक्सेना एवं उषा राजे सक्सेना जी से। उषा राजे के अंदर कविता एवं साहित्य किसी साहित्यिक मंच की प्रतीक्षा कर रहा था। यह दम्पति भी हिंदी समिति से जुड़ गया। उसी दौरान लंदन में भारतीय उच्चायुक्त के रूप में नियुक्ति हुई डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी की। सिंघवी जी का संरक्षण प्राप्त होते ही हम हिंदी प्रेमियों में उत्साह एवं लगन की नई लहर दौड़ गई।

1993 में मैनचेस्टर की एक संस्था इंडिया सोसाइटी ने सिंघवी जी के संरक्षण में प्रथम अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें भारत से नीरज जी, पद्मा सचदेव, कन्हैयालाल नन्दन समेत अनेक साहित्यकारों ने तथा यूरोप से श्याम मनोहर पांडे, रूपर्ट स्नेल, मारया नेग्येसी, सुरेश चन्द्र शुक्ल आदि ने भाग लिया। मैंने दो सत्रों में सह-अध्यक्षता की तथा 'हिंदी—भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की संवाहिका' विषय पर अपना आलेख प्रस्तुत किया।

इस सम्मेलन के कुछ आयोजकों जिनमें डॉ० रंजीत सुमरा, राम पांडे, डॉ० गौतम का नाम उल्लेखनीय है, ने डॉ० सिंघवी के प्रस्ताव पर 'अहिंसम भारतीय' संस्था का गठन किया। मैं संस्थापक सदस्य के रूप में इस संस्था से जुड़ा। 1994 में विराट कवि सम्मेलन का आयोजन मैनचेस्टर एवं लंदन में हुआ। इस सम्मेलन में डॉ० कन्हैयालाल नन्दन जी के उच्चस्तरीय संचालन, अशोक चक्रधर, रमानाथ अवस्थी, नीरज, गंगाप्रसाद विमल, दाऊजी गुप्त, शशांक प्रभाकर जैसे कवियों के

काव्यपाठ के साथ इंग्लैंड गये भारतीय ज्ञानपीठ विजेताओं को सम्मानित भी किया गया। हरिवंशराय बच्चन जी के नाम पर मैनचेस्टर में भारतीय भाषा पीठ के गठन की घोषणा अमिताभ बच्चन की उपस्थिति में की गई। वे इस कार्यक्रम के लिए भारत से लंदन आये थे। अमिताभ जी ने बच्चन जी की कुछ रचनाओं से भी मंच को सुशोभित किया।

वार्षिक कवि सम्मेलनों का यह सिलसिला यू०के० में चल पड़ा। 1995 में मैंने संपर्क किया बर्मिंघम के निवासी डॉ० कृष्ण कुमार जी से, जिनसे मेरा संपर्क लंदन में हिंदू सोसाइटी के एक कवि सम्मेलन में हो चुका था। उनकी कविताएं, उनका व्यक्तित्व मुझे हमेशा प्रभावित करता रहा था। कवि सम्मेलन की इस श्रृंखला को बर्मिंघम का मंच भी मिले, मेरे इस प्रस्ताव को कुमार साहब ने सहज स्वीकार किया एवं गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक समुदाय के गठन के साथ यू०के० में भारतीय भाषाओं की एक महत्त्वपूर्ण संस्था को जन्म दिया।

इस वर्ष सुरेन्द्र जी एवं मैंने तय किया, चूंकि हमारी संस्थाएं स्वैच्छिक हैं एवं हम कुछ परिवारों के योगदान से ही चल रही हैं, कि इस वर्ष से हम भारत से आने वाले सभी साहित्यकारों को अपने-अपने घरों में ही ठहराएं। मैंने उषा राजे जी से आग्रह किया कि वे सुमन जी तथा बेकल उत्साही जी को अपने निवास पर ठहराएं, उन्होंने मेरा निवेदन सहर्ष स्वीकार किया। सुमन जी के सानिध्य ने उषा जी के कवि हृदय को नया जन्म दिया और कविता जगत के क्षेत्र में उषा जी का हृदय से स्वागत किया गया।

इस वर्ष विराट कवि सम्मेलन के आयोजन में लंदन, बर्मिंघम तथा मैनचेस्टर में भाग लेने वाले कविगण थे डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन, पद्मश्री बेकल उत्साही, पद्मश्री नीरज, डॉ० कन्हैयालाल नन्दन, डॉ० गंगाप्रसाद विमल, डॉ० कैलाश वाजपेयी, बशीर अहमद मयूख, राजेन्द्र अवस्थी तथा अन्य। इस अवसर पर श्री लल्लनप्रसाद व्यास की अध्यक्षता में लंदन में एक हिंदी सम्मेलन का आयोजन भी किया गया।

डॉ० सिंघवी एवं कमला जी के साथ हम सब का जुड़ाव, उनका सानिध्य हमें आत्मीयता एवं इस दम्पति के प्रति आदर का भाव बढ़ाता गया। हिंदी समिति के सभी सदस्यों ने 1996 में डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी तथा श्रीमती कमला सिंघवी जी सम्मान समारोह तथा विराट कवि सम्मेलन का भव्य आयोजन किया। भाग लेने वाले प्रमुख कवि थे श्री दिविक रमेश, श्रीमती माया गोविंद, डॉ० दाऊजी गुप्त, राजेन्द्र मिलन, डॉ० रूपर्ट स्नेल तथा अन्य। यह कार्यक्रम लंदन तथा बर्मिंघम में आयोजित हुए। हिंदी समिति ने सिंघवी जी को 'हिंदी सेवा सम्मान' देकर उनके प्रति अपना आदर अर्पित किया और लंदन में यू०के० के एक प्रतिष्ठित हिंदी साहित्यकार एवं सेवी को सम्मानित करने की परंपरा आरंभ की। मैनचेस्टर के आयोजक इस वर्ष किसी

कारणवश यह आयोजन न कर सके।

1997 में जब सारा भारत स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती मना रहा था, हमारे मन में विचार उठा, द्वितीय अंतरराष्ट्रीय हिंदी एवं भारतीय भाषा सम्मेलन के आयोजन का। 'हिंदी समिति' एवं 'गीतांजलि' ने भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती के सुअवसर पर डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी तथा श्रीमती कमला सिंघवी जी के संरक्षण में लंदन एवं बर्मिंघम में द्वितीय अंतरराष्ट्रीय हिंदी एवं भारतीय भाषा सम्मेलन का आयोजन किया जिसका सयोजक मैं था तथा सह-संयोजिका उषा राजे। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले साहित्यकार थे बालकवि बैरागी, डॉ० रामदरश मिश्र, वाचस्पति उपाध्याय, जगदीश चतुर्वेदी, कुंअर बेचैन, शीन काफ निज़ाम तथा यू०के०, यूरोप के अनेक साहित्यकार। लंदन के आयोजन में 'हिंदी सेवा सम्मान' से अलंकृत किया गया डॉ० रूपर्ट स्नेल को तथा संस्कृति सेवा सम्मान से श्री एम० कृष्णामूर्ति को। मैनचेस्टर में केवल कवि सम्मेलन का सत्र हुआ।

वर्षों से मेरे मन में विचार था, यू०के० में बसे हिंदी कवियों का एक संकलन निकालने का। हमारे मित्र सोहन राही जी ने मेरे इस विचार को मार्गदर्शन दिया और मैंने अपने संपादन में भारत की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती के सुअवसर पर हिंदी कवियों के काव्य-संग्रह 'दूर बाग में सोंधी मिट्टी' का संकलन किया, जिसका संपूर्ण साहित्य जगत ने स्वागत किया। इसी के साथ इस वर्ष एक और साहित्यिक उपलब्धि ने मुझे आशीर्वाद प्रदान किया और मैंने यू०के० में 'पुरवाई' नाम से भारतीय भाषाओं की एक त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका का शुभारंभ किया। इसका प्रथम अंक मैंने कम्प्यूटर पर निकालकर एवं अपने निवास पर ही अपनी पत्नी प्रीति तथा उषा जी के सहयोग से प्रकाशित किया।

1998 में डॉ० कृष्ण कुमार जी ने अपने निवास पर डॉ० सिंघवी जी के सम्मान में एक गोष्ठी का आयोजन किया, उसकी उपलब्धि यह रही कि सिंघवी जी के संरक्षण में 'अहिंसम' 'गीतांजलि' एवं 'हिंदी समिति' एक मंच पर आ गई एवं एक साथ मिलकर भारतीय साहित्य के कार्यक्रमों के आयोजन द्वारा भारतीय संस्कृति की सेवा में लगने के लिए हम सब ने एक साथ संकल्प लिया।

इस वर्ष फिर प्रतिवर्ष की भांति यू०के० के तीनों महानगरों में विराट कवि सम्मेलनों के भव्य आयोजन किए गए। तीनों संस्थाओं ने मिलकर भारत के मूर्धन्य साहित्यकारों का स्वागत किया। इस वर्ष उ०प्र० हिंदी संस्थान तथा उ०प्र० विधान सभा के अध्यक्ष श्री केशरीनाथ त्रिपाठी की अध्यक्षता में भाग लेने वाले कविगण थे जगदीश चतुर्वेदी, हुल्लड़ मुरादाबादी, सोम ठाकुर, श्रीमती इन्दु जैन, मंगेश लता, कुसुम अंसल, अनुभूति चतुर्वेदी, दिविक रमेश, सुनीता जैन, रंजन सिंह, शामा, डॉ० राजकुमार, डॉ० दाऊजी गुप्त तथा अन्य।

श्री केशरीनाथ त्रिपाठी के व्यक्तित्व की भांति उनकी रचनाओं एवं साहित्यिक

उद्बोधनों ने यू०के० के हिंदी प्रेमियों को अत्यंत सुंदर वातावरण प्रदान किया। इस वर्ष 'हिंदी सेवा सम्मान' दिया गया श्री कैलाश बुधकर को एवं 'संस्कृति सेवा सम्मान' से हमने सम्मानित किया प्रो० इन्द्रनाथ चौधुरी को।

जनवरी में मुझे अपने पिता से सूचना मिली कि इस वर्ष अमेरिका में होने वाला विश्व हिंदी सम्मेलन किसी कारण से नहीं हो रहा है और मैंने यह मन बनाया कि क्यों न हम यू०के० में इस आयोजन का प्रस्ताव भारत सरकार को भेज दें। फरवरी में डॉ० सिंघवी जी लंदन आए और मैंने अपना विचार उनके समक्ष रखा। फिर क्या था, हमारी तैयारियां आरंभ हो गयीं। भारत के विदेश मंत्रालय में हिंदी अनुभाग के प्रभारी श्री आर० एल० भगत जी को मैंने लिखित प्रस्ताव भेज दिया और जून में हमें मंजूरी मिल गई।

छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए मैंने डॉ० कृष्ण कुमार जी के साथ बर्मिंघम में गीतांजलि, अहिंसम एवं हिंदी समिति के कुछ सदस्यों के साथ विचार-विमर्श आरंभ किया। यार्क की भारतीय भाषा संगम ने हमारे साथ हाथ मिलाया। उसके अध्यक्ष श्री महेन्द्र वर्मा यार्क विश्वविद्यालय में भाषा विभाग के अध्यक्ष हैं। समिति ने उन्हें छठे विश्व हिंदी सम्मेलन की कार्यकारी समिति का अध्यक्ष एवं अकादमिक चेयरमैन चुना।

छठे विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन ऐसे समय हो रहा है जब पूरा पश्चिम जगत मिलेनियम यानि नई सहस्त्राब्दि के स्वागत की तैयारी में लगा हुआ है। ऐसे समय छठे विश्व हिंदी सम्मेलन को लंदन में, जो केवल ब्रिटेन ही नहीं अपितु पश्चिम जगत की राजधानी कहा सकता है, आयोजित करने के हमारे प्रस्ताव, हमारे संकल्प, हमारी योजना का विश्व के समस्त भारतीय साहित्य-प्रेमियों ने हृदय से स्वागत किया।

पिछले विश्व हिंदी सम्मेलनों के आयोजन भारत, मॉरीशस एवं त्रिनीडाड में किए गए हैं। वहां भारतीय मूल के लोगों का वर्चस्व है। परंतु ब्रिटेन तो अंग्रेजों का देश है। यहां की राजभाषा एवं संपर्क भाषा अंग्रेजी ही है। ब्रिटेन में रहने वाले भारतीयों का अपनी मातृभाषा के प्रति अपार प्रेम का परिणाम है कि आज ब्रिटेन की बहुराष्ट्रीय कम्पनियां जैसे ब्रिटिश टेलीकाम एवं एस०एम०ए० मिल्क तथा अनेक काउंसिल एवं बार अपने विज्ञापन हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में कर रहे हैं। यहां तक कि अनेक स्कूल, कालेज एवं विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जा रही है। परंतु पिछले कुछ वर्षों से यह चिंता भारत-मूल के निवासियों को अवश्य सता रही है कि यहां हिंदी के विद्यार्थियों में कुछ कमी आ रही है और इस विषय को लेकर कई जागरूक संस्थाएं इस विचार से इस प्रयास में लग गई हैं कि अपनी भाषा ही हमारी संस्कृति की संवाहिका है। अत: हमें अपने बच्चों को भारतीय भाषाएं पढ़ानी चाहिएं। इसी परिप्रेक्ष्य में छठे विश्व हिंदी सम्मेलन का मुख्य विषय 'हिंदी एवं भावी पीढ़ी'

रखा गया है।

लंदन शहर की एक विशेषता यह भी है कि वहां होने वाली प्रत्येक गतिविधि पर पूरा विश्व नजर रखता है, चाहे व्यापारिक दृष्टि से देखिए या मीडिया के फैले नेटवर्क सिस्टम की निगाह से, लंदन विश्व में विशेष महत्त्व रखता है और इसी कारण लंदन में विश्व हिंदी सम्मेलन होने से हमारा संदेश, हमारे विचार दुनिया भर में जाएंगे।

भारत में स्वतंत्रता आंदोलन की संपर्क भाषा हिंदी ही थी तथा 1947 में अंग्रेजों के भारत छोड़ते ही पूरे देश से एक स्वर में यह आवाज उठी कि हिंदी ही को राज भाषा का दर्जा दिया जाए। चाहे वे बंगाल के अरविंद घोष हों या पंजाब के लाला लाजपत राय, चाहे गुजरात के महात्मा गांधी हों या मद्रास के राज गोपालाचार्य, सभी ने हिंदी को भारत की राजभाषा पद की अधिकारिणी कहा। सुभाषचन्द्र बोस द्वारा विदेश में निर्मित आजाद हिंद फौज का सारा कार्य हिंदी में ही होता था जिसे जर्मनी तथा जापान जैसे देशों ने भारत की निर्वासित सरकार एवं भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दे दी थी। 14 सितंबर 1949 को हिंदी को भारत के संविधान में राजभाषा का दर्जा प्राप्त हुआ।

14 सितंबर 99 को हम राजभाषा हिंदी की स्वर्ण जयंती वर्ष का उद्घाटन उसी देश की राजधानी लंदन में करने जा रहे हैं जिसने 200 वर्षों तक भारत पर शासन किया और अपनी भाषा एवं संस्कृति से भारत पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। हम इस सत्य से भी इंकार नहीं कर सकते कि ब्रिटेन के मैक्समुलर, सिलवा लेवी, स्लेगन, कीथ जैसे भारतीय भाषाओं के विद्वानों ने भारतीय साहित्य को जो कुछ दिया है वह किसी से छिपा नहीं है। वे विदेशी ही थे जिन्होंने जायसी, सूर, तुलसी की खोज कर उन्हें प्रकाशित कर भारत का उस स्वर्णिम साहित्य से शृंगार किया। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल को हिंदी में डी० लिट० की डिग्री देने वाला भी इंग्लैंड का विश्वविद्यालय था। ब्रिटेन एवं भारत की साहित्यिक एवं आध्यात्मिक मित्रता हमें इस बात के लिए और अधिक प्रेरित करती रही कि हम विश्व हिंदी सम्मेलन जैसे आयोजन से इस ऐतिहासिक मित्रता का सम्मान एवं अभिनंदन करें।

हम लंदन में इस आयोजन के माध्यम से, विश्व में भारतीय भाषाओं के साहित्य के प्रति एक नवजागृति को जन्म देने का प्रयास कर रहे हैं। हम दुनिया भर में फैले भारतीय मूल के लोगों को हिंदी के महत्त्व, उसकी विशेषताओं को बताना चाहते हैं ताकि केवल ब्रिटेन ही नहीं अपितु पश्चिम जगत के समस्त देशों का प्रत्येक विश्वविद्यालय, कालेज एवं स्कूल हिंदी के विभाग खोले।

प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन 1975 में नागपुर में हुआ था। इसमें निर्णय लिया गया था कि संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान दिया जाए तथा वर्धा में 'विश्व हिंदी पीठ' की स्थापना हो। द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन के

अवसर पर मॉरीशस में यह तय हुआ कि वहां एक 'विश्व हिंदी केंद्र' की स्थापना हो तथा एक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका का प्रकाशन किया जाए। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ एवं पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलनों में हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा का रूप प्रदान करने की योजनाओं पर महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये।

अब तक संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को मान्यता नहीं मिली है, अनेक अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं में हिंदी को स्थान नहीं दिया गया है जिसका परिणाम है कि विश्व की श्रेष्ठतम भाषा हिंदी के किसी साहित्यकार को अब तक नोबल पुरस्कार नहीं मिला है। लंदन में विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन से विश्व स्तरीय संस्थाओं की ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय स्तर के प्रकाशकों की निगाह भी हिंदी साहित्य पर पड़ेगी। इस सम्मेलन के द्वारा हम भारतीय साहित्य को अंतरराष्ट्रीय मंच देना चाहते हैं। हम छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के द्वारा विश्व की प्राचीनतम संस्कृति का परिचय आधुनिक संसार से कराना चाहते हैं। मानव सभ्यता की नींव की याद दिलाना चाहते हैं।

14 सितंबर को लंदन में सम्मेलन एवं भारत की राजभाषा हिंदी की स्वर्ण जयंती वर्ष का उद्घाटन समारोह अत्यंत वृहद् रूप से किया जा रहा है। इस कार्यक्रम में मॉरीशस, ट्रिनीडाड, सूरीनाम एवं फिजी जैसे देशों के हिंदीभाषी प्रधानमंत्रियों के भी आने की संभावना है। इस सुअवसर पर कबीर की छः सौवीं जयंती के उपलक्ष्य में कबीर के चित्र के साथ चांदी का सिक्का भी जारी किया जा रहा है।

सम्मेलन में जापान के ओसाका विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा श्री मिजोकामि के नेतृत्व में हिंदी नाटक का मंचन भी होने जा रहा है जो सम्मेलन का एक विशेष आकर्षण होगा। यॉर्क, लंदन, मिडलैंड, केम्ब्रिज तथा मैनचेस्टर विश्वविद्यालयों के अलावा सोआस एवं भारतीय उच्चायोग तथा लंदन में भारतीय उच्चायुक्त श्री ललित मान सिंह का विशेष संरक्षण एवं सहयोग भी प्राप्त है।

लंदन स्थित नेहरू केंद्र, भारतीय विद्या भवन तथा बर्मिंघम की संपद संस्था भी सम्मेलन से जुड़ी हुई है। यार्क विश्वविद्यालय के श्री महेन्द्र वर्मा के नेतृत्व में एक पैनल, उच्च स्तरीय लेखों को एकत्रित एवं उनका चयन कर रहा है। गीतांजलि के अध्यक्ष डा० कृष्ण कुमार एवं सम्मेलन समिति की उपाध्यक्षा श्रीमती उषा राजे के नेतृत्व तथा बृज गोयल, दिव्या माथुर, तितिक्षा शाह, पियाली रे एवं श्री प्रफुल्ल अमीन के सहयोग से इस शताब्दी के अंतिम विश्व हिंदी सम्मेलन को उत्कृष्तम बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

□

विश्व हिंदी सम्मेलन: एक सिंहावलोकन

रतन लाल भगत

विश्व हिंदी सम्मेलन के इस छठे आयोजन के अवसर पर पीछे मुड़कर देखते हैं तो इन सम्मेलनों की कई प्रमुख उपलब्धियां दीखती हैं। भारत सरकार के विदेश मंत्रालय में उप सचिव (हिंदी) के पद पर कार्यरत श्री भगत ने यह विशिष्ट आलेख 'गगनाञ्चल' के लिए खास तौर पर लिखा है। प्रस्तुत है श्री भगत का यह विहंगावलोकन।

विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजनों की परंपरा सुदीर्घकालिक है। यह परंपरा हिंदी के प्रचार-प्रसार के परिप्रेक्ष्य में की गई एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके माध्यम से देश-विदेश स्थित लाखों भारतवंशी और विदेशी हिंदी और भारतीय संस्कृति से परिचित होते रहे हैं, और इस सम्मेलन के द्वारा ही अपनी धरती से जुड़ी उनकी यादें बरबस ताजा होती रही हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन की कल्पना का मूल आधार उन भावनाओं से अनुप्राणित होता है, जिसके अंतर्गत महात्मा गांधी प्रभृति मनीषियों ने वर्ष 1936 में भारत के हिंदीतर राज्यों में हिंदी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की थी। इसी वर्ष नागपुर में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था और इस अधिवेशन में जिसके अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद थे, हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए एक व्यापक रूपरेखा तैयार की गई थी। इस अधिवेशन में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, सेठ जमनालाल बजाज, काका साहेब कालेलकर, माखन लाल चतुर्वेदी तथा कई अन्य सुविख्यात विद्वजन शामिल थे। तब से ही राष्ट्रभाषा

प्रचार समिति, वर्धा हिंदी के प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देती आ रही है। अपनी परीक्षाओं के माध्यम से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा अब तक देश-विदेश में लाखों लोगों को हिंदी सिखा चुकी है।

विदेश में, विशेषकर जहां भारतीय मूल के लोग अधिक संख्या में रहते हैं, वहां हिंदी की पहचान भी दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती रही है। वहां हिंदी अपनी निरंतर पहचान बनाती रही और विदेशियों के मन में भी इस भाषा के प्रति रुचि जागृत करती रही। हिंदी के इस रूप को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप देने की दृष्टि से समिति ने विश्व भर के हिंदी विद्वानों, हिंदी प्रेमियों और सेवियों को एक मंच पर लाने का निर्णय किया। इसके पीछे एक प्रमुख उद्देश्य हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अंतरराष्ट्रीय संगठनों में एक आधिकारिक भाषा के रूप में सुस्थापित करना था। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्वावधान में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन 10-12 जनवरी, 1975 तक नागपुर में सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन हिंदी के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में एक मील का पत्थर सिद्ध हुआ।

प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्घाटन भारत की तत्कालीन प्रधान मंत्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया और उसकी अध्यक्षता मॉरीशस के तत्कालीन प्रधान मंत्री, सर शिवसागर रामगुलाम ने की। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रधान मंत्री सर शिवसागर रामगुलाम ने कहा कि उनके लिए हिंदी का महत्त्व इसलिए है कि यह भारत की भाषा होने के साथ-साथ एक अंतरराष्ट्रीय भाषा भी है और उसे यह स्थान दिलाने में मॉरीशस, सूरीनाम, गुयाना, फीजी और अफ्रीका के कई देशों का सराहनीय योगदान रहा है। इस सम्मेलन में भारत से हजारों प्रतिनिधियों के अलावा विश्व भर के 30 देशों के 122 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के मुख्य तीन विषय थे: हिंदी की अंतरराष्ट्रीय स्थिति; विश्व मानव की चेतना, भारत और हिंदी तथा आधुनिक युग और हिंदी। सम्मेलन में तीन प्रस्ताव पारित हुए: हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ में आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की जाए; वर्धा में विश्व हिंदी विद्यापीठ की स्थापना की जाए और सम्मेलन की उपलब्धियों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ठोस योजना बनाई जाए।

इस विश्व हिंदी सम्मेलन की सफलता से प्रेरणा पाकर, दूसरा विश्व हिंदी सम्मेलन 28 अगस्त से 30 अगस्त, 1976 तक मॉरीशस में हुआ। भविष्य में होने वाले सम्मेलनों के लिए यह जो परंपरा पड़ने जा रही थी, अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि थी। भारत से बाहर सम्मेलन का आयोजन होने से निश्चित ही हिंदी के उज्जवल भविष्य की कल्पना की जा सकती थी। इससे मॉरीशसवासियों के भीतर भी अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति अक्षुण्ण प्रेम और विश्वास का आभास होता है।

दूसरे विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्घाटन मॉरीशस के प्रधान मंत्री सर शिव सागर रामगुलाम ने और अध्यक्षता भारत के तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री डॉ० कर्ण सिंह

ने की। सम्मेलन में भारत से करीब 500 लोगों ने भाग लिया। फ्रांस, अमेरिका, जापान, चेकोस्लोवाकिया, इटली, इंग्लैंड आदि देशों के अनेक प्रतिनिधियों ने सम्मेलन के सत्रों में सक्रिय रूप से भाग लिया और अपने-अपने विचार व्यक्त किए। इस सम्मेलन के प्रमुख विषय थे: हिंदी की अंतरराष्ट्रीय स्थिति, शैली और स्वरूप; संचार माध्यम और हिंदी; स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका और विश्व में हिंदी के पठन-पाठन की समस्याएं। इस सम्मेलन में एक विशिष्ट प्रस्ताव तो यह पारित हुआ कि मॉरीशस में एक विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना की जाए और दूसरा यह कि एक अंतरराष्ट्रीय हिंदी पत्रिका का प्रकाशन किया जाए जो इस भाषा के माध्यम से ऐसे वातावरण का सृजन करे कि उससे *वसुधैव कुटुंबकम* की भावना प्रतिबिंबित हो।

तीसरा विश्व हिंदी सम्मेलन 28 से 30 अक्तूबर, 1983 को भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। भारत की तत्कालीन प्रधान मंत्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी ने सम्मेलन का उद्घाटन किया और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डॉ० आर०एस० मैग्रेगर ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। श्रीमती गांधी ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि यहां जो लोग आये हैं वे किसी राजनैतिक अथवा सामाजिक संकट पर विचार करने के लिए नहीं आये हैं, अपितु यह विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा का स्थान कैसे मिल सकता है। उन्होंने कहा था कि सबके मन में यह उत्कट इच्छा है कि हिंदी विश्वव्यापी भाषा बने, भारत के वैज्ञानिक हिंदी में सोचना और लिखना शुरू करें। भारत में मौलिक साहित्य इतनी प्रचुर मात्रा में लिखा जाए कि वह शोध तथा अन्वेषण का विषय बने। डॉ० मैग्रेगर ने कहा था कि जो भी देश अथवा व्यक्ति भारत को समझना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम हिंदी सीखनी होगी, हिंदी की उपयोगिता और विशेषता को समझना होगा। इस सम्मेलन की विभिन्न गोष्ठियों में हिंदी के अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रसार तथा विकास की संभावनाएं; वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में हिंदी की प्रगति; हिंदी—पत्रकारिता का सशक्त माध्यम; हिंदी के प्रसार-प्रचार तथा विकास में शैक्षिक संस्थाओं का योगदान तथा मानव मूल्यों की स्थापना में हिंदी की भूमिका पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में पिछले सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों की पुष्टि की गई।

चौथा विश्व हिंदी सम्मेलन 2 से 4 दिसंबर, 1993 को मॉरीशस में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का उद्घाटन मॉरीशस के प्रधान मंत्री श्री जगन्नाथ अनिरुद्ध ने किया। मॉरीशस के राष्ट्रपति श्री कासम उत्तीम ने कहा कि मॉरीशस में बड़ी संख्या में भोजपुरी लोग हैं और मॉरीशस में हिंदी को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। मॉरीशस के उप राष्ट्रपति श्री रवीन्द्र ने इसे अपना परम सौभाग्य बताया कि इससे पूर्व भी उन्हें विश्व हिंदी सम्मेलनों में भाग लेने का अवसर मिला। हिंदी परिवार से मिलना और एक-दूसरे की आत्मीयता और घनिष्ठता को समझने और जानने का अवसर पाना निश्चय ही सौभाग्य और आनंद की बात है। दूसरा विश्व हिंदी सम्मेलन 1976 में

मॉरीशस में हुआ था, लेकिन उस समय की मॉरीशस की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां भिन्न थीं। इस बदली हुई परिस्थिति में हिंदी को उसके गंतव्य तक पहुंचाने के लिए नवीन जोश और उत्साह का संचार स्पष्ट नजर आ रहा था।

चौथे विश्व हिंदी सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थे: भारत और मॉरीशस के प्रधान मंत्रियों से परामर्श करके तीन माह के भीतर एक स्थायी समिति और सचिवालय गठित किया जाए जिसका लक्ष्य भविष्य में होने वाले विश्व हिंदी सम्मेलनों का आयोजन करना और अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी का उत्थान और विकास करना होगा; वर्धा में विश्व हिंदी पीठ की स्थापना; भारत और भारत मूल के लोगों के बीच सर्वाधिक संचार व्यवस्था को सुदृढ़ करना और आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा समाचार समितियों के बीच संबंध प्रगाढ़ करना; राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी का प्रयोग एवं प्रभाव बढ़ाना; मॉरीशस में विश्व हिंदी केंद्र की स्थापना तथा हिंदी प्रेमियों से सार्वजनिक कार्यों में हिंदी का अधिकाधिक प्रयोग कराना और निजी निमंत्रण-पत्रों और नाम-पट्टों आदि पर हिंदी का प्रयोग करना।

विश्व हिंदी सम्मेलनों की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन त्रिनीडाड और टोबेगो की राजधानी पोर्ट आफ स्पेन में आयोजित किया गया। यह सम्मेलनों की दिशा में निरंतर बढ़ते हुए कदम का परिचायक था। भारत के सरकारी शिष्टमंडल का नेतृत्व अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री माता प्रसाद ने किया। विदेशों से भी अनेक गणमान्य विद्वानों ने इस सम्मेलन में भाग लिया, जिनमें डॉ० ओदोलेन स्मेक्ल, प्रो० हरिशंकर आदेश, डॉ० ब्रिस्की, डॉ० अभिमन्यु अनत, प्रो० चिन तिंगहान शामिल थे। 4 से 8 अप्रैल, 1996 तक हुए इस सम्मेलन में पारित मंतव्य इस प्रकार हैं: भारवंशी समाज और हिंदी के बीच समीकरण का समर्थन और विश्व भर के भारतीय मूल का समाज हिंदी को अपनी संपर्क भाषा के रूप में स्थापित करेगा और एक विश्व हिंदी मंच बनाने की दिशा में सार्थक प्रयास; मॉरीशस में एक स्थायी सचिवालय की स्थापना और क्रियान्वयन के लिए अंतर-सरकारी समिति का गठन; सभी देशों, विशेषकर ऐसे देशों से, जहां भारतीय मूल के लोग तथा प्रवासी भारतीय बसते हैं, अपने देश में हिंदी के पठन-पाठन की व्यवस्था और हिंदी भाषा को प्राप्त जनाधार और उसके प्रति जनभावना को ध्यान में रखते हुए उन सभी देशों, जहां भारतीय मूल के लोग रहते हैं, की स्वयंसेवी संस्थाओं, हिंदी विद्वानों से आग्रह किया कि वे अपनी-अपनी सरकारों से हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाने के लिए राजनयिक समर्थन देने का अनुरोध करें।

विश्व हिंदी सम्मेलन की इस परंपरा को आगे बढ़ाते हुए नये उत्साह के साथ 14 से 18 सितंबर 1999 तक लंदन में छठे विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। सन् 1975 से अब तक की अवधि में जितने भी सम्मेलन हुए उनसे हिंदी को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने में बहुत बड़ा योगदान मिला है। विश्व पटल

पर हिंदी और अधिक सजीव हुई है तथा हिंदी भाषा के माध्यम से विदेशों में रह रहे भारतीय मूल के लोग, प्रवासी भारतीय तथा वे लोग भी जो हिंदी भाषा में रुचि रखते हैं, पढ़ते-लिखते हैं, भारत के हिंदी विद्वानों से जुड़े हैं, भारतीय संस्कृति, समाज से उनका नाता बना और बढ़ा है। इसके द्वारा भारत के अन्य देशों के साथ संबंध सुदृढ़तर हुए हैं।

राजभाषा के रूप में हिंदी को अपनाने के स्वर्ण जयंती वर्ष का शुभारंभ छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के उद्घाटन के द्वारा किया जा रहा है। अत: इस सम्मेलन का विशेष महत्त्व है। इस सम्मेलन में हिंदी के प्रचार-प्रसार को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है, इसे किस प्रकार और अधिक समृद्ध बनाया जा सकता है, कम्प्यूटर, इंटरनेट, वेबसाइट के द्वारा इसे किस प्रकार जन-जन तक पहुंचाया जा सकता है, पर विचार किया जाएगा।

विश्व हिंदी सम्मेलन में पारित मंतव्यों में प्रमुख मंतव्य, जिन पर एकाधिक सम्मेलनों में बार-बार चर्चा हुई है, मॉरीशस में विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना, वर्धा में विश्व हिंदी पीठ की स्थापना और संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाना। विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना के लिए समझौता ज्ञापन पर दोनों देशों के प्रतिनिधि यथाशीघ्र हस्ताक्षर करने जा रहे हैं और सचिवालय की स्थापना की विधिवत घोषणा छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान किए जाने की आशा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में स्थापित किया जा चुका है और वह श्री अशोक वाजपेयी, कुलपति के कुशल नेतृत्व में कार्य कर रहा है।

भारत सरकार ने प्रत्येक सम्मेलन के आयोजन पर भरपूर सहयोग एवं मदद दी है। भारत एवं विदेशों के हिंदी विद्वानों, देश और विदेश में हिंदी के स्वयंसेवी संगठनों ने भी इस उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में अपने प्रयासों में कोई कसर उठा नहीं रखी है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात विदेशों में रह रहे हिंदी प्रेमियों, स्वैच्छिक संगठनों आदि का भी उत्साहपूर्ण योगदान रहा है। इन विश्व हिंदी सम्मेलनों से हिंदी को गति और दिशा—दोनों मिली हैं। हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़ा है और हिंदी जो समस्त विश्व में पढ़ी, बोली और समझी जाती है, उसका और अधिक परिष्कृत और परिमार्जित रूप उभर कर सामने आएगा, ऐसा विश्वास है।

□

विश्व हिंदी सम्मेलनों की तस्वीर

हरीश नवल

युवा ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित व्यंग्यकार डॉ० हरीश नवल हिंदी के प्रसार-प्रचार कार्य में सतत् प्रयत्नशील हैं। वे 'साहित्य कला परिषद' के 'हिंदी मंच' के संयोजक रहे हैं। उनकी हिंदी सेवाओं पर उन्हें अनेक सम्मान प्राप्त हुए हैं। उन्होंने अमेरिका, यूरोप तथा एशिया के अनेक देशों में आयोजित हिंदी सम्मेलनों में सक्रिय भागीदारी की है।

सत्रह अप्रैल, 1992 का वह सुहाना और ऐतिहासिक दिन था जब प्रात: ग्यारह बजकर पांच मिनट पर उस श्यामवर्णा युवती की वाणी पोर्ट ऑफ स्पेन के रुद्रनाथ कपिलदेव लर्निंग सेंटर के भव्य प्रेक्षागृह में गूंज उठी थी। भावावेश में उन्मादित कर देने वाला क्षण था जब पश्चिमी गोलार्द्ध में हो रहे प्रथम अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर कैरेबियन सागर के देश त्रिनिडाड की कुमारी मारिया एडवर्ड हिंदी भाषा में धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तुत कर रही थीं। व्याकरण तथा शुद्ध भाषा की तलाश में निकले आचार्यों द्वारा संस्तुत हिंदी वह नहीं बोल पा रही थीं अपितु भावों को जगा रही थीं। तभी लुईस कैरोल की उक्ति चरितार्थ हो पाई थी, "तुम केवल भावों पर ध्यान रखो, स्वर अपनी चिंता स्वयं कर लेंगे।"

हिंदी के प्रति यही समर्पित भाव वह ठोस कारण है जिसके हेतु विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं। हिंदी की अस्मिता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, वह विश्व की लगभग 2800 भाषाओं में संर्वाधिक बोली जाने वाली मंडारिन और अंग्रेजी के पश्चात तीसरी भाषा है। प्रयोगकर्ताओं की संख्या साठ करोड़ से अधिक

है। विश्व के प्राय: हर एक भू-भाग पर हिंदी जीवित है जिसका एक उदाहरण भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय के अतिरिक्त विश्व के एक सौ पचास से अधिक विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठन-पाठन है। निर्विवाद हो सकता है यह कहना कि हिंदी विश्व-भाषा का दर्जा प्राप्त करने के सर्वथा योग्य है।

विश्व-भाषा का यह रूप पच्चीस वर्ष पूर्व तब उभरा जब सन् 1975 की सर्द जनवरी की 10 तारीख को नागपुर में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्घाटन दो देशों के प्रधानमंत्रियों की उपस्थिति में हुआ था। मॉरीशस के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम की अध्यक्षता में उद्घाटन करते हुए भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था कि हिंदी विश्व की महान भाषाओं में से एक है, यह करोड़ों की मातृभाषा है और करोड़ों के लिए दूसरी भाषा है। श्री रामगुलाम ने भारत के कोने-कोने से पधारे तीन हजार प्रतिनिधियों तथा तीस अन्य देशों से आए 122 प्रतिनिधियों और भागीदारी कर रहे सहस्त्रों प्रेक्षकों के समक्ष उद्घाटित किया था कि हिंदी अंतरराष्ट्रीय भाषा है।

प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन, हिंदी के शंखनाद की प्रथम गूंज थी जिसमें भारतीय जनमानस यह जानकर चकित हो उठा था कि गोरे विदेशी भी कितनी अच्छी हिंदी बोलते हैं। जर्मनी के हिंदी विद्वान श्री लोठार लुत्ज़े ने अपनी ओजस्वी वाणी में तत्सम् शब्दावली का प्रयोग करते हुए भारत की सबसे बड़ी भाषा की भारतीयों द्वारा की जा रही अवहेलना पर चिंता व्यक्त की थी। चेक विद्वान श्री आदोलेन स्मेकल ने मानक हिंदी और भारत की अस्मिता पर गंभीर विचार जिस शैली में प्रस्तुत किए, उन्हें सुनना एक विस्मयकारी अनुभव था।

मॉरीशस, फीजी और सूरीनाम से आए आप्रवासी भारतीयों ने जब विह्वल वाणी में सूर, तुलसी के साहित्य की चर्चा तथा हिमालय और गंगा के भारत की बात की, श्रोताओं की आंखें ड़बड़बा आईं थीं।

नि:संदेह तब हमें हिंदी की ताकत का आभास हुआ था। हिंदी को अमेरिकी, जापानी, चीनी, कोरियन, हंगेरियन, इटालियन, कनाडियन, नार्वेजियन, स्वीडिश, फ्रेंच, अंग्रेजी, डच, रूसी, बेल्जियन, तुर्की, अफ्रीकी, पॉलिश, जर्मन, आस्ट्रियन, आस्ट्रेलियन, न्यूजीलैंडी भी प्रयोग करते हैं, उसके साहित्य का शोध करते हैं—यह जानकर भारतीय हतप्रभ भी हुए थे। फीजी, मॉरीशस, सूरीनाम, गयाना और त्रिनिडाड में ड़ेढ़ सौ वर्ष पूर्व 'गिरमिटिया' बनकर गए भारतीयों के संघर्ष की लोमहर्षक गाथाएं भी तभी ज्ञात हुईं। अंधकार के उन दिनों में प्रकाशस्तंभ का कार्य हिंदी ने किया था, यह तथ्य भी इसी सम्मेलन तथा बाद के सम्मेलनों में उभरकर आए थे।

द्वितीय सम्मेलन का उद्घाटन मॉरीशस की धरती पर 28 अगस्त, 1976 को महात्मा गांधी संस्थान पोर्टलुईस में हुआ। 21 देशों के प्रतिनिधियों में भारत की ओर से लगभग 500 हिंदी-प्रेमियों ने भाग लिया जिनमें पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उपेंद्रनाथ अश्क, विमल मित्र, अनंतगोपाल शेवड़े जैसे प्रख्यात साहित्यकार भी सम्मिलित थे।

इस सम्मेलन में मॉरीशस रवाना होते हुए हिंद महासागर के वक्ष के ऊपर से गुजरते एयर इंडिया के विमान में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता विद्वान राजपुरुष डॉ० कर्ण सिंह की प्रेरणा से एक कवि सम्मेलन हुआ था जिसका संचालन डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन ने किया था। संभवत: वह प्रथम आकाशीय कवि सम्मेलन था जिसकी स्मृति अमिट रूप से प्रतिनिधियों के मानसपटल पर अंकित हैं।

तीसरा विश्व हिंदी सम्मेलन सात वर्ष के अंतराल पश्चात् 28 अक्तूबर, 1983 को दिल्ली के इंद्रप्रस्थ स्टेडियम में उद्घाटित हुआ। यह अब तक का सबसे बड़ा सम्मेलन था। इसमें अपेक्षा से कहीं अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कुल संख्या थी 6566 जिससे सम्मेलन का व्यवस्था-तंत्र गड़बड़ा गया था। विदेशी प्रतिनिधियों की संख्या 260 थी जो तीस देशों से पधारे थे तथा 110 घंटे चर्चा-सत्र में भाग ले सके थे। भारत की राजधानी होने के नाते सम्मेलन महत्त्वपूर्ण था। सरकारी तौर पर अशोक होटल के उद्यान में देशी-विदेशी प्रतिनिधि एक मधुर संध्या बिताने के हकदार बने थे। भारतीय वेशभूषा में एक यूरोपियन विद्वान जिन्होंने प्रेमचंद पर कार्य किया है, आकर्षण के मुख्य केंद्र बन गए थे, उन्होंने अपने कुर्ते के आगे तथा पीछे चिपके पोस्टरों पर लिखा था 'कृपया मुझे 'प्रेमचंद' नाम से बुलाएं।' कालांतर में ज्ञात हुआ कि उनके मकान का नाम प्रेमचंद के गांव के नाम पर 'लमही' रखा गया था। फीजी से पधारे युवा खेल मंत्री डॉ० विवेकानंद शर्मा के वक्तव्यों को बहुत पसंद किया गया। उन्होंने अगला सम्मेलन फीजी में आयोजित करने की पेशकश की थी किंतु हिंदी-प्रेमियों को कुछ दिनों बाद यह जानकर आघात लगा था कि फीजी में मिलिट्री सरकार बन गई और डॉ० विवेकानंद शर्मा को भारत में शरण लेनी पड़ी। वे दस-ग्यारह वर्ष के भारतीय प्रवास के बाद पुन: फीजी में लोकतांत्रिक सरकार बनने पर गए हैं तथा साउथ पेसेफिक विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ा रहे हैं। वे एक साहित्यिक पत्रिका निकाल रहे हैं तथा फीजी रेडियो के हिंदी सलाहकार भी हैं।

चौथा विश्व हिंदी सम्मेलन 2 दिसंबर से 4 दिसंबर 1993 तक पुन: मॉरीशस में आयोजित हुआ। 25 देशों से लगभग 300 विदेशी विद्वान प्रतिनिधि वहां सम्मिलित हुए जिनमें सबसे बड़ा प्रतिनिधि दल भारत का था। इस बार भी योजना थी कि आकाशीय कवि सम्मेलन किया जाए जिसकी संयोजन तैयारियां डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण और डॉ० हरीश नवल कर रहे थे किंतु दुर्भाग्य बली था, भारतीय विद्वान प्रतिनिधि डॉ० प्रशांत वेदालंकार का आकस्मिक निधन विमान चलने से कुछ मिनट पूर्व ही एयरपोर्ट पर हो गया। प्रतिनिधि मंडल बहुत भारी मन से मॉरीशस को बढ़ा तथा विमान में कविता के स्थान पर शोक-प्रस्ताव पढ़ा गया।

पांचवां सम्मेलन दक्षिण गोलार्द्ध के देश ट्रिनिडाड एवं टुबैगो में 4 से 6 अप्रैल

1996 को आयोजित हुआ जिसमें 33 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यह एक विशिष्ट घटना थी जिसकी भूमिका ट्रिनिडाड के श्री चनका सीताराम, भारतीय उच्चायुक्त प्रो० लक्ष्मणा तथा द्वितीय सचिव डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण ने 1992 में तैयार की थी, जिसकी चर्चा लेख के आरंभ में की गई है। पांचवें सम्मेलन के ट्रिनिडाड के कर्णधारों में एक अत्यंत उल्लेखनीय नाम श्री रवि महाराज का है जिन्होंने मॉरीशस में प्रस्ताव रखा था कि पांचवां सम्मेलन उनके देश में हो। श्री रवि महाराज उस देश के उन चंद नागरिकों में हैं जिनका हिंदी बोलने तथा लिखने का अच्छा अधिकार है। संयोजन समिति के अध्यक्ष श्री चनका सीताराम देश के धनाढ्य व्यक्तियों में से एक हैं जो हिंदी बोलने में समर्थ नहीं है किंतु समर्पित हैं। उन्हीं के प्रयासों से ट्रिनिडाड में 'हिंदी-निधि' नामक संस्था का जन्म हुआ है जिसके प्रयासों से हिंदी वहां के विद्यालयों में पाठ्यक्रम का हिस्सा बन सकती है।

छठा विश्व हिंदी सम्मेलन 14 सितंबर, 1999 से लंदन में आयोजित हो रहा है। यह इस शताब्दी का अंतिम विश्व हिंदी सम्मेलन होगा अपितु इस सहस्राब्दि का ही समापन सम्मेलन होगा। हिंदी की यात्रा भी हजार वर्ष की है। 14 सितम्बर 1949 को इसे भारत की राजभाषा घोषित किया गया था, इसकी स्वर्ण जयंती का यह सुनहरा अवसर है।

विगत सम्मेलनों की 25 वर्षीय तथा राजभाषा की 50 वर्षीय यात्राओं में हिंदी ने क्या पाया, क्या खोया—यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या भारत की संपर्क भाषा, राजभाषा का रूप पाकर भी राष्ट्रभाषा का सम्मान प्राप्त कर पाई, क्या उसे विश्व-भाषा की संज्ञा का अनुमोदन मिल सका? इन पांच सम्मेलनों में जो संकल्प लिए क्या वे पूर्ण हुए अथवा विकल्पों में परिवर्तित कर दिए गए, क्या हिंदी साहित्य और भाषा का सतत् प्रभाव विश्व साहित्य पर पड़ सका या इन सम्मेलनों के आयोजनों को मात्र उल्लास और सुअवसर की घटना मानकर ही मनाते और भुनाते भर रहे हैं?

प्रथम सम्मेलन में ही प्रस्तावित हुआ था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा के रूप में स्थान दिया जाए—प्रस्ताव के जोरदार समर्थन से ऐसा लग रहा था मानो यह बहुत शीघ्र घटित होने वाला है—किंतु वह अभी तक घटा ही नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ में कभी-कभी किसी राजनेता के हिंदी में वक्तव्य देने की चर्चा होती है, उसे सम्मानित किया जाता है किंतु बस यहीं तक सब सीमित हो जाता है। 1 जून, 1998 का दिन कुछ सीमा तक ऐतिहासिक दिन है जब जेनेवा में अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा आयोजित अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में सन् 1919 से लेकर अब तक हुए 86 सत्रों में प्रथम बार भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता डॉ० सत्यनारायण जटिया श्रम मंत्री (भारत सरकार), ने अपना संपूर्ण भाषण हिंदी में दिया। सच है प्रयोगकर्ता समर्थन, प्रतीक्षा नहीं करते, जब हिंदी में कहना है, कह देते हैं भले ही वह किसी विश्व सम्मेलन में पारित हुआ हो अथवा नहीं। इससे पहले हमारे

प्रधानमंत्री जी श्री अटल बिहारी वाजपेयी जब विदेश मंत्री के रूप में संयुक्त संघ को संबोधित करने गये तो हिंदी में उन्होंने भारत की वाणी को सारे संसार के प्रतिनिधियों के सामने मुखरित किया था।

दूसरे सम्मेलन में चर्चा के विषय थे 'हिंदी की अंतरराष्ट्रीय स्थिति, शैली और स्वरूप' तथा 'हिंदी के पठन-पाठन की समस्याए'। हिंदी की अंतरराष्ट्रीय स्थिति ऐसा विषय है जो प्रथम सम्मेलन से अब तक किसी न किसी रूप में चर्चित होता रहा है अपितु परिचर्चित भी होता रहा है। सम्मेलनों की गोष्ठियों में इस संदर्भ में कहा गया कि हिंदी अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने में भारतीय भाषाओं में सर्वोपरि है। ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ आदि की दृष्टि से यह संस्कृत भाषा का अनुसरण करती है। सर्वविदित है कि संस्कृत आदि भाषाओं ग्रीक, ईरानी, लैटिन आदि के समकक्ष है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के रूप भी हिंदी में स्वीकृत हैं।

हिंदी भाषा देवनागरी लिपि में पढ़ी-लिखी जाती है। भारत में सिंधु-घाटी, खरोष्ठी और ब्राह्मी—तीन लिपियों का प्रादुर्भाव रहा है किंतु नागरी लिपि दुनिया की किसी भी लिपि की तुलना में शुद्ध और अकृत्रिम है। सुगम और सरल भी है। यह एक वैज्ञानिक लिपि है, इस जैसी विशेषताएं अंग्रेजी की लिपि में भी नहीं हैं।

जहां तक हिंदी वाङ्मय का प्रश्न है, यह अत्यंत समृद्ध है। मानव कल्याण के संदर्भ में सत्यं, शिवं और सुंदरम के आधार पर इसमें साहित्यिक रचना हुई है। तुलसी, सूर, भारतेंदु, निराला, प्रेमचंद, प्रसाद, महादेवी, पंत, दिनकर, अज्ञेय आदि हिंदी के ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य के गौरव हैं—इस दृष्टि से भी हिंदी का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप स्पष्ट है।

कहा जाता है कि हिंदी व्यवसाय की भाषा नहीं है, जैसा कि अंग्रेजी, फ्रेंच आदि हैं। इस संदर्भ में भी सम्मेलनों में हिंदी के प्रति चिंता व्यक्त की गई। अब बिल गेट्स की रुचि हिंदी सॉफ्टवेयर में है अत: शीघ्र ही इसका समाधान भी हो जाएगा। भारत इस समय विश्व की सबसे बड़ी मंडियों में से एक है जहां हिंदी के बिना काम नहीं चलता। चाहे टी०वी० कार्यक्रम हों या विज्ञापन—हिंदी सर्वोपरि है।

तीसरे विश्व हिंदी सम्मेलन में भारतीय मूल के जनसमुदाय में हिंदी के प्रसार, विश्व के अन्य देशों में हिंदी का प्रचार-प्रसार, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अंतरराष्ट्रीय संगठनों में हिंदी का प्रयोग, हिंदी पत्रकारिता आदि विषयों पर बौद्धिक चर्चा के साथ-साथ फिर देवनागरी लिपि तथा हिंदी के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप को लेकर गोष्ठियों में सार्थक-निरर्थक बहसें हुईं।

चतुर्थ सम्मेलन में भी लगभग वैसे ही विषय चुने गए। वही एकरसता वाले विषय जैसे कि विश्व में हिंदी के प्रचार-प्रसार को प्रोत्साहित करना, विश्व में हिंदी भाषा की उपलब्धियों एवं संभावनाओं पर विचार-विमर्श करना, हिंदी के माध्यम से संस्कृति को संबल प्रदान करते हुए अपनी अस्मिता बनाए रखना आदि।

पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन में त्रिनिडाड सरकार तथा भारत सरकार ने मिल कर कुछ कार्य प्रतिनिधियों के हित में किए जिनमें एक था उनसे वीसा शुल्क न लेना, कस्टम और सुरक्षा जांच से मुक्त रखना तथा होटलों के साथ-साथ प्रतिनिधियों को भारतीय आप्रवासियों के घरों में सत्कारपूर्वक ठहराना। परिचर्चा गोष्ठियों के मुद्दे नए नहीं थे। हां, वैज्ञानिक दृष्टिकोण हो गया था—सॉफ्टवेअर पर ध्यानाकर्षण किया गया। यहां तक कि प्रधानमंत्री श्री वासुदेव पाण्डेय ने अपने लिए हिंदी सॉफ्टवेअर ही खरीद लिया।

छठे विश्व हिंदी सम्मेलन को भावी पीढ़ी के लिए समर्पित किया गया है। मुख्य थीम 'हिंदी और भावी पीढ़ी' रखा गया है तथा आलेखों के लिए 22 विषय निर्धारित किए गए हैं जो अधिकतर हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं पर आधारित हैं।

प्रश्न उठते हैं कि बार-बार विषयों को दोहरा कर, कितनी बार उन पर विचार कर हिंदी को कथनी में बहुत गरिमामय घोषित किया जाएगा?

सरकार हो या गैरसरकारी संस्थाएं, उद्देश्य हिंदी को गरिमा प्रदान करते हुए उसका प्रसार करना है, परंतु 25 वर्ष के सतत् उपक्रमों के बावजूद हम हिंदी की स्थिति अपने ही घर में सुदृढ़ नहीं कर पाए। विश्व में हिंदी सब जगह होगी लेकिन भारतीय दूतावासों में नहीं होती, इसका प्रमाण बार-बार सामने आता है। युवा पीढ़ी में हिंदी के प्रति उत्साह केवल पॉप गीतों तक ही सीमित है। साहित्य की ओर तथा कामकाज में हिंदी कहां है? सम्मेलनों में बार-बार हिंदी को गरिष्ठ रूप देकर, संस्कृतनिष्ठ बनाया जा रहा है। हिंदी को जबरन भारी-भरकम बनाकर उसके अनुवाद दिए जाते हैं, साधारण पाठक उन्हें समझ ही नहीं पाता।

संप्रेषणीयता पर सम्मेलनों में बात कम होती है। भाषा वैज्ञानिक रूप पर भी चर्चा न्यून है। भाषा का विकास, उसकी गति नदी की भांति है किंतु प्रभावी व्यक्ति उस गंगा नदी को बंगाल की खाड़ी से पुन: गोमुख में प्रवेश कराने को उत्सुक हैं। किंतु यह संभव नहीं है। हिंदी आज कितनी ही उप-भाषाओं, बोलियों तथा अन्य भाषाओं (जिनमें उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी भी हैं) के शब्दों को वहन करती आगे बढ़ रही है, उसे पीछे धकेलकर संस्कृत बनाने की चेष्टा इसके प्रसार-प्रचार में बाधा उपस्थित कर रही है। सम्मेलनों में इस भाषा वैज्ञानिक तथ्य पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

हिंदी के प्रति रुचि, उत्सुकता उत्पन्न करने से पूर्व उसे आदर देना उचित है। हिंदी वह मां है जिसके बेटे देशी भी हैं और विदेशी भी हैं। यह सिखाया है सम्मेलनों ने। तभी कहा गया कि भाव ज्यादा जरूरी हैं, लुईस कैरोल का कथन पुन: रेखांकित करना समीचीन है : 'तुम केवल भावों पर ध्यान रखो, स्वर अपनी चिंता स्वयं कर लेंगे।'

□

हिंदी पहले और सब बातें बाद में

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा

हिंदी के अनन्य प्रेमी तथा लेखक डॉ० वीरेन्द्र शर्मा ने देश से बाहर रहकर भारत का प्रतिनिधित्व किया है। आइए, उनके साथ करें विश्व हिंदी सम्मेलनों की विगत तथा भावी यात्राएं।

मॉरीशस के प्रख्यात हिंदी-सेवी और साहित्यकार सोमदत्त बखोरी ने सन् 1967 के अक्तूबर-दिसंबर में भारत की यात्रा की थी। इस यात्रा का वर्णन उन्होंने 'गंगा की पुकार' नामक पुस्तक में किया है। पुस्तक बड़ी रोचक और भावपूर्ण हैं। बखोरी जी ने प्रस्तावना में लिखा है, "आखिर मेरी इच्छा पूरी हुई। हमेशा से मैं भारत की यात्रा करना चाहता था। बचपन से उसके बारे में पढ़ता-सुनता आ रहा था। उसके दर्शन के लिए लालायित था।" पुस्तक की भूमिका में राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है, "इस पुस्तक का नाम बड़ा ही कवित्वपूर्ण है। गंगा अपनी संतानों को पुकारती है, चाहे संतानें भारत में रहती हों अथवा भारत से बाहर। मॉरीशस में मैंने देखा है कि वहां के हिंदू भारत का नाम, स्मरण कितनी श्रद्धा, ललक और पुलक के साथ करते हैं। अवश्य ही गंगा उन्हें पुकारती है। अवश्य ही सोमदत्त जी गंगा की आध्यात्मिक पुकार सुनकर गंगा का दर्शन करने को आए थे।"

लेखक ने इसी पुस्तक में लिखा है, "भारत में मैं कहा करता था कि हिंदी परिवार अब भारतीय परिवार ही न रहा। बहुत लोग यह सुनकर चकित हो जाते हैं पर क्या बात सच नहीं है? आज मॉरीशस में ही नहीं, पर भारत के बाहर और कितने ही दूसरे स्थानों में हिंदी का प्रचार-प्रसार हो रहा है। क्या इस वृहत् परिवार का ख्याल किसी ने कभी किया है? हर साल न सही, पर हर दो साल में एक बार या हर तीन

साल में एक बार एक ऐसे सम्मेलन का होना परमावश्यक है। संसार-भर के हिंदी-प्रेमियों के साथ ही साथ हम भी मॉरीशस से उसमें भाग लेने के लिए आएंगे...''

बखोरी जी की यह परिकल्पना, जिसमें असंख्य हिंदी अनुरागियों की मनोकामनाएं अंतर्निहित हैं, उस दिन साकार हुईं जब 10 जनवरी, 1975 को नागपुर में ऐतिहासिक प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में जहां पहली बार हिंदी की विश्वव्यापी प्रेरणास्पद-छवि के दर्शन हुए, वहीं विश्व-मैत्री एवं अंतरराष्ट्रीय सौहार्द की वाणी के रूप में उसकी प्रतिष्ठा से एक नवीन आत्मिक आह्लाद की अनुभूति हुई। वस्तुत: विश्व हिंदी सम्मेलन की समग्र अवधारणा के संबंध में प्रो० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के 'विश्व हिंदी' की भूमिका में लिखित यह टिप्पणी अतिशय सारगर्भित हैं: 'विश्व हिंदी सम्मेलन की संकल्पना अत्यंत व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। यह एक अपूर्व भाषायी संगम है जहां न केवल अनेक देशों के हिंदी-प्रेमी एक मंच पर एकत्रित होकर हिंदी की राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय भूमिका पर विचार करते हैं अपितु हिंदी भाषा के माध्यम से मानव-मूल्यों की विविध समस्याओं के समाधान खोजने की भी कोशिश करते हैं। हम यह जानते हैं कि किसी भी भाषा में समाज को जोड़ने और तोड़ने की दोनों शक्तियां संभावना के रूप में निहित रहती हैं। द्वेष और कटुता के वातावरण में आज यह आवश्यक हो गया है कि भाषा की इस दुहरी शक्ति को हम पहचानें और विभिन्न भाषायी समाज के मैत्रीपूर्ण संबंधों को दृढ़ करने वाली भाषा के रूप में उसे नियोजित करें। विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्देश्य एक ओर उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को गति देना है जो हिंदी के राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय रूप को पुष्ट करती है और दूसरी ओर संपूर्ण विश्व में सद्भाव और मैत्री की भावना को दृढ़ करते हुए 'एक विश्व, एक परिवार' के लक्ष्य साधन के सार्थक उपकरण के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करना है।''

प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर अनेक देशों से प्रतिनिधि आए थे किंतु तत्कालीन प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम के नेतृत्व में सबसे बड़ा प्रतिनिधि मंडल मॉरीशस से आया था। उद्घाटन समारोह में अध्यक्ष पद से अपने भाषण में उन्होंने कहा था, ''हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा तो है, लेकिन हमारे लिए इस बात का अधिक महत्त्व है कि यह एक अंतरराष्ट्रीय भाषा है। मॉरीशस, सूरीनाम, गयाना, फीजी, अफ्रीका के कई देश इस बात का मान करते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषा को अंतरराष्ट्रीय बनाने में उनका हाथ रहा है।''

भारतीय मानस के मूलभूत संदर्शन—विश्व की एकता एवं सर्व-समन्वयी भावना के अनुरूप प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का बोध वाक्य था, *''वसुधैव कुटुम्बकम्''*— संपूर्ण विश्व ही एक परिवार है।

नागपुर में संपन्न प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में प्रमुखरूपेण तीन प्रस्ताव निर्णीत हुए थे : संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को आधिकारिक भाषा की मान्यता प्राप्त हो। इसके

लिए यह संस्तुति की गई कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक क्रमबद्ध कार्यक्रम बनाया जाए; एक विश्व हिंदी विद्यापीठ की स्थापना हो तथा विश्व हिंदी सम्मेलन को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के लिए एक स्थायी हिंदी संस्था का गठन किया जाए और इसके लिए एक ठोस कार्य योजना बनाई जाए।

मॉरीशस में हिंदी के प्रति अत्यंत अनुराग और विश्व हिंदी सम्मेलन के प्रति उत्साह के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन 28-30 अगस्त, 1976 को मॉरीशस में सम्पन्न हुआ। उद्घाटन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता तत्कालीन स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्री डॉ० कर्ण सिंह ने कहा था, "मेरा विश्वास है कि इस सम्मेलन से हिंदी को बहुत लाभ होगा और हिंदी भाषा-भाषियों को तथा हिंदी-प्रेमियों को नई प्रेरणा मिलेगी। मैं यह स्पष्ट कर दूं कि हिंदी केवल उन व्यक्तियों तक सीमित नहीं है जिनकी यह मातृभाषा है। मेरी अपनी मातृभाषा डोगरी है और हमारे प्रतिनिधि मंडल के अनेक सदस्य हिंदीतर भाषी प्रदेशों से हैं। जैसे अंग्रेजी को लाखों लोग बोलते हैं जिनकी वह मातृभाषा नहीं है, वैसे ही हिंदी भी एक अंतरराष्ट्रीय भाषा होने के नाते प्रयुक्त होनी चाहिए। इसमें कोई जाति या धर्म का प्रश्न भी नहीं है। ऐसी भाषाएं तो समस्त मानव जाति की निधि हैं।"

उद्घाटन समारोह के पश्चात् मॉरीशस में विभिन्न विचार-सत्रों में इन विषयों पर प्रमुख रूप से चर्चा हुई :

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय स्थिति और स्वरूप; जन संचार के साधन और हिंदी; हिंदी के प्रचार में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका तथा विश्व में हिंदी के पठन-पाठन की समस्या। मॉरीशस सम्मेलन में नागपुर सम्मेलन के निर्णीत प्रस्तावों का पुन: समर्थन कर दिया गया। साथ ही अन्य ये सुझाव दिए गए कि एक अंतरराष्ट्रीय हिंदी पत्रिका का प्रकाशन हो तथा मॉरीशस में एक विश्व हिंदी केंद्र की स्थापना की जाए।

नागपुर और मॉरीशस में संपन्न हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों के परिणामस्वरूप हिंदी के विश्वव्यापी स्वरूप को एक नया संबल प्राप्त हुआ जिससे हिंदी के व्यापक प्रचार-प्रसार को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला। भारत सरकार की 'विश्व हिंदी पुरस्कार' (1978) की योजना ने इसे संपुष्ट करने में महान योगदान दिया। इस योजना के अंतर्गत 24 जनवरी, 1979 को नई दिल्ली के मावलंकर हॉल में एक भव्य, ऐतिहासिक समारोह में हिंदी के प्रति समर्पित इन पांच विदेशी विद्वानों को सम्मानित किया गया : प्रोफेसर ओदोलेन स्मैकल (चेकोस्लोवाकिया); प्रोफेसर क्यूया दोई (जापान); पं० कमलाप्रसाद मिश्र (फीजी); श्री सोमदत्त बखोरी (मॉरीशस) तथा डॉ० रोनाल्ड स्टुअर्ट मैग्रेगर (यू०के०)। भारत के तत्कालीन विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उस अवसर पर अपने भाषण में कहा था, "जिन देशों के विद्वानों को आज हम सम्मानित कर रहे हैं उनकी अपनी भाषाएं एवं संस्कृतियां भी अत्यंत समृद्ध हैं लेकिन भारत के प्रति अनुराग एवं स्नेह तथा भारतीय समाज एवं संस्कृति

से निकट परिचय प्राप्त करने के लिए इन्होंने हिंदी की शिक्षा ली तथा मौलिक लेखन, अध्यापन एवं अनुसंधान के द्वारा हिंदी की लोकप्रियता को बढ़ा रहे हैं। मानवता के इतिहास में भाषा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह व्यक्तियों के बीच संपर्क स्थापित करने का एकमात्र साधन है। आज हम अपनी भाषा हिंदी के माध्यम से विदेशी लोगों के साथ जुड़ गए हैं। हिंदी अन्य देशों के साथ हमारे सांस्कृतिक संबंध मजबूत करने में एक कड़ी का काम करती है इसलिए आज का पुरस्कार समर्पण समारोह का यह दिन एक विशिष्ट महत्त्व रखता है...''

विश्व हिंदी सम्मेलनों की शृंखला में तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन 28-30 अक्तूबर, 1983 को नयी दिल्ली में किया गया। इसके अंतर्गत विचार गोष्ठियों में जिन विषयों पर प्रमुख रूप से चर्चा हुई वे थे : अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी के प्रसार की संभावनाएं और प्रयास; भारत के सांस्कृतिक संबंध और हिंदी तथा मानव-मूल्यों की स्थापना में हिंदी की भूमिका।

दस वर्ष के अंतराल के पश्चात् चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन 2-4 दिसंबर, 1993 में मॉरीशस में आयोजित हुआ, जिसमें 23 देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में जिन विषयों पर विशेष रूप से विचार गोष्ठियों में चर्चा हुई, वे हैं: विश्व में हिंदी का प्रचार-प्रसार; विश्व में हिंदी भाषा तथा साहित्य की उपलब्धियां एवं संभावनाएं; आज के संदर्भ में हिंदी एवं सांस्कृतिक अस्मिता तथा विश्वव्यापी हिंदी की प्रगति के लिए ठोस कार्यक्रम एवं स्थायी सचिवालय की स्थापना।

पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन के स्थल में परिवर्तन हुआ। यह सम्मेलन संपन्न हुआ ट्रिनीडाड में 28 मार्च से 1 अप्रैल, 1996 की अवधि में। इस सम्मेलन की एक विशेषता यह भी रही कि यह वेस्टइंडीज के इतिहास में उस महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम के अंतर्गत संपन्न हुआ जब उस द्वीप में भारतीय खेतिहर मजदूरों के आगमन की 150वीं वर्षगांठ मनाई जा रही थी। यहां यह बात स्मरणीय है कि भारतीय मजदूरों का पहला दल कलकत्ता से जहाज के द्वारा 30-5-1845 को त्रिनीडाड पहुंचा था। इस अवसर पर पूरे वर्ष मनाए जाने वाले समारोहों में पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन एक प्रमुख कार्यक्रम था। उस सम्मेलन में हिंदी भाषा, साहित्य, संस्कृति, के विभिन्न पक्षों पर गोष्ठियां हुईं, जिनसे हिंदी की विश्वव्यापी यात्रा-प्रगति को नई स्फूर्ति और शक्ति प्राप्त हुई।

छठा विश्व हिंदी सम्मेलन लंदन में 14 सितंबर, 1999 को होना निश्चित हुआ है। यह सम्मेलन इस शताब्दी का अंतिम सम्मेलन होगा, अत: विश्व भाषा के रूप में हिंदी की उपलब्धियों एवं अगली शताब्दी में उसकी संभावनाओं तथा उसके व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए विभिन्न कार्य योजनाओं के संबंध में सम्यक् आकलन का यह सुंदर अवसर होगा।

विश्व में हिंदी की व्यापक लोकप्रियता एवं उसके व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए

पूर्ण समर्पण भावना एवं अगाध निष्ठा की आवश्यकता है। आगामी विश्व हिंदी सम्मेलन में कुछ विचारणीय सुझावों की ओर यहां संकेत किया जा रहा है: **1.** विदेशों में हिंदी-सेवियों के सम्मान के लिए प्रतिवर्ष 'विश्व हिंदी पुरस्कार' योजना पुन: प्रारंभ की जाए। यहां इस तथ्य की ओर ध्यान देना प्रासंगिक होगा कि 1979 में 'विश्व हिंदी पुरस्कार' के अर्पण समारोह में तत्कालीन विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा भी था, "पुरस्कृत करने का यह पहला अवसर है अत: हम हिंदी के पांच विशिष्ट विद्वानों को एक साथ सम्मिलित कर रहे हैं। लेकिन प्रत्येक वर्ष कम से कम हिंदी के एक विदेशी विद्वान को अवश्य पुरस्कृत किया जाएगा। इससे विदेशों में न केवल हिंदी के प्रचार को प्रोत्साहन मिलेगा बल्कि विदेशी विद्वानों को हिंदी जगत से निकट से परिचय प्राप्त करने का भी अवसर मिलेगा जिसके फलस्वरूप हिन्दी वाङ्मय विदेशों में पहुंचेगा तथा भाषा एवं साहित्य के आदान-प्रदान के द्वारा अंतरराष्ट्रीय सद्भाव में वृद्धि होगी।" **2.** हिंदी भाषा और साहित्य का अन्य भाषा और साहित्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन और शोध समीक्षात्मक ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन। **3.** हिंदी के साथ अन्य भाषाओं के वृहद् प्रामाणिक शब्दकोश, ज्ञान-कोश, विश्वकोशों आदि का संपादन-प्रकाशन। **4.** साहित्य की विभिन्न विधाओं में अंतरराष्ट्रीय हिंदी साहित्यकारों की कृतियों का संकलन-प्रकाशन। **5.** अंतरराष्ट्रीय हिंदी साहित्यकारों के जीवन, कृतित्व की विवरणिका एवं संदर्भ ग्रन्थों का संपादन-प्रकाशन। **6.** हिंदी के मानक ग्रंथों का अन्य भाषाओं में अनुवाद तथा अन्य भाषाओं के मानक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद एवं उनका प्रकाशन। **7.** एक देश से दूसरे देश में हिंदी के साहित्यकारों की सांस्कृतिक यात्राएं यात्रा-वृत्तांतों का प्रकाशन। **8.** विदेशी हिंदी विद्वानों के विभिन्न क्षेत्रों में सम्मान के कार्यक्रम। **9.** जन संचार माध्यमों द्वारा विश्व हिंदी के अभियान को प्रोत्साहन। **10.** विदेशों में प्रणीत हिंदी साहित्य को हिंदी साहित्य का अभिन्न अंग मानते हुए पाठ्यक्रमों में उनका समावेश तथा **11.** अंतरराष्ट्रीय हिंदी पत्रिका का नियमित प्रकाशन।

विश्वव्यापी हिंदी आंदोलन के अंतर्गत हिंदी को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए आज महात्मा गांधी की उस निष्ठा की आवश्यकता है जिसका संकेत मीरा बहन ने अपनी 'आत्मकथा' में किया है। अंग्रेजी महिला मेडलीन स्लेड को बापू मीरा बहन कहकर पुकारते थे। मीरा बहन ने अपनी आत्मकथा *दि स्प्रिट्स पिलग्रिमेज* (आत्मा की तीर्थयात्रा) में लिखा है : 'मेरी हिंदी सुचारु रूप से प्रगति कर रही थी, किंतु उतनी शीघ्रता से नहीं जितना मैं चाहती थी। इस पूरी अवधि में बापू के पत्रों में इस बात का उल्लेख रहता था कि मुझे हिंदी सीखने का काम पूरा करना है और उनकी यह कामना है कि मैं उनके पास कहीं भी रहने के लिए तब तक न जाऊं जब तक यह काम पूरा न हो जाए। हिंदी पहले और सब बातें बाद में।"

□

पिछले विश्व हिंदी सम्मेलनों की कुछ न भूलने वाली बातें

डॉ० सत्येन्द्र श्रीवास्तव

हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि-गद्यकार पिछले अनेक वर्षों से कैंब्रिज विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हैं। वे ऐसे आस्थावान भारतीय भी हैं जो कि हिंदी की अनेक गतिविधियों से अनवरत जुड़े रहते हैं। पूर्व में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलनों के कुछ रोचक संस्मरण उनकी कलम से।

पिछले तीस वर्षों से मैं पश्चिम में विश्वविद्यालयों के हिंदी शिक्षण से जुड़ा हुआ हूं...गत बीस वर्षों से कैंब्रिज विश्वविद्यालय से। इन तमाम वर्षों में मैंने अनुभव किया है कि अहिंदीभाषियों के बीच हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति धीरे-धीरे दिलचस्पी बढ़ रही है—क्योंकि अब लोगों को इस बात का विश्वास हो गया है कि भारत के संदर्भ में और भारतीय लोगों के बारे में जानने के लिए हिंदी एक जरूरी भाषा है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय में हमारे पास हिंदी सीखने के लिए दो प्रकार के विद्यार्थी आते हैं—एक तो ऐसे जो हिंदी या भारतीय अध्ययन में डिग्री ग्रहण कर रहे हैं या शोध कर रहे हैं और जिनके लिए भारत जाना—वहां जाकर 'फील्ड वर्क' करना आवश्यक होता है। ऐसे सभी विद्यार्थियों के लिए विश्व हिंदी सम्मेलनों का सिलसिला कुछ मानी रखता है न केवल *'मेला'* या *'तमाशा'*। यह मैं इसलिए लिख रहा हूं कि जब मैं 1983 में दिल्ली में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने जा रहा था तो एयरपोर्ट पर कुछ पश्चिमी प्राध्यापकों को एक-दूसरे से बात करते हुए यह

सुना कि 'आप भी तमाशा देखने जा रहे हैं क्या?'

दिल्ली में हुआ विश्व हिंदी सम्मेलन मुझे 'तमाशा' तो नहीं लगा था पर कुछ मिली-जुली अनुभूतियां अवश्य हुई थीं। व्यक्तिगत रूप से मुझे वहां अपने पुराने परिचित साहित्यकारों से भेंट हुई थी—जिनसे हिंदी साहित्य में क्या-क्या हो रहा है, उसके बारे में जानकारी प्राप्त हुई थी। और सबसे अच्छा यह लगा था कि कितने ही साहित्यकार ऐसे थे जो प्रसिद्ध होकर भी पुरानी कमाई नहीं खा रहे थे—अभी भी लिख रहे थे। यह सब ताजगी देने वाला विषय था क्योंकि सब लेखन तो छप नहीं पाता और जो छपता है, वह पश्चिम में पहुंचते-पहुंचते पुराना-सा लगने लगता है। पता नहीं लोग क्यों हिंदी साहित्य में, प्राय:, गतिरोध की बातें उठाते रहते हैं। तब मुझे यह लगा था। और अच्छा लगा था कि हर विधा में तरह-तरह की रचनाएं हो रही हैं। पर ये बातें मुझे लोगों से बातें करके अपनी सूचना के लिए मिली थीं। क्योंकि जो गोष्ठियां वहां हुई थीं उनसे अधिक ज्ञान प्राप्त करना असंभव जैसा था और उसका मुख्य कारण था समुचित व्यवस्था का न होना।

मुझे यह भी लगा था कि विश्व हिंदी सम्मेलन यदि दिल्ली में न होकर किसी अहिंदी प्रदेश में होता तो शायद और भी अच्छा होता। क्योंकि हिंदी भाषी क्षेत्र में उसका होना भाषा के संदर्भ में 'प्रीचिंग द कन्वर्ट' जैसा था। अहिंदी भाषी क्षेत्रों से हिंदी में लिखने वालों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है—अगर सम्मेलन ऐसे लोगों के प्रदेश में होता तो अहिंदी लेखकों का उत्साह बढ़ता। व्यापक रूप से किसी भी सम्मेलन के होने में एक निहित लक्ष्य यह भी होता है कि अधिक से अधिक लोग उसके प्रति आकर्षित हों।

दिल्ली के सम्मेलन में अन्य भाषाओं के लोगों ने अनुमानत: कम भाग लिया—यह बात सम्मेलन की महत्ता को कुछ कम करती-सी लगी थी। क्योंकि जाहिर यह हो रहा था कि हिंदी राष्ट्र की भाषा नहीं है बल्कि हिंदी प्रदेश की ही राष्ट्रभाषा है।

दूसरी बात जो उदास कर देने वाली थी वह यह कि 'विदेशी विद्वानों' को कुछ अधिक ही महत्त्व दिया जा रहा था। जो विदेशी विद्वान वहां थे, वे आदरणीय लोग थे—किंतु भारत के विद्वानों से अधिक या कम नहीं। यह ठीक है कि हमारे यहां अतिथियों का सम्मान हमारी सभ्यता और संस्कृति का आवश्यक अंग है पर उन्हें ही आकर्षण का केंद्र बिंदु बना देना कुछ अजीब-सा लगा था। एक परिचित ने तो यहां तक कहा था कि 'गोरी चमड़ी' अभी भी जोर से बोलती है। और उनका यह कटु वाक्य एक जगह उसे साबित कर रहा था। विदेशों से जो विद्वान आए थे उन सबको ऊंची श्रेणी के होटलों में ठहराया गया था जबकि उन्हीं विश्वविद्यालयों या देशों से 'भारतीय-नस्ल' के लोगों को नीचे की श्रेणी वाले होटलों में। और यह बात न तो पश्चिमी प्राध्यापकों-विद्वानों को ठीक लगी थी, न ही भारतीय-नस्ल के लोगों को। इंग्लैंड के एक हिंदी सेवी तो मंच पर जाकर बोल उठे—अगर इंग्लैंड में ऐसा होता

तो हम 'रेस रिलेशन बोर्ड' में शिकायत करते और कानूनी कार्रवाई करते पर यहां किससे शिकायत करें।

दिल्ली सम्मेलन में पत्रकार और टेलीविजन वाले विदेशी लोगों के पीछे उनकी 'अमृतवाणी' सुनने के लिए हर जगह भाग रहे थे—जबकि इनमें से कितने ही विद्वानों ने शायद तीन पन्नों का लेख भी हिंदी में नहीं लिखा हो या लिखने का सामर्थ्य रखते हों। मुझे कभी-कभी इन बातों से यह लगता है कि कहीं पश्चिम में विद्यार्थियों की काबलियत—हिंदी में वो जो लिखते हैं—उस पर आधारित न होकर—अंग्रेजी में कितना अच्छा हिंदी विषयक सवालों का जवाब दे पाते हैं—यही न होकर रह जाए।

इन सारी बातों की पृष्ठभूमि में जब मैं 1996 में त्रिनिडाड और टोबैगो में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन की बात सोचता हूं तो मन प्रसन्नता से ही नहीं किंतु विदेशों में हिंदी के प्रति आशा और विश्वास से भर उठता है। हिंदी को विश्व भाषा के रूप में देखने की कुछ सार्थकता प्रकट हो जाती है।

त्रिनिडाड में पहली चीज जो संतोषप्रद लगी थी वह थी कि सम्मेलन की हर व्यवस्था विधिवत पहले से ही की जा चुकी थी—यहां तक कि खाने और चाय पीने के लिए जगहें तक निश्चित थीं और हर व्यक्ति के लिए निमंत्रण और टिकट आदि मौजूद थे। यहां किसी मित्र या अधिकारी की कृपा का आकांक्षी होना—दिल्ली जैसा आवश्यक नहीं था।

फिर त्रिनिडाड में हिंदी के लिए एक विदेशी माहौल था—ऐसे लोगों का माहौल जो हिंदी भाषा के प्रति प्रेम बनाए रखना चाहते थे—और उनके पास जो था देना चाहते थे और जो चीज उन्होंने हिंदी को या हिंदी की सेवा में लगे हुए लोगों को दी थी प्यार और अधिकार के साथ—वह थी 'समान इज्जत'। चूंकि हिंदी भाषा के प्रति उनका मोह सहज था अत: वह विदेश, अपना देश और अपना घर-सा लगा था मुझे। यद्यपि त्रिनिडाड के हिंदी सम्मेलन की सबसे विचित्र बात यह थी कि सारे भाषण लगभग अंग्रेजी में ही हुए थे और सभी आलेख अंग्रेजी में पढ़े गए थे। सम्मेलन के पहले भारत से आए विद्वानों ने जोर दिया कि हिंदी में ही बोला जाये, पर कार्यकारिणी के सदस्यों ने कहा आप चाहें तो हिंदी में अवश्य बोलें पर यह जानना आपके लिए जरूरी होगा कि 95 प्रतिशत लोग उस स्तर की हिंदी नहीं समझ पाएंगे। फिर भारत क्या, सभी देशों से आए लोगों ने अंग्रेजी में ही भाषण दिए और परचे पढ़े और इससे यहां के लोग संतुष्ट रहे। यह हमें व्यावहारिक भी लगा, क्योंकि त्रिनिडाड और कई भारतीय नस्ल के लोग हिंदी को सेकेंडरी स्कूल में अनिवार्य भाषा बनाने की बात को अंग्रेजी बोलने वाले शासकों तक पहुंचवाना चाहते हैं—और जल्दी ही उस देश के लोग 'प्रेम की भाषा हिंदी' को उसके उचित स्थान पर रख पाएंगे—ऐसा हमसे कई लोगों ने आश्वस्त होकर कहा था। त्रिनिडाड के लोग भारत के लोगों सरीखे गरीब नहीं है बल्कि उसका उल्टा ही ज्यादा सही हो सकता है। परंतु

उन्हें भारत के अनुभवों की जानकारी चाहिए इसके लिए हिंदी एक बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकती है।

इंग्लैंड में 1999 में हो रहे विश्व हिंदी सम्मेलन की स्थिति दिल्ली और त्रिनिडाड दोनों से ही भिन्न है। पहली बात यह है कि ब्रिटेन में हिंदी बोलने-समझने वालों की एक बहुत बड़ी संख्या है। अगर हिंदी-उर्दू को मिलाकर देखें तो यहां हिंदी-उर्दू, अंग्रेजी के बाद सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा मानी जा सकती है, क्योंकि भारत-पाकिस्तान से आकर बसे हुए लोगों की भारी जनसंख्या के लोग हिंदी-उर्दू का प्रयोग करते हैं। यहां की अन्य मुख्य एशियाई भाषा वाले लोग जैसे पंजाबी, गुजराती, बंगाली लोग भी हिंदी अच्छी-खासी समझ सकते हैं, यदि वे हिंदी के विरोधी नहीं है तो। और इस दिशा में, विशेषकर फिल्म और *महाभारत* और *टीपू सुल्तान* आदि सीरियलों ने भी बड़ी भूमिका अदा की है। जब मैं 'ब्रिटेन में हिंदी' पर सर्वेक्षण कर रहा था, तो काफी जगहों पर जाना हुआ था। सुख की बात यह थी कि जिससे भी बात मैंने हिंदी या उर्दू में शुरू की तो चाहे वह अहिंदी भाषी ही क्यों न हो, उसने हिंदी-उर्दू में ही मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया। दिल्ली में अच्छे खाते-पीते अर्थात् पश्चिमी सभ्यता से ओत-प्रोत दिल्लीवासियों से हिंदी में रास्ता पूछने पर भी प्राय: अंग्रेजी भाषा ही सुनने में आती है।

इंग्लैंड में शिक्षार्थी और अधिकारी वर्ग अच्छी तरह जानता है कि हिंदी की विश्व की भाषाओं में क्या स्थिति है, पर वह उदासीन रहता है। उसका एक मुख्य कारण यह है कि यहां बसे भारतीय लोग (हिंदी क्षेत्रों से आए हुए लोग भी) हिंदी के प्रति उदासीन रहते हैं। जब हम ही इस दिशा में बंटे हुए हैं—तब अंग्रेजी हिंदी की चिंता क्यों करे? आशा है लंदन में हो रहा विश्व हिंदी सम्मेलन केवल कुछ हिंदी भाषियों के ही हित का न होकर कुछ व्यापक हो पाएगा और पठन-पाठन की दिशा में कुछ नए और ठोस कदम उठाएगा। क्योंकि व्यवस्थित शिक्षण की ही दिशा में इस समय हिंदी के चरण डगमगाए हुए हैं। इंग्लैंड में भी उदार अंग्रेज हैं—पर अधिकांश दूसरे लोगों की भाषा को दबाए जाने की पीड़ा को कभी नहीं समझ सकते, क्योंकि अंग्रेजी भाषा को वह समस्या कभी नहीं झेलनी पड़ी थी। अंग्रेजी भाषा को किसी 'कालोनियलिस्ट' या 'इंपीरियलिस्ट' ने गुलाम की भाषा बनाकर दबाया नहीं। □

राजभाषा हिंदी : एक संवैधानिक दृष्टिकोण

प्रहलाद राजवेदी

हिंदी को इस देश में राजभाषा का दर्जा क्यों मिला, कब और किस तरह मिला—50 वर्ष बाद इस इतिहास को याद करना एक सुखद अनुभूति है। हमारे संविधान निर्माताओं ने हिंदी को यह गौरवमयी शीर्ष स्थान सौंपकर एक प्रकार से संपूर्ण राष्ट्र की अस्मिता को एकरूपता में बांधने का स्वप्न साकार किया था। उन संवैधानिक नियमों का सम्मान हर भारतीय का अपना आत्मसम्मान है। जाने-माने हिंदीविज्ञ और कवि का प्रस्तुत है यह आलेख।

14 सितंबर, 1949 को स्वतंत्र भारत की संविधान सभा द्वारा बहुमत से हिंदी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। वास्तव में वह निर्णय एक लंबे विचार-मंथन का परिणाम था। हमारे मनीषियों का यह सुविचारित मत था कि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक तथा कच्छ से लेकर कोहिमा तक फैले इस बहुभाषी राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने के लिए अपने राष्ट्र की ही ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो न केवल पारस्परिक विचार-संप्रेषण का सशक्त माध्यम बन सके वरन् उसमें एक संपर्क भाषा होने की भी क्षमता विद्यमान हो। एक ऐसी भाषा जिसमें समूचे राष्ट्र की संस्कृति झंकृत हो सके।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हमें ज्ञात होगा कि भारतीय संस्कृति की आत्मा सारे देश में एक रही है जिसके अनुरूप स्वत: रूप से एक भाषा जन-जन को स्वीकार्य रही है। शताब्दियों से विभिन्न भाषा-प्रदेशों में

सहिष्णुता, एकता एवं पारस्परिक संपर्क स्थापित करने की एक प्राण-धारा के रूप में हिंदी भाषा का कोई न कोई स्वरूप सदा से ही प्रयोग में रहा है। हिंदी का पारस्परिक संबंध सदा से ही न केवल आर्य भाषाओं के साथ वरन् अन्य भाषा-परिवारों के साथ भी रहा है। हिंदी धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में विशाल भू-भाग के व्यवहार की भाषा होने के कारण भारत के अन्य भाषा-प्रदेशों से भी किसी न किसी रूप में संबद्ध रही है। एक अत्यंत सरल एवं स्वाभाविक भाषा के माध्यम के रूप में हिंदी उन प्रदेशों में पुष्पित और पल्लवित हुई है। सांस्कृतिक एकता के आधार स्तंभ विविध प्रदेशों में स्थित तीर्थस्थलों में आदान-प्रदान की भाषा के रूप में हिंदी का अधिकतर व्यवहार होता रहा है। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक आंदोलनों के परिणाम स्वरूप हिंदी की व्यापकता को बल मिला है। शताब्दियों से हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने में अहिंदीभाषी प्रदेशों ने भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संस्कृत भाषा की पुत्री होने के कारण हिंदी विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा है। अत: इसे अत्यंत सरलता से सीखा जा सकता है। यह जन-व्यवहार में उपयोग की दृष्टि से सक्षम माध्यम है और इसमें सभी भारतीय और कुछ विदेशी भाषाओं के शब्दों को समाहित करने की अद्‌भुत क्षमता है।

स्वाधीनता आंदोलन के संचालन के समय देश को राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय जागरण के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। विदेशी शासकों की कुचालों के कारण भारत की भाषाई एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। सर्व-स्वीकार्य आदान-प्रदान का कोई सरल तथा सुबोध साधन नहीं रह गया था, जिससे देश के विभिन्न भाषा-भाषी लोगों को एक लक्ष्य की सिद्धि के लिए एक सूत्र में बांधा जा सके। उस समय भारतीय स्वतंत्रता के लिए व्याकुल दूरदर्शी देशभक्त नेता इस बात को देख रहे थे कि यहां के गांवों में रहने वाले करोड़ों किसानों और मजदूरों तक जब तक देश की आवाज नहीं पहुंचेगी और उन्हें इस संघर्ष के लिए तैयार नहीं किया जाएगा, तब तक कुछ सैनिक संगठनों के द्वारा स्वतंत्रता का यह कार्य न हो सकेगा। जब इस दृष्टि से राष्ट्रभक्तों ने भारत की भाषाई स्थिति की ओर दृष्टिपात किया तो उन्हें केवल एक हिंदी भाषा ही ऐसी भाषा दिखाई दी जो उन उद्देश्यों में खरी उतरने वाली एक सशक्त भाषा थी। इसी कारण से हिंदी स्वतंत्रता आंदोलन के समय संवाद का एक प्रभावी माध्यम बनी। भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से एक सुखद बात यह देखने को मिली कि हिंदी का प्रबल समर्थन करने वालों में अहिंदी भाषी राष्ट्रीय नेता प्रमुख थे। विशेष रूप से बंगाल, गुजरात, पंजाब तथा महाराष्ट्र के नेताओं ने हिंदी का प्रचार-प्रसार उसी प्रकार व्यापक रूप से किया जिस प्रकार मध्यकाल में सूफी संतों, फकीरों तथा भक्तों ने किया था। संपूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने की सशक्त कड़ी के रूप में हिंदी को स्वीकार कर जनमानस में हिंदी के प्रति आस्था पैदा करके गांधी जी ने हिंदी आंदोलन का नेतृत्व किया था। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने

अपने तत्कालीन प्रांत मद्रास (अब तमिलनाडु) में हिंदी का अध्ययन अनिवार्य करते हुए कहा था — "भारत के राष्ट्रीय जीवन में अधिकृत स्थान प्राप्त करने के हेतु हमारे प्रांत के लिए यह जरूरी है कि हमारे शिक्षित युवक भारत की सर्वाधिक व्यापक भाषा हिंदी का ज्ञान प्राप्त करें।"

हिंदी को संविधान में राजभाषा के रूप में मान्यता प्रदान करने में अहिंदी भाषी नेताओं के उक्त स्वरों ने हिंदी क्षेत्र के नेताओं के साथ स्वर मिलाकर पूर्व पीठिका का कार्य किया था। इस क्षेत्र में हिंदी प्रचारक संस्थाओं, विशेषकर काशी नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, तमिलनाडु; गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद; राष्ट्रीय प्रचार समिति, वर्धा; हिंदी विद्यापीठ, देवधर; बंबई हिंदी विद्यापीठ, मुंबई; असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गोहाटी; महाराष्ट्र राष्ट्र सभा, पुणे का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। स्पष्ट है कि संविधान सभा में राजभाषा के प्रश्न पर विधिवत विचार-विनिमय के समय यह मान लिया गया कि राष्ट्रभाषा के रूप में तो हिंदी पहले से ही प्रतिष्ठित है, अब इसे वैधानिक रूप से राजभाषा का भी दर्जा दिया जाना चाहिए।

भारतीय संविधान की रचना करने के लिए गठित संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष डॉ० राजेंद्र प्रसाद थे। इसकी प्रथम बैठक सितंबर, 1946 में हुई। इस सभा में हिंदी को राजभाषा घोषित करने वाला प्रस्ताव लाया गया। यह प्रस्ताव दक्षिण भारत के विद्वान नेता श्री गोपाल स्वामी आयंगर द्वारा सभा के पटल पर रखा गया जिस पर सदस्यों द्वारा काफी दिनों तक सारगर्भित चर्चा हुई। इस बात पर लंबी बहस चली कि हिंदी, हिंदुस्तानी तथा देवनागरी और अंतरराष्ट्रीय अंकों में किसे, किस रूप में स्वीकार किया जाए। अंत में सर्वसहमति श्री गोपाल स्वामी आयंगर तथा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा प्रस्तुत फार्मूले जिसे 'मुंशी आयंगर फार्मूला' कहा गया, पर ले गई। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "हमारी मूल नीति यह होनी चाहिए कि संघ के कामकाज के लिए हिंदी देश की सामान्य भाषा हो और देवनागरी सामान्य लिपि हो। मूल नीति का यह भी एक मुद्दा है कि सभी संघीय प्रयोजनों के लिए वे अंक काम में लाए जाएं जिन्हें भारतीय अंकों का अंतरराष्ट्रीय रूप कहा गया है।"

अंततः जब 14 सितंबर, 1949 ई० को संविधान सभा में राजभाषा संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया तो उसके अध्यक्ष डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने अपने सारगर्भित विचार रखते हुए कहा था कि—"आज पहली बार हम अपने संविधान में एक भाषा स्वीकार कर रहे हैं जो भारत संघ के प्रशासन की भाषा होगी और जिसे समय के अनुसार अपने आपको ढालना और विकसित करना होगा। हमने अपने देश का राजनीतिक एकीकरण संपन्न किया है। राजभाषा हिंदी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी। अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषा को

स्थापित करने से हम निश्चय ही और भी एक-दूसरे के निकट आएंगे।''

भारतीय संविधान में राजभाषा संबंधी प्रावधान उसके भाग 5 (अध्याय 2, अनुच्छेद 120 संसद में प्रयोग की जाने वाली भाषा), भाग 6 (अध्याय 3, अनुच्छेद 210 विधानमंडल में प्रयोग की जाने वाली भाषा) तथा भाग 17 (अध्याय 1, अनुच्छेद 343 संघ की राजभाषा, अनुच्छेद 344 राजभाषा के संबंध में आयोग और संसद की समिति); अध्याय 2 अनुच्छेद 345 राज्य की राजभाषा या राजभाषाएं, अनुच्छेद 346 एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा, अनुच्छेद 347 किसी राज्य की जनसंख्या के किसी अनुभाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के संबंध में विशेष उपबंध, अध्याय 3 अनुच्छेद 348 उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में और अधिनियमों, विधेयकों आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा, अनुच्छेद 349 भाषा से संबंधित कुछ विधियां अधिनियमित करने के लिए विशेष प्रक्रिया तथा अध्याय 4, अनुच्छेद 350 व्यथा के निवारण के लिए अभ्यावेदन में प्रयोग की जाने वाली भाषा, अनुच्छेद 350 क प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएं, अनुच्छेद 350 ख भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी और अनुच्छेद 351 हिंदी भाषा के विकास के लिए निदेश, में प्रकाशित है।

संविधान के उक्त अनुच्छेदों में से सबसे प्रमुख अनुच्छेद 351 है क्योंकि उसके द्वारा हिंदी भाषा के विकास के लिए विशेष निर्देश दिए गए हैं जिसमें राजभाषा संबंधी सुविचारित नीति का उद्घाटन किया गया है। अनुच्छेद 351 में यह कहा गया है कि — ''संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्थानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यत: संस्कृत से और गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।''

संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेदों के अनुसरण में 'राजभाषा अधिनियम, 1963' तथा 'राजभाषा नियम (संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग), 1976 (यथा संशोधित 1987)' बनाए गए। राजभाषा अधिनियम 1963 में विशेष उल्लेखनीय धारा 3 तथा धारा 5 है। इसके अनुसार संघ के प्रयोजन के लिए और संसद में प्रयोग के लिए हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को जारी रखे जाने और केंद्रीय अधिनियम आदि के प्राधिकृत हिंदी अनुवाद किए जाने के पश्चात उन्हें द्विभाषी रूप में प्रकाशित किए जाने का प्रावधान है। राजभाषा अधिनियम की धारा 8 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के अनुसरण में बने राजभाषा नियम, (संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए

प्रयोग) 1976 (यथा संशोधित, 1987) में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी के कार्यसाधक ज्ञान के आधार पर देश के विभिन्न प्रदेशों को तीन क्षेत्रों यथा क्षेत्र 'क', क्षेत्र 'ख' तथा क्षेत्र 'ग' में वर्गीकृत किया गया है और उसी के अनुसार राज्यों आदि और केंद्रीय सरकार के कार्यालयों से भिन्न कार्यालयों के साथ पत्रादि की भाषा हिंदी अथवा हिंदी के साथ अंग्रेजी अनुवाद की व्यवस्था किए जाने का प्रावधान है। तथा उसी के अनुसरण में राजभाषा विभाग द्वारा प्रतिवर्ष जारी हिंदी के प्रगामी प्रयोग के लिए वार्षिक कार्यक्रम के अधीन हिंदी पत्राचार का अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग प्रतिशत निर्धारित किया जाता है। राजभाषा नियम 5 तथा 7 के अनुसार हिंदी में प्राप्त पत्रों अथवा हिंदी में लिखित अथवा हिंदी में हस्ताक्षरित आवेदनों, अभ्यावेदनों का उत्तर हिंदी में दिया जाना अनिवार्य है। नियम 11 के अनुसार नियम पुस्तकों, संहिताओं, प्रक्रिया संबंधी अन्य साहित्य को द्विभाषी रूप में प्रकाशित किया जाना अनिवार्य है।

भारतीय संविधान के राजभाषा संबंधी उक्त प्रावधानों के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए और उन पर निरंतर दृष्टि रखने के लिए एक ओर विभिन्न मंत्रालयों में विभिन्न समितियों का गठन किया गया है तो दूसरी ओर विधिक दस्तावेजों, अधिनियमों, नियमों, नियम पुस्तकों, प्रक्रिया साहित्यों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी दस्तावेजों आदि के हिंदी अनुवाद को समयबद्ध कार्यक्रमों के अधीन पूर्ण किए जाने की सुदृढ़ व्यवस्था की गई है। राजभाषा संबंधी संवैधानिक उपबंधों के पूर्ण रूप से कार्यान्वयन का दायित्व भारत सरकार के गृह मंत्रालय पर है। गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग पर राजभाषा से संबंधित उपबंधों के कार्यान्वयन, संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी के प्रगामी प्रयोग से संबंधित तिमाही रिपोर्टों का संकलन तथा उसकी समीक्षा, हिंदी शिक्षण योजना के अधीन केंद्रीय सरकार के कार्यालयों को हिंदी के प्रशिक्षण की व्यवस्था, केंद्रीय हिंदी समिति से संबंधित मामलों, विभिन्न मंत्रालयों/ विभागों द्वारा स्थापित हिंदी सलाहकार समितियों से संबंधित कार्यों का समन्वय, राजभाषा संबंधी विभिन्न प्रावधानों के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए कार्यालयों के निरीक्षण के परिणामों का अध्ययन तथा केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो द्वारा नियम पुस्तकों, फार्मों आदि के अनुवाद की व्यवस्था के आकलन का दायित्व है। इसी प्रकार वैज्ञानिक तथा शब्दावली आयोग पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण एवं समन्वय से संबंधित सिद्धांत को निर्धारित करने का दायित्व है।

इस प्रकार राजभाषा संबंधी संवैधानिक प्रावधानों के आलोक में यद्यपि राजभाषा के प्रगामी प्रयोग के क्षेत्र में प्रगति हो रही है लेकिन वह निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप नहीं है। राजभाषा विभाग द्वारा निर्धारित वार्षिक कार्यक्रमों के अधीन हिंदी पत्राचार का जो लक्ष्य निर्धारित किया जाता है वह अधिक तथ्यपरक न होने के कारण प्रगामी

प्रयोग के क्षेत्र में उत्साहवर्धक परिणाम नहीं प्रदर्शित कर पाता है। उदाहरण के लिए राजभाषा के क्षेत्र 'क' तथा 'ख' कार्यालयों द्वारा शत-प्रतिशत पत्राचार हिंदी में किया जाना अपेक्षित है लेकिन व्यवहार में उसका प्रतिशत बहुत ही कम होता है। इसी प्रकार हिंदी में प्राप्त पत्रों का उत्तर यद्यपि हिंदी में दिए जाने का अनिवार्य प्रावधान है किंतु निरीक्षण के दौरान प्राप्त तथ्यों के अनुसार अभी भी कहीं-कहीं उक्त प्रावधान का उल्लंघन कर दिया जाता है। राजभाषा अधिनियम की धारा 3 (3) के अनुसार सभी सामान्य आदेशों आदि को द्विभाषी रूप में जारी किया जाना अनिवार्य है किंतु इसका अत्यंत कड़ाई से अनुपालन नहीं हो रहा है। राजभाषा के प्रसार और प्रगति के क्षेत्र में सदा उदार और पारस्परिक स्नेह तथा अनुनय-विनय की नीति अपनाई जाती है जो स्तुत्य है, लेकिन हम सबका यह दायित्व है कि हम उस अनुनय-विनय को सक्रिय सहयोग में परिवर्तित करें और राजभाषा अधिनियम, नियमों तथा तत्संबंधी अन्य प्रावधानों का उसी प्रकार से कड़ाई से अनुपालन करें जिस प्रकार हम अन्य विधिक नियमों का अनुपालन करते हैं। व्यवहार्यत: राजभाषा के रूप में जिस हिंदी का प्रयोग कहीं-कहीं होता है उसमें अनुवाद की गंध आती है। इससे दुरूहता तो आती है साथ ही वह कभी-कभी अर्थ बोधक नहीं रह जाती। अत: आवश्यकता इस बात की है कि अनुवाद की भाषा अत्यंत सरल और सहज ग्राह्य हो और दूसरी ओर मूल ग्रंथ हिंदी में लिखे जाएं जिसमें हिंदी की आत्मा झंकृत हो सके। राजभाषा हिंदी के प्रगामी प्रयोग में आशातीत प्रगति लाने के लिए यह अपेक्षित है कि हम न केवल भारत की अन्य भाषाओं बल्कि विदेशी भाषाओं के लोकप्रिय शब्दों को भी हिंदी में समाहित कर लें ताकि वह लोकप्रिय एवं सतत सर्वग्राह्य हो जाए।

☐

राष्ट्रभाषा हिंदी तो पुण्य सलिला गंगा के प्रवाह की तरह है, जिसमें मंदाकिनी, अलकनंदा, यमुना आदि असंख्य नदियों और उप सरिताओं का जल समाया हुआ है।

अनंतगोपाल शेवड़े

अपने हिस्से की हिंदी स्वयं लिखनी होगी

शेरजंग गर्ग

इस वर्ष 14 सितंबर को हिंदी को राजभाषा का स्थान मिलने के पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस काल में भारत सरकार ने राजभाषा को सरकारी काम-काज में प्रयुक्त होने के लिए क्या-क्या कदम उठाए तथा उन कदमों का प्रभाव किस सीमा तक हमारे व्यवहार में आया—इस व्यापक विषय पर विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, हिंदी के ख्यातिप्राप्त ग़ज़लकार शेरजंग गर्ग।

राजभाषा कार्यान्वयन किसी भी राज्य के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक है, जिन्हें कोई भी सरकार सर्वोपरि स्थान देने में गर्व का अनुभव करती है। भारत जैसे देश में किसी भी राजनीतिक पार्टी की सरकार क्यों न हो—परिवार नियोजन, दहेज-प्रथा उन्मूलन तथा राजभाषा-कार्यान्वयन उसकी प्राथमिकताओं की श्रेणी में आते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगान आदि स्वतंत्र राष्ट्र की अस्मिता का परिचय देते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा या दूसरे शब्दों में कहें तो राजभाषा भी राष्ट्र के नागरिकों का मनोबल ऊंचा रखने का काम करती है तथा उसका विकास एवं सम्मान प्रत्येक सरकारी-गैरसरकारी संस्था तथा नागरिकों का कर्त्तव्य हो जाता है। संभवतः यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी, देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी, पिछले पचास वर्षों से भारतीय गणतंत्र की राजभाषा है।

14 सितंबर 1999 को हिंदी को राजभाषा बनाए जाने की आधी शताब्दी पूरी होने जा रही है। राष्ट्रों के इतिहास में पचास वर्ष भले ही बहुत कम समय प्रतीत होता हो, मगर व्यक्तियों के जीवन में पचास वर्ष की अवधि कोई सामान्य अवधि नहीं होती, विशेषतया ऐसे में जबकि एक भारतीय की औसत आयु पचास वर्ष से कुछ थोड़ा ही अधिक हो। इस संदर्भ में हमें उन देश-प्रेमियों का ध्यान भी रखना होगा जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद राष्ट्रभाषा के प्रयोग में तेजी आने की आस लगाए बैठे थे। उन्हें उम्मीद थी कि देश के स्वाधीन होते ही, गुलामी की भाषा अंग्रेजी हमारे देश से अंग्रेजों के ही समान सदा-सदा के लिए विदा हो जाएगी। भारत से अंग्रेज मजबूरी में अथवा खुशी-खुशी विदा तो हो गए, मगर उनकी निशानी अंग्रेजी को भारतीयों ने जितने जतन से संभालकर रखा हुआ है, उसे सीने से लगाया हुआ है, वह विश्व के इतिहास में एक उत्तम अपवाद के रूप में हमेशा याद किया जाएगा।

पचास वर्ष पूर्व से भी पूर्व के भारत को याद करेंगे तो हम पाएंगे कि देश के महान स्वतंत्रता-सेनानियों ने स्वाधीनता की संपूर्ण लड़ाई अपनी भाषा हिंदी या यों कहिए कि हिंदुस्तानी भाषा के माध्यम से ही लड़ी थी। *विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊंचा रहे हमारा; सारे जहां से अच्छा हिंदोस्ता हमारा, हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसितां हमारा; सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है...* जैसी रगों में खूनी उबाल लाने वाली पंक्तियां देश के बच्चे-बच्चे की जुबान पर थीं। श्यामलाल पार्षद, इक़बाल और रामप्रसाद बिस्मिल जैसे अनेक कवि-शायर अपनी भाषा के माध्यम से ही जागरण और आजादी का मंत्र फूंक रहे थे। हर एक को यह विश्वास था कि आजादी के बाद हम अपनी भाषाओं में सांस ले सकेंगे।

यह सदैव स्मरणीय रहेगा कि 14 सितंबर 1949 को भारतीय संविधान में हिंदी को राजभाषा के रूप में विधिवत मान्यता प्रदान की गई तथा हिंदी को आगे बढ़ाने का संकल्प किया गया। राजभाषा हिंदी को विभिन्न स्तरों पर कार्यान्वित करने के प्रयत्न प्रारंभ किए गए। जनसामान्य में भी सरकार के इस सकारात्मक रवैए को देखकर आशा का संचार हुआ। तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय ने वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग तथा केंद्रीय हिंदी निदेशालय की स्थापना की। आयोग का कार्य विभिन्न विषयों के तकनीकी शब्दों का निर्माण, शब्दावलियों का प्रकाशन तथा विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों से विचार-विमर्श, एवं हिंदी निदेशालय का कार्य विभिन्न स्तरों पर हिंदी का प्रचार-प्रसार, अनुवाद, शिक्षण, नव लेखक शिविरों का आयोजन, श्रेष्ठ पुस्तकें खरीदकर उनका मुफ्त वितरण आदि-आदि था। शिक्षण के अभिप्राय से निदेशालय ने देश-विदेश में हिंदी सीखने के इच्छुकों को पत्राचार के माध्यम से पाठ्यक्रम तैयार करके दिया। शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी के साथ-साथ तमिल जैसी भारतीय भाषा को भी बनाया गया। इस पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से आज तक

लाखों व्यक्तियों ने हिंदी का ज्ञान प्राप्त किया है।

शिक्षा एवं मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने जहां वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, केंद्रीय हिंदी संस्थान की स्थापना की वहीं हिंदीभाषी राज्यों यथा—उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, हरियाणा आदि में हिंदी अकादमियों ने आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली के प्रयोग से तकनीकी पुस्तकों का निर्माण प्रारंभ कर दिया। भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने अपनी भूमिका दूसरे ढंग से निभाई। उसने राजभाषा विभाग की स्थापना की, जिसने सरकारी कार्यालयों, सार्वजनिक उपक्रमों के लिए कार्यान्वयन संबंधी निर्देश जारी किए तथा नियमित रूप से बैठकें करके उसे आगे बढ़ाने पर बल दिया। समस्त कार्यालयों, मंत्रालयों, उपक्रमों में हिंदी अधिकारियों, अनुवादकों, आशुलिपिकों, टंककों के पदों के सृजन पर बल दिया गया। गृह मंत्रालय ने ही हिंदी शिक्षण योजना प्रारंभ करके संपूर्ण देश के कार्यालयों में कर्मचारियों के प्रबोध, प्रवीण तथा प्राज्ञ स्तर की परीक्षाएं आयोजित कीं। विश्वास किया जा सकता है कि इन परीक्षाओं में लाखों कर्मचारियों ने सफलता प्राप्त की।

हिंदी निदेशालय पहले सरकारी नियम पुस्तिकाओं, कागजात तथा प्रपत्रों का अनुवाद-कार्य भी करता था। कालांतर में अनुवाद का कार्य गृह मंत्रालय के अंतर्गत केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो में होने लगा। इसके अलावा अनुवाद ब्यूरो ने समूचे देश में व्याप्त सरकारी कार्यालयों, उपक्रमों के हिंदी अधिकारियों, अनुवादकों को अनुवाद का प्रशिक्षण देने का एक व्यापक कार्यक्रम शुरू किया। यह प्रशिक्षण कार्यक्रम दो स्तरों — त्रैमासिक तथा साप्ताहिक—पर किया गया। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत अब तक हजारों अनुवादकों, हिंदी अधिकारियों ने अनुवाद का गहन प्रशिक्षण प्राप्त किया है। अनुवाद के इस प्रशिक्षण में साहित्यिक अनुवाद से लेकर, सरकारी नियम पुस्तिकाओं, प्रपत्रों, रिपोर्टों आदि के अनुवाद का प्रबंध किया गया है। अपने-अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ बनते हुए अनुवादकों से विचार-विमर्श भी करते हैं और उनकी समस्याओं को दूर करने के रास्ते भी बताते हैं। अनुवाद ब्यूरो के क्षेत्रीय कार्यालय देश के चारों कोनों में स्थित हैं, जहां संयुक्त निदेशक स्तर के अधिकारी इन कार्यालयों को चलाते हैं। ये कार्यालय क्षेत्रीय स्तर पर समन्वय स्थापित करके अनुवाद-कार्य को आगे बढ़ाने का काम करते हैं।

हिंदी कार्यान्वयन के क्षेत्र में गृह मंत्रालय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विभाग है राजभाषा विभाग। राजभाषा विभाग भारत सरकार की राजभाषा नीति के सुचारु कार्यान्वयन पर दृष्टि रखता है। विभिन्न सरकारी, अर्द्धसरकारी कार्यालयों तथा सार्वजनिक उपक्रमों में राजभाषा को लागू करने के संबंध में दिशा-निर्देश देने का कार्य राजभाषा विभाग करता है। राजभाषा कार्यान्वयन के लिए प्रति वर्ष वार्षिक कार्यक्रम तैयार करने का कार्य भी इसी विभाग का है। कार्यान्वयन की प्रगति रिपोर्ट

प्राप्त करके उस पर अपनी टिप्पणी देना, विभिन्न प्रकार की प्रोत्साहन योजनाओं को लागू करने-कराने पर बल देना तथा समय-समय पर प्रगति के निरीक्षणार्थ अधिकारियों को भेजना, राजभाषा विभाग के कतिपय कार्यों में हैं। राजभाषा विभाग के निर्देशों के तहत प्रत्येक कार्यालय में समुचित हिंदी स्टाफ की भरती भी हुई है।

विधि मंत्रालय द्वारा भी विधि संबंधी कागजात, नियमावली तथा उच्चतम न्यायालय के फैसलों को हिंदी में अनूदित करने के लिए कार्यालय की स्थापना की गई। तमाम कानूनी कागजात इस विभाग के माध्यम से सरकारी कार्यालयों तक पहुंचाए गए। जहां कार्यालयों द्वारा स्वयं ही अनुवाद किया गया, वहां उसका पुनरीक्षण विधायी आयोग द्वारा किया गया ताकि कानूनी भाषा को संपूर्ण अभिप्रायों के साथ समझा जा सके। प्रशासनिक, वित्त, कार्मिक, सतर्कता इन सभी विभागों के लिए शब्दावली का निर्माण तो पहले हो चुका है, अब बहुत-से शब्द सहज रूप से प्रचलन में भी आ गए हैं। शब्दावली आयोग ने प्रशासनिक शब्दावली को हिंदी-अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-हिंदी में प्रकाशित करवाकर उसकी हजारों प्रतियां निःशुल्क वितरित भी की हैं। डाक-तार विभाग का अधिकांश साहित्य द्विभाषिक किया जा चुका है। कई नगरों की टेलीफोन निर्देशिकाएं भी कई वर्षों से हिंदी में अलग से प्रकाशित की जा रही हैं। रेल विभाग में हिंदी को आगे बढ़ाने के लिए अनेकानेक हिंदी पदों का सृजन हुआ है। प्रत्येक स्टेशन पर रेल आरक्षण सूचियां द्विभाषिक तैयार की जाती हैं। उद्घोषणाएं हिंदी में अवश्य की जाती हैं। यात्री अपनी सुविधा से आरक्षण फार्म हिंदी में भर सकते हैं।

राजभाषा अधिनियम को सुचारु ढंग से लागू करने के लिए अधिनियम की धारा 3(3) को दृढ़तापूर्वक लागू करने के निर्देश भारत सरकार की ओर से प्रत्येक मंत्रालय को नियमित रूप से भिजवाए जाते हैं। इसका आशय है कि प्रत्येक मुद्रित सरकारी कागज द्विभाषिक होना चाहिए, इसमें मात्र अंग्रेजी का प्रयोग वर्जित होगा। पत्र शीर्ष, भेंट कार्ड, दैनिक प्रयोग में आने वाले फार्म, साइन बोर्ड, रबड़ की मोहरें आदि पूर्णतः द्विभाषिक होने चाहिएं। इनमें भी हिंदी को सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाएगा अर्थात् हिंदी, अंग्रेजी के ऊपर होगी।

कार्यालयों में राजभाषा का क्रियान्वयन सुचारु रूप से हो रहा है अथवा नहीं, यह देखने के लिए विभिन्न स्तरों पर निरीक्षणों की व्यवस्था की गई है। इनमें सर्वोपरि है संसदीय राजभाषा समिति, जो समय-सम्य पर कार्यालयों का निरीक्षण करती है, और कार्यालय के सर्वोच्च अधिकारी के साथ बैठकर कार्यान्वयन पर विचार करती है।

प्रश्न यह है कि शब्दावली निर्माण की विविध उपलब्धियों, अनेकानेक प्रशासनिक ग्रंथों, नियम पुस्तकों के अनुवाद, विश्वविद्यालय स्तरों के ग्रंथों के निर्माण—चाहे वे आयुर्विज्ञान संबंधी हों अथवा इंजीनियरी के, हिंदी के प्रयोग के सरकारी आदेशों तथा अधिकांश सुविधाएं उपलब्ध कराए जाने के बावजूद, पचास साल बाद भी हिंदी का

जो सम्मानजनक प्रयोग अपेक्षित था, क्या वह हो पा रहा है? क्या हम अपनी राजभाषा को उच्चतर पद पर आसीन पाते हैं? क्या भारत सरकार का कोई कर्मचारी अथवा सामान्य नागरिक हिंदी का प्रयोग करके गर्व का अनुभव करता है? इन सब प्रश्नों के उत्तर कोई बहुत बड़ी आशा नहीं जगाते। कुछ अधिकारी, कुछ नागरिक हिंदी में काम अवश्य करते हैं, मगर इनकी संख्या न्यून है। यहां सरकार द्वारा इस दिशा में किए गए अनेकानेक प्रयत्नों का उल्लेख किया जा चुका है। इससे यह तो अवश्य सिद्ध होता है कि सरकार हिंदी के महत्त्व को समझते हुए, उसके प्रयोग को निरंतर बढ़ाने के लिए सतत प्रयासरत है। इसके लिए जितने भी साधन जुटाने आवश्यक थे, उसने जुटाए। यहां तक कि दफ्तरों में अधिकाधिक काम करने वालों को हर प्रकार के प्रोत्साहन दिए, प्रमाणपत्र दिए। प्रति वर्ष 14 सितंबर को 'हिंदी दिवस' मनाने, उसी के साथ-साथ हिंदी सप्ताह, हिंदी पखवाड़ा तथा हिंदी मास आयोजित करने की परंपरा भी स्थापित हो गई है। इन अवसरों पर विभिन्न प्रतियोगिताएं आयोजित करके कार्यालयों में सकारात्मक वातावरण बनाने की पहल भी है। कहा जा सकता है कि सरकार ने राजभाषा हिंदी के विकास और प्रगति के पूर्ण प्रयत्न किए और पर्याप्त ईमानदारी से किए।

लेकिन यह एक दु:खद वास्तविकता है कि व्यक्तिगत रूप से हिंदी में कार्य करने वाले अपेक्षित मात्रा में सामने नहीं आए। हर व्यक्ति एक-दूसरे की ओर देखता रहा और वर्षों से चले आ रहे अंग्रेजी के अधकचरे ज्ञान से काम चलाता रहा। यहां तक कि पूर्णत: हिंदीभाषी राज्यों यथा दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश में भी हिंदी कार्यान्वयन अपेक्षित मुस्तैदी एवं निपुणता से नहीं हुआ। यह एक विडंबना ही है कि आजाद भारत में राजभाषा के प्रयोग को राष्ट्रीय अस्मिता, गौरव और स्वाभिमान से जोड़कर नहीं देखा जा रहा है। यों हिंदी में काम करने के लिए, हिंदी की साहित्यिक कृतियों के लेखन के लिए पुरस्कारों की भरमार है। देश-विदेश में लाखों लोग हिंदी अध्यापन, हिंदी पत्रकारिता-शिक्षण-प्रशिक्षण और हिंदी अधिकारी आदि के पदों से जुड़े हैं, हजारों पुस्तकालय हैं, मगर निष्ठापूर्वक हिंदी में कार्य करने वालों का अभाव इस तथ्य का द्योतक है कि हम भारतीयों ने उसे अपने व्यक्तित्व का अंग या प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाया है। हिंदी-भाषी माता-पिता भी अपने बच्चों को हिंदी पढ़ाने में सहजता अनुभव नहीं करते। हां, उन करोड़ों भारतीयों की बात और है जो अंग्रेजी के मोहजाल से ग्रस्त नहीं हैं, इसलिए ज्यादा अंग्रेजी न जानते हुए हिंदी बोलने-पढ़ने-लिखने में संकोच नहीं करते। उनके आत्मविश्वास, आस्था और भाषा-प्रेम को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि उच्च सरकारी कर्मचारी तथा सफेदपोश नागरिक भी हिंदी-प्रयोग की ओर आकर्षित हों।

राजभाषा कार्यान्वयन उतना जटिल और मुश्किलों-भरा काम नहीं है, जितना

कि उसे उदासीनता अथवा उपेक्षावश बना दिया गया है। इसके पीछे अनेक कारण रहे हैं। सर्वप्रथम तो यही कि नौकरशाही अपनी हठधर्मिता के कारण अंग्रेजी की घिसी-पिटी लीक पर चली जा रही है। वह कार्यालयों के काम-काज में भाषाई परिवर्तन की समर्थक नहीं है। भाषाई परिवर्तन से जो थोड़ा-बहुत अतिरिक्त श्रम करना पड़ेगा, अभ्यस्त होना पड़ेगा, उसके लिए मानसिक तैयारी का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। परिणामत: द्विभाषिक मोहरें बनवा लेने, नामपट्ट लिखवा लेने और लेखन सामग्री को दोनों भाषाओं में तैयार कर लेने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रगति नजर नहीं आती। दूसरे, जनता में भी अपनी भाषा का प्रयोग करने की इच्छाशक्ति का अभाव है। ठीक-ठीक अंग्रेजी न आने के बावजूद आम आदमी टूटी-फूटी अंग्रेजी का प्रयोग करके अपनी हीन भावना को छुपाने में लगा हुआ है। यह एक दु:खद तथ्य है। मगर सुखद यह भी है कि हिंदी समाचार-पत्र, अंग्रेजी की तुलना में कहीं अधिक छपते हैं और पढ़े भी जाते हैं।

इस वास्तविकता को स्वीकारने में संकोच कैसा कि तमाम सरकारी संरक्षण, नीतियां, अधोसंरचना और प्रोत्साहनों के बावजूद हिंदी का प्रयोग अपेक्षित मात्रा में नहीं हो पा रहा है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सरकार मात्र सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से इसकी अनुमति दे सकती है, प्रेरणा दे सकती है, सुविधाएं उपलब्ध करा सकती है, मगर लिखने वालों का हाथ पकड़कर हिंदी नहीं लिखा सकती। इसके लिए मंत्री से लेकर संतरी तक को अपने-अपने हिस्से की हिंदी स्वयं लिखनी होगी। पिछले पचास वर्षों में भारत सरकार ने राजभाषा के विकास हेतु जो भी प्रयास किए हैं, वे अपर्याप्त भले ही हों, नगण्य कदापि नहीं हैं। कई स्थलों पर तो ये प्रयत्न अपर्याप्त भी नहीं हैं। जहां तक अनुवाद, शब्दावली, प्रशिक्षण, प्रोत्साहन का संबंध है, इस दिशा में बहुत कार्य हुआ है।

राजभाषा के समुचित कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है कि उसके प्रयोग के लिए जन सामान्य और तत्परता से आगे आए। सामान्य नागरिकों को भी अभिव्यक्ति के इस सशक्त माध्यम को पूरी तन्मयता से अपनाना होगा। हिंदी जानने के बावजूद उसके प्रयोग से अनभिज्ञ जनों के इस अपरिचय के विंध्याचल से सहमति और आत्मीयता की सरिता प्रवाहित करनी होगी। बुद्धिजीवियों को और प्रखरता से अपनी भाषा के सम्मान का परचम लहराना होगा। सरकार द्वारा अपने दायित्वों को एक सीमा तक निभा दिए जाने के बाद अब भारत की आम जनता का कर्त्तव्य भी बनता है कि वह राजभाषा अधिनियम के सकारात्मक पहलुओं का लाभ उठाते हुए हिंदी के प्रयोग को इतना आगे बढ़ा दे कि हमें मुड़कर पीछे की ओर न देखना पड़े।

□

हिंदी को सम्मान दिए बगैर जनता समृद्ध नहीं हो सकती: डॉ० रामविलास शर्मा

प्रकाश मनु

डॉ० रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य के शलाका पुरुषों में से हैं जिन्होंने इस सदी के एक बड़े आलोचक के रूप में तो अपनी अविस्मरणीय छाप छोड़ी ही है, इधर वे भारतीय संस्कृति, भाषा और साहित्य के उन जटिल प्रश्नों के उत्तर खोजने में लगे हैं, जिनका सीधा सामना करने के बजाए ज्यादातर लेखक कतराकर निकल जाना चाहते हैं। साहित्य ही नहीं, हिंदी भाषा और संस्कृति को लेकर भी उनके विचार पारदर्शी हैं और उसे वे दो-टूक अंदाज में जिस तरह की साफगोई और बेबाकी के साथ कहते हैं, वैसा करने वाले आज हिंदी में कम ही लेखक बच रहे हैं।

रामविलास जी हिंदी भाषा के प्रश्न को जातीय स्वाभिमान और देश की जनता की मौजूदा हालत तथा आर्थिक परिस्थितियों से जोड़कर देखते हैं। इसलिए उनके भाषा-चिंतन में बेहद गतिमयता और ऊर्जा है।

रामविलास जी हिंदी पर बात करते हुए, एक खास तरह की उत्तेजना और उत्साह से छलछलाते नजर आते हैं। और अपना यह स्पष्ट मत दोहराते हैं कि हिंदी की समृद्धि के साथ ही देश और देश की जनता की समृद्धि भी जुड़ी हुई है। वे हिंदी की दुर्दशा की वजहों को रेखांकित करने के साथ-साथ

उन स्थितियों का भी गहरा विश्लेषण करते चलते हैं, जिनसे ये हालात पैदा हुए हैं। लेकिन साथ ही वे उन रास्तों की तरफ भी इशारा करते हैं, जिन पर चलकर हम फिर से अपने जातीय सम्मान और भाषाई अस्मिता को अर्जित कर सकते हैं।

87 वर्ष की अवस्था में जब उनके चलने और बोलने में भी हल्का कंपन नजर आने लगा है, उनके विचारों की दृढ़ता, उनकी गहरी आस्था आश्चर्यजनक ढंग से प्रभावित करती है। बीच-बीच में वे हल्की चुटकियां भी लेते जाते हैं और बातचीत को एक अनौपचारिक रंग दे देते हैं। उनसे हुई विचारोत्तेजक बातचीत के कुछ प्रमुख अंश।

डॉक्टर साहब, हमारे देश में हिंदी की हालत न सिर्फ चिंताजनक है, बल्कि वह लगातार और ज्यादा खराब और चिंताजनक होती जा रही है। महानगरों में तो अंग्रेजी का ही राज है, हिंदी को धकेल-धकालकर कोने में कर दिया गया है। और अब तो छोटे शहरों, कस्बों, गांवों तक में अंग्रेजी की पैठ हो गई है। अंग्रेजी जानने वाला योग्य और विद्वान् आदमी समझा जाता है। लिहाजा उच्च और मध्यवर्ग ही नहीं, निचले तबकों में भी अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने की होड़ है। इससे बच्चों पर जो दबाव पड़ता है, वह तो है ही। उनकी मौलिक प्रतिभा और व्यक्तित्व को भी जैसे कुचल दिया जाता है।

देखना यह चाहिए कि हमारे देश में अंग्रेजी का समर्थन कौन-सी ताकतें कर रही हैं और उनका उद्देश्य और इरादे क्या हैं? आप देखेंगे, आजादी से पहले और आजादी के बाद के परिदृश्य में काफी अंतर आया है। पहले अंग्रेजी का विरोध करना अंग्रेजी सत्ता का विरोध करना था। विदेशी शासन का विरोध करना था। तब जो विदेशी सत्ता थी या सत्ता के जो लोग थे, वो दिखाई देते थे, जबकि आज फर्क यह आया है कि अंग्रेजी का समर्थन करने वाली जो ताकतें हैं, वे दिखाई नहीं देतीं और लोगों को समझ में नहीं आता, किससे लड़ें, कैसे लड़ें। आज विश्व में प्रमुख देश और शक्तियां नहीं चाहतीं कि भारत में हिंदी का विकास हो या हिंदी फले-फूले। क्योंकि हिंदी का विकास होगा तो भारत का, भारत की जनता का विकास होगा। यहां की जनता समृद्ध होगी, देश शक्तिशाली होगा। लेकिन यही वे नहीं चाहते। इसके लिए अंग्रेजी उनके हाथ में बहुत बड़ा हथियार है। उनकी सतर्क निगाहें इस बात पर रहती हैं कि भारत में अंग्रेजी ठीक ढंग से पढ़ाई जा रही है या नहीं? और उसका कैसा विकास हो रहा है! इस बात के लिए वे अपना काफी धन और शक्ति भी खर्च

करते हैं। हैदराबाद में एक संस्थान है—'इंडियन इंटरनेशनल स्टडीज़।' उसमें विदेशी पूंजीपति, विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका के—हर साल लाखों रुपया खर्च करते हैं... और वे इसका महत्त्व जानते हैं कि इस तरह के संस्थानों के जरिए वे अपने अदृश्य साम्राज्य को मजबूत करते रह सकते हैं। इसी तरह आपको बताऊं, मैं जिन दिनों के०एम० मुंशी संस्थान, आगरा में पढ़ाता था, तो अमेरिका के एकेडेमिशियन उन दिनों खासकर यह देखने के लिए आते थे कि हमारे यहां अंग्रेजी की पढ़ाई कैसे हो रही है। अंग्रेजी की पढ़ाई ठीक ढंग से होती रहे, इसमें वे काफी दिलचस्पी लेते थे और इसमें वे हर तरह की मदद देने के लिए तैयार रहते थे।

आप देखिए, जर्मनी, जापान, अमेरिका, ब्रिटेन—ये ऐसी शक्तियां हैं, जहां से भारत को मदद मिलती है या ऋण मिलता है। ये अपने पुराने प्रौद्योगिकी के अनुभव भारत को देते हैं और ऐसी हालत बनाए रखते हैं कि भारत हर हाल में उनका मुंह जोहता रहे। इस रूप में भारत आज भी आर्थिक रूप से उन पर निर्भर है। राजनीतिक स्वतंत्रता हमने हासिल कर ली है, लेकिन आर्थिक नहीं।... इस हाल में वे तो यह शर्त लगाएंगे ही कि हमसे मदद लेनी है तो हमारी बोली बोलो। हिंदी की वकालत भी करते रहो और हमसे उधार भी लेते रहो, यह कैसे हो सकता है?

पर डॉक्टर साहब, एक और चीज की तरफ मेरा ध्यान जाता है... आपको क्या लगता है, हमारे यहां मध्यवर्ग में जिस बुरी तरह अंग्रेजी का चलन बढ़ा है और निम्नवर्ग भी अब जिसकी लपेट में आता जा रहा है, उसके पीछे क्या सिर्फ एक तरह की अंतरराष्ट्रीय राजनीति और उनके दबाव ही हैं? हिंदी पढ़ना हमें एक तरह की आत्महीनता की ओर धकेलता है, तो हिंदी से दूर रहना ही बेहतर है। हिंदी का...

मैं आपकी बात समझ गया... असल में देखना यह चाहिए कि हमारे देश में काम-काज के अवसर किस तरह के हैं। ज्यादातर लोगों के पास तो पूंजी है ही नहीं। फिर पूंजी हो और धंधा करें, कोई कारोबार करें—यह साहस भी कम लोग ही कर पाते हैं। इसलिए चाहे गांव और शहर के लोग हों या फिर महानगर के, मध्यवर्ग के लोग हों या निम्नवर्ग के, उनकी कोशिश यही होती है कि वे पढ़-लिखकर नौकरी पा जाएं। अब नौकरी या तो सरकारी हो सकती है या फिर उसके किसी प्रतिष्ठान की। जहां तक सेठों की बात है तो आप देखिए, भारत के जितने बड़े पूंजीपति हैं, उनकी भाषा क्या है? क्या अंग्रेजी के बगैर उनका काम चलता है? क्या अंग्रेजी के बगैर उनका कारोबार चल सकता है? बैंकों की भाषा क्या है, अंग्रेजी ही न! और जिन देशों से उनको व्यापार करना है, वहां भी अंग्रेजी का माध्यम ही सुविधाजनक है। यही हालत सरकारी नौकरियों में भी है। लोक सेवा आयोग ने भले ही भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने की छूट दे दी है, लेकिन वहां देशी भाषाओं के साथ किस तरह

का व्यवहार होता है, यह सभी जानते हैं। इस तरह आप देखेंगे, भारत में ऊंची नौकरियों की भाषा अंग्रेजी ही है। इसलिए सभी की दौड़ उधर ही है।

क्या आप यह नहीं मानते कि अगर यही स्थिति बनी रही, तो आगे जाकर अपनी भाषा के साथ प्रेम भी शिथिल होने लगेगा...यानी यह एक सर्वग्राही स्थिति है, जिसमें अंग्रेजी का मुकाबला करना दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा है।

देखिए, ये दो अलग-अलग चीजें हैं... क्योंकि भाषा की जड़ें इतनी आसानी से खत्म नहीं होतीं। हां, इतना जरूर है कि अगर आप व्यापार की भाषा नहीं सीखेंगे तो धंधे से बाहर हो जाएंगे। मैं आपको आगरे की बात बताऊं। आगरे का चमड़े का कामकाज आप जानते ही हैं, मशहूर है। शुरू में यह मुसलमानों के हाथ में था पर जब से विस्थापित हिंदू आए, उन्होंने धीरे-धीरे इस पर कब्जा कर लिया...इसलिए कि इन लोगों ने देखा कि हमें अपनी चीजें तमिलनाडु में बेचनी हैं, तो हमें अंग्रेजी सीखनी चाहिए। आप ध्यान दीजिए तो आपको पता चलेगा कि आप भारत के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में व्यापार करते हैं तो भी उसमें कहीं न कहीं अंतरराष्ट्रीय दबाव काम करते हैं।

और शिक्षा, संस्कृति के क्षेत्र में...! यहां भी तो अंग्रेजी का बोलबाला कुछ कम नहीं है।

मैं इसी पर आ रहा था...आप देख लीजिए, जो हिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालय हैं, चाहे वे दिल्ली में हों, या उत्तर प्रदेश या हिमाचल के—वहां उच्च शिक्षा का माध्यम क्या है! एक बार डॉ० राधाकृष्णन आगरा आए तो मैंने उनसे पूछा—"शिक्षा में अंग्रेजी क्यों चल रही है?" उन्होंने कहा, "चलनी तो नहीं चाहिए, पर इसे रोक पाना मेरे बस की बात नहीं है।" तो इस तरह हिंदी के लेखकों का बंटा होना, हिंदी भाषी समाज का सात प्रदेशों में बंटा होना, हिंदी भाषी जनता का एकजुट न होना तथा गलत तरह की राजनीति—ये वे कारण हैं, जिनसे हिंदी की यह दुर्दशा हुई है।

एक बात बताएं कि हिंदी का प्रश्न क्या केवल हिंदी का ही प्रश्न है यह भारतीयों में जो आत्महीनता है या कहीं न कहीं अपनी संस्कृति और स्वदेशी के प्रति हमारी धारणाओं से भी जुड़ा है? यानी स्वदेशी या भाषा क्या एक ही मुद्दा नहीं है?

ठीक कहा आपने कि हमारी संस्कृति और जीवन दोनों में यह आत्महीनता पैठ गई है कि जो कुछ अपना है वह घटिया है। आजादी से पहले यह नहीं था पर आजादी के बाद यह तेजी से बढ़ा बल्कि आजादी के समय तो एक जातीय और

राष्ट्रीय अभिमान हममें था। अपनी संस्कृति को जानने और उस पर गर्व करने का भाव था, जबकि आजादी के बाद उल्टा हुआ और आत्महीनता बढ़ती गई...इसका कारण आप खोजेंगे तो इस बात की ओर आपका ध्यान जाएगा कि आजादी मिलने के बाद भी हमारे देश का जो औपनिवेशिक ढांचा है वह बदला नहीं। हम अब भी बड़ी शक्तियों के एक खिलौने की तरह हैं। उनके डोरियां हिलाने पर हम कठपुतली की तरह नाचते हैं। ऐसे लोगों में स्वाभिमान कहां से आएगा?

आप देखेंगे कि विदेशी पूंजी का दबाव बढ़ा है। शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में भी इन देशों की घुसपैठ है, इसलिए हमारे यहां साइंस ही नहीं, दूसरे विषयों में भी हर आदमी की कोशिश होती है कि वह दौड़कर विदेश से डिग्री ले आए। विदेश से डिग्री मिलते ही रुतबा और दबदबा बढ़ जाता है... और इन शक्तिशाली देशों में भी अमेरिका की स्थिति तो विश्वदादा जैसी है, जैसे उसका उद्देश्य ही सारी दुनिया को विजित करना है। इस मामले में विश्व मुद्राकोष जैसे संगठन उसके हथियार हैं। वह अपनी पूंजी लगाता है और सांस्कृतिक गुलामी बेचता है। इस सांस्कृतिक गुलामी के कारण ही हमारे यहां भाषा की गुलामी आई है और हिंदी बोलना हमें शर्म की चीज लगने लगा है।

तब तो इस हिसाब से कल न हिंदी बचेगी न हिंदुस्तानी... और तब एक दिन हम एक चेहराविहीन देश होंगे जिसके पास अपना कहने को कुछ नहीं होगा...न भाषा न संस्कृति न विचार...?

नहीं, ऐसा नहीं है। स्थितियां खराब हैं, पर मैं ऐसी हताशा का कारण भी नहीं देखता। उसका कारण यह है कि मध्यवर्ग चाहे उच्चवर्ग की देखा-देखी नकलची होता जा रहा है लेकिन एक बहुत बड़ा तबका है जिसमें मजदूर, किसान, दूध बेचने वाले, फल-सब्जी बेचने वाले या और कारीगर वगैरह शामिल हैं—इनमें अब भी अपनी भाषा और अपनी जीवन-संस्कृति के प्रति एक अटूट लगाव बचा है और उन्हें कोई आसानी से बहका नहीं सकता। आप दूध बेचने वाले से बात कीजिए, वह उसी भाषा में बोलेगा जो उसकी अपनी भाषा है। हां, आपको उसे समझने की जरूरत पड़ सकती है। गुजरात में जो दूध बेचने वाले भैया लोग हैं वे अपनी भाषा ही बोलते हैं। वे गुजराती नहीं बोलते, इसलिए गुजरात में जिन लोगों को उनसे बात करने की जरूरत पड़ती है उन्हें हिंदी सीखनी ही पड़ेगी। *(मुस्कुराते हुए)* गांधी जी ने इस पर एक लेख लिखा था कि गुजरात में हिंदी को तो दूध बेचने वाले भैयाओं ने बचाया हुआ है और उनके कारण गुजरात से हिंदी कभी मिट नहीं सकती।... तो यह तो मैं एक उदाहरण दे रहा हूं। यह सारे मजदूर वर्ग का चरित्र है जिसमें दृढ़ता और अपनी जमीन से जुड़ाव काफी होता है। मध्यवर्गीय ढुलमुलपन वहां नहीं है इसलिए फिजी में जो भारतीय गए आज वे भी हिंदी बोलते हैं। मॉरीशस और गुयाना में हिंदी ही चलती

है। जहां भी गिरमिटिया मजदूर हैं वहां आप समझिए कि हिंदी है। इस हिसाब से हिंदी का क्षेत्र कम नहीं है। सारे संसार में किसी न किसी रूप में हिंदी की पहुंच है। यही चीज भारत में भी है कि हिंदी के नाम पर लोग कितना ही मुंह चिढ़ाएं, राजनीतिक पार्टियां कितना ही हिंदी का विरोध करें लेकिन हिंदी अंदर ही अंदर अपनी जगह तो बनाती ही जा रही है। सच तो यह है कि आज हर आदमी को पता है कि हिंदी के बगैर हमारा काम नहीं चल सकता। इसलिए ऊपर से वह चाहे जो कुछ दिखाए लेकिन हिंदी सीख ज़रूर लेना चाहता है।

इसी तरह विदेशी कंपनियां जो अपना माल बेचने के लिए भारत आती हैं उन्हें अच्छी तरह पता है कि बिना हिंदी के उनका काम नहीं चल सकता। वे अपने प्रचार-प्रसार के लिए हिंदी का ही सहारा लेते हैं। उनके अधिकारियों को पता है कि अगर उन्हें मजदूरों से काम लेना है तो हिंदी आनी ही चाहिए। तो यह जो मजदूर शक्ति है, यह हमारी भाषा की भी शक्ति है। इसे हमें सही आंख से देखना आना चाहिए। अगर हम इस चीज़ को समझेंगे और सम्मान देंगे तो केवल हिंदी भाषा ही नहीं सारी हिंदी भाषी जनता की हालत सुधरेगी।

एक ओर तो मीडिया और दूसरे प्रचार माध्यमों में हिंदी का प्रयोग बढ़ा है और जैसा कि आपने भी कहा...लेकिन इसके साथ-साथ हिंदी में एक तरह का प्रदूषण या मिलावट भी चल निकली है खासकर मीडिया में प्रयुक्त होने वाली हिंदी में अंग्रेजी शब्दों की इस कदर मिलावट है कि इसे लोग हिंदी नहीं 'हिंग्रेजी' कहते हैं।

मैं इस तरह की मिलावट को जिसमें भाषा का स्वरूप ही नष्ट हो जाए, उचित नहीं मानता। दूसरी भाषाओं में चाहे वह मराठी हो, गुजराती या बांग्ला, तमिल या तेलुगु वहां आपको अंग्रेजी शब्दों की ऐसी मिलावट नहीं मिलेगी। वे किसी को अपनी भाषा को बिगाड़ने की इजाजत नहीं देते और इस बात को बुरा मानते हैं। यहां तक कि वे जब हिंदी बोलते हैं तो भी उनकी कोशिश यह होती है कि वे एकदम शुद्ध हिंदी बोलें। जब मैं आगरा में के०एम० मुंशी हिंदी संस्थान में था तो हमारे जो डायरेक्टर थे उनकी हालत यह थी वह एक भी हिंदी का अच्छा वाक्य नहीं बोल पाते थे। यानी एक वाक्यांश इधर जा रहा है, एक उधर। बीच में अंग्रेजी की टांग फंसी हुई है। उनसे मराठी का एक व्यक्ति मिलने आया तो जो हमारे संस्थान के डायरेक्टर थे वह तो गलत-सलत हिंदी बोल रहे थे लेकिन वह मराठी भाषी व्यक्ति इतनी अच्छी और ऐसी धाराप्रवाह हिंदी बोल रहा था कि सभी चकित थे। बाद में लोगों ने कहा भी कि हमारे निदेशक महोदय से अच्छी हिंदी तो इन्हीं सज्जन की थी।... तो अपनी भाषा में हम जो इस तरह की मिलावट होने देते हैं और उसके हर तरह के बिगाड़ को सहन कर लेते हैं, यह कोई अच्छी बात नहीं। इससे अपनी भाषा के प्रति हमारे

रागात्मक जुड़ाव और सम्मान की कमी का ही पता चलता है...उर्दू वालों को आप देखिए, वे इस तरह की चीजों को बर्दाश्त नहीं करते। गलत उर्दू बोलने पर कोई भी आपको टोक देगा कि साहब, यह गलत है। जबकि हिंदी में आप किसी को कहकर देखिए, वह अपनी गलती मानने को तो तैयार होगा ही नहीं। ये छोटी-छोटी चीजें हैं लेकिन इससे अपनी भाषा के प्रति हमारी निष्ठा कितनी है, यह जरूर पता चल जाता है। बिना मानक रूप के आप हिंदी के विकास की कल्पना नहीं कर सकते।

डाक्टर साहब, मैं आपका ध्यान दिलाना चाहूंगा एक ऐसी चीज की ओर जो हिंदी के साथ खासकर जुड़ी है उसकी प्रांतीय भाषाएं या बोलियां।...हिंदी के कई रूप हैं। जो बिहार से आता है उसकी हिंदी का एक रूप है, जो बंबई से आता है उसकी हिंदी का दूसरा रूप है... ऐसी हालत में हिंदी का कोई मानक रूप भला कैसे सुस्थिर हो सकता है?

देखिए, यह बात तो ठीक है कि हिंदी के तमाम रूप हैं, बिहारी हिंदी का एक रूप है, बंबइया हिंदी का दूसरा। हमें इन चीजों का विरोध नहीं करना चाहिए। इन सभी को स्वीकार करना आना चाहिए। बोलचाल के स्तर पर ये सभी रूप चल सकते हैं और इसमें कोई बुराई नहीं। लेकिन जहां तक एक राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदी के विकास की जरूरत है, एक राज काज चलाने वाली भाषा के रूप में उसकी जरूरत है, तथा विज्ञान और तकनीकी विषयों के माध्यम के रूप में उसके प्रयोग की बात है—वहां हिंदी का एक मानक रूप तो हमें बनाना ही होगा। नहीं तो हिंदी एक समर्थ भाषा नहीं रह जाएगी और उसमें कई तरह की कठिनाइयां आएंगी। तो ये दोनों अलग-अलग तरह की चीजें हैं, इन्हें आपस में मिलाने की जरूरत नहीं। और जहां तक हिंदी और उसकी बोलियों के आपसी आदान-प्रदान की बात है, वह तो चलता ही रहना चाहिए उससे हिंदी की शक्ति घटेगी नहीं, बढ़ेगी ही।

इसी तरह हिंदी और उर्दू की समस्या है। सुविधा के लिए उन्हें कभी एक, कभी अलग-अलग मान लिया जाता है। कुछ लोगों का तो यह भी ख्याल है कि हिंदी और उर्दू में सिर्फ लिपि का अंतर है। जहां तक मेरा ख्याल है, आज तक हिंदी तथा उर्दू साहित्य का कोई सम्मिलित इतिहास नहीं लिखा गया...

देखिए, ऐसा है, कम से कम भाषा के लिए आप उर्दू शब्द का इस्तेमाल सन् 1800 से पहले न पाएंगे। इससे पहले जो भाषा थी वह हिंदी या हिंदुस्तानी ही थी। उर्दू शब्दों का और अर्थों में इस्तेमाल होता था लेकिन भाषा के लिए कभी नहीं। सन् 1802 में अंग्रेजी शिक्षाविदों ने यह बात चलाई कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की और इसको साबित करने के लिए बाकायदा कोशिशें भी की गईं। इसका बड़ा मनोरंजक इतिहास है। लल्लू जी लाल की 'बेताल पचीसी' बहुत प्रसिद्ध

किताब है, उनसे कहा गया कि इसे आप उर्दू में कर दीजिए। उन्होंने कहा, ठीक है कर देते हैं। पर उन्हें तो इतनी उर्दू आती नहीं थी। तो उन्होंने अपने मित्र काज़िम अली से कहा कि मैं बोलता जाता हूं तुम इसमें फारसी के कुछ शब्द डालकर इसे उर्दू लिपि में लिख दो। लेकिन काज़िम अली ने सोचा ज्यादा फारसी के शब्द डालने से इसका बोलचाल का रूप बिगड़ेगा। तो जहां जरूरी था, वहीं उन्होंने परिवर्तन किया। बाद में अंग्रेजों ने इसे देखा कि नहीं यह तो उर्दू नहीं है—मतलब सटीक उर्दू नहीं है तो इसके लिए एक बंगाली सज्जन तारिणीचरण मित्र को लगाया गया जिन्होंने उसमें और ज्यादा फारसी के शब्द भर दिए। यह किताब बड़ी शान से लंदन से छप कर आई। और खुद तारिणीचरण मित्र ने अपनी भूमिका में इस किताब का यह पूरा मनोरंजक इतिहास लिखा है। इससे आप समझ सकते हैं कि अंग्रेजों की चाल क्या थी।

शिवप्रसाद सितारेहिंद का नाम आपने सुना ही होगा, वे हिंदी-उर्दू एकता के बड़े पक्षधर थे। उनका कहना था कि सातवें-आठवें दर्जे तक हिंदी और उर्दू के छात्रों को अलग-अलग नहीं, एक साथ पढ़ाया जाना चाहिए इसलिए कि शुरुआती स्तर पर तो इनमें आपस में कोई फर्क ही नहीं है। उन्होंने इन कक्षाओं के लिए साइंस की किताबें तैयार करवाईं। ऐसी किताबें जिन्हें हिंदी और उर्दू के विद्यार्थी एक साथ पढ़ सकते हैं और किसी को कोई मुश्किल न आती हो। लेकिन गवर्नर ने उन किताबों को अस्वीकृत कर दिया। कहा कि नहीं, ये ठीक नहीं हैं। आपत्ति 'गुरु' शब्द को लेकर थी कि हिंदी के लोग गुरु बोलते हैं लेकिन उर्दू के लोग गुरुजी कैसे बोल सकते हैं, वे तो उस्ताद कहेंगे। लिहाजा यह पूरी योजना अस्वीकृत कर दी गई।...इस तरह अंग्रेजों की कभी इस बात में दिलचस्पी नहीं रही कि हिंदी और उर्दू पास आएं और अब भी निहित स्वार्थ और राजनीतिक पार्टियां नहीं चाहतीं कि वे पास आएं। लेकिन आप देखिए कि हिंदी और उर्दू बोलने वालों या हिंदुओं और मुसलमानों की आर्थिक परिस्थितियां अलग-अलग नहीं। उन्हें लगभग एक जैसे हालात में एक जैसी मजबूरी में काम करना पड़ रहा है। लिहाजा उन्हें नजदीक तो आना ही पड़ेगा। कोई अपनी अलग खिचड़ी नहीं पका सकता... वैसे भी आप देखिए बोलचाल की भाषा हो या टी०वी० सिनेमा हो आप हिंदी और उर्दू में यह फर्क नहीं दिखा सकते। यह सिर्फ साहित्य में ही है और वह भी लिपि की वजह से।

मेरा ख्याल है डॉ० साहब, राही मासूम रज़ा का 'आधा गांव' अगर नागरी लिपि में न छपता, तो उसे इतनी ज्यादा लोकप्रियता न मिलती।

बिल्कुल ठीक। तब तो वह कुछ ही लोगों तक सीमित रह जाता और नागरी में छपा तो आप देखिए कितने लोगों ने उसे पढ़ा और तारीफ की। इसलिए कि लिपि की वह दीवार हट गई जो बहुत लोगों को वहां तक जाने से रोकती थी। इसीलिए मेरा कहना है कि वे उर्दू लिपि में अपनी चीजें प्रकाशित कराएं लेकिन साथ ही साथ नागरी

में भी...। मुझे याद है, ख्वाजा अहमद अब्बास का काव्य—संग्रह 'सरगम' दोनों लिपियों में एक साथ छपा था...*(कुछ रुक कर सोचते हुए...)* अच्छा, आप देखिए, सन् 47 से पहले मार्क्सवादी हिंदुस्तानी कौम की बात किया करते थे। यहां हिंदी और उर्दू अलग-अलग भाषाएं नहीं थीं लेकिन सन् सैंतालीस के बाद यह स्वर बदला। उर्दू वालों को खतरा होने लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि हिंदी कौमीजुबान बन जाए और हमें एक तरफ कर दिया जाए। इसलिए हिंदी उर्दू के अलगाव पर कुछ ज्यादा जोर दिया जाने लगा। लेकिन आज भी आप देखिए कि बोलचाल की हिंदी और बोलचाल की उर्दू में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भाषाएं आखिर जनता के लिए हैं, अगर हिंदी और उर्दू वाले मिलकर रहेंगे तो उनके लिए जीवन आसान हो जाएगा लेकिन अलगाव से उनकी शक्ति बंटेगी और हालत और ज्यादा खराब होगी।

अच्छा डॉक्टर साहब, एक ओर तो हम हिंदी के मानक रूप की बात करते हैं, दूसरी ओर उसमें मैथिली के विद्यापति, अवधी के तुलसी, ब्रजभाषा के सूर और उर्दू के भी गालिब और मीर को शामिल करें, तो आपको क्या लगता है, हिंदी का पूरा स्वरूप कैसा बीहड़ बनेगा! जो बाहर का आदमी हिंदी सीखना चाहेगा क्या वह घबराकर भाग न जाएगा कि अरे बाबा कौन-सी हिंदी? यहां तो हिंदी में कई 'हिंदियां' हैं...तो संप्रेषण के इस संकट का क्या कीजिएगा?

देखिए, ऐसा है, जब हम मानक हिंदी की बात करते हैं यानी खड़ी बोली वाली हिंदी की जिससे रोजाना का कामकाज चलाया जा सके या फिर शिक्षा, राजकाज आदि का कामकाज चलाया जा सके तो अपनी चिंताओं को यहीं तक रखें कि हमारा काम सुचारु रूप से चलता रहे। यह असल में कामकाजी हिंदी की जरूरत का प्रश्न है और जहां तक आपने सूर, तुलसी या मीरा या विद्यापति की बात कही तो उनके अपने इतने ऊंचे-ऊंचे सिंहासन हैं और वे इस तरह जनता के दिलों पर राज कर रहे हैं कि वहां तक तो आप कभी पहुंच ही नहीं सकते। और न उनकी जगहों को हिला सकते हैं। ये तो वो लोग हैं जो मस्ती में भरकर गाया करते थे— "मो को कहा सीकरी सों काम? आवत जात पनहैया टूटी, बिसर गयो हरि नाम...।" उनकी जगह आप कभी नहीं ले सकते। हां, उन्हें समझने में मुश्किल भी नहीं आनी चाहिए। वे इस कदर लोकप्रिय हैं कि अनपढ़ से अनपढ़ लोग भी उनके काव्य का आनंद लेते हैं।...और जहां तक हिंदी के इन प्राचीन रूपों की बात है जिनमें काफी जटिलताएं हैं तो ऐसा तो सब भाषाओं में होता है। अंग्रेजी के कवि चौसर का नाम आपने सुना होगा। उनकी कविता का आनंद आप तब तक नहीं ले सकते जब तक आपके पास उनके बारे में जरूरी नोट्स न हों। इसलिए कि तब जो अंग्रेजी थी वह तो आज एकदम बदल गई। पर इससे चौसर का महत्त्व कम तो नहीं हो गया।

डाक्टर साहब, उर्दू के लोगों की खासकर ऐसे लोगों की जो हिंदी और उर्दू की एकता के हिमायती हैं, एक शिकायत आमतौर से सुनने को मिलती है कि एक ओर तो हिंदी उर्दू वाले हिंदी उर्दू की एकता की चर्चा करते हैं लेकिन दूसरी ओर हिंदी साहित्य का इतिहास जब लिखा जाता है तो उसमें भारतेंदु तो होते हैं मगर गालिब और मीर नहीं होते। तो यह दोहरापन किसलिए, क्या हिंदी उर्दू का एक सम्मिलित इतिहास नहीं लिखा जा सकता?

(हंसकर) आगरा में सन् 1971 में एक बड़ा लेखक सम्मेलन हुआ था। उसमें धर्मवीर भारती ने सुझाव दिया था कि डॉ० रामविलास शर्मा हिंदी-उर्दू का सम्मिलित इतिहास लिखें।...इस पर मैंने कहा कि मुझे तो बहुत अच्छी उर्दू नहीं आती, हिंदी भी नहीं आती। हां, अगर सभी लोग सहयोग करें और अलग-अलग खंड लिखकर दें तो उस ग्रंथ का संपादन मैं कर दूंगा।...बाद में उस हिसाब से रूपरेखा बनाई गई। हिंदी और उर्दू के लेखकों की एक बड़ी सूची भी बनाई गई। सभी को पत्र लिखे गए पर किसी का जवाब नहीं आया।...एक बार मैं अलीगढ़ गया था तो वहां भी बहुत से लेखकों ने यह सवाल उठाया। तो मैंने कहा कि मैं तो प्रगतिशील लेखक संघ का सचिव हूं और इस तरह की कोशिशों का पक्षधर हूं। मैंने उन्हें बताया कि मैंने तो एक बार हिंदी-उर्दू के संयुक्त इतिहास की रूपरेखा भी बनाई थी और बाद में वह काम आगे नहीं बढ़ सका, तो उस पूरी रूपरेखा को मैंने ज्यों का त्यों 'हंस' में छपा दिया था।...इसमें मैंने हिंदी-उर्दू के तमाम कवियों-लेखकों की चर्चा की थी, जिनका एक साथ मिलाकर अध्ययन करना दिलचस्प हो सकता है। और फिर प्रेमचंद तो थे ही...एक ऐसी विराट प्रतिभा के रूप में जहां हिंदी और उर्दू आकर दो जुबानें नहीं रह जातीं, एक हो जाती हैं।....मैंने कहा—यहां हिंदी के रवीन्द्र भ्रमर बैठे हैं। उर्दू के अब्दुल अलीम वाइस चांसलर हैं...ये दोनों मिलकर यह काम क्यों नहीं करते?...मैं अकेला क्या करूं?

बाद में मुझे पता चला कि हिंदी-उर्दू के सम्मिलित इतिहास के लिए वहां एक योजना बनी। उसके लिए वहां एक फंड भी नियत किया गया। .... कुछ समय बाद उर्दू के एक प्रोफेसर मुझसे मिलने आए। मैंने पूछा—"क्या हुआ उस इतिहास का।" वे हंसने लगे। बोले—"जो ऐसी योजनाओं का हश्र होता है, वही हुआ। पैसा खा-पीकर खत्म कर दिया गया और काम कुछ नहीं हुआ।"... लेकिन इस तरह के वृहत इतिहास की जरूरत तो निश्चित रूप से है। और नए सिरे से खोज करें तो आज भी बहुत-सी नई बातें सामने आ सकती हैं... यहां तक कि किसी छोटे कालखंड या किसी एक कवि के बारे में भी कार्य करें तो बहुत-सी नई बातें पता चल सकती हैं।...इस तरह का इतिहास लिखा जाए तो बहुत श्रम करना पड़ेगा। हां, सिर्फ यही लिखना हो कि फलां कवि या लेखक कब पैदा हुए, कब मरे, कौन-कौन सी रचनाएं हैं, तब तो कोई मुश्किल नहीं है...पर इस तरह के इतिहास से क्या फायदा?

डॉक्टर साहब, हर वर्ष हम एक दिन 'हिंदी दिवस' मनाते हैं, जिसमें हिंदी को याद करने का काफी 'कर्मकांड' होता है। क्या और मुल्कों में भी अपनी भाषा के लिए इस तरह के कर्मकांड की मिसालें हैं?... अपनी भाषा के लिए एक दिन क्यों हो, तीन सौ पैंसठ दिन क्यों न हों!...तो अपने ही देश में यह हिंदी दिवस मनाना आपको स्वाभिमान की बात लगती है या लज्जा की?

जहां तक मेरा ख्याल है, और देशों में ऐसा नहीं है। हमारे देश में भी कोई मराठी दिवस मनाता है या बांग्ला दिवस मनाता हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। तो भी मैं हिंदी दिवस मनाने के विरोध में नहीं हूं। यह हिंदी भाषी जनता के लिए उतना नहीं, जितना पूरे भारत के लिए। यानी एक दिन हम किसी भी बहाने हिंदी को उसकी जरूरत को पहचानने पर उसे याद करते हैं, तो इसमें कोई बुराई नहीं है।

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि इक्कीसवीं सदी में हिंदी और हिंदी साहित्य की हालत क्या होगी?...आपको क्या नजर आता है?

मेरा सोचना यह है कि अभी तो हालत और ज्यादा खराब होंगे। इसलिए कि अभी तो विश्व शक्तियों का दबाव हम पर कम होने के बजाए और बढ़ रहा है। पर मुझे विश्वास है, कभी न कभी तो हम इस घेरे से निकलेंगे और खुद को पहचानेंगे। हिंदी और हिंदी साहित्य का सुखद भविष्य तभी देखने को मिलेगा।

(कहते-कहते रामविलास जी के चेहरे पर एक आश्चर्यजनक दृढ़ता और आब नजर आती है। मानो वे दूर भविष्य की आहट को भी साफ सुन-पढ़ रहे हों।)

□

राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रखती है और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती।

मुंशी प्रेमचंद

हिंदी को हिंदी से बचाना ज़रूरी है

कमलेश्वर

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर ने अनेक प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं का लंबे समय तक संपादन किया है। हिंदी को अपनी अस्मिता मानने वाले कमलेश्वर जी ने हिंदी को लेकर लगातार टिप्पणियां की हैं और उन्हें जीवंतता सौंपी है। 'गगनाञ्चल' के लिए उनकी यह विशेष टिप्पणी।

'हिंदी को हम राष्ट्रभाषा मान कर अपना अभिमान प्रकट करते हैं, दुर्भाग्यवश अभी तक उसका ठीक-ठाक स्वरूप ही हम लोग निश्चित नहीं कर पाये हैं। सब लोग अपने-अपने ढंग से और मनमाने तौर पर जो कुछ जी में आता है, वह सब हिंदी के नाम से लिखते चलते हैं। शुद्ध चलती हुई मुहावरेदार भाषा लिखने की आवश्यकता का अनुभव कुछ इने गिने मान्य लेखकों को ही होता है और नहीं तो हिंदी के क्षेत्र में भाषा के विचार से अधिकांश स्थलों में केवल धांधली ही मची हुई दिखाई देती है...'

यह उद्‌गार आचार्य रामचंद्र वर्मा के हैं। भाषा-विज्ञान और व्याकरण के आचार्य और हिंदी भाषा के उद्‌भट विद्वान का यह उद्धरण सन् 1940 का है। आगे उन्होंने यह भी कहा कि 'किसी भाषा के जीवित होने के और लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है कि वह दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर उन्हें अपनी भाषा के अनुकूल बना सके —उन्हें हज़म कर सके!'

लेकिन हुआ यह कि हम अपनी हिंदी को भाषा के रूप में जीवित तो बनाये रहे, पर जीवंत नहीं बना सके। इसी का कारण है कि हिंदी मूर्छित पड़ी है और उसके

रचनात्मक साहित्य से पाठक लगभग विमुख हो चुका है। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध और निराला से लेकर दिनकर, बच्चन, नरेंद्र शर्मा और सुमन जी तक हिंदी कविता की भाषा ने मन, समय और आकांक्षाओं के सपनों को सहेजा। उधर गद्य की भाषा को भारतेंदु काल के निबंधकारों, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', प्रसाद, प्रेमचंद के साथ ही जैनेंद्र कुमार, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर ने लगातार अपने कथ्य को धरती से जोड़े रखा और अपनी-अपनी विशिष्टता के साथ भाषा की सहजता और कथातत्त्व को बनाये ही नहीं रखा, उसका निरंतर विकास भी किया। यही कारण था कि साहित्य ने विशाल पाठकवर्ग को आकर्षित ही नहीं किया बल्कि निर्माण भी किया। उसके बाद भी हिंदी भाषा के पाठकों का दायरा निरंतर बढ़ता गया और आज़ादी के बाद के दो दशकों तक तो हिंदी भाषा और रचना का डंका बजता रहा। यह साहित्यिक पत्रकारिता, रचना और पत्रिकाओं का स्वर्णकाल था। यह तब था जब हर लेखक-कवि की हिंदी निजी होते हुए भी वह अपने सार्वभौम प्राण-तत्त्व से विरत नहीं थी।

यही वह दौर भी है जब हिंदी भाषा का असीम विस्तार हुआ और यह आकस्मिक नहीं था कि बांग्ला के तमाम कथा लेखकों, उर्दू के कृशनचंदर, बेदी, मंटो, चुगताई के साथ ही पंजाबी की अमृता प्रीतम, कर्त्तार सिंह दुग्गल, नानक सिंह आदि को भी हिंदी लेखक के तौर पर ही पहचाना जाता था। यानी अनुवाद के बावजूद हिंदी का सार्वभौम प्राण-तत्त्व इन में जीवित और सुरक्षित था।

इसी समय और इसी दौर के साथ-साथ हिंदी में तीन हादसे हुए। पहली दुर्घटना थी—उर्दू का तिरस्कार! विभाजन के तत्काल बाद हिंदी की अतीतमुखी ब्राह्मणवादी परंपरा ने हिंदी का हिंदूवादी शुद्धिकरण शुरू कर दिया और भाषा के नाजुक और जीवंत सांस्कृतिक तंतुओं को तोड़ डाला। दूसरी दुर्घटना थी—हिंदी में प्रयोगवाद का अवतरण! प्रयोगवाद ने यथार्थ विमुख होकर भाषा का जो वैयक्तीकरण किया, उस विध्वंस को पाठक ने झेला और वह कविता से विमुख होता गया। यहीं से कवि और पाठक का रिश्ता टूटा, नहीं तो 'कामायनी' और 'रश्मिरथी' की शुद्ध हिंदी तक पाठक का गहरा संबंध कविता से बना रहा। वह उसे और उस जैसी पंक्तियों को उद्धृत करता रहा। प्रयोगवादी कविता ने क्षणवाद के तहत अतीत का रिश्ता वर्तमान और वर्तमान का रिश्ता भविष्य से तोड़ दिया और वह एकांतिक भाषा विलास की लिखित कविता में तब्दील होकर मृतप्राय: हो गई। तीसरी दुर्घटना थी—सरकारी हिंदी का आगमन! जो अनपढ़ थे वे तो थे ही, इस हिंदी ने पढ़े-लिखे हिंदी वालों को भी अनपढ़ बना दिया। सरकारी हिंदी ने हिंदी की प्राकृतिक और मौलिक लय को तोड़ दिया। साथ ही वह ब्राह्मणवादी शुद्धता का व्रत लेकर जन जीवन और हिंदी शिक्षित समुदाय से अलग हो गई।

संक्षेप में कहें तो कहानी में कहानी की हत्या हो गई, कविता में कविता ने

आत्महत्या कर ली और हिंदी में हिंदी का गला घोंट दिया गया!

कुछ लोग कहते हैं कि उच्च वैचारिकता और विशेषज्ञता के क्षेत्र में भाषा का दुरुह हो जाना लाजिमी है। या यह कि अनुवाद में भाषा की मौलिक लय टूट जाती है, इसलिए भाषा कठिन हो जाती है। यह सरासर एक ग़लत तर्क है। यह तर्क वे लोग ही देते हैं जो हिंदी के अक्षय प्राण-तत्त्व से परिचित नहीं हैं। नहीं तो क्या कारण है कि विवेकानंद, अरविंदघोष और सर्वपल्ली राधाकृष्णन की गहन और सघन दार्शनिक भाषा को (अनुवाद की भाषा) आज भी समझने में कठिनाई नहीं होती। कबीर की सधुक्कड़ी और तुलसीदास की ठेठ अवधी आज भी समझ में आती है। इसका मूल कारण है कथ्य का प्राण-तत्त्व! क्योंकि सत्य या यथार्थ कभी दुरुह नहीं होता। उसे कुछ सुविधाजीवी लोग दुरुह और अमूर्त बनाते हैं, क्योंकि वे या तो साहित्य के 'प्रयोगवादी' हैं, या अतीतमुखी संस्कृति के शुद्धतावादी या सरकारी सुविधाभोगी ब्राह्मणवादी।

अभी, इसी महीने प्रकाशित दो महत्त्वपूर्ण आलेखों के दो टुकड़े मैं पेश करना चाहूंगा। एक अंश है एजाज़ अहमद जैसे प्रकांड और विख्यात प्रगतिशील समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्र के विद्वान का। अंश है:

'वास्तव में पूंजी के आत्म संगठन में ही राज्य की भूमिका हमेशा बहुत महत्त्वपूर्ण रही लगती है। मार्क्स अपनी एक स्मरणीय सूक्ति में, जिसका प्रयोग उन्होंने आदिम पूंजी संचय की प्रक्रियाओं का समाहार करने के लिए किया है, कहा है कि राज्य ने "तापगृह वाले तरीके से" पूंजी के आर्थिक प्रभुत्व का "प्रजनन" किया है। और बहुत सी विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में—बिस्मार्क के जर्मनी और मेइजी के जापान से लेकर सोवियत संघ तक और आज के पूर्वी एशिया के "चार चीतों" से लेकर चीन तक—विकास के निचले स्तरों से काफी ऊंचे स्तरों वाली निरंतर वृद्धि तक पहुंचाने वाले तथा अंततः एक व्यवस्था संबंधी ब्रेक थ्रू करने वाले देशों को देखकर ऐसा लगता है कि इन प्रक्रियाओं में विभिन्न प्रकार के बाहरी दबावों को अंगूठा दिखा सकने वाले मजबूत राज्य की पहल हमेशा ज़रूरी रही है।'

मैंने यह एक पूरा पैराग्राफ दिया है। इसमें आप एक भी भाषाई गलती नहीं निकाल सकते, यह मेरा दावा है। पर आप इसे समझ भी लें, मेरा यह दावा कतई नहीं है। अब दूसरा अंश लीजिए। यह भी अमर्त्य सेन जैसे विश्वविख्यात अर्थशास्त्री का है जिनकी भाषा को दुनिया की हर भाषा में समझा जाता है। अंश है उनकी पुस्तक 'गरीबी और अकाल' से:

'अधिकारिता का संबंध एक प्रकार से स्वामित्व को किसी वैधता के नियम के अनुसार, अन्य प्रकार के स्वामित्व से जोड़ देता है। इस संबंध में उत्तरोत्तरता (Recursive Relation) का गुण होता है। इसके अनुसरण से हम बार-बार स्वामित्व संबंधों को जोड़ सकते हैं। उदाहरण के लिए बाजार व्यवस्था पर गौर करें—मैं एक

डबलरोटी का स्वामी हूं—मेरा यह स्वामित्व क्यों स्वीकार्य हुआ? क्योंकि मैंने अपने कुछ रुपए देकर इसे प्राप्त किया है। वे रुपए मेरे कैसे हुए? क्योंकि मैंने अपनी बांस की बनी एक छतरी बेचकर उन्हें पाया था। पर उस छतरी पर मेरा स्वामित्व क्योंकर हुआ? क्योंकि मैंने अपनी भूमि पर उगे बांसों पर अपने श्रम से उस छतरी को बनाया है। उस भूमि पर मेरा स्वामित्व क्योंकर हुआ? मैंने उसे अपने पिता जी से उत्तराधिकार में पाया है।...इस श्रृंखला में अधिकारिता की प्रत्येक कड़ी किसी अन्य कड़ी का सहारा लेकर स्वामित्व का औचित्य सिद्ध करती है।'

तो, यह भी हिंदी है। दोनों ही अगस्त, 1999 की हिंदी हैं। बात को मैं खीचूंगा नहीं, पर जो कहना चाहता हूं, वह इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है।

तो भाई, हमें हिंदी को हिंदीहीनता से, कहानी को कहानीपन की कमी से और कविता को प्रयोगशीलता के बुद्धिविलास से बचाना है; नहीं तो इसे कोई नहीं बचा पायेगा।

और अंत में वही प्राण-तत्त्व वाली बात को फिर रेखांकित करना चाहूंगा। क्योंकि वह साहित्य मलिन और मुर्दा है जो अपने समय के सपनों को संभाल और संजो नहीं सकता। साहित्य विलास या इतिहास नहीं है। साहित्य संभावनाओं और संवेदनाओं के मूर्छित पड़े इतिहास में से भविष्य के सपनों का उत्खनन करके इंसान की बुद्धि और आत्मा को सपनों की सम्यक् प्राप्ति के लिए सक्रिय करता है...साहित्य आत्मा की नैतिक शर्तों को बदलता है, उत्तेजना से नहीं, बल्कि संवेदना की शक्ति से!

□

लेखक के प्रकाश्य उपन्यास *कितने पाकिस्तान* का अंश भी पाठक इसी अंक में पढ़ेंगे —संपादक।

हिंदी का ज्ञान राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन देता है और हिंदी अन्य भाषाओं की अपेक्षा सबसे अधिक राष्ट्रभाषा होने के योग्य है।

पं० जवाहरलाल नेहरू

हिंदी अतीत के दर्पण में भविष्य के बिंब

प्रभाकर श्रोत्रिय

हिंदी करोड़ों की मातृभाषा है और करोड़ों विदेशियों की अनुराग भाषा। कंप्यूटर पर हिंदी की देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता को सहज स्वीकृति मिलने जा रही है, यह लगभग तय है। हिंदी के जाने-माने आलोचक, संपादक हिंदी की सीमा और सामर्थ्य को इस आलेख में प्रकाशित कर रहे हैं।

किसी भाषा का लेखक अपनी भाषा का गुणगान करे और उसके उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त हो यह स्वाभाविक है। क्योंकि अपनी भाषा से प्रेम किए बिना और उसके प्रति आस्था रखे बिना न तो कोई उसमें सृजन कर सकता है न गंभीर वैचारिक अभिव्यक्ति कर सकता है। भाषा से काम चलाना और अपनी उपस्थिति से भाषा के विकास में हाथ बंटाना दो अलग बातें हैं।

किसी भाषा से उस भाषा के लेखक ही नहीं, वह बड़ा भाषा-समाज जुड़ा होता है जिसे भाषा के भीतर वे समस्त ज्ञानात्मक और भावात्मक, वैचारिक और कलात्मक लाभ मिलने चाहिएं जो किसी भी समृद्ध भाषा के पाठक या बोलने वाले समूह को मिलते हैं। इस दृष्टि से तोलना और उसे भाषा-भाषियों की समृद्धि का माध्यम बनाना भी भाषा-कर्मियों का काम है।

हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा इस अर्थ में है कि पूरे राष्ट्र में कहीं भी उसके माध्यम से संवाद जारी रखा जा सकता है या संवाद के लिए भारत की किसी भी भाषा की तुलना में उसका व्यास अधिक है। स्वाधीनता के बाद वह पहली बार—हजार वर्षों के अपने इतिहास में — राजभाषा बनाई गई है। अर्थात् राष्ट्रभाषा तो वह स्वाभाविक रूप

से थी ही, राजभाषा उसे बनाया गया। संविधान ने तो केवल उसकी लोक-व्यापी शक्ति का सरकारी कामों में इस्तेमाल करने के लिए राजभाषा का वैधानिक रूप दिया था। इसे सभी भाषा-भाषी स्वीकार करते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि संविधान सभा में हिंदीतर भाषी सदस्यों की बहुलता थी और हिंदी को राजभाषा बनाने पर सबसे अधिक जोर उन्होंने ही दिया था।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वयं हिंदी ने कभी भी राजभाषा बनने की कामना नहीं की। भारत के इतिहास में समय-समय पर संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी आदि राजभाषाएं बनाई गईं, परंतु अपने व्यापक प्रसार और स्वीकृति के दौर में भी हिंदी को राजभाषा नहीं बनाया गया, न उसके भाषियों ने उसे वह रुतबा दिलाने का प्रयास किया। स्वाधीनता संग्राम के जमाने में सबसे पहले गुजराती भाषी और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने ही कांग्रेस के खुले अधिवेशन में हिंदी में भाषण देने का साहस किया और नेताओं को जनता तक पहुंचने का स्वाभाविक और सही रास्ता बताया। सुभाषचंद्र बोस और तमाम स्वतंत्रता सेनानियों ने भी चाहे वे गर्म दल के हों या नर्म दल के, हिंदी को जन-संप्रेषण और जन-संवाद के माध्यम के रूप में आंतरिक प्रेरणा से अपनाया। आर्य समाज के व्यापक प्रचार के लिए स्वामी दयानंद ने 'सत्यार्थप्रकाश' हिंदी में लिखा। हिंदी का पहला समाचार-पत्र राजा राममोहन राय जैसे बंगालीभाषी और अंग्रेजीदां ने निकाला। हिंदी के विकास और राजभाषा तक की यात्रा में ये तथ्य ध्यान में रहने चाहिएं और यह भी कि जिस संविधान द्वारा हिंदी को राष्ट्रभाषा मान्य किया गया और राजभाषा का दर्जा दिया गया उस पर गवर्नर जनरल के रूप में तमिलभाषी राजगोपालाचारी ने हस्ताक्षर किए थे।

परंतु पिछले बावन वर्षों में हिंदी की स्थिति और उसके प्रति दृष्टिकोण में बहुत से परिवर्तन हुए। एक दौर के उन्नयन के बाद यह निरंतर कमजोर होती गई और आज बीसवीं शती के अंत में, यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि हिंदी न केवल अपना यश अक्षुण्ण नहीं रख सकी बल्कि देश के इतर प्रांतों में ही नहीं अपने प्रांतों में भी उसने जन-समर्थन बहुत हद तक खो दिया है जो उसे पराधीनता के काल में या स्वाधीनता के प्रारंभ में प्राप्त था। आत्मावलोकन और स्थितियों के स्पष्ट साक्षात्कार से बचने की अब आवश्यकता इसलिए नहीं है कि इससे भाषा और कमजोर होगी। हम तो उसका गुणगान करते रहेंगे और पता ही नहीं चलेगा कि गुणगान के चोले के नीचे उसकी आत्मा कब का उसे छोड़ चुकी है।

देशी भाषा का किसी देश के लिए क्या महत्त्व होता है, देश की अस्मिता, उसकी स्वाधीनता और उसके विकास में उसकी क्या भूमिकाएं हैं यह पचासों बार कई तरह से कहा गया है इसलिए उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है, परंतु इसकी चिंता जरूरी है कि आखिर उस समूचे सोच को हमने क्यों भाषा से काटकर फेंक दिया है। यानी उन संवेदनों को जो भाषा की समृद्धि, उसके विकास और भाषा-भाषियों की

मानसिक स्वाधीनता से संबंधित हैं? अपनी भाषाओं से कटकर हम अब ग्लोबल होने जा रहे हैं जबकि सच्ची बात यह है कि ग्लोब जिनके हाथों में है हम उनके पूरी तरह अधीन हो गए हैं और अधिक दु:खद यह है कि हम इसे विवशता नहीं, गर्व की तरह परिभाषित कर रहे हैं। परंतु यहां तक हम सहसा नहीं पहुंच गए, एक दु:खद इतिहास के द्वारा पहुंचे हैं। इसलिए जरूरी है कि वर्तमान का पीछा करते-करते हम उस इतिहास में जाएं जो उसे इस अवस्था तक पहुंचाने का उत्तरदायी है क्योंकि इतिहास भले ही मरी हुई चीज हो लेकिन उसके शव-परीक्षण से कम से कम हमें निगति के मूल कारणों का पता चलता है, ताकि भाषा का मृत्यु-लेख लिखने से पहले हम उन कारणों का उपचार कर सकें और उस जीवन को बचा सकें जो फिलहाल उपस्थित है।

हिंदी के वर्तमान स्वरूप 'खड़ी बोली' का इतिहास सौ साल से पुराना नहीं है, परंतु उसका गर्भकाल बहुत लंबा है। इसलिए उसका जन्म शुकदेव की तरह पूर्ण यौवन में हुआ है। इसका सशक्त प्रमाण यह है कि जन्मते ही उसकी अभिव्यक्ति में एक सामाजिक दायित्व-बोध, वैविध्य और उत्तरदायी भाषा होने के जितने परिपक्व अभिप्राय प्रकट होने थे, हुए; या कम से कम उनकी नींव डली, क्योंकि हिंदी ने पूर्ववर्ती संपूर्ण लोक भाषाओं के गुण, अनुभव और शिक्षा का अपने भीतर समावेश कर आधुनिक युग में अपनी आंख खोली थी। उसके साथ लोकभाषाओं का समस्त परिवार जुड़ा हुआ था, जिसने भाषा की नई उपलब्धि को अपनी शब्दावली, परंपरा और व्याकरण के उपादानों से एक नए सर्वस्वीकृत रूप में रचा। समस्त लोक-भाषिक समाज का खड़ी बोली में शामिल होकर उसे वृहत्तर भाषायी रूप देने में जो बड़ा योगदान है उसे रेखांकित करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना तमाम बोलियों की तरह खड़ी बोली भी 'बोली' का स्वरूप बनकर सीमित समाज में सिमटकर रह जाती। पारंपरिक जन-भाषाओं की जड़ें अनेकानेक प्रदेशों में फैली होती हैं, जो कुछ शब्दांतरों और व्याकरणिक अंतरों के साथ शब्दों, क्रियाओं, व्यापारों, विचारों, अनुभवों के रूप में किसी न किसी तरह जुड़ी रहती हैं। इस जुड़ाव का लाभ भी हिंदी को मिला, इसलिए टूटे-फूटे ढंग से ही सही वह देश के अनेक भागों के निवासियों के बोलचाल की भाषा बनकर राष्ट्रव्यापी हुई। खड़ी बोली हिंदी की दूसरी विशेषता संस्कृत पदावली नागरी लिपि है जो प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं की स्रोत भाषा और लिपि है। इसके साथ ही उर्दू की प्रचलित पदावली का अपने में समाहार कर हिंदी ने उर्दूभाषी समाज के बीच भी विस्तार पाया है। इन सभी प्रयासों और संयोजनों से प्रकट होता है कि हिंदी ने भाषिक स्वरूप में राष्ट्रभाषा बनने के अनुरूप अपने को लचीला बनाया है, और भाषाई शुद्धता को एक हठ की तरह अपने भीतर पनपने की जगह नहीं दी है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में देश की एकता और विचार-संचार में हिंदी की वही

भूमिका रही है जो स्वयं राष्ट्रीयता संग्राम की हिंदी के विकास में। दोनों ने एक-दूसरे को सहारा दिया। इसका परिणाम है कि हिंदी को राष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा और उन क्षेत्रों में भी उसकी शिक्षा, प्रचार और विकास हुआ, जो कालांतर में हिंदी विरोध के गढ़ बने। यह संकेत इसलिए आवश्यक है कि यदि हिंदी का विकास राष्ट्र की एकता और संवाद का परिणाम था तो कालांतर में उसका विरोध क्यों हुआ? निश्चय ही जब राष्ट्रीय-चेतना को प्रांतीय राजनीतिक स्वार्थों और संकीर्णताओं ने घेरा, इससे न केवल हिंदी त्याज्य या उपेक्षित हुई बल्कि देश के वे सारे मूल्य तिरस्कृत और अवहेलित हुए जो स्वाधीनता संग्राम के दौर में चरम मूल्य और राष्ट्र की अस्मिता, सेवा और संघर्ष के आधार थे। आज जब हम देश की भ्रष्ट राजनीति, आतंकवाद और विघटनकारी प्रवृत्तियों पर क्षुब्ध और निराश हैं तो क्या हमें अपने से यह नहीं पूछना चाहिए कि वे क्यों पैदा हुई हैं? राष्ट्रभाषा या राजभाषा का विरोध करते हुए और उसके विकास के प्रति उपेक्षा और आलस्य बरतते हुए क्या हमने सोचा था कि हम देश को खंडित और पराधीन बनाने का एक जोखिम भरा उपक्रम कर रहे हैं—और यह कि जब पतन होता है तो वह एक क्षेत्र और दिशा में नहीं होता बल्कि सर्वत्र होता है? जैसे कोई शराबी केवल तात्कालिक रूप से ही मदहोश नहीं होता, उसका स्वास्थ्य चौपट होता है, उसके आर्थिक स्रोत प्रदूषित होते हैं, उसके नैतिक मूल्य नष्ट होते हैं आदि। इसलिए राष्ट्रभाषा या राजभाषा की दुर्गति का देश की दुर्गति से नाभिनाल संबंध है।

फिलहाल उन कारणों पर विचार करें जो राष्ट्रभाषा और राजभाषा के उन्नतकाल को पतनकाल में बदलने के उत्तरदायी हैं। यह मरे हुए सांप को लाठी से पीटने की तरह नहीं बल्कि हिंदी के पुनरभ्युदय के लिए दोषों का परिमार्जन करने के लिए है।

मुझे लगता है कि हिंदी को राजभाषा बनाने के मूल में ही उसके यथाशीघ्र विनाश के कीटाणु छिपे हुए थे, जिसे अदूरदर्शिता या भलमनसाहत के कारण नहीं देखा गया। जब हमने मान लिया कि राष्ट्रभाषा के रूप में एक निश्चित समय के बाद हिंदी को अंग्रेजी का स्थान लेना है, क्योंकि इस समय शिक्षा, न्याय, प्रशासन आदि में जो भाषा चल रही है उसे एकदम हटाना संभव नहीं है। (यह एक उदार और संवेदनशील निर्णय था।) परंतु यदि हमें किसी भाषा को एक निश्चित अवधि में हटाना ही था, तब बच्चों की शिक्षा में 'त्रिभाषा' सूत्र शामिल ही क्यों किया गया? इससे अंग्रेजी अपने आप अंतरराष्ट्रीय भाषा हो गई और हिंदी राष्ट्रभाषा तक सीमित हो गई। इस तरह हमने एक ओर अंग्रेजी के रुतबे को बढ़ाया और शिक्षा में वे बीज डाल दिए जो बराबर पनपते और फलते-फूलते रहे। पुराने शिक्षकों के लिए अंग्रेजी सुविधा थी जिसमें वे सभी विषय पढ़ाते रहे। हिंदी की पाठ्य पुस्तकों को तैयार करने की उतावली नहीं रही, बल्कि यह काम शिथिल रहा और टलता गया। इस प्रक्रिया में जो अगली पीढ़ियां तैयार हुईं उनके लिए भी अंग्रेजी ही अध्ययन की सुविधा बनती

चली गई। हम जानते हैं कि पानी को ऊपर चढ़ाने में बड़ी शक्ति लगानी होती है— नीचे तो वह सहज ही लुढ़क जाता है। शिक्षा का माध्यम देशी भाषा या हिंदी बनाने के मार्ग में कई दिक्कतें थीं और पाठ्य-पुस्तकें तथा पाठ्य संदर्भ-ग्रंथ तैयार करना कठिन काम था। कई विषयों की शब्दावलियां भी बनाना था। परंतु हमारे सामने चॉम्स्की का उदाहरण है जिसने 200 भाषा वैज्ञानिकों के साथ दो साल में इजरायल के लिए भाषा निर्माण का दुष्कर कार्य संपन्न कर दिया। संकल्प और निष्ठा से क्या नहीं हो सकता। यदि हम भी ऐसा कर सकते और आजादी के साल से ही क्रमश: निचली कक्षाओं से अंग्रेजी उठाने का दौर प्रारंभ कर देते तो पाठ्य-पुस्तक की त्वरित अनिवार्यता पैदा होती और योग्यता, निष्ठा, परिश्रम और संकल्प से वह सब प्राप्त किया जा सकता था, जो सुविधा के बीच संभव नहीं है। इसके बुरे नतीजे क्या निकले? अंग्रेजी ने सिर्फ हिंदी को ही नहीं निगला, वह देश की अन्य भाषाओं को भी निगलती रही।

शिक्षा किसी राष्ट्र के लिए सबसे प्राथमिक, सबसे अनिवार्य है और सबसे निर्णायक होती है। परंतु खेद है कि यह क्षेत्र और यह विभाग आजादी के साथ सर्वथा उपेक्षित रहा और उसे सरकार में दोयम स्थान प्राप्त हुआ। पहले तो शिक्षा को केंद्र सरकार की सूची में ही नहीं रखा गया, इसे प्रांतों की सूची में शामिल कर दिया गया। पहली गलती यही हुई। शिक्षा में प्रांतीय स्वाधीनता और विश्वविद्यालयों की स्वाधीनता अलग बात है, परंतु इस पर केंद्रीय नियंत्रण और निर्देश पालन की बाध्यता क्यों नहीं होनी चाहिए थी? स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप आप कैसा पाठ्यक्रम बनाएं, कैसे विद्यालय, महाविद्यालय बनाएं इसे प्रांतों पर छोड़ा जा सकता था। परंतु भाषा, पाठ्य स्तर, सारे देश में संबंधित विषय की स्तरीयता हो कि एक प्रदेश या स्थान का छात्र देश में कहीं भी उस प्रमाण-पत्र के द्वारा अगली कक्षा में प्रविष्ट हो सके; जैसे मानक क्या प्रांतों के विषय में होने चाहिए। शिक्षा में नई प्रविधि, नया शिल्प और नए मानक को यदि कोई स्थापित करना चाहे तो क्या उसे केंद्र की स्वीकृति नहीं लेनी चाहिए? शिक्षा को खुला छोड़ देने से प्रांतीय प्रवृत्तियां उभरीं, स्तरीकरण की भिन्नता हुई। पढ़ाई-परीक्षा आदि में कई तरह के झोल आए। आश्चर्य है कि कई विश्वविद्यालयों में वर्षों परीक्षाएं नहीं होतीं, स्कूलों में स्थानीय और प्रांतीय राजनीति के चलते वर्षों तक पढ़ाई नहीं होती, शिक्षकों के काम का समुचित वितरण नहीं है और मानकों की भिन्नता बनी हुई है। मेरा आशय नहीं कि इसे किन्हीं रूढ़ मानदण्डों में बदला जाता, बल्कि यह है कि अवांछनों पर नियंत्रण मानकीकरण, शिक्षा के समुचित प्रदाय, शिक्षा शुल्क आदि के मामलों में एक राष्ट्रीय नीति के तहत काम होना था ताकि शिक्षा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होता। त्रिभाषा सूत्र को ही लें, उत्तर भारत में इसकी कितनी गलत व्याख्या की गई? मैं निश्चय ही इसके लिए हिंदी प्रदेशों को और किसी हद तक एक संकीर्ण मानसिकता को दोषी मानने को बाध्य हूं।

हिंदी प्रदेशों में हिंदी-अंग्रेजी के साथ तीसरी भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ाना इस मूल भावना की अनदेखी और गलत व्याख्या है। प्रदेशों को शिक्षा के क्षेत्र में स्वायत्तता देने का अर्थ नहीं कि राष्ट्रीय नीति को तोड़-मरोड़कर उसके उद्देश्य के विरुद्ध निर्णय लिए जाएं। संस्कृत किसी प्रांत की भाषा नहीं, वह समूचे भारत की आर्ष भाषा है। उसका पठन-पाठन हो तो देश का लाभ ही होगा, परंतु वह किसी प्रादेशिक भाषा का विकल्प नहीं है। परिणाम यह हुआ कि प्रादेशिक भाषाएं पूरे हिंदी क्षेत्र में अनुपस्थित हो गईं। इसी से चिढ़कर दक्षिण के लोगों ने (उनमें प्रबुद्ध और उदार लोग भी शामिल हैं) कहना शुरू किया कि आप हमारी भाषा नहीं पढ़ते तो हम आपकी क्यों पढ़ें? यह 'हमारी' और 'आपकी' क्या है? क्या भारत की प्रादेशिक भाषाएं 'हमारी' नहीं हैं? या हिंदी उनकी अपनी 'हमारी' नहीं है? लेकिन इस भाव का बीज हिंदी प्रदेशों ने बोया है। हिंदी के पास आठ प्रदेश हैं, मिल-बांटकर वे देश की समस्त प्रमुख भाषाओं को अपने क्षेत्र में प्रांतीय भाषा के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर सकते थे। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश की जनसंख्या तमिलनाडु, केरल और आंध्र प्रदेश के लगभग बराबर है। इन तीनों प्रदेशों की जनसंख्या के अनुपात में स्वयं उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में तीन प्रांतीय भाषाओं को पढ़ाया जा सकता था। जब उत्तर प्रदेश के बच्चे तमिलनाडु के बच्चों से भी अधिक संख्या में तमिल पढ़ते, तमिल के कई शिक्षक उ० प्र० में होते तो क्या तमिलनाडु में शिक्षा से हिंदी को बहिष्कृत किया जा सकता था? क्योंकि हिंदी के बहिष्कार से उसे हमेशा यह खतरा बना रहता कि यदि वह ऐसा करेगा तो एक बड़े छात्र समूह को वह तमिल से वंचित कर देगा और कई तमिल शिक्षकों को बेरोजगार कर देगा। यह उस पर एक सौजन्यपूर्ण ही नहीं व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक दबाव होता। हिंदीतर प्रदेशों के स्कूलों में हिंदी पढ़ाई जाती तो संभव है क्षेत्रीय राजनीति को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के विरोध का साहस नहीं होता। देश को एक करने और पारस्परिक सहिष्णुता बरतने का दायित्व प्रांतों का भी है परंतु केंद्र का नीति-विरुद्ध कामों में दखल न दे पाना भी ऐसी गंभीर गड़बड़ी का कारण है। इसी तरह प्रदेशों द्वारा या भिन्न-भिन्न सरकारों द्वारा पाठ्यक्रम को राजनीतिक रंग देने की विकृत प्रवृत्ति भी किसी निरपेक्ष राष्ट्रीय पाठ्यक्रम समिति के वैधानिक दबाव के बिना हटाई नहीं जा सकती थी। भिन्न-भिन्न प्रांतों में स्वयं हिंदी के पाठ्यक्रम के बारे में खिलवाड़ किया जा रहा है, उसका महाभारत अलग है। इन तमाम प्रवृत्तियों का खामियाजा हिंदी को उठाना पड़ा है। पड़ रहा है।

यों स्वयं हिंदी की प्रवृत्ति उदार है, उसके प्रकाशन की अधिकांश रॉयल्टी हिंदीतर लेखकों को मिल रही है अर्थात् हिंदी में सर्वाधिक पुस्तकें दूसरी भाषा, के लेखकों की छपती, बिकती और पढ़ी जाती हैं। परंतु हिंदी के कितने अनुवाद हिंदीतर भाषाओं में होते हैं यह विचारणीय और चिंतनीय है। यह हिंदी के प्रति उपेक्षा और एक पराएपन की मानसिकता से उत्पन्न प्रवृत्ति है। मैं यह कदापि नहीं कहूंगा कि हिंदी को

भी ऐसा ही प्रतिकार लेना चाहिए। परंतु इस ओर संकेत अवश्य करना चाहूंगा कि प्रांतीय भाषाओं में परस्पर भी बहुत कम अनुवाद होते और प्रकाशित होते हैं। क्योंकि एक जोड़ने वाली मानसिकता न होने से यह बिखराव आया है। अगर हिंदी के अनुवाद अन्य भाषाओं में प्रकाशित होते तो परस्परता का यह दायरा बढ़ता ही।

भारत में हिंदी की दशा और लगातार उसके अपदस्थ होने का एक राजनीतिक कारण है और दुर्भाग्यवश इसके पीछे छिपे विदेशी हाथ को नहीं देखा गया है। हिंदीतर प्रदेशों की राजनीति को लगा कि प्रादेशिक जनता पर हमारी पकड़ का कोई सांवेगिक और आर्थिक उपाय होना चाहिए, जिससे हम न केवल प्रांतीय बल्कि राष्ट्रीय राजनीति से अपदस्थ न हों। पिछले 50 सालों से राजनीतियां तीन मुद्दे उछालती रही हैं—जाति, धर्म और भाषा। इस बीच कितनी जातीय घृणा फैली, धर्म के नाम पर कैसे-कैसे तांडव, हम जानते हैं। भाषा को एक समिति सांवेगिक प्रश्न के साथ आर्थिक मुद्दा बनाया गया कि 'हिंदी वाले' 'हिंदी साम्राज्यवाद' चलाना चाहते हैं जिसका हमें मुकाबला करना है। उन्होंने लोगों को समझाया कि प्रतियोगिता परीक्षाओं में हिंदी माध्यम होने से हमारे बच्चे आइ०ए०एस०, आइ०एफ०एस० और अन्य केंद्रीय सेवा में नहीं जा सकेंगे। यह प्रश्न पूछना बेमानी है कि ऐसे उच्च पदों पर प्रदेश के करोड़ों बच्चों में से कितने जाते हैं? हम मान लें कि हर एक को आइ०ए०एस०/आइ०एफ०एस० में शामिल होने के उच्च लक्ष्य को सामने रख कर शिक्षा पाने का अधिकार है। तो भी प्रश्न यह है कि इन प्रदेशों ने कभी यह मांग क्यों नहीं की कि सभी केंद्रीय परीक्षाओं के माध्यम हमारी अपनी भाषा में भी होने चाहिएं। हिंदी विरोध का सीधा अर्थ था अंग्रेजी का बने रहना। इसे अंग्रेजी की साम्राज्यवादी शक्तियों ने प्रत्यक्ष और अंग्रेजी मानसिकता ने अप्रत्यक्ष हवा दी है। हिंदी विरोधी आंदोलन से एक ओर अंग्रेजी अपनी जड़ें जमाती चली गई, दूसरी ओर प्रांतों में अपने आप वहां की भाषा निरंतर अपदस्थ होती रही। हिंदी का विरोध कर यदि तमिल, तेलुगु, पंजाबी, मराठी सशक्त होती तो हिंदी को ही सर्वाधिक प्रसन्नता होती क्योंकि अपनी देश-भाषाओं से प्रेम करना एक तरह से अपने देश से प्रेम करना है। परंतु हिंदी का विरोध एक ऐसी भाषा का वर्चस्व बढ़ाता चला गया, जो उस साम्राज्यवादी देश की (उसके द्वारा थोपी गई) भाषा है, जिससे संघर्ष करने में हमने सदियों यातनाएं सही हैं; उत्सर्ग किए हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी भाषा से किसी देश का या भाषा समाज का कोई बैर नहीं होता, न होना चाहिए। परंतु अपने दैनंदिन कामों, बच्चों की शिक्षा, अपनी प्रजातांत्रिक संस्थाओं और प्रशासनिक कामों में विदेशी भाषा का प्रवेश एक अलग बात है और विदेशी साहित्य का अध्ययन, उसके ज्ञान-अन्वेषण का लाभ उठाना दूसरी बात है।

अंग्रेजी ने भारत में, स्वाधीनता के बाद जिस कौशल से घुसपैठ की है, उसका कोई जवाब नहीं है। भारत में शैक्षिक स्वतंत्रता, स्वतंत्र पाठ्यक्रम, विद्यालय शुल्क पर

नियंत्रण का अभाव जैसी उदारता के नाम पर तमाम खामियों का लाभ उठाते हुए कान्वेंट, केम्ब्रिज जैसे स्कूल खोले जाते रहे। यहां कई तरह से गरीबों को आकृष्ट किया गया और अमीरों के लिए इसे प्रतिष्ठा का विषय बनाया गया। शिक्षा-दीक्षा का पूरा ढांचा यूरोपीय बनाया गया और पाठ्यक्रम में दी गई छूट का लाभ अंग्रेजी शिक्षण, अंग्रेजी सलीका और किसी हद तक धर्म-प्रचार में लिया गया। जैसे-जैसे हिंदी का विरोध बढ़ा और अंग्रेजी की अनिवार्यता दिखाई पड़ने लगी वैसे-वैसे इन स्कूलों की संख्या बढ़ती गई, और हर तरह के कामों में अपना लाभ साधने वाले लोगों ने राष्ट्रीय चिंता को तिलांजलि देकर अंग्रेजी ढंग के स्कूल खोलना प्रारंभ कर दिए। यहां तक कि हिंदी सेवा के लिए खोले गए हिंदी माध्यम के स्कूलों को भी अंग्रेजी माध्यमों में बदल दिया गया। अंग्रेजी के लिए एक अंधी दौड़ प्रारंभ हो गई। ऐसी स्थिति में वे माता-पिता भी जो अपने बच्चों को अपने देश का परिवेश, भाषा और संस्कार देना चाहते हों, इन्हीं स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने को बाध्य हो गए हैं। संसार भर का स्वीकृत सिद्धांत है कि बच्चों को मातृभाषा में शिक्षा देना सबसे स्वाभाविक मार्ग है, परंतु भारत में यह जैसे अस्वीकृत हो चुका है। बंगाल और उसकी देखादेखी मध्य प्रदेश जैसे हिंदीं भाषी प्रदेश तक के सरकारी स्कूलों में दूसरी कक्षा से अंग्रेजी प्रारंभ कर दी गई है।

अंग्रेजी के इस वर्चस्व ने न केवल हिंदी को अपदस्थ किया, भारत की तमाम समृद्ध प्रांतीय भाषाओं को अपदस्थ कर दिया है। उसने बंगाल में बांग्ला, तमिलनाडु में तमिल, महाराष्ट्र में मराठी को अपदस्थ कर दिया है। क्योंकि हर जगह कार्यालयों, बैंकों, सरकारी संस्थानों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों—यानी घर से निकलते ही तमाम कार्यक्षेत्रों में अंग्रेजी का बोलबाला है। उस दिन की कल्पना कीजिए जब पीढ़ियां अपनी ही भाषा के रचनाकार को, उसके मौलिक लेखन और विचार को अंग्रेजी में अनूदित किए बिना पढ़ नहीं पाएंगी। आज भी जिस बच्चे या व्यक्ति का तीन चौथाई समय अंग्रेजी में बीतता है, उससे क्या हम अपने साहित्य को पढ़ने की उम्मीद कर सकते हैं?

हिंदी के लिए भारत सरकार ने कई काम किए हैं। सरकारी प्रतिष्ठानों में हिंदी अधिकारी हैं, हिंदी प्रदेशों में हिंदी ग्रंथ अकादमियां हैं, शब्दावली आयोग है, केंद्रीय हिंदी निदेशालय है। परंतु आप इन सबके कामों का जायजा लें तो निराशा ही हाथ लगती है। हिंदी अधिकारी शब्दकोश की तकनीकी भाषा में पत्रों के अनुवाद या कार्यालयों के परिपत्र या और सामग्री के अनुवाद करते हैं। यह सरकारी हिंदी जिसे राजभाषा कहा जाता है, उस हिंदी से कोई अलग भाषा लगती है जिसका हम व्यवहार करते हैं। इसमें किसी अनुवादक का दोष नहीं है। उसे जो पारिभाषिक शब्दावली मिली है उसने उसे वही भाषा दी है, जो व्यवहार में न आने के कारण अटपटी और कृत्रिम लगती है। परंतु पारिभाषिक शब्दों के बावजूद ऐसी भाषा

विकसित करना भी इनका काम होना चाहिए था जिसके बीच रखे पारिभाषिक शब्द समझ में भी आएं और भाषा अस्वाभाविक भी न लगे। हमारे पारिभाषिक शब्दकोशों का चरित्र यह है कि हम अंग्रेजी कोश सामने रखते हैं और उनके लिए हिंदी शब्द ढूंढ़ते हैं और प्राय: संस्कृत के ऐसे जटिल शब्द उठाते हैं जो हिंदी पढ़े-लिखों के पल्ले भी नहीं पड़ते। हम यह कह आए हैं कि हिंदी जन-भाषा है और लोकभाषाओं से इसके गाढ़े रिश्ते हैं। दूभर संस्कृत शब्दों का विकल्प तभी चुनना था, जब अपरिहार्य हो जाता। नए वैज्ञानिक साधनों या पश्चिम की मूल शब्दावली जिनके लिए हमारी भाषाओं में शब्द नहीं हैं—इनके मामले में यह किया परंतु, हमारे काव्यशास्त्र, बैंक या दूसरे कामों में सदियों से जो शब्द प्रचलित हैं और जिनके ज्यादा गहरे और मौलिक अर्थ हैं, जिनके लिए हमारी लोकभाषाओं में भी सहज शब्द हैं, उन्हें हटाकर अंग्रेजी के अनुरूप शब्दों की रचना करना न केवल अव्यावहारिक है, बल्कि अनुचित भी है। इससे हिंदी और अन्य प्रांतीय भाषाओं की मौलिकता नष्ट होती है और वे अनुवाद की भाषाएं या दोयम भाषाएं रह जाती हैं। यह बात भी हिंदी की सहज लोक-प्रकृति को ध्यान में रखकर कही जा रही है। अन्यथा अंग्रेजी में इतने दूभर पारिभाषिक शब्द हैं, जिनकी तुलना में हिंदी के अनेक शब्द बहुत सहज हैं। 'कांस्टिट्यूशन' अधिक कठिन है या 'संविधान'? ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

एक समय था जब पूछा जाता था कि हिंदी में वह क्षमता कहां है कि वह सभी विषयों को सार्थक ढंग से व्यक्त कर सके। लेकिन अब तक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक विषयों पर ऐसे अनेक ग्रंथ आ चुके हैं, जिनमें हिंदी का अत्यंत स्वाभाविक और सार्थक प्रयोग हुआ है। हिंदी के सर्जकों ने भाषा के इतने व्यंजक, सटीक और मार्मिक प्रयोग किए हैं, जो उसे विश्व की किसी भी समर्थ भाषा के स्तर पर खड़ा कर सकते हैं। अनुवाद की कला भी बहुत विकसित हुई है और देशी-विदेशी भाषाओं का साहित्य इतने स्वाभाविक रूप में अनूदित हुआ है कि भारत और विश्व की अनेक भाषाओं में हिंदी के अनुवादों से अनुवाद किए जा रहे हैं। ऐसा कहते हुए मेरा ध्यान मानक ग्रंथों पर है। सभी प्रकार की पुस्तकों या अनुवादों पर नहीं, क्योंकि श्रेष्ठता से ही मानदंड तय होते हैं।

इतनी शक्ति अर्जित करते हुए भी तथ्य यह है कि हिंदी के प्रभाव और प्रसार में निरंतर कमी आती जा रही है। इसका परिणाम विदेशों में भी देखने को मिलता है। हिंदी को समस्त भारतीय भाषाओं और भारत विद्या का माध्यम मानकर और यह मानकर कि भारत से संपर्क की वह एकमात्र भाषा होगी, विदेशों में जिस उत्साह से हिंदी पढ़ी-पढ़ाई जा रही थी, उसमें चिंताजनक कमी आ गई है क्योंकि जिस भाषा की अपने देश में पूछ न हो उसका विश्व क्यों सम्मान करेगा? विदेशी दूतावासों का इस मामले में जो रवैया रहा है वह सर्वविदित है। वे अपना काम हिंदी या किसी देशी भाषा में नहीं करते, अंग्रेजी में करते हैं। यह कहना गलत न होगा कि साधारण हिंदी

तक वहां प्राय: बोली नहीं जाती।

राष्ट्रभाषा की दुरवस्था के लिए हम विदेशी भाषा के साम्राज्यवाद को क्या दोष दें जब कि इस देश के राजनेता, नौकरशाह और पूंजीपति ही इस भाषा को प्रश्रय देते रहे हैं और उसे अपनी प्रतिष्ठा का मानदंड बनाए हुए हैं। उन्हें अपनी भाषा में बोलते हुए शर्म आती है। उसे भ्रष्ट ढंग से बोलते हुए उन्हें गर्व होता है। इस प्रवृत्ति का संक्रमण इतना जबरदस्त हुआ है कि भारत का आम नागरिक भी अब अपनी-अपनी भाषा छोड़कर अंगरेजी का पक्ष लेने लगा है। सबसे दु:ख की बात यह है कि नई पीढ़ी का भाषा-संवेदन ही समाप्त हो गया है और उसके लिए भाषा कोई मुद्दा ही नहीं रही है।

भूमंडलीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों ने भारत में प्रवेश करके देश की भाषा-संस्कृति और राष्ट्र भावना को निरस्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रगति की दौड़ में मानो लोग निर्वसन दौड़ते चले जा रहे हैं। यह उपभोक्तावादी मानसिकता की हद है। एक जमाने में जो लोग अपनी प्रांतीय भाषाओं के लिए राष्ट्रभाषा का विरोध कर रहे थे, वे ही अब अंग्रेजी के लिए अपनी प्रांतीय भाषाओं का विरोध कर रहे हैं। पढ़ा-लिखा समाज और पढ़ने-लिखने को उद्यत समाज अपना नाम तक भूल चुका है। वह अंग्रेजी की गिरफ्त में इस कदर आ गया है कि अपने ही नाम को अशुद्ध लिखने-बोलने की उसे सुध नहीं रही है। वह 'योगा' करता है, 'रामा' के घर जाता है और 'अशोका' होटल में ठहरता है, इस पक्के बोध के साथ कि वे ही नाम-रूप सही हैं।

ऐसी स्थिति में भी क्या हम आशा कर सकते हैं कि हिंदी और भारतीय भाषाओं का भविष्य उज्ज्वल है। एक आशा तो इस दृष्टि से कि पतन की पराकाष्ठा पर मनुष्य चेतता है, परंतु हम पतन की किस सीमा को पराकाष्ठा मानेंगे, अभी तो यही प्रश्न है। फिर भी यह तो महज एक आशा है। यदि भाषा को सचमुच उन्नत करना है तो भारत के भाषाई समाजों को एक जागरूक आंदोलन चलाना होगा — ऐसा आंदोलन जिसमें यह स्पष्ट समझ हो कि भारत की सभी भाषाओं का भाग्य और भविष्य साझा है। एक भाषा की उन्नति में दूसरी भाषा की उन्नति निहित है। जैसे हिंदी की प्रगति में भारतीय भाषाओं की प्रगति है और भारतीय भाषाओं की प्रगति में हिंदी की प्रगति। तमिल या बांग्ला अगर अपनी सही जगह प्रतिष्ठित होती हैं तो हिंदी भी सही जगह प्रतिष्ठित होगी। दूसरी बात यह है कि धन या प्रतिष्ठा का लोभ छोड़कर भारतीय भाषा के चिंतकों, वैज्ञानिकों, विद्वानों को अपनी मूल भाषा में लिखना होगा, ताकि उनकी प्रतिभा और योग्यता का मौलिक उसी भाषा को मिले और वह समृद्ध हो, फिर भले ही वह किसी दूसरी भाषा में अनूदित हो। तीसरी बात यह है कि सिद्धांत रूप में हमें स्वीकारना होगा की बच्चे की सही और सहज शिक्षा अपनी मातृभाषा में ही संभव है, बड़ा होकर वह चाहे जितनी भाषाएं सीखे। चौथी यह कि केंद्र सरकार की समस्त

नौकरियों में अंग्रेजी नहीं, राष्ट्रभाषा के साथ सभी महत्त्वपूर्ण देशी भाषाएं माध्यम हों और उनमें प्रशिक्षण दिया जाए। अंग्रेजी को सभी स्तरों पर विदा किए बिना भारतीय भाषाओं का कोई भविष्य नहीं है और अगर उन्हें लगता हो कि अंग्रेजी के बिना भारत का भविष्य नहीं है तो उन्हें रूस, चीन, जापान, फ्रांस, जर्मनी आदि के उदाहरण लेने चाहिए, न कि यूरोप के चंद देशों के हिंदी के। भविष्य के प्रति एक आशाजनक खबर यह है कि संगणक (कंप्यूटर) में जब बोलकर लिखाने का प्रचलन होगा, तब नागरी लिपि ही एक मात्र सहायक होगी क्योंकि किसी भी भाषा को नागरी से अधिक शुद्ध कोई भी लिपि नहीं लिख सकती। एक तो उसमें सब प्रकार के उच्चारण की क्षमता है, दूसरे उसमें वही लिखा जाता है जो बोला जाता है। बिल गेट्स ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है। नागरी की संगणकीय आवश्यकता हिंदी के विकास में परिणत होगी यह लगभग तय है।

परंतु किसी देश की भाषा को बल तभी मिलता है जब उसके नागरिक और उसके शक्ति केंद्र उस भाषा का व्यवहार करते हुए गौरव का अनुभव करें और भाषा के मूल सांस्कृतिक और व्यावहारिक अर्थ को मान्यता दें। ऐसी स्थिति आने पर हिंदी की प्रगति को रोकना संभव नहीं होगा, क्योंकि आज भी भारत में वह करोड़ों की भाषा है और करोड़ों विदेशी नागरिकों के अनुराग की भाषा है। उसके भीतर सभी जातियों, धर्मों के प्रति एक उदार भावना है और उसके कोई निहित स्वार्थ नहीं हैं। यही भावना विश्व में हिंदी-प्रसार का माध्यम बन सकेगी ऐसी आशा की जा सकती है।

□

राजनीति के चक्रव्यूह में फंसकर यह प्रश्न ऐसा उलझ गया है कि जो भाषा मनुष्य-मनुष्य के बीच में स्नेह-सूत्र स्थापित करने के लिए आविष्कृत हुई थी, वही अब उनको तोड़ने का कारण बन रही है।

विष्णु प्रभाकर

www.हिंदी विज्ञान/प्रौद्योगिकी भविष्य.com

विश्वमोहन तिवारी

प्राय: कहा जाता है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी भाषा एक पिछड़ी हुई तस्वीर देती है। लेकिन प्रस्तुत लेख के लेखक, भारत के (पूर्व) एयर वाइस मार्शल श्री तिवारी का मानना है कि बारहवीं शताब्दी तक भारत अपनी ही भाषा में दुनिया को नव्यतम विज्ञान सौंपकर चौंका रहा था। एक गहन विवेचना विज्ञान-संस्कृति-प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में हिंदी की।

जब विश्व हिंदी सम्मेलन (त्रिनिडाड) की कार्यवाही अंग्रेजी में हो सकती है; जब इस देश का लगभग 5-6 प्रतिशत अंग्रेजी जानने वाला समूह शेष 94-95 प्रतिशत जन समूह पर पचास वर्षों से अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शासन कर रहा है; और जिस देश का बच्चा अपना अटूट देश-प्रेम 'आई लव माइ इंडिया' गाकर प्रदर्शित करता है— तब इस आलेख का शीर्षक अंग्रेजी-हिंदी में क्यों नहीं हो सकता! इस देश में दो विषयों पर सार्थक सोच तथा पर्याप्त कार्य नहीं हो रहा है— एक, संपर्क भाषा हिंदी तथा दूसरा, आबादी का विस्फोट! अर्थात् आज के शासन की दृष्टि में यह दोनों विषय या तो महत्त्वहीन हैं या 'विस्फोटक'। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शासकों का यह पूर्ण विश्वास है कि इस देश से, उसके राजकाज से, पढ़ाई-लिखाई से अंग्रेजी रानी के जाते ही इस देश की हस्ती मिट जाएगी। भारत से अंग्रेजी गई तो उनका 'इंडिया' छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

इसके पहले कि निम्नलिखित विचारों पर मनन किया जाए, एक चेतावनी अपेक्षित है: 'मानव व्यवहार इतना जटिल है कि उसके विषय में शत-प्रतिशत सही

कथन नहीं हो सकते, वे अधिकतर या अधिकांशतया सत्य हों तो स्वीकार्य माने जाना चाहिएं।' कुछ निष्कर्ष हैं—

(1) सांस्कृतिक एवं आर्थिक गरीब देश में रोटी की भाषा ही राजभाषा हो सकती है; अंग्रेजी रोटी की भाषा है।

(2) राजभाषा, यदि वह विदेशी हो, अंततः राष्ट्रभाषा हो जाती है, और राष्ट्रभाषाएं क्षेत्रीय भाषाएं हो जाती हैं।

(3) यदि किसी देश में मुख्यतया दो समुदाय हों— एक, श्रेष्ठता ग्रंथि से ग्रंथित, तथा दूसरा, हीनता ग्रंथि से पीड़ित, तब श्रेष्ठता-ग्रंथित समुदाय की संस्कृति तथा भाषा हीनता-ग्रंथित समुदाय की संस्कृति तथा भाषा पर हावी हो जाती है। अंग्रेजी भाषा प्रायः श्रेष्ठता-ग्रंथित लोगों की भाषा है तथा भारतीय भाषाएं प्रायः हीनता-ग्रंथित लोगों की भाषाएं हैं। यद्यपि अंग्रेजी भाषा वाले अपने को, श्रेष्ठ ही मानते हैं तथा भारतीय भाषाओं वालों को हीन। तथा भारतीय भाषाओं वाले भी अंग्रेजी वालों को श्रेष्ठ मानते हैं तथा स्वयं को हीन। अतएव...

(4) जब दो बिल्लियां लड़ती हैं तथा न्याय के लिए बंदर के पास जाती हैं तब सारा लाभ बंदर को खुशी-खुशी मिल जाता है। आज सारी भारतीय भाषाएं (कुछ को छोड़कर) अंग्रेजी से ही न्याय चाहती हैं। अतएव...

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी रूप से समुन्नत देश की संस्कृति और भाषा अन्य देशों की संस्कृति तथा भाषा पर हावी हो जाती हैं। अंग्रेजी ऐसे ही देशों की भाषा है, पाश्चात्य देशों की संस्कृति ऐसी ही है। अतएव भारत की भाषा और संस्कृति...

इस तरह के अनेक तथ्य और कारक भी हैं। इस समय इतने ही पर्याप्त होंगे। क्या इस मनन का निष्कर्ष निराशाजनक है? क्या भविष्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी के लिए निराशापूर्ण है?

अनेक क्षेत्रों से मिलकर बना हुआ एक हृदय वाला यह भारत राष्ट्र लगभग बारहवीं शती तक निश्चित रूप से विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में अग्रणी था, इसे विश्व के सभी विद्वान मानते हैं। पाटलिपुत्र का चाणक्य तक्षशिला में अध्ययन एवं अध्यापन करता था, केरल के आर्यभट (जन्म 476 ई०) नालन्दा में अध्ययनार्थ गये थे और वहां के कुलपति बनाये गए थे। केरल के शंकर सारे भारत के आदि शंकराचार्य बने थे। ग्यारहवीं सदी में अलबैरूनी ने भारत में भ्रमण करने के बाद यहां की बुराइयों तथा अच्छाइयों का पूर्वग्रह रहित वर्णन किया जिसमें उसने लिखा था कि "भारत में विज्ञान की जितनी प्रगति हुई है, उतनी आज (उस समय) तक कहीं नहीं हुई।" भारतीय विज्ञान के तथा अन्य ग्रंथों के अनुवाद लगातार अरबी भाषा में होते रहे। आर्यभट विश्व में सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने गणित में अनेक सिद्धांत निकाले तथा गणनाओं के आधार पर (मात्र अवलोकन तथा अटकलबाजी पर नहीं) निष्कर्ष निकाला था कि पृथ्वी गोल है, वह अपने अक्ष पर घूमकर दिन-रात का निर्माण करती है, कि चंद्र सूर्य

की रोशनी से चमकता है, कि ग्रहण छाया पड़ने के कारण होते हैं...। इनके बाद दूसरे अप्रतिम गणितज्ञ, 522 ई० में जन्मे भास्कर हुए, तत्पश्चात बृहत्संहिता के रचनाकार वराहमिहिर (मृत्यु 587 ई०) आदि से लेकर अद्वितीय रसायनज्ञ नागार्जुन (सातवीं - आठवीं शती) जैसे उत्कृष्टतम वैज्ञानिकों की सतत परंपरा भारत में विद्यमान थी। इसे प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक-इतिहासकार प्रो० जोज़ैफ नीढम ने चीन की वैज्ञानिक प्रगति पर जो पुस्तक लिखी है उसमें स्वीकारा है कि सत्रहवीं शती तक हिंदुस्तान वैज्ञानिक प्रगति में यूरोप से बहुत आगे था। किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि कोपरनिकस, गालिलेओ, टाहे तथा कैपलर ने सोलहवीं शती से जो प्रयोग, अवलोकन एवं निष्कर्षों की नींव डाली उससे सत्रहवीं शती में न्यूटन जैसा महान् वैज्ञानिक पैदा हुआ। यह भारत में नहीं हुआ। भारत में वैज्ञानिक प्रगति में बारहवीं-तेरहवीं शती से ही शिथिलता आने लगी थी। युद्ध यूरोप में भी होते रहे किंतु वहां उन्हें अधिकतर अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ना पड़ता था, अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए बहुत कम। भारत में तो लोग राज्य, संस्कृति, धर्म तथा सम्मान की रक्षा में ही लगे रहे। यह भी गौरतलब है कि 'भक्ति-युग' में ब्रज बोली में कृष्ण-पद सारे भारत में गाये जा रहे थे।

मेरा यह मानना है कि यह भी उतना ही सच है कि पश्चिम के विज्ञान-प्रौद्योगिकी के विकास में भारतीय रेशमी तथा सूती कपड़ा, मसाले, चीनी आदि का आकर्षण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उनके उस विकास की सहायता से भारत तक आना और उसे जीतना। अतएव पश्चिम के विज्ञान-प्रौद्योगिकी विकास पर भी एक विहंगम दृष्टि उचित होगी। कुर्ट मैंडलसन ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड वैस्टर्न डॉमिनेशन' में लिखा है कि लगभग पंद्रहवीं शती के प्रारंभ में नये सोच और आंदोलनों के प्रभाव से वहां का जनमानस ईसाइयत के परलोकवाद के शिकंजे से मुक्त हुआ और सहसा उनके सामने इस विश्व के अनोखेपन, साहसिकता तथा भोग के रहस्यों ने एक चुनौती रखी। एक प्रकार इस नये जीवन का प्रारंभ हम पुर्तगाल के नौचालक—राजकुमार हैनरी द्वारा 1418 ई० से आयोजित सामुद्रिक अभियानों से मान सकते हैं। इन अभियानों का प्रमुख उद्देश्य तो भारत तक सामुद्रिक पथ को खोजना, सुरक्षित बनाना तथा अपने लिए स्थापित करना था। एतदर्थ उन्होंने कोई चार-पांच हजार वर्षों से चले आ रहे एक-पालीय जहाज को त्रि-पालीय जहाज बनाया था जिसके फलस्वरूप जहाज न केवल विशालतर एवं क्षिप्रतर बने वरन वे वायु की विरुद्ध दिशा में भी कुशलतापूर्वक चलाए जा सकते थे। पहली बार अफ्रीका तथा फिर भारत के मान-चित्र (स्केल पर आधारित) बने। रास्ते में सुरक्षा चौकियां बनवाई गईं। सोने की चिड़िया भारत तक जाने का उद्देश्य था—भारत से रेशम, सूती कपड़े, मसाले तथा चीनी व्यापार हेतु लाना और ईसाइयत का प्रचार करना! स्वभावतया इन सब प्रयासों का परिणाम हुआ कि सामुद्रिक पथ से सर्वप्रथम पाश्चात्य यात्री पुर्तगाली

वास्को डा गामा 9 जुलाई 1495 को प्रस्थान कर, मार्च 1496 में कालीकट पहुंचा। और उसके पुर्तगाल वापिस लौटने के बाद पुर्तगाल के राजा मैन्युएल ने 'भारत के नौचालन एवं व्यापार के विजेता महाराज' की पदवी से अपने को सम्मानित किया। भारत के लिए नवीन सामुद्रिक पथ की खोज के दौरान कोलम्बस ने सौभाग्य से अमेरिका की खोज की। यह गौरतलब है कि 'स्टीमर' (वाष्प-एंजिन चालित जहाज) बहुत बाद उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में ही आए थे। इसके बाद की पाश्चात्य संसार की प्रगति तो सर्वविदित है जो महान वैज्ञानिकों गालिलेओ, न्यूटन, फैराडे, मैक्सवैल, प्लांक, आइंस्टाइन आदि की मूलभूत खोजें और इन पर आधारित मशीनों, यंत्रों, उपकरणों—वाष्प एंजिन, अंतर्दाह एंजिन, विद्युत जनित्र, मोटरें, रेडियो, संचारक्रांति, कम्प्यूटर, वंशाणु प्रौद्योगिकी, लड़ाकू विमान, विहार (क्रूज) प्रक्षेपास्त्र, लेज़र-प्रक्षेपास्त्र, प्रचछ्न्न विमान इत्यादि-इत्यादि—ने पाश्चात्य संसार को प्रदान की तथा जिन सबके द्वारा वे शेष विश्व पर आधिपत्य जमा सके। वह तो एक तरफ हिटलर तथा दूसरे छोर पर गांधी ने इस दीर्घ उपनिवेशवाद की रीढ़ तोड़ी, किंतु इस सबका सर्वाधिक लाभ मिला संयुक्त राज्य अमेरिका को! अमेरिका ने परमाणु बम के आतंक का लाभ तो उठाया, साथ ही उसे इस अचानक प्राप्त विपुल समृद्धि ने सिखलाया कि शस्त्रों के खुले उपयोग से उपनिवेश बनाने के बजाय खुले बाजार से उपनिवेश बनाना अधिक लाभप्रद है क्योंकि इसमें उपनिवेशित देश भी प्रसन्न रहते हैं। इस खुले बाजार की नीति के लिए सबसे प्रभावी शस्त्र है वैज्ञानिक-प्रौद्योगिकी की 'श्रेष्ठता'। अमेरिका की संस्कृति में इस 'श्रेष्ठता' को बनाये रखने के लिए आवश्यक गुण हैं—सम्यक् स्वार्थ, सहकारिता, साहसिकता, न्यायप्रियता। साथ ही वह मानवता के नाम पर अन्य देशों की मदद करने के लिए सदा तत्पर भी रहता है, किंतु यह मदद अन्य देशों को उतनी ही देता है जिसमें एक तरफ उसकी 'श्रेष्ठता' सुरक्षित रहे तथा दूसरी तरफ बाजार खुला रहे। इस सब वर्णन से यही निर्विवाद निष्कर्ष निकलता है कि आज के भोगवादी खुले बाजार में अपनी अस्मिता बनांये हुए रहने के लिए एक शर्त है—वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी में अग्रिम पंक्ति में रहना!

हम 1200 ई० के बाद कैसे अग्रिम पंक्ति से पिछड़ी पंक्तियों में आ गये? एक तो, बर्बर तुर्कों और मुगलों से अपनी अस्मिता बचाने के लिए लड़ते रहे, मुगलों ने हमारे-ऊपर फ़ारसी भी लादी। हमें राजभाषा, रोटी की भाषा, सत्ता की भाषा फ़ारसी भी सीखना पड़ी, और सीखी। किंतु उसमें न तो उस जमाने की वैज्ञानिकता थी और न प्रौद्योगिकी। तत्पश्चात् अंग्रेजी लादी गई, किंतु कहीं अधिक योजनाबद्ध नीति की शैली में। हमारे संस्कृत साहित्य को, भारतीय भाषाओं के साहित्य को, कुछ अपवादों के साथ, हीन ठहराया गया। हमारी संस्कृति को, धर्म को हीन ठहराया गया। हमारी हजारों-हजार संस्कृत तथा देशी भाषाओं की पाठशालाएं बंद की गईं। उन्हें सहायता न देकर केवल अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों को सरकारी सहायता दी गई। सत्ता, धन

तथा मिशनरी जोश की सहायता से लाखों लोगों को ईसाई बनाया गया। इस तरह हमें अपनी समृद्ध, विवेकशील सांस्कृतिक परंपरा से काटा गया तथा अंग्रेजी भाषा के प्रति और पाश्चात्य संस्कृति के प्रति हममें हीनभावना पैदा की गई। महाविद्यालयों में आधुनिकता की परिभाषा 'पाश्चात्य सभ्यता की नकल' के तौर पर पढ़ाई गई। उसका सबसे बड़ा तर्क उनकी विज्ञान-प्रौद्योगिकी की 'श्रेष्ठता' दिया गया। और सबसे बड़ी बात अंग्रेजी को 'जज़िया कर' की तर्ज पर, रोटी से जोड़ दिया गया। हमारे देश के उद्योगों और कारीगरों को बर्बाद किया गया। केवल कच्चे माल की खदान की तरह इस देश का खनन किया गया। और इस तरह हमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी सभी तरह से दीन-हीन बनाया गया। किंतु कुछ क्रांतिकारी आये, महात्मा गांधी आये और हमें उनके शैतानी पंजों से छुड़ाकर स्वतंत्र किया। 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'।

किंतु मुझे आशंका है कि अगली संतानें शायद इस गान को इस तरह गायेंगी—'कुछ बात थी कि हस्ती मिटी नहीं थी हमारी, अब इंडिया हमारा, सोफ्ट ड्रिंक हमारा'। यह सब इसके बावजूद कि नेहरू ने विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की नींव सोच-समझकर सुदृढ़ डाली थी। आज अमेरिका आदि के विरोध के बावजूद हमने विगत पचास वर्षों में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में, वांछित स्तर की न सही किंतु काफी अच्छी उन्नति की है। वांछित स्तर तो तब बनता जब हमें विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के लिए पश्चिम पर उतना ही निर्भर करना पड़ता जितना उसे हम पर, अर्थात् वह हमें धमकियां न दे पाता। हमारी प्रगति इतनी हो गई है कि हम उनसे, एकाध अपवाद के साथ, चार-छ: कदम पीछे रहते ही हैं, क्योंकि अधिकांशतया हम वही बाद में कर पाते हैं जो वे पहले कर चुके होते हैं। हम परमाणु ऊर्जा में, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी में, कृषि विज्ञान में, रक्षा विज्ञान-प्रौद्योगिकी में विद्युत तथा इलेक्ट्रॉनिकी प्रौद्योगिकी आदि-आदि में शेष विश्व की तुलना में तो आगे बढ़े हैं किंतु पाश्चात्य विकसित देशों के पीछे ही हैं। क्या कारण है कि हम विगत पचास वर्षों में भी कुछ इनी-गिनी विज्ञान-प्रौद्योगिकियों में उनके लगभग बराबर नहीं पहुंच सके हैं जबकि छोटा-सा जापान और विशाल चीन ने यह कर दिखाया है। इसके अनेक कारण हैं।

सर्वप्रथम कारण तो अभी उपरोक्त अनुच्छेद में बताया गया। अंग्रेजों के हमें सभी तरह से दीन-हीन बना सकने के बावजूद, स्वतंत्रता-लड़ाई हम उच्चतम भारतीय मूल्यों के आधार पर लड़े थे। किंतु स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद ही, शायद गांधी, पटेल जैसे नेता के अभाव में, सरकार में सेवाभाव तथा त्यागवान नेताओं के स्थान पर जनता ने पहले भ्रष्ट प्रतिनिधियों को चुना और बाद में तो अति ही हो गई। अनेक वित्तीय घोटाले हमारे पतन के प्रमाण हैं। कुल मिलाकर संस्कृति से हम इतना कट गये कि हमारे चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम (इच्छाओं की पूर्ति) और मोक्ष—के स्थान पर केवल 'अर्थ' तथा 'काम' ही बचे। त्याग तथा भोग के संतुलन के स्थान पर सुरसा

के समान भोग आ गया। जब लोगों का 'चरित्र' (उपरोक्त चार पुरुषार्थों के आधार पर स्थापित) गिर जाए तब किसी भी कार्य में प्रगति बहुत कठिन हो जाती है, रुक भी सकती है। इस विज्ञान-प्रौद्योगिकी में भी प्रगति धीमी हुई, और जो प्रगति हुई वह भी अल्पसंख्या में बचे कुछ चरित्रवान व्यक्तियों के कारण।

अब इस सांस्कृतिक पतन के कारणों की थोड़ा गहराई से जांच-पड़ताल करें। किसी भी देश की संस्कृति उसकी भाषा, साहित्य, नाटक, नृत्य, संगीत, ललित-कलाओं तथा लोक-जीवन में रहती है। अंग्रेजों ने इन सभी अंगों पर आक्रमण किया था, विशेषकर हमारी आध्यात्मिक दृष्टि पर भी जो कि भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। संस्कृति का सबसे सशक्त वाहक उसकी भाषा तथा साहित्य होता है, इसलिए सन् 1835 में ही अंग्रेजी भाषा को सर्वाधिकार दिये गए थे। लार्ड मैकाले के वे बीज धीरे-धीरे फूलते रहे और आज हमारे साहित्यिक-सांस्कृतिक उपवन पर 'अमर बेल' की तरह छा गये हैं।

अंग्रेजी भाषा सशक्त भाषा है जिसने भारत के पारिवारिक प्रेम के स्थान पर प्रत्येक सदस्य को मात्र अपने स्वार्थों के लिए उत्तरदायी बना दिया है, नारी-स्वातंत्र्य के नाम पर नारी को मात्र भोग की ' वस्तु ' बना दिया है, सरस्वती के हंस के स्थान पर लक्ष्मी का उल्लू लोकप्रिय हो गया है, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त के स्थान पर केवल शरीर तथा मन रह गया है, बुद्धि मन की सेविका हो गई है।

पाश्चात्य संस्कृति भोगवादी है, अहंवादी है, और हम इस दिशा में उनसे भी आगे बढ़ गये हैं! पश्चिम का व्यक्ति इतना स्वार्थी नहीं होता कि अपने ही स्वार्थ को नुकसान पहुंचाए क्योंकि स्वार्थ एक सीमा के बाद आत्मघातक हो जाता है। पश्चिम का व्यक्ति इतना अहंवादी नहीं हो गया है कि दूसरे के अहं पर हमला करता रहे, हम इससे भी अधिक अहंवादी हो गये हैं। पश्चिम के पास अपनी इस अहंवादी तथा भोगवादी संस्कृति को संतुलन में रखने की भी संस्कृति है जिसका उन्होंने पिछले सैंकड़ो वर्षों में विकास किया है। तब भी उनकी संस्कृति यदि समाज के स्तर पर तो ठीक ही कार्य कर रही है किंतु प्रकृति का बुरी तरह प्रदूषण कर रही है, वन्य प्राणियों का विनाश कर रही है। उनके भोगवाद ने पृथ्वी के ओजोन छाते में छेद कर दिया है, और उनकी नकल में हमने गंगा-यमुना को गंदी नाली बना दिया है। हमें उनकी नकल (और नकल अधिकतर भोंडी ही होती है) करने की आवश्यकता नहीं है। हमारी संस्कृति में वे सब तत्त्व हैं जिनकी सहायता से हम आधुनिकतम जीवन का पूरा किंतु सम्यक् उपभोग कर सकते हैं। यदि हम अपनी संस्कृति में वापिस जाना चाहते हैं तब हमें अंग्रेजी के मोहपाश से मुक्त होकर, अपनी भाषाओं में वापिस जाना पड़ेगा। भाषा मात्र विचारों का वाहन नहीं है, वह संस्कृति की 'शांतिवाहिनी' भी है— इसे हम याद रखें!

अंग्रेजी-भक्त लोग कहते हैं कि एक तरफ तो विज्ञान-प्रौद्योगिकी में तीव्र उन्नति

की मांग की जा रही है, दूसरी तरफ भारतीय भाषाओं की मांग जिनमें आधुनिकतम विज्ञान-प्रौद्योगिकी को अभिव्यक्त करने की शक्ति नहीं है। अपनी भाषाओं की शक्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसा कह सकता है। मैं हिंदी के विषय में दावे के साथ, सप्रमाण, कह सकता हूं कि हिंदी में ऐसी शक्ति है, और मेरा विश्वास है कि बांग्ला, मराठी, मलयालम आदि में भी है। हमारी भाषाओं की शक्ति का स्रोत है हमारी भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा। न केवल आज विश्व में संस्कृत का गुणगान हो रहा है, उसमें मौजूद सहस्रों धातुओं में सैंकड़ों-सहस्रों शब्द निर्माण करने की क्षमता है। साथ ही हमारी भाषाओं में, इतने दीर्घकालीन (गुलामी के) अनुभव के पश्चात् विदेशी भाषाओं के शब्दों को पचाने की ताकत भी है। इस समय हिंदी में आधुनिकतम विज्ञान-प्रौद्योगिकी विषयों पर पुस्तकें उपलब्ध हो सकती हैं या उपलब्ध हैं। अंग्रेजी भक्तों का निहित स्वार्थ ही है जो विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के माध्यम में अध्यापन का विरोध कर रहा है।

मातृभाषा की शक्ति को नहीं पहचानने से बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं। अन्य भाषाओं में व्यक्ति, कुछ अपवादों के अतिरिक्त, रोटी क्या मिठाई भी कमा सकता है। नौकरी अच्छे से कर सकता है। किंतु उत्कृष्ट काव्य रचना, साहित्य रचना, विभिन्न शास्त्रों में मौलिक चिंतन एवं लेखन या तो नहीं कर सकता या कर सकता है तो बहुत कठिनाई के साथ। लगभग 150 वर्षों से अंग्रेजी हमारे ऊपर लदी हुई है। हमारे 'बुद्धि-सूचकांक' यदि अधिक नहीं तो कम तो नहीं ही हैं। तब भी, हम अंग्रेजी में किसी भी क्षेत्र में कितना कम, लगभग नगण्य मौलिक या रचनात्मक कार्य कर पाये हैं! इसका अपवाद गणित तथा गणित पर आधारित कम्प्यूटर सॉफ्टवेअर है, क्योंकि गणित और सॉफ्टवेअर की भाषा अपनी अलग भाषा होती है। साहित्य में एक टैगोर को, भौतिकी में एक सी०वी० रमन को, तथा अर्थशास्त्र में एक अमर्त्य सेन को नोबेल पुरस्कार मिले हैं। भारतीय मूल के चंद्रशेखर तथा हरगोविंद खुराना को अमेरिका में वर्षों कार्य करने के बाद नोबेल पुरस्कार मिले हैं। मदर टैरीसा का पुरस्कार एक अलग श्रेणी का है जो उन्हें भाषा या विद्वता पर नहीं वरन् मानवीयता-करुणा पर मिला है। भारत से दस गुना, बीस गुना कम आबादी वाले देश भारतीय पुरस्कार विजेताओं की संख्या की अपेक्षा दस गुना, बीस गुना अधिक नोबेल पुरस्कार जीत चुके हैं, जबकि भारत में विज्ञान-इंजीनियरी स्नातक प्राप्त व्यक्तियों की संख्या विश्व के ऐसे स्नातकों की तीस प्रतिशत है।

असल बात यह है कि व्यक्ति की मातृभाषा उसकी संवेदनात्मक भाषा तथा उसकी बौद्धिक भाषा दोनों होती है, अतएव उसकी मौलिक चिंतन एवं सृजन की भाषा होती है। अन्य भाषाएं, बौद्धिक भाषाएं हो सकती हैं, संवेदनात्मक बहुत कम। भारत में हमने अंग्रेजी के मोह में अपनी मातृभाषा की उपेक्षा की और परिणामत: मौलिकता तथा सृजनशक्ति ने हमारी अवहेलना की। इसलिए कुछ अन्य कारकों के

साथ, हम विश्व की विज्ञान-प्रौद्योगिकी दौड़ में तथा मौलिक चिंतन एवं सृजन कार्यो में पीछे रह गये हैं। जब जापान जैसा छोटा देश, विशाल चीन देश, कोरिया, इजरायल आदि समुन्नत देश अपनी-अपनी भाषाओं में सारे कार्य कर रहे हैं तब भारत क्यों नहीं कर सकता?

अंग्रेजी भक्त लोग भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी को वरीयता देने के लिए तर्क देते हैं कि अंग्रेजी आज विश्व की भाषा है और विश्व एक गांव बन गया है। इसके पहले कि हम विश्व या वैश्वीकरण को वरीयता दें, हमें अपनी अस्मिता को स्थापित करना, सुनिश्चित करना है तथा (आर्थिक एवं सैन्य) शक्ति को समुचित रूप से बढ़ाना है ताकि उस विश्व में हमारा सम्मानजनक स्थान हो। और कितने प्रतिशत भारतीय हैं जो भारत के बाहर जाकर कुछ करना चाहते हैं, जाहिर है कि एक प्रतिशत से कम। तब क्या मात्र इस एक प्रतिशत आबादी के लिए 99 प्रतिशत आबादी पर अंग्रेजी लादकर उसे पंगु बनाया जाये। अपनी भाषा यदि कोई व्यक्ति समुचित रूप से सीख ले, अर्थात् उसकी व्याकरण उसके मस्तिष्क में जम जाये, तब अन्य भाषाओं के सीखने में अपेक्षाकृत आसानी होती है, अन्यथा दोनों व्याकरणों का मस्तिष्क में टकराव होता है, भ्रम पैदा होते हैं। और जो भी व्यक्ति अंग्रेजी पढ़ना चाहें, शिक्षा के एक स्तर के बाद, उन्हें वह सीखने की सुविधा मिलना चाहिए और मिलेगी। इस तरह अंग्रेजी सिखाने में, अर्थात् केवल उन्हें जिन्हें उसकी आवश्यकता है, खर्च भी कम होगा तथा प्रभाव एवं दक्षता अधिक होगी। अंग्रेजी तथा अन्य समुन्नत भाषाओं से भारतीय भाषाओं में अनुवादकों की सेना तैयार करना पड़ेगी ताकि अधुनातम ज्ञान बिना विलंब उपलब्ध हो सके।

भारत के लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि हम प्रौद्योगिकी के कुछ क्षेत्रों में अग्रिम पंक्ति में हैं, यथा परमाण्विकी ऊर्जा, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी, विद्युत ऊर्जा, दूरसंचार प्रणाली, कृषि प्रौद्योगिकी, मार्ग निर्माण प्रौद्योगिकी, सॉफ्टवेअर प्रौद्योगिकी इत्यादि में। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रौद्योगिकियों में हमने विशेष उन्नति की है किंतु प्रौद्योगिक समाज में जो संस्कृति होना चाहिए क्या वह हमारे समाज में है? क्या प्रौद्योगिक समाज में जो गर्व इंजीनियरों एवं मिस्त्रियों को अपने निर्माण तथा रखरखाव में होना चाहिए, वह उनमें है? यदि होता तो सड़कें गड्ढों से भरी न होतीं, बिजली चाहे जब गुल न हो जाती (लोड शैडिंग के अलावा) घर में, टेलीफोन अपनी मर्जी से चाहे जब सो न जाते, पीने के पानी के लिए घर-घर जल-संरक्षक न लगाने पड़ते, हमारे परमाण्विकी जनित्र महीनों खराब न पड़े रहते, दूध की इतनी कमी न होती कि घातक सिंथेटिक दूध की नदियां बहतीं, इत्यादि-इत्यादि। यह मात्र भ्रष्ट चरित्र की बात नहीं है, वास्तव में इंजीनियरों तथा मिस्त्रियों को अपने कार्य की गुणवत्ता पर गर्व नहीं है जैसा उनसे सर्वप्रथम अपेक्षित है, उनमें सहकारिता तथा सहयोग की कमी है। इन थोड़े से गुणों की कमी से सारा प्रौद्योगिक वातावरण दु:ख, व्यर्थ का खर्च तथा प्रदूषण से

आप्लावित है। जब तक यह वातावरण 'शुद्ध' नहीं होता, जिसे 'शुद्ध' करने के लिए किसी भी विदेश की उच्च प्रौद्योगिकी के आयात की आवश्यकता नहीं है, तब तक हम वास्तव में प्रौद्योगिकी के इन क्षेत्रों में अग्रिम पंक्ति में नहीं हो सकते। इस तरह की औद्योगिक संस्कृति यूरोप तथा अमेरिका में है। जब यह संस्कृति हमारे सॉफ्टवेअर उद्योग में है तब अन्य में क्यों नहीं? सॉफ्टवेअर के उत्पाद के खरीददार अधिकतर विदेशी कंपनियां हैं जो ठोक-बजाकर ही माल खरीदती हैं, अन्यथा कठिन दंड देती हैं। इसलिए सॉफ्टवेअर उद्योग ने गुणवत्ता का महत्त्व जल्दी ही सीख लिया, ऐसा लगता है। इस सब बातचीत का मुख्य निष्कर्ष कुछ और ही निकलता है। जब हमने सारे विज्ञान-प्रौद्योगिकी की शिक्षा अंग्रेजी माध्यम के द्वारा प्राप्त की तब हमने इस प्रौद्योगिकी-संस्कृति को क्यों नहीं सीखा?

विदेशी भाषा से जो संस्कृति हम सीखते हैं वह अनेक कारणों से गड्डमड्ड रहती है। एक तो उस भाषा को सीखने का हमारा ध्येय नौकरी-पेशा होता है, सही अर्थों में ज्ञानार्जन एवं कौशल-उपलब्धि कम होता है। दूसरे, विदेशी भाषा हम खंडों में बांटकर सीखते हैं तथा मुख्यतया एक या दो खंडों में ही सीमित रखते हैं। स्वभाषा में सीखने पर विभिन्न खंडों के बीच वह अभेद्य दीवार नहीं रहती जो विदेशी भाषा में सीखने पर रहती है। अतएव विदेशी भाषा से हम संस्कृति की सीख खंड-खंड में लेते हैं। तीसरे, विदेशी भाषा के वे खंड जो संस्कृति शिक्षा प्रदान करते हैं, नौकरी-पेशा इच्छुक विद्यार्थी उनकी तरफ ध्यान नहीं देते। चौथे, जो संस्कृति विदेशी भाषा से सीखी जाती है वह हमारे लिए उतनी सटीक नहीं होती क्योंकि संस्कृति का संबंध देश-काल की मिट्टी से बहुत गहरा होता है। और हो सकता है कि वह विदेशी विखंडित संस्कृति हमारी मिट्टी में मधुर फल देने के स्थान पर कड़ुए या विषैले या कुपोषणकारी फल दे।

उपरोक्त चर्चा से कुछ ध्येय स्पष्टत: उभरते हैं :

(1) भारत को यदि सम्मान से जीना है तो उसे विज्ञान-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अग्रिम पंक्ति में आना पड़ेगा। और इतना ही आवश्यक है कि उसकी गड्डमड्ड संस्कृति के स्थान पर एक समेकित भारतीय संस्कृति जीवंत रूप में आए।

(2) उपरोक्त (1) लिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रदेशों की प्रमुख राष्ट्रभाषाओं में ही मुख्य शिक्षा हो तथा प्रदेशों का राजकाज भी। प्रमुख राष्ट्रभाषाओं में यह शक्ति है।

(3) अंग्रेजी की शिक्षा उतनी ही दी जाए जितनी एक विदेशी भाषा की उपयोगिता को देखते हुए आवश्यक है। अंग्रेजी को रोटी के लिए कतई आवश्यक न बनाया जाए।

(4) अंग्रेजी का स्थान हिंदी को नहीं लेना है क्योंकि अंग्रेजी तो आधिपत्य जमाने वाला स्थान लेकर बैठी है, सिंहासन पर।

(5) मात्र उतनी ही हिंदी की शिक्षा दी जाए जितने में सारे प्रदेशों का परस्पर संपर्क सध सके। हिंदी को रोटी के लिए आवश्यक न बनाया जाये; हां, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए उसमें मात्र 'पास' (उत्तीर्ण) होना आवश्यक हो, उसमें प्राप्त अंकों को कुल योग में न जोड़ा जाये। हिंदी भाषियों को एक अन्य भारतीय भाषा में इतनी ही योग्यता प्राप्त करना अनिवार्य बनाया जाये जो उनके वैकल्पिक कार्य-क्षेत्र के लिए उपयुक्त हो।

(6) एक सशक्त अनुवाद-सेना तैयार की जाए।

(7) सांस्कृतिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाए तथा भ्रष्टता का उन्मूलन किया जाये।

उपरोक्त ध्येय नितांत वांछनीय हैं। किंतु पैरा (2) के मनन के निराशापूर्ण निष्कर्ष के रहते ये कितने व्यावहारिक हैं? यह हमारे आदान-प्रदान के सौहार्द पर, त्याग की भावना पर, आपसी प्रेम की भावना पर तथा मुख्यत: अपने देश-प्रेम पर निर्भर करता है। प्रेम इस विश्व में सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है। हमारे राष्ट्र में मूलभूत रूप में सांस्कृतिक एकता है। हमारी मूल संस्कृति 'वसुधैव कुटुंबकम्' वाली संस्कृति है जिसका अस्तित्व सारे भारत में है। हमारे साहित्य में एकता है, एकरूपता नहीं, एकात्मता है। हम संकीर्ण राजनैतिक स्वार्थों के ऊपर उठ सकते हैं। हमारी भाषाओं में, हिंदी में (जिसे मैं जानता हूं), अधुनातम विज्ञान-प्रौद्योगिकी को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। भारत में विश्व-शक्ति बनने की क्षमता है।

□

जो राष्ट्रप्रेमी है उसे राष्ट्रभाषा प्रेमी होना ही चाहिए,
नहीं तो कुछ हद तक राष्ट्र-प्रेम अधूरा ही रहेगा।

डॉ० रंगनाथ रामचंद्र दिवाकर

विदेशों में हिंदी के प्रति राग-विराग

द्रोणवीर कोहली

हिंदी के सुपरिचित साहित्यकार की यह टिप्पणी, विदेशों में हिंदी के प्रसार और भविष्य की वास्तविकता को दर्शाती है। विदेश-यात्रा के दौरान हुए अनुभव लेखक को पीड़ा देते हैं, और आश्वस्ति भी।

यूरोप और अमेरिका में बसे भारतीय परिवारों के संपर्क में आने से एक बात मैंने शिद्दत से महसूस की है। हिंदीतर भाषा-भाषी लोग अपनी मातृभाषा के प्रति जितने जागरूक हैं, उतने हिंदी-भाषी लोग नहीं हैं। मसलन, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, बंगाली तथा दक्षिण की भाषाएं बोलने वाले निरपवाद रूप से घर में और आपस में अपनी जुबान में बातचीत करते हैं और बच्चों को मातृभाषा पढ़ाने-लिखाने का हर संभव प्रयास करते हैं। लेकिन हिंदी-भाषी लोगों में हिंदी के प्रति उतना उत्साह दिखाई नहीं पड़ता।

ऐसा नहीं कि हिंदी-भाषी लोगों को हिंदी से प्रेम नहीं है। अपने घरों में ये लोग हिंदी में बातचीत करते हैं और बच्चों को हिंदी सिखाने का प्रयास भी करते हैं। बच्चे बोलचाल की जबान सीख भी जाते हैं। लेकिन ज्यों ही वे स्कूल जाना शुरू करते हैं, धीरे-धीरे अपनी भाषा से विमुख होने लगते हैं। रही-सही कसर वहां के टेलीविजन कार्यक्रम पूरी कर देते हैं।

विदेशों में हिंदी के प्रति उदासीनता का एक कारण यह भी बताते हैं कि बच्चों को हिंदी पढ़ाने-लिखाने की समुचित सुविधा नहीं है। न्यूयार्क जैसे शहरों में थोड़ी-बहुत व्यवस्था है। लेकिन दूर-दराज के शहरों-कस्बों में व्यवस्था करना कठिन ही नहीं

असंभव भी हो जाता है।

इसके साथ ही यह भी दलील दी जाती है कि हम अपने काम-धंधों की आपाधापी में इतने व्यस्त रहते हैं कि बच्चों को मातृभाषा सिखाने का समय ही नहीं निकाल पाते।

लेकिन यह तो बहाना मात्र है। जब दूसरी भाषाओं के लोग इन व्यस्तताओं के बावजूद अपने बच्चों को सही ढंग से अपनी भाषा सिखा सकते हैं, तो हिंदी भाषी क्यों नहीं ऐसा कर सकते। मुझे खेद से यह कहना पड़ता है कि देश-विदेश में हिंदी भाषा-भाषियों की यह मानसिकता ही बन गई है कि हिंदी उन्हें रोजी-रोटी नहीं दे सकती, इसलिए इसके लिए अपना समय बरबाद क्यों करें। उनकी एक दलील यह भी है कि हम तो कभी स्वदेश लौट सकते हैं, लेकिन हमारे बच्चे, जो विदेश में ही जनमे और पले-बढ़े और वहां की सभ्यता में रंग चुके हैं, कभी भारत नहीं आएंगे। इसलिए हिंदी पढ़कर वे क्या करेंगे।

वस्तुत: विदेशों में रहने वाले भारतीयों का रहन-सहन ही ऐसा हो जाता है कि वे चाहें भी तो हिंदी को अपना नहीं सकते। जिस परिवार में माता-पिता दोनों कमाने के लिए बारह-बारह घंटे बाहर रहते हैं, उनके बच्चे शैशवकाल से ही या तो विदेशी आया के पास पलते हैं या 'डे-केयर' जैसी जगहों में डाल दिए जाते हैं। ऐसे बच्चों को घुट्टी में ही विदेशी भाषा मिलती है। मां-बाप के पास हिंदी पढ़ाने जैसे व्यर्थ कामों के लिए फुर्सत नहीं है। तो ये अभागे बच्चे कब और क्यों अपनी भाषा सीखेंगे?

यहां मैं एक और तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। विदेशों में बच्चों को हिंदी पढ़ाने के लिए उपयुक्त सामग्री सुलभ नहीं है। यहां से छपकर जाने वाली किताबें अंग्रेजी की किताबों के मुकाबले सिफर भी नहीं होतीं। विदेश में पलने वाले बच्चों के लिए ढेर सारी नयनाभिराम किताबें सस्ते में मिल जाती हैं। फिर गली-मुहल्लों में पुस्तकालय हैं जहां से आप बड़ी आसानी से उत्कृष्ट पुस्तकें चुनकर बच्चों को दे सकते हैं। ऐसे में हिंदी की किताबें, जिनकी न तो छपाई अच्छी होती है, न सही जिल्दबंदी होती है और जिनमें स्तरहीन तस्वीरें रहती हैं, उन्हें किस प्रकार आकर्षित कर सकती हैं? हालांकि नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी संस्थाओं ने इस दिशा में थोड़ा प्रयत्न किया है लेकिन अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता।

पिछले दिनों हम विदेश जाने लगे, तो हमसे कहा गया कि हम हिंदी लोरियों के कैसेट लेकर आएं। इसके लिए हमने कई दिनों तक दिल्ली की लाजपत राय मार्केट की खाक छानी जो कि हर तरह के कैसटों का गढ़ है। लेकिन वहां फिल्मी गानों के सिवा हमारे हाथ कुछ न लगा। इतना बड़ा यह देश है। यहां इतने बड़े-बड़े कवि, लेखक हैं। लेकिन शायद ही किसी अच्छे लेखक ने बच्चों के लिए अच्छे गीत लिखने की कोशिश की हो—कैसेट बनाना तो दूर की बात है।

विदेशों में हिंदी प्रचार-प्रसार का काम सरकार पर छोड़ना भी उचित प्रतीत नहीं

होता। मेरा विश्वास है कि व्यक्तिगत प्रयत्न ही इस दिशा में कारगर सिद्ध हो सकते हैं। यह बात मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूंगा।

करीब चौदह बरस पहले मैं न्यूयार्क गया, तो वहां एक भारतीय की दुकान पर मुझे वहां से छपने वाले एक हिंदी अखबार का पन्ना दिखाई पड़ा। यह जानने की उत्सुकता हुई कि विदेश में ये लोग किस तरह हिंदी अखबार निकालते होंगे। खोजते-खाजते मैं फ्लशिंग काउंटी में उस अखबार के 'प्रकाशन-स्थल' पर पहुंचा, तो यह देखकर दंग रह गया कि एक छोटा-सा मंदिर या देवालय था और उसमें रहने वाले भगवे वस्त्रधारी दो व्यक्ति वह अखबार निकालते थे। अखबार निकालने की कोई सुविधा उनके पास नहीं थी। वे करते यह थे कि भारतीय दूतावास से भारत के दो हिंदी दैनिकों की प्रतियां ले आते थे और मुख्य-मुख्य समाचारों तथा लेखों की कतरनें लेकर अखबार की शक्ल में चिपका लेते थे और फोटो पद्धति से छापते और वितरित करते थे।

ऐसे ही संकल्पशील व्यक्तियों के बलबूते पर हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़ेगा, जिसमें हाथ बंटाना हम सबका कर्तव्य है।

□

अमेरिका की पृष्ठभूमि में भारतीय मूल के परिवार की कहानी को केंद्र में रखकर, लेखक के शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास का अंश भी पाठक इसी अंक में पढ़ेंगे। —संपादक

राष्ट्रीयता के प्रतीक स्वरूप एक भाषा को माने बिना काम नहीं चल सकता और यह भाषा देश की या राष्ट्र की कोई भाषा होनी चाहिए। हिंदी की प्रतिष्ठा सर्वत्र दीख पड़ती है। हमारा सब अंतरप्रांतीय कामकाज राष्ट्रभाषा हिंदी में ही हो सकता है।

डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

हिंदी के लिए ग्यारह सूत्रीय कार्यक्रम

डॉ० के०एल० गांधी

मास्को स्थित भारतीय दूतावास में प्रथम सचिव रहे डॉ० के०एल० गांधी ने भारत के हिंदी और हिंदीतरभाषी क्षेत्रों के अलावा विदेशों में भी,हिंदी की स्थिति-परिस्थिति को बहुत गहराई से देखा और समझा है। उनकी तत्वान्वेषी दृष्टि ने हिंदी के विकास के लिए एक व्यापक कार्यक्रम की परिकल्पना की है। लेखक की एक अनुभव-यात्रा भी।

अयोध्या के सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग जाने की कामना को मन में लेकर अपने कुलगुरु वसिष्ठ के पास गए। वसिष्ठ ने जब इस इच्छा की पूर्ति को असंभव बताया तो राजा गुरु-पुत्रों के पास गए। जब उन्होंने भी राजा की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया तो वे विश्वामित्र के पास गए। विश्वामित्र ने राजा की कामना की पूर्ति के लिए यज्ञ किया। यज्ञ की समाप्ति पर विश्वामित्र ने कहा, ''मैं अपने अर्जित तप के बल से तुम्हें सशरीर स्वर्ग भेजता हूं।'' त्रिशंकु जब स्वर्ग की ओर जा रहे थे तो इंद्र ने कहा, ''तू लौट जा, क्योंकि तू गुरु से शापित है। तू सिर नीचा करके यहां से गिर जा।'' त्रिशंकु जब नीचे गिर रहा था तो उसने विश्वामित्र से याचना की। विश्वामित्र ने कहा, ''वहीं ठहरो।'' तभी से त्रिशंकु स्वर्ग और धरती के बीच उलटा लटका हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि आज हिंदी की स्थिति त्रिशंकु के समान है। इस धारणा को ठीक या गलत सिद्ध करना निरर्थक है, परंतु एक बात निर्विवाद है कि हिंदी के उत्थान के लिए एक नियोजित कार्यक्रम लागू करने की आवश्यकता है, जिसकी कुछ दिशाएं इस प्रकार हो सकती हैं।

साहित्य सृजन

हिंदी के सम्मान में वृद्धि हिंदी के संपूर्ण विकास के साथ जुड़ी हुई है। हिंदी में उच्च कोटि के आध्यात्मिक साहित्य का अभाव नहीं है, परंतु अंग्रेज़ी और संसार की अन्य समृद्ध भाषाओं में उपलब्ध साहित्य के मुकाबले में हिंदी में लौकिक (Temporal), विज्ञान संबंधी और धर्म-निरपेक्ष साहित्य की कमी है। इस अभाव को दूर करना जरूरी है।

हिंदी में अच्छे और रोचक शिशु और बाल साहित्य की भी कमी है। अगर ऐसे साहित्य के अभाव के कारण आज कुछ बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम स्कूलों का रास्ता पकड़ते हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। हिंदी में समांतर साहित्य, जिसमें देश के उपेक्षित और पीड़ित वर्ग की संवेदनाओं और समस्याओं का वर्णन है, के विस्तार की भी आवश्यकता है।

अनुवाद नेटवर्क

मौलिक साहित्य-रचना के अलावा, अनुवाद-कार्य की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके लिए देश में अनुवाद नेट-वर्क की स्थापना करनी होगी। इससे यह धारणा भी निर्मूल हो जायेंगी कि हिंदी के विकास से अन्य भारतीय भाषाएं सांस्कृतिक दृष्टि से बौनी हो जाएंगी। अनुवाद-कार्य के विस्तार से तमिल साहित्यकार तमिलनाडु की संपत्ति न रह कर पूरे भारत की निधि बन जाएगा, बांग्ला लेखक की ख्याति का और अधिक प्रसार होगा तथा हिंदी लेखक देश के सभी राज्यों में प्रसिद्धि पाएगा, इत्यादि। इस प्रकार संविधान की धारा 351 में निर्दिष्ट सामासिक संस्कृति का भी विकास होगा।

यहां पर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि अनुवाद कार्य एक सामूहिक-कार्य है। इस काम में प्रामाणिकता सुनिश्चित करने के लिए विज्ञान, टेक्नोलॉजी आदि विशिष्ट विषयों के विशेषज्ञों तथा हिंदी एवं हिंदीतर भाषाओं के विद्वानों को मिलकर काम करना होगा। यह काम अकेले हिंदी वाले नहीं कर सकते।

इस योजना के अंतर्गत राष्ट्रीय स्तर पर एक अनुवाद संस्थान की स्थापना की जाएगी और प्रत्येक राज्य में इस संस्थान की शाखाएं होंगी। कथित संस्थान और इसकी शाखाओं के काम में समन्वय (Cordination) होना चाहिए, ताकि किसी काम में पुनरावृत्ति न हो।

आधुनिकीकरण

जो भाषा समय की आवश्यकताओं के साथ विकसित नहीं होती, वह शनैः-

शनैः अधोगति को प्राप्त होकर मृत भाषा बन जाती है। इसलिए हिंदी का आधुनिकीकरण आवश्यक है, जिसके कुछ आयाम इस प्रकार हैं।

देवनागरी में अंग्रेज़ी ज़ेड (Z) एवं एफ़ (F) और फ़ारसी लिपि के ग़ैन के स्वर नहीं हैं। देवनागरी लिपि में ज, फ, ग के नीचे बिंदु लगाकर इस कमी को पूरा किया जाना चाहिए।

भाषा के क्षेत्र में कंप्यूटर का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसलिए ज़रूरी है कि हिंदी के विद्यार्थियों को कंप्यूटर के प्रयोग में दक्ष बनाया जाए और हिंदी में कंप्यूटर साफ़्टवेअर का विकास किया जाए। जिस प्रकार कंप्यूटर में वेब साइट पर अंग्रेज़ी भाषा में हर विषय की सूचना उपलब्ध है, उसी प्रकार हिंदी में भी उपलब्ध होनी चाहिए। केवल उसी स्थिति में हिंदी की उपादेयता और प्रयोग में वृद्धि होगी अन्यथा अंग्रेज़ी का प्रयोग बढ़ता जाएगा और हिंदी का प्रयोग कम होता जाएगा। कंप्यूटर साफ़्टवेअर का मानकीकरण किया जाए ताकि वेब साइट में संचित प्रत्येक प्रोग्राम का व्यापक (universal) प्रयोग हो सके।

परिषद् की स्थापना

हिंदी के सार्वभौमिक विकास के लिए और हिंदी से संबंधित सरकारी, गैर सरकारी विभिन्न संस्थाओं तथा संस्थानों का स्तर बनाए रखने के लिए एक अखिल भारतीय उच्च स्तरीय परिषद् के निर्माण की आवश्यकता है। इस परिषद् की प्रत्येक राज्य की राजधानी में एक शाखा होगी। सरकार इसकी स्थापना के लिए ज़मीन, इमारत और अन्य प्रारंभिक खर्च वहन करे और बाद में इसका आर्थिक एवं अन्य प्रबंध किसी स्वायत्त संस्था को सौंप दे। कौंसिल की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में हो, जो स्वयं हिंदी तथा अन्य विषयों के जाने-माने विद्वान हों, प्रशासन में दक्ष हों और हिंदी के प्रति पूरी तरह से समर्पित हों। परिषद् को ऐसे ऊंचे मापदंड (Norms) स्थापित करने होंगे, जिससे हिंदी के साथ किसी रूप में जुड़ी सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएं एवं विश्वविद्यालय परिषद् के साथ संबंध जोड़ने में गौरव (Prestige) का अनुभव करें।

प्रस्तावित महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय तथा अन्य भारतीय विश्वविद्यालय परिषद् के काम-काज के साथ उपयुक्त रूप से जुड़े होने चाहिएं। ये विश्वविद्यालय परिषद् को उसकी योजनाओं के मूल्यांकन के लिए प्रयोग-भूमि भी प्रदान करेंगे और परिषद् के लिए अतिरिक्त विचारकों और विशेषज्ञों के लिए एक निकाय का काम भी करेंगे।

सरकार की भूमिका

इसमें कोई संदेह नहीं है कि देश की आज़ादी के बाद सरकार ने हिंदी के विकास के लिए पर्याप्त काम किया है। इस काम की सफलता को जांचने की ज़रूरत है, जिसके कुछ आयाम इस प्रकार हो सकते हैं।

(क) जिन सरकारी कर्मचारियों ने सरकारी खर्च पर और आफ़िस के समय में हिंदी-प्रशिक्षण प्राप्त किया है अथवा जिन्होंने अन्य स्रोतों से भी हिंदी सीखी है, उनमें से कितने लोग सरकारी काम-काज में हिंदी का प्रयोग कर रहे हैं? उपलब्ध सूचना के अनुसार 1999 के केंद्रीय सरकार के 40 लाख कर्मचारियों में से 34 लाख अर्थात् 85% हिंदी जानते थे। यह देखने की आवश्यकता है कि इनमें से कितने लोग हिंदी में काम कर रहे थे।

(ख) सरकारी पत्र-व्यवहार के लिए केंद्र सरकार ने राज्यों को (क), (ख), (ग) भागों में बांटा है। सरकारी निर्णय के अनुसार (क) एवं (ख) क्षेत्र के राज्यों के साथ केंद्र सरकार, अपवादों को छोड़, हिंदी में पत्र-व्यवहार करेगी, लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि केंद्र और सभी राज्यों के बीच प्राय: अंग्रेज़ी में ही पत्र-व्यवहार चल रहा है। कथित फैसले का पूरी तरह से कार्यान्वयन होना चाहिए।

(ग) प्रतिवर्ष, हिंदी के विकास के सूचकांक की गत वर्ष के सूचकांक के साथ तुलना की जाए और इसमें वृद्धि को आंका जाए। सरकारी काम में अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी का प्रयोग इस सूचकांक का आधार होगा।

(घ) केंद्रीय हिंदी संस्थान और तकनीकी तथा वैज्ञानिक शब्दावली आयोग तथा अन्य कुछ संस्थाएं कई वर्षों से हिंदी के लिए काम कर रही हैं। इनके काम का वस्तुपरक मूल्यांकन होना चाहिए और इनके उत्पादन से और अधिक लाभ उठाने के उपाय सोचने की ज़रूरत है।

(ङ) अगर हमारे राजनयिक विदेशों में हिंदी तथा उस देश की भाषा का प्रयोग करेंगे जिसके साथ वे प्रत्यायित (Accedited) हैं तो इससे विदेशों में हिंदी की स्वीकृति बढ़ेगी तथा अन्य भी कई लाभ होंगे।

निर्वाचित प्रतिनिधियों का दायित्व

लोकतंत्र के सुचारु चलन (Working) के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासक उसी भाषा में काम करें, जिस भाषा का आम जनता प्रयोग करती है। इस दृष्टि से पंचायतें, विधान सभाओं एवं संसद सदस्यों तथा लोकतंत्र के अन्य संरक्षकों की यह ज़िम्मेदारी हो जाती है कि वे सुनिश्चित करें कि प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रमशः, परंतु अविलंब, हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं का प्रयोग बढ़ता जाए। इसका यह

मतलब नहीं है कि निर्वाचित प्रतिनिधियों को इस बारे में अपने दायित्व का ख्याल नहीं है, तात्पर्य केवल इतना है कि भारत की अस्मिता में वांछित निखार लाने के लिए इस ओर और अधिक ध्यान दिया जाए।

माध्यमों का सहयोग

माध्यम परंपरागत हों अथवा आधुनिक, प्रिंट मीडिया हो या इलेक्ट्रानिक मीडिया, इनका पाठकों, श्रोताओं एवं दर्शकों के दिल और दिमाग पर दूरगामी प्रभाव होता है, इसलिए सभी प्रकार के माध्यम हिंदी के प्रसार में पर्याप्त सहयोगी हो सकते हैं।

हिंदी को लोकप्रिय बनाने में हिंदी फिल्मों और धारावाहिकों का बहुत बड़ा हाथ है। यहां पर यह साफ करना उचित होगा कि टी०वी० पर हिंदी समाचारों की भाषा की अपेक्षा हिंदी धारावाहिकों और फिल्मों की आमफहम भाषा से हिंदी के प्रचार और प्रसार को कहीं अधिक सहयोग मिला है। सूचना विस्फोट से इलेक्ट्रॉनिक माध्यम की लोकप्रियता और अधिक बढ़ेगी, इसलिए इन माध्यमों के लिए हिंदी में जितने ज़्यादा सारगर्भित, नाना प्रकारेण और लोकप्रिय प्रोग्राम किये जाएंगे, हिंदी उतनी ही अधिक जनप्रिय होगी।

देश की अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण से विदेशी उद्योगपति और बड़े-बड़े व्यवसायी घराने (Business Houses) भारत में आएंगे। उनमें काम करने वाले कई लोग हिंदी सीखना चाहेंगे। आकाशवाणी को उनके लिए हिंदी प्रशिक्षण की योजना तैयार करनी चाहिए। कंप्यूटर वेबसाइट भी हिंदी प्रशिक्षण में योगदान दे सकता है, इसलिए वेबसाइट में हिंदी प्रशिक्षण संबंधी पाठ डालने की ज़रूरत है। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार 1995 में, आकाशवाणी के 76 केंद्रों से विभिन्न राज्यों के नौसिखियों के लिए हिंदी के पाठ प्रसारित किए जा रहे थे। जिन राज्यों में हिंदी भाषी बहुसंख्या में हैं, उनके लिए हिंदीतर अन्य भारतीय भाषाओं के प्रोग्राम प्रसारित हो रहे थे, जैसे आकाशवाणी के बनारस केंद्र से तेलुगु और मलयालम के पाठ प्रसारित हो रहे थे। भारतीय भाषाओं को सशक्त बनाने का यह एक अच्छा उपाय है। इसे जारी रखने की जरूरत है।

आर्थिक अवसरों के साथ अनुबंध (Linkage)

पाठकों द्वारा हिंदी पढ़ने का निर्णय, हिंदी पढ़ने से उन्हें उपलब्ध आर्थिक अवसरों के साथ जुड़ा हुआ है। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख इस बात को अधिक स्पष्ट कर देगा। (तत्कालीन) सोवियत यूनियन में, अपने प्रवास के दौरान मैंने 1978-79 में भारतीय भाषाओं के एक संस्थान में हिंदी पढ़ाने वाले एक रूसी

प्रोफेसर से पूछा कि आगामी वर्ष में वह हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में कितनी वृद्धि करने की योजना बना रहे हैं। इस पर प्रोफेसर महोदय ने उत्तर दिया कि उनका विद्यालय रूसी-हिंदी दुभाषिए तैयार करता है, परंतु उनके देखने में आया है कि जब कभी रूस से उनकी टीम भारत जाती है तो भारत में उनके प्रतिरूप (Counterparts) टीम के साथ हिंदी या रूसी बोलने के स्थान पर अंग्रेजी में बात करते हैं, इस प्रकार हिंदी के दुभाषिए उनके यहां अनावश्यक होते जा रहे हैं। प्रोफ़ेसर महोदय ने कहा कि हिंदी दुभाषियों के लिए आर्थिक अवसरों में कमी होने के कारण ही वह अपने संस्थान में हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों में कमी करने जा रहे हैं।

ज्यों-ज्यों बहुरदेहम क्षेत्र (अर्थात् बिहार, हिमाचल आदि प्रांतों) में शिक्षा, उद्योग और व्यवसाय का विकास होगा, त्यों-त्यों इस क्षेत्र में आर्थिक अवसरों का विस्तार होगा और देश के प्रत्येक राज्य में हिंदी पढ़ने की रुचि बढ़ेगी।

ग़लतफ़हमियों का निराकरण

हिंदी के बारे में निहित स्वार्थों के कारण कुछ ग़लतफ़हमियों का प्रचार हुआ है। इनमें ग़लतफ़हमियां हैं : हिंदी के विकास से शेष भारतीय भाषाएं सांस्कृतिक दासता की स्थिति में आ जाएंगी, संविधान सभा में हिंदी केवल एक वोट के बहुमत से राजभाषा बनी, हिंदी के देश की एकमात्र राजभाषा बनने से देश के अंतरराष्ट्रीय व्यापार का नुकसान होगा और अंतरराष्ट्रीय मंचों (Forums) पर देश की प्रतिष्ठा में कमी आएगी, भारत को अंग्रेज़ी के कारण आज़ादी मिली थी, देश के स्वतंत्र होने के फौरन बाद अगर हिंदी को राजभाषा बना दिया जाता या फिर हिंदी के स्थान पर संस्कृत को संघ की भाषा घोषित किया जाता तो भाषा संबंधी विवाद उत्पन्न ही न होता, इत्यादि। यह भी कहा जाता है कि हिंदी को राजभाषा घोषित करने वाली संविधान सभा जनता द्वारा निर्वाचित नहीं थी, इसलिए लोकतंत्र में जनता इस संविधान सभा का निर्णय मानने के लिए बाध्य नहीं है। इन तथा अन्य ग़लतफ़हमियों को तथ्यों के आधार पर प्रभावहीन करने की ज़रूरत है।

राष्ट्रीयता की भावना

राष्ट्रीय गौरव को ऊंचा रखने के लिए स्वदेशी की भावना को मज़बूत करने की आवश्यकता है। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का विकास इसी की एक कड़ी है।

मिल्टन का कहना था कि हर राष्ट्र को विदेशी भाषा की अपेक्षा अपनी भाषा को ही तरजीह देनी चाहिए, चाहे यह भाषा अविकसित ही क्यों न हो, क्योंकि विदेशी भाषा का प्रयोग दासता का द्योतक होता है। उनके शब्द थे: ''इस बात को मामूली नहीं समझना चाहिए कि कोई राष्ट्र कौन-सी भाषा का इस्तेमाल करता है। यह तथ्य

इतना महत्त्व नहीं रखता कि इस राष्ट्र के लोग इस भाषा को कितनी विशुद्धता एवं निपुणता के साथ बोलते हैं। इसमें कोई हर्ज की बात नहीं कि किसी वर्ग की भाषा असंस्कृत और वीभत्स है, आंशिक रूप से दूषित है अथवा इसमें रचना संबंधी गलतियां हैं, परंतु यह अक्षम्य है कि किसी राष्ट्र के लोग आलसी और अकर्मण्य हैं और चिरकाल तक ताबेदारी में रहने के लिए तैयार हैं। इसके प्रतिकूल यह कभी सुनने में नहीं आया कि कोई राज्य, कम से कम मध्य स्तर तक, इसलिए विकसित नहीं हो सका, क्योंकि उसने अपनी भाषा का आश्रय लिया।''

यहां पर किसी विदेशी भाषा के प्रशिक्षण का विरोध करना हमारा उद्देश्य नहीं है। प्रयोजन केवल इतना है कि कोई विदेशी भाषा न तो देश की राजभाषा होनी चाहिए और न ही शिक्षा का माध्यम, विशेषकर शिक्षा के प्रारंभिक चरण में। पुस्तकालय-भाषा के रूप में अंग्रेज़ी तथा अन्य विदेशी भाषाओं का पठन-पाठन अभिनंदनीय है।

समर्पण की आवश्यकता

कोई योजना बनाना एक बात है और उसे पूरी सच्चाई और लगन के साथ कार्यान्वित करना अलग बात है। यह चिंता का विषय है कि हमारे समाज में निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं का अभाव है। हम मिशनरियों की आलोचना करने के लिए तो तत्पर हैं, परंतु उनकी तरह समर्पण मनोवृत्ति से काम करने के लिए आगे आने को तैयार नहीं हैं। यदि पानी पीना है तो कुआं तो खोदना ही होगा। अगर हिंदी का विकास करना है तो उसके लिए काम करना होगा। हिंदी के विकास के लिए ठोस काम ही हिंदी का वास्तविक समर्थन है। केवल नारेबाजी से काम नहीं चलेगा।

और अंत में

आज हिंदी के संबंध में अनेक विरोधात्मक तत्त्व देखने को मिलते हैं। एक तरफ दावा किया जाता है कि हिंदी के लिए बहुत काम किया गया है और दूसरी ओर देखा जाता है कि हिंदी की अपेक्षा अंग्रेज़ी का वर्चस्व तेज़ी से बढ़ रहा है। दूरदर्शन पर साक्षात्कार देते समय तमिल, तेलुगु, असमिया तथा अन्य हिंदीतर भाषाभाषियों को, आमफ़हम हिंदी बोलते देखकर हिंदी का भविष्य आशावादी दिखाई देता है और दूसरी ओर दफ़्तरों में अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रयोग को देखकर यह आशा निराशा में बदल जाती है। इसलिए कभी-कभी यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि हिंदी की विकास यात्रा जारी है अथवा इसकी गति अवरुद्ध हो गई है। लेकिन यह निश्चित है कि यदि देशवासी हिंदी के विकास के लिए निष्ठापूर्वक और योजनाबद्ध काम करेंगे

तो वह दिन दूर नहीं, जब हिंदी को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर सम्मानजनक स्थान मिल जाएगा।

कुछ संस्मरण

अपने लंबे कार्यकाल में मुझे हिंदी संबंधी कुछ दिलचस्प अनुभव भी हुए, जिन्हें यहां सम्मिलित करना उचित लग रहा है।

दिसंबर, 1976 से जनवरी, 1981 तक मैं मास्को स्थित भारतीय दूतावास में प्रथम सचिव के पद पर कार्यरत था। इस दौरान मुझे भारत से (तत्कालीन) सोवियत यूनियन आने वाले सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडलों के साथ संपर्क में आने का अवसर मिलता था। एक बार दो महिलाओं का एक प्रतिनिधि मंडल दो सप्ताह के लिए सोवियत यूनियन पहुंचा। सोवियत सरकार ने दोनों महिलाओं को एक-एक रूसी-हिंदी दुभाषिया दिया। उनमें से एक महिला प्रतिनिधि, जो एक कॉलेज की मुख्याध्यापिका थीं, ने तो हिंदी-रूसी दुभाषिए का स्वागत किया, परंतु दूसरी महिला प्रतिनिधि रूसी-हिंदी दुभाषिया मिलने पर नितांत नाखुश थीं। जब तक उन्हें रूसी-अंग्रेज़ी दुभाषिया नहीं मिला, वह क्रोध उगलती रहीं, हालांकि हिंदी समझने में उन्हें कोई कठिनाई न थी। हिंदी दुभाषिया वापस करने पर रूसियों ने क्या सोचा होगा, इस बात का अनुमान लगाना कठिन नहीं है।

एक बार एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधि मंडल सोवियत यूनियन और पूर्वी यूरोप के देशों में यह देखने के लिए गया कि वहां के दूतावासों में हिंदी का कितना प्रयोग हो रहा है। प्रतिनिधि मंडल के सदस्य मास्को स्थित इंस्टीट्यूट आफ़ ओरियंटल स्टडीज़ में भी गए और वहां पर उन सभी प्रोफ़ेसरों के साथ बैठक की जो, भारतीय भाषाओं पर शोध या इसके प्रशिक्षण का कार्य कर रहे थे। बैठक की अध्यक्षता मास्को स्थित इंस्टीट्यूट आफ़ ओरियंटल स्टडीज़ के प्रसिद्ध इंडोलोजिस्ट प्रो० चेलीशेव कर रहे थे। बैठक लगभग एक घंटा चली। एक-एक करके सभी सोवियत प्रोफ़ेसरों ने बताया कि अलग-अलग भारतीय भाषाओं में उन्होंने क्या-क्या काम किया है। मीटिंग के दौरान सभापति महोदय केवल हिंदी में ही बात करते रहे। अपनी बातचीत में उन्होंने न तो एक शब्द रूसी भाषा का बोला और न कोई शब्द अंग्रेज़ी का। जब सभी रूसी प्रो० अपनी-अपनी बात कह चुके तो सभापति महोदय ने भारतीय प्रतिनिधि मंडल के मुखिया से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की प्रार्थना की। भारतीय प्रतिनिधि मंडल के मुखिया बोलने के लिए खड़े हुए। अपना भाषण प्रारंभ करने से पहले पूछने लगे कि वह हिंदी में बोलें या अंग्रेज़ी में? सभापति ज़रूर दंग रह गए होंगे, लेकिन उन्होंने केवल इतना ही कहा, ''आपकी मर्ज़ी, लेकिन हिंदी में बोलें तो अच्छा रहेगा।''

यही प्रतिनिधि मंडल प्रॉग्रेस पब्लिशिंग हाउस में वहां के मुखिया से मिलने के लिए भी गया। जब दोनों पक्षों के बीच बातचीत ख़त्म हो चुकी तो पब्लिशिंग हाउस के मुखिया ने भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता से अतिथि पुस्तिका में कुछ लिखने को कहा। मंडल के नेता ने पब्लिशिंग हाउस के मुखिया से कहा कि वे हिंदी नहीं जानते, इसलिए वे प्रतिनिधि मंडल के उप-नेता से कुछ लिखने के लिए कह देते हैं। जब उपनेता ने पुस्तिका में, जो लिखना था, लिख दिया तो प्रतिनिधि मंडल के मुखिया ने पुस्तिका में नीचे उर्दू में अपने हस्ताक्षर जड़ दिए। हिंदी न जानना कोई अपराध नहीं, उर्दू में हस्ताक्षर करना भी पाप नहीं, लेकिन प्रश्न यह है कि हिंदी के प्रयोग को देखने के लिए गए प्रतिनिधि मंडल के लिए क्या ये दोनों बातें उचित थीं?

एक बार एक प्रोफ़ेसर, जो भारतीय भाषाओं के प्रशिक्षण विभाग के प्रभारी थे, ने मुझे अपने यहां खाने पर आमंत्रित किया। मुलाक़ात के दौरान अनेक विषयों पर बातचीत करने के दौरान उन्होंने मुझे बताया कि हिंदी के विकास के लिए उन्होंने क्या कुछ किया है। उनकी बात सुनने के बाद, जब मैंने उनसे पूछा कि हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में और अधिक वृद्धि करने के लिए क्या उन्होंने कोई योजना बनाई है तो इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि अगले वर्ष हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वे कमी करने जा रहे हैं। उनका यह उत्तर सुनकर मैं कुछ हैरान रह गया। मैंने पूछा, "क्यों?" उन्होंने उत्तर दिया, "सोवियत सरकार को हर एक नागरिक को रोज़गार उपलब्ध कराना होता है। मैं हिंदी इसलिए पढ़ाता हूं ताकि प्रशिक्षण के बाद हिंदी पढ़ने वाले प्रत्येक विद्यार्थी को दुभाषिए का या अन्य कोई काम मिल सके।" उनका यह भी कहना था कि वे रूसी प्रतिनिधि मंडल के साथ रूसी-हिंदी दुभाषिए को हिंदुस्तान भेजते हैं, लेकिन हिंदुस्तान में विभिन्न संस्थानों के अधिकारी रूसी प्रतिनिधि मंडल के साथ रूसी या हिंदी में बातचीत करने की बजाय अंग्रेज़ी में बात करना प्रारंभ कर देते हैं। इस परिस्थिति में रूसी-हिंदी दुभाषिए के स्थान पर रूसी-अंग्रेज़ी दुभाषिए की ज़रूरत महसूस होने लगती है। इसलिए, रूसी-हिंदी दुभाषियों की संख्या में कमी करनी होगी। दूसरी तरफ रूसी-अंग्रेज़ी दुभाषियों की संख्या में वृद्धि करनी होगी। प्रो० महोदय ने इस बात पर ज़ोर दिया कि विदेशों में हिंदी का प्रसार करने से पहले भारत में इसके समुचित प्रसार की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

विदेशों में काम करने वाले भारतीय राजनयिक जब कभी वहां के जनसमूह या इक्के-दुक्के नागरिकों के सामने बोलते हैं तो स्थानीय भाषा की जानकारी न होने पर वे अकसर अंग्रेज़ी में बात करते हैं और दुभाषिया वहां के लोगों के सामने बात का स्थानीय भाषा में अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। मैं स्वयं भी इस व्यसन का शिकार था। भारत के गणतंत्र दिवस पर अथवा अन्य अवसर पर जब कभी सोवियत जनसमूह के सामने मुझे बोलना होता था तो अंग्रेज़ी में बोलता और हमारे दूतावास का दुभाषिया या कोई सोवियत नागरिक मेरी बात का स्थानीय भाषा में अनुवाद करता था। एक बार

मुझे एक बहुत बड़े विद्यार्थी समूह के सामने बोलना था। उस दिन दूतावास का अंग्रेज़ी-रूसी दुभाषिया अवकाश पर था और केवल हिंदी-रूसी दुभाषिया ही दफ्तर में आया था। जब मैं भाषण प्रारंभ करने जा रहा था तो हिंदी-रूसी दुभाषिए ने मुझसे कहा कि वह अंग्रेज़ी अच्छी तरह नहीं समझता, इसलिए मीटिंग में मैं अंग्रेज़ी की बजाय हिंदी में बोलूं। मैंने सोचा कि यदि मैं हिंदी में बोलूंगा तो मेरी बात को वे रूसी नागरिक, जो अंग्रेज़ी समझ सकते हैं, सीधा नहीं समझ पाएंगे। फिर मुझे ख्याल आया कि दुभाषिए को मेरी बात रूसी में अनुवाद तो करनी ही है, इसलिए कुछ लोग अंग्रेज़ी में मेरी बात नहीं समझ पाएंगे तो वे इस बात को रूसी में समझ लेंगे। यह सोचकर मैंने निर्णय ले लिया कि सभा के सामने मैं अपनी बात हिंदी में ही कहूंगा। विद्यार्थियों के सामने मैंने अपनी बात इस प्रकार कहनी प्रारंभ की, "आप शायद सोच रहे होंगे कि मैं आपके सामने अंग्रेज़ी में बोलूंगा, लेकिन मैं आपके सामने हिंदी भाषा में बोलने जा रहा हूं ताकि आप यह सुन सकें कि हिंदी भाषा सुनने में कानों को कैसी मधुर लगती है।" दुभाषिए द्वारा इतनी बात का अनुवाद करते ही सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। मुझे पहली बार अनुभव हुआ कि हम लोग भारतीय भाषा बोलने की बजाय अंग्रेज़ी बोलकर कितनी बड़ी ग़लती करते हैं। वस्तुत: विदेशी लोग हमें हमारी अपनी भाषा में सुनना चाहते हैं और हमें अपने राष्ट्रीय लिबास में देखना ज्यादा पसंद करते हैं।

लिबास की बात आ ही गयी है तो चलते-चलते लिबास की एक घटना भी बता देता हूं। एक बार मैं ताशकंद (उज़बेकिस्तान) में भारतीय विद्यार्थियों से मिलने के लिए गया हुआ था। मैंने विद्यार्थियों से कहा, "मुझे मालूम है कि भारत और रूस के परस्पर घनिष्ठ मैत्री-संबंध हैं, लेकिन मुझे इसके लिए कोई ऐसा प्रमाण चाहिए जो आपकी नज़र में आया हो।" एक विद्यार्थी ने मुझे बताया कि भारतीय महिलाओं की विशेष पहचान उनकी साड़ी है। यदि कोई रूसी ड्राइवर रात्रि होने पर साड़ी में किसी भारतीय महिला को सड़क पर वाहन के इंतज़ार में खड़े देख लेता है तो प्राय: वह उस महिला को उसकी मंजिल तक पहुंचाने में अपनी सेवाएं देने में तत्पर दिखाई देता है। भारतीयों के प्रति रूसियों की ऐसी उदारता को देखकर रूसियों की सद्भावना को प्राप्त करने के लिए पाकिस्तानियों और बंगलादेशियों ने भी अपने आपको भारतीय नागरिक बताना शुरू कर दिया है। क्योंकि हिंदुस्तानियों, पाकिस्तानियों और बंगलादेशियों की शक्ल-सूरत में बहुत अंतर नहीं है, इसलिए रूसी उनकी अलग पहचान नहीं कर पाते और भारतीयों का नाम लेकर अन्य देशों के विद्यार्थी भी भारतीयों के प्रति रूसी सद्भावना का लाभ उठाने में सफल हो जाते हैं।

□

हिंदी की वैश्विकता के लिए कुछ संभावनाएं

डॉ० कमल किशोर गोयनका

हिंदी के जाने-माने लेखक और प्रेमचंद साहित्य के विद्वान डॉ० कमल किशोर गोयनका का मानना है कि भारत सरकार और हिंदी से जुड़ी अन्य सभी संस्थाओं / व्यक्तियों को अब हिंदी के वैश्विक रूप को स्थापित करने के लिए परम अग्रता प्रदान करते हुए विशेष प्रयत्न करने होंगे। इसके लिए उन्होंने कई व्यावहारिक सुझाव भी दिए हैं।

अपनी हिंदी जन्म-भूमि या हिंदी प्रदेश में रहते हुए अथ्वा दिल्ली में रहते हुए हिंदी का अध्ययन-अध्यापन करते हुए, विश्व हिंदी भाषा और साहित्य की मूलभूत समस्याओं के स्वरूप तथा उनके समाधान के बारे में कोई वैज्ञानिक समाधान निकालना प्राय: कठिन ही होगा। अत: इसके लिए उपयुक्त स्थिति यह होगी कि विभिन्न देशों में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन करने वाले भारतीय-अभारतीय अध्यापक, हिंदी लेखक तथा हिंदी-प्रेमी समाज के कुछ प्रतिनिधि एक या दो वर्ष में एकत्र हों और विदेशों में हिंदी भाषा के शिक्षण एवं प्रचार-प्रसार के साथ हिंदी साहित्य को भी प्रचारित करने पर गंभीरता से विचार-विमर्श करें और निश्चित लक्ष्यों को अर्जित करें। भारत में ही जब उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम के प्रदेशों में हिंदी भाषा के शिक्षण की समस्याओं पर विचार होता है तो क्षेत्र के अनुरूप उनकी कुछ विशिष्ट समस्याएं भी सामने आती हैं। इसी प्रकार मॉरीशस और जापान के छात्रों को हिंदी सिखाने पर

कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं। आज जब लंदन में छठा विश्व हिंदी सम्मेलन हो रहा है, तब हमें इसका सदुपयोग करते हुए विश्व हिंदी भाषा और साहित्य की कुछ मूलभूत समस्याओं पर विचार करना चाहिए और उनके समाधान का प्रयत्न होना चाहिए।

लिपि और शब्दकोश

हिंदी में कई विद्वानों और संस्थाओं ने हिंदी की देवनागरी लिपि को एकरूप देने का प्रयत्न किया है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने कुछ समय पूर्व हिंदी की मानक लिपि तैयार की थी, लेकिन अभी तक एकरूपता सर्वस्वीकृत नहीं हो पाई है। विदेशी छात्रों के लिए एक मानक लिपि होनी चाहिए तथा उसी लिपि में उनकी पाठ्य-पुस्तकें, सहायक पुस्तकें, शब्दकोश, कैसेट्स आदि उपलब्ध होने चाहिएं। प्रो० रामप्रकाश तथा डॉ० गंगादत्त शर्मा ने मॉरीशस में जाकर वहां के बच्चों के लिए हिंदी की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं जो वहां काफी वर्षों तक चलती रहीं। इंग्लैंड में रहने वाले सिविल इंजीनियर वेद मित्र ने इंग्लैंड में जन्मे भारतीय मूल के बच्चों और प्रवासी भारतीयों के लिए हिंदी सीखने-सिखाने के लिए चार खंडों में 'समूची हिंदी शिक्षा' लिखी और प्रकाशित कराई। डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने इसकी भूमिका में इस प्रयास की बड़ी सराहना की है। वेद मित्र लगभग 18-19 वर्षों से लंदन की 'हिंदू सोसाइटी' में अनेक देशों से आये बच्चों को हिंदी पढ़ा रहे हैं। इसी प्रकार जापानी भाषा के विशेषज्ञ और पूर्व प्रोफेसर सत्यभूषण वर्मा ने जापान में रहकर 'जापानी-हिंदी शब्दकोश' बनाया जो सन् 1994 में जापान में छपा। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक विदेशी भाषा के भारतीय विद्वानों को एकत्र करके उस भाषा में हिंदी के शिक्षण के लिए पाठ्य-पुस्तकें तुरंत तैयार की जानी चाहिएं। ऐसे संगठित प्रयास अभी तक नहीं हुए हैं। जो कुछ भी हुए हैं, निजी स्तर पर ही हुए हैं। इसी प्रकार हिंदी-जापानी जापानी-हिंदी, हिंदी-चीनी, चीनी-हिंदी, हिंदी-रूसी, रूसी-हिंदी, हिंदी-फ्रेंच, फ्रेंच-हिंदी आदि शब्दकोशों का निर्माण जरूरी है जिससे विदेशी भाषा-भाषी हिंदी तथा हिंदीभाषी इन भाषाओं को सीख सकें। इस संदर्भ में यह भी आवश्यक है कि हिंदी सीखने वाले छात्रों के लिए हिंदी में छोटी-छोटी सहायक पुस्तकें भी उपलब्ध होनी चाहिएं। ये पुस्तकें इन छात्रों में हिंदी की पठनीयता की वृद्धि ही नहीं करेंगी, बल्कि हिंदी-संसार को भी जान सकेंगी।

हिंदी परीक्षाओं की व्यवस्था

भारत से बाहर जिन देशों में हिंदी का शिक्षण हो रहा है, वहां इन छात्रों की समुचित परीक्षा की व्यवस्था का कोई केंद्रीय संगठन अभी तक बन नहीं पाया है।

मॉरीशस की अपनी यात्राओं के दौरान वहां की कुछ हिंदी प्रचार संस्थाओं ने मुझसे संपर्क किया और चाहा कि मैं किसी सरकारी/अर्द्धसरकारी संस्था/अकादेमी या विश्वविद्यालय से संपर्क कराऊं जो उनके छात्रों की मॉरीशस में परीक्षा लें और प्रमाण-पत्र दें। वे हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद से जुड़े थे और किन्ही कारणों से परिवर्तन चाहते थे। मैंने केंद्रीय हिंदी निदेशालय, केंद्रीय हिंदी संस्थान, वर्धा की हिंदी प्रचार सभा आदि से संपर्क किया तथा इनकी नियमावली मॉरीशस भिजवाई, लेकिन अभी तक कोई संतोषजनक व्यवस्था नहीं हो पाई है। मुझे लगता है कि केंद्रीय सरकार को अब भारतेतर हिंदी छात्रों के शिक्षण और परीक्षा के लिए कोई स्वतंत्र व्यवस्था करनी चाहिए जो दिल्ली विश्वविद्यालय से भी संबद्ध हो सकती है। विश्व के अनेक देशों में हिंदी पढ़ने वाले छात्रों के लिए कोई केंद्रीय व्यवस्था आवश्यक है। इसी को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने वर्धा में महात्मा गांधी हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना की है। इसका कार्यालय अभी नई दिल्ली में है और इसका प्रारूप, पाठ्यक्रम आदि निर्माण की प्रक्रिया में हैं।

विश्व हिंदी सम्मेलन एवं हिंदी पुस्तक-प्रदर्शनियां

विश्व हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के लिए देश-विदेश में विश्व हिंदी सम्मेलनों तथा हिंदी पुस्तक-प्रदर्शनियों का आयोजन बहुत आवश्यक है। विश्व हिंदी सम्मेलन का छठा अधिवेशन 14-18 सितंबर, 1999 को लंदन में हो रहा है। इससे पूर्व ये अधिवेशन मॉरीशस, त्रिनिडाड आदि देशों में हो चुके हैं। इन अंतरराष्ट्रीय अधिवेशनों की प्रमुख उपयोगिता यह है कि विश्व के हिंदी लेखक, अध्यापक एवं हिंदी-प्रेमी एक स्थान पर मिल सकते हैं और भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा विकास की प्रमुख समस्याओं पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। मॉरीशस में दो बार होने वाले विश्व हिंदी सम्मेलनों में हिंदी के अधिकांश प्रतिष्ठित लेखकों ने भाग लिया लेकिन वहां के हिंदी लेखक अभिमन्यु अनत के अनुसार इस हिंदी-तीर्थ का हिंदी की वैश्विकता के लिए समुचित उपयोग नहीं हो सका। इन विश्व सम्मेलनों में प्राय: उन विद्वानों को जाना चाहिए जो देश-विदेश में हिंदी शिक्षण तथा उसके प्रचार-प्रसार से जुड़े हैं तथा इस क्षेत्र में सक्रियता से काम कर रहे हैं। लंदन में होने वाले विश्व हिंदी सम्मेलन का केंद्रीय विषय 'हिंदी और भावी पीढ़ी' हैं। विषय सर्वथा उपयुक्त है, पर हमें यह देखना है कि इस विषय पर किस प्रकार से विचार-विमर्श होता है तथा क्या निष्कर्ष सामने आते हैं। मेरे विचार में मॉरीशस, अमेरिका, इंग्लैंड, नार्वे, जापान आदि देशों में क्षेत्रीय हिंदी सम्मेलन भी होने चाहिएं। इससे उस क्षेत्र के हिंदी अध्ययन-अध्यापन पर गंभीरतापूर्वक विचार हो सकेगा। इन सभी हिंदी सम्मेलनों में हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की प्रदर्शनी भी आवश्यक है। अभी तक

मॉरीशस जैसे देश में भी हिंदी पत्र-पत्रिकाएं तथा हिंदी पुस्तकें बहुत कम पहुंचती हैं और वहां के हिंदी लेखक, छात्र तथा अध्यापक बहुत कम इस दुनिया के बारे में जान पाते हैं। इस दृष्टि से सरकारी और गैरसरकारी स्तरों पर कई प्रकार से प्रयास करने की आवश्यकता है।

हिंदी शोध-केंद्रों एवं पुस्तकालयों की स्थापना

हिंदी के वैश्विक रूप के लिए विभिन्न देशों में हिंदी शोध-केंद्रों तथा उनसे संबद्ध पुस्तकालयों की स्थापना होनी चाहिए। मॉरीशस में महात्मा गांधी संस्थान तथा मॉरीशस विश्वविद्यालय में यह स्थापना हो सकती है। इसी प्रकार अमेरिका में किसी एक विश्वविद्यालय में, लंदन में, जर्मनी, नार्वे, रूस, चीन, जापान, लंका आदि देशों में इसी प्रकार के केंद्रों की स्थापना से हिंदी को विश्वव्यापी बनाने में बड़ा सहयोग मिलेगा। इस समय विभिन्न देशों में हिंदी प्रोफेसर, लेखक तथा दूतावासों में हमारे हिंदी अधिकारी कार्यरत हैं। इन्हें इन शोध-केंद्रों का दायित्व सौंपा जा सकता है। ये एक प्रकार से हिंदी के अध्ययन-अध्यापन के भी केंद्र होंगे तथा समय-समय पर हिंदी से संबद्ध विभिंन्न कार्यक्रम भी कर सकेंगे। आज मॉरीशस, अमेरिका, इंग्लैंड, चीन, जापान आदि देशों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन के केंद्र हैं, उनके लिए अनेक हिंदी अध्यापक एवं लेखक पुस्तकें देने को तैयार हैं, लेकिन उन्हें उन देशों तक भेजने की कोई व्यवस्था नहीं है। मेरे विचार में भारत में इन देशों के राजदूतावासों को निःशुल्क प्राप्त हिंदी की इन पुस्तकों को अपने-अपने देश के हिंदी केंद्रों को भेजने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी व्यवस्था के अंतर्गत अमेरिका की पत्रिकाएं—*विश्व विवेक*, *सौरभ*, *विश्वा*, मॉरीशस की *वसन्त*, *रिमझिम*, *इन्द्रधनुष*, *आक्रोश*, इंग्लैंड की *पुरवाई*, नार्वे की *शान्तिदूत*, *स्पाइल* (दर्पण) आदि पत्रिकाओं की भी भारत में वितरित करने की नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। अभी स्थिति शोचनीय है। ये पत्रिकाएं बहुत कम संख्या में आती हैं और वह भी नियमित नहीं हैं। भारत के हिंदी लेखक एवं अध्यापक तथा हिंदी-प्रेमी इससे सर्वथा अपरिचित ही रहते हैं कि मॉरीशस, अमेरिका, इंग्लैंड, जापान, चीन आदि देशों में हिंदी में क्या लिखा जा रहा है। इससे विश्व हिंदी का अहित ही होता है क्योंकि यह अज्ञानता दूरियां ही बढ़ाती है।

भारत बुक-क्लब की स्थापना

भारत से बाहर प्रायः सभी देशों में भारतीय प्रवासियों ने अपनी संस्थाएं बनाई हुई हैं और अनेक संस्थाओं ने तो मंदिरों की भी स्थापना की है। ये भारतीय संस्थाएं भारतीयता की केंद्र हैं तथा धर्म, संस्कृति, दर्शन, कला, भाषा तथा साहित्य आदि के

प्रचार-प्रसार की भी केंद्र हैं। अमेरिका, इंग्लैंड, मॉरीशस आदि देशों में ऐसी संस्थाएं बड़ी सक्रिय हैं तथा असंख्य भारतीय परिवार इनके सदस्य हैं। ये भारतीय परिवार अपने बच्चों को भारत के ज्ञान-विज्ञान तथा भाषा-साहित्य से परिचित कराना चाहते हैं और इसके लिए मेरा प्रस्ताव है कि इन्हें अपनी संस्थाओं में, 'भारत बुक क्लब', की स्थापना करनी चाहिए। इस 'बुक-क्लब' से धर्म, संस्कृति, दर्शन, भाषा तथा साहित्य की भारतीय पुस्तकें उपलब्ध हो सकेंगी और ये भारतीय हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं में भी भारतीय पुस्तकें प्राप्त कर सकेंगे। इन बुक-क्लबों से हिंदी भाषा और साहित्य की नवीनतम पुस्तकें, शब्दकोश तथा बच्चों का उपलब्ध साहित्य सभी प्राप्त किया जा सकता है। यदि इन देशों में रहने वाले भारतीय प्रवासी इसका प्रयोग करके देखें तो 'पुस्तकों' के रूप में भारत का नवीनतम रूप उन्हें सुलभ होता रहेगा।

विदेशों में रचे हिंदी साहित्य का महत्त्व एवं मान्यता

भारत के बाहर मॉरीशस, फीजी, इंग्लैंड, अमेरिका, नार्वे, जर्मनी, चीन, रूस, कोरिया, जापान आदि देशों में भारत मूल के अनेक हिंदी लेखक अनेक वर्षों से हिंदी में कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, लघुकथा, नाटक, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में साहित्य की रचना कर रहे हैं। इनमें तीन प्रकार के हिंदी लेखक हैं—भारत-वंशी लेकिन जिनका जन्म इन देशों में हुआ है जैसे मॉरीशस के अभिमन्यु अनत, पूजानन्द नेमा, रामदेव धुरन्धर आदि; दूसरे प्रकार के वे जो कुछ समय पहले भारत से जाकर इन देशों में बस गए हैं, जैसे इंग्लैंड में ओंकारनाथ श्रीवास्तव, दिव्या माथुर, उषा सक्सेना, पद्मेश गुप्त आदि तथा तीसरे प्रकार के वे हैं जो इन देशों के मूल निवासी हैं, जैसे इंग्लैंड के डॉ० रुपर्ट स्नैल तथा जापान के प्रो० के० दोई आदि। इस साहित्य के महत्त्व के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि मॉरीशस के प्रसिद्ध हिंदी लेखक अभिमन्यु अनत की अब तक पचास पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हो चुकी हैं। मॉरीशस के हिंदी लेखकों की अब तक 650 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इधर विगत दस वर्षों में इंग्लैंड और अमेरिका के हिंदी लेखकों की भी लगभग 40 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इंग्लैंड में पूर्व भारतीय उच्चायुक्त डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, अमेरिका के वेद प्रकाश वटुक, चन्द्रप्रकाश सिंह, राम चौधरी, कोरिया में रहे दिविक रमेश, चीन में रहे ओम्प्रकाश सिंहल, मॉरीशस के अभिमन्यु अनत, राजेन्द्र अरुण, प्रहलाद रामशरण आदि ने हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने अपने कार्यकाल में हिंदी के प्रसिद्ध लेखक डॉ० कन्हैयालाल नन्दन, रमानाथ अवस्थी, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, जगदीश चतुर्वेदी, कुसुम अंसल, सुनीता जैन आदि को इंग्लैंड आमंत्रित किया और इससे वहां हिंदी समाज को बड़ा बल मिला। ऐसा ही महत्त्वपूर्ण कार्य मॉरीशस के अभिमन्यु

अनत ने किया और हिंदी के प्रतिष्ठित लेखकों को बुलाकर अपने देश के हिंदी लेखकों एवं छात्रों से सीधा संवाद कराया। इस आदान-प्रदान के साथ विदेशों में रचे हिंदी साहित्य के महत्त्व की स्थापना भी आवश्यक है। भारत के विश्वविद्यालयों में इस हिंदी साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों को पाठ्यक्रम में लगाया जाना चाहिए तथा 'मॉरीशस का हिंदी साहित्य' 'अमेरिका का हिंदी साहित्य' 'इंग्लैंड का हिंदी साहित्य' जैसे पाठ्यक्रम बनाकर विशेष अध्ययन-अध्यापन के द्वार खोलने चाहिएं। दिल्ली विश्वविद्यालय के बी०ए०(पास) की परीक्षा में अभिमन्यु अनत का उपन्यास 'शब्द-भंग' विगत कई वर्षों से पढ़ाया जा रहा है, परंतु यह मात्र आरंभ है। इस ओर कई दृष्टि से प्रयास करने की आवश्यकता है। इन साहित्यकारों को भारत बुलाया जाते रहना चाहिए और इस प्रवासी साहित्य और साहित्यकारों को पुरस्कृत किया जाते रहना चाहिए। अभी तक मॉरीशस के अभिमन्यु अनत, फीजी के विवेकानन्द शर्मा आदि लखनऊ, आगरा, दिल्ली आदि की साहित्यिक संस्थाओं से पुरस्कृत हुए हैं, परंतु अभी बड़ी संख्या में ऐसे प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्यकार हैं जिन्हें भारत बुलाकर सम्मानित किया जाना है। इसके साथ ही इन प्रवासी हिंदी साहित्यकारों की हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन की भी कोई समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। के०के० बिड़ला फाउंडेशन कई वर्षों से मॉरीशस की दो हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए अनुदान देती है, परंतु इस दृष्टि से सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाओं के द्वारा अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

अंत में, हिंदी भाषा और साहित्य के विश्वव्यापी प्रचार तथा प्रसार के लिए भारत के हिंदी समाज तथा केंद्रीय एवं प्रांतीय हिंदी सरकारों तथा अन्य हिंदी संस्थाओं को सक्रिय रूप से सामने आना होगा। आज हिंदी भाषा एवं साहित्य वैश्विक रूप ले चुका है और भारत से बाहर जो हिंदी समाज है वह भी उत्साहित और सक्रिय है। खतरा और जो रुकावटें हैं, वे हमारे अंदर ही हैं, भारत में। भारत में ही जब हिंदी उपेक्षित है, तब वैश्विक हिंदी भाषा और साहित्य के लिए हम क्या कर सकते हैं? फिर भी हमें अपने देश की परिस्थितियों से लड़ते हुए हिंदी के वैश्विक रूप को निरंतर सबल और संगठित करना है। इस दृष्टि से किसी एक व्यक्ति, एक पत्रिका, एक संस्था का प्रयास भी महत्त्वपूर्ण है। सरकार की ओर देखे बिना हमें हिंदी भाषा और साहित्य के चिरजीवन के इस महायज्ञ में अपनी आहुति देनी होगी और इसके विकास के लिए हर संभव प्रयास करने होंगे। इक्कीसवीं शताब्दी आरंभ होने वाली है। हम संकल्प लें कि इक्कीसवीं शताब्दी में हम हिंदी भाषा और साहित्य का विश्वव्यापी रूप और भी मजबूत करेंगे और भारत की भारतीयता को विश्व-मानव के उपयोग के लिए सुलभ बनाएंगे।

□

हिंदी की पगडंडियों में मिली रामायण को मंज़िल : लल्लन प्रसाद व्यास

ममता वाजपेयी

हिंदी के अनन्य सेवी लल्लन प्रसाद व्यास ने हिंदी के महाग्रंथ 'रामचरित मानस' पर विस्तृत कार्य किया है। इस क्षेत्र में उनके विस्तृत अनुभवों का ताना-बाना इस साक्षात्कार में प्रकट हो रहा है। वे प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन से ही इन आयोजनों से जुड़े रहे हैं।

अंतरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन के अध्यक्ष तथा विश्व साहित्य संस्कृति संस्थान के महासचिव श्री लल्लन प्रसाद व्यास ने लखनऊ के 'स्वतंत्र भारत' अखबार के उप संपादक के रूप में पत्रकारिता प्रारंभ की। सन् 1961 में उन्होंने दैनिक 'तरुण भारत' की स्थापना की तथा 1962 में प्रतिष्ठित हिंदी पत्रिका 'ज्ञानभारती' के संपादक बने। वर्तमान में भी वे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसार पाने वाली पत्रिका 'विश्व हिंदी दर्शन' का संपादन कर रहे हैं। श्री व्यास 13 पुस्तकों के लेखक हैं, जिनमें 'रामायण का विश्वव्यापी व्यक्तित्व', 'सांस्कृतिक दूत', 'विश्व हिंदी की यात्रा', 'एक मुसाफिर एक दुनिया' आदि प्रमुख हैं। बच्चों के लिए चार पुस्तकें लिखने के अलावा आपने साहित्य, संस्कृति तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर सैंकड़ों लेख लिखे हैं, जो देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

श्री व्यास ने विश्व साहित्य संस्कृति संस्थान के तत्वावधान में सन् 1984 में पहला अंतरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन आयोजित किया, जो भारत में रामकथा से जुड़े स्थलों पर सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् विश्व के 12 अन्य देशों में अब तक 14 अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित कर चुके श्री व्यास अनेक देशों की कई बार यात्राएं कर चुके हैं। अनेक देशों में अंतरराष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठियों का आयोजन भी किया है। प्रस्तुत है उनके साथ सुश्री ममता वाजपेयी की एक बातचीत।

हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य में आपकी भूमिका का बीजारोपण किस प्रकार हुआ है?

सन् 1963 में जब राजभाषा विधेयक केंद्र ने पारित किया, जिसमें अंग्रेजी अनंतकाल तक दूसरी राजभाषा बना ली गयी, लेकिन व्यवहार में उसे प्रमुखता मिली, उस समय हमें लगा, जो विरोध देश भर से होना चाहिए था इस संदर्भ में, वो नहीं हुआ। उस समय मैं, लखनऊ में, 'ज्ञान भारती' नामक एक प्रमुख साहित्यिक पत्रिका का संपादक था। तो हमने पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के सहयोग से डॉ० गोविन्ददास से बातचीत करके राष्ट्रभाषा सम्मेलन लखनऊ में आयोजित किया। उसमें देश के प्रमुख साहित्यकार यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, संपादकाचार्य पं० अंबिका प्रसाद वाजपेयी, सोहनलाल द्विवेदी, पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र जैसे बड़े-बड़े दिग्गज शामिल हुए थे। पं० सोहन लाल द्विवेदी ने कहा था कि यह तो गांधीजी और मालवीयजी के समय होने वाले हिंदी साहित्य सम्मेलनों की याद ताजा कर गया। यह कार्यक्रम दो दिन का था। इसमें प्रख्यात राजनेता और विचारक पं० दीनदयाल उपाध्याय भी आये थे। उनसे जब हमने बोलने का निवेदन किया तो उन्होंने कहा, ये विद्वानों का कार्यक्रम है, हम मात्र श्रोता के तौर पर सुनेंगे। तो जहां पं० दीनदयाल उपाध्याय श्रोता के तौर पर उपस्थित हों, उससे कार्यक्रम की सफलता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस कार्यक्रम से बड़ा आत्मबल मिला। सेठ गोविन्ददास ने तो कार्यक्रम की सफलता के बाद राष्ट्रभाषा सम्मेलनों की एक श्रृंखला ही चला दी थी। यहीं से मेरे जीवन में हिंदी के कार्य का बीजारोपण हुआ।

क्या यहीं से प्रेरित होकर विश्व हिंदी सम्मेलन की भूमिका बनी? पहले विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन से आप कैसे जुड़े तथा इसका क्या उद्देश्य था?

सन् 1974 में विनोबाजी के आशीर्वाद से तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिराजी की स्वीकृति से विश्व हिंदी सम्मेलन की रूपरेखा बनाई गयी। इसमें प्रमुख भूमिका

श्री अनंतगोपाल शेवड़े जी की थी। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उनके साथ जुड़कर हिंदी के कार्य को आगे बढ़ाऊं। उनके कहने पर मैं इससे जुड़ा। सन् 1975 में नागपुर में आयोजित हुए इस पहले विश्व हिंदी सम्मेलन का उद्देश्य था कि हिंदी में जो ठहराव आ गया है; राजभाषा और राष्ट्रभाषा होते हुए भी हिंदी वालों में जो निराशा व कुंठा का वातावरण बन गया है, उसे दूर किया जाए और सभी भारतीय भाषाओं के सहयोग से हिंदी के कार्य को आगे बढ़ाया जाए। हिंदी प्रेम की भाषा है और सब भाषाओं के सहयोग के साथ उनकी भगिनी के रूप में चल रही है या चलना चाहिए। इस प्रकार का दर्शन उस सम्मेलन में व्यक्त हुआ—व्यवहार से भी, विचारों से भी। इसके अलावा जो मान्य भारतीय भाषाएं हैं, उनके प्रमुख साहित्यकारों का इस हिंदी के मंच से सम्मान किया गया। ये महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि सभी भारतीय भाषाओं में हिंदी के साथ सद्भावना का अनुभव किया गया। पहली बार ऐसा अंतरराष्ट्रीय मंच मिला—आप्रवासी भारतीयों के माध्यम से हिंदी की धारा को जो कि, हिंदी प्रेम के कारण पढ़ रहे हैं या पढ़ा रहे हैं, वो धारा और भारत की निजी धारा—तो इन सभी धाराओं का संगम था इसमें 29 देशों के माध्यम से। इस आयोजन को हिंदी का महाकुंभ कहा गया। बड़े-बड़े साहित्यकार सोहनलाल द्विवेदी, श्याम लाल पार्षद आदि उपस्थित थे। इस सम्मेलन की अध्यक्षता मॉरीशस के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम ने की थी और उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया था। उसी सम्मेलन में पहली बार यूनेस्को के डायरेक्टर जनरल ने ये घोषणा विश्व मंच से की थी कि हिंदी विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा है। उसी सम्मेलन में आचार्य काका कालेलकर भी उपस्थित थे, जिन्होंने ये सिद्ध किया था कि तीसरी नहीं, बल्कि देखा जाए तो अंग्रेजी बोलने वालों की संख्या जितनी बतायी जा रही है, वो वस्तुतः उतनी नहीं है, हिंदी की संख्या अधिक है। चीनी भाषा को नंबर एक भाषा माना जा रहा है, लेकिन एक भाषा होते हुए भी उसकी उपभाषाएं इतनी अलग-अलग हैं कि एक-दूसरे की भाषा को लोग आपस में समझ नहीं पाते, फिर कैसे एक भाषा हुई? तो उन्होंने हिंदी को विश्व की सबसे बड़ी भाषा सिद्ध किया। इसका इतना व्यापक प्रभाव हुआ कि मॉरीशस के प्रधानमंत्री ने वहीं पर अगला विश्व हिंदी सम्मेलन अपने यहां कराने की घोषणा की और डेढ़ वर्ष बाद सन् 1976 में दूसरा विश्व हिंदी सम्मेलन मॉरीशस में हुआ। जब विश्व भाषा हिंदी है तो राष्ट्रभाषा तक ही नहीं, विश्वभाषा प्रकट होनी चाहिए, इसलिए मॉरीशस का आयोजन हिंदी के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हिंदी का दर्शन क्या है?

हिंदी केवल भाषा का प्रचार नहीं है, उसका एक दर्शन है। वो दर्शन है भारतीय संस्कृति का। हिंदी जिस भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, वो अन्य भारतीय

भाषाएं नहीं। जैसे संस्कृत है या अन्य दूसरी भारतीय भाषाएं। तो इनमें हिंदी की भूमिका उत्तराधिकारिणी के रूप में नजर आती है।

विश्व हिंदी सम्मेलन से जुड़कर अंतरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन से जुड़ने की भूमिका कैसे बनी?

हिंदी की पगडंडियों पर चलते-चलते रामायण को मंजिल मिल गई। बिना संस्कृति से जुड़े किसी भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है। हिंदी की संस्कृति क्या है—भारत की संस्कृति है। भारत की संस्कृति अगर सही ढंग से व्यक्त हो सकी है तो रामायण के माध्यम से। राम धर्म और संस्कृति के साक्षात विग्रह हैं। उनका जीवन भारतीय संस्कृति की परिभाषा है। भारतीय संस्कृति के बड़े-बड़े ग्रंथ पढ़ने की जरूरत नहीं है। राम का जीवन पढ़ लीजिए—उनसे जुड़ी उनकी पत्नी सीता, भरत, लक्ष्मण, उनके भाई, हनुमान, उनके सेवक इस प्रकार के चरित्रों के माध्यम से भारतीय संस्कृति स्पष्ट होती है।

इसके लिए आपको प्रेरणा कैसे मिली?

सन् 1964 में मैं पहली बार थाईलैंड गया, बर्मा होते हुए। वहां से अवसर मिला अन्य देशों के भ्रमण का—वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, जापान, इंडोनेशिया, मलेशिया आदि। इन सब देशों में मुझे लगा कि ये भारत से जुड़े हुए देश हैं। इन सब देशों के साथ भारत का संबंध इतिहास में तो अच्छा था, लेकिन वो प्रकट रूप में व्यवहार में नहीं था। हमारी विदेश नीति से जुड़ा नहीं था। तो हमें बहुत विडंबना लगती थी कि ये पड़ोसी देश सांस्कृतिक दृष्टि से इतने निकट होते हुए भी, व्यवहार में उसका दर्शन नहीं होता है। तो हमें एक प्रेरणा हुई। प्राच्य संस्कृति दर्शन के माध्यम से हमने कुछ गोष्ठियां आयोजित कीं विदेशों में भी और अपने यहां भी। उसमें हमें लगा कि सांस्कृतिक संबंधों का सबसे बड़ा माध्यम रामायण है। चाहे मुस्लिम देश हों—पूर्व मलयेशिया, इंडोनेशिया..., चाहे बौद्ध देश हों—लाओस, कम्बोडिया, थाईलैंड और चाहे हिंदू देश हो नेपाल—ये सब रामायण से जुड़े हैं। तो हमने सब देशों की रामायणें एकत्रित कीं, फिर उनका प्रकाशन करके एशियाई रामायण सम्मेलन आयोजित किया—जनवरी 1971 में नई दिल्ली में। 1984 में पहला विश्व रामायण सम्मेलन, दिल्ली में आयोजित किया उसके बाद से श्रृंखला चल पड़ी और अब तक 15 विश्व रामायण सम्मेलन आयोजित हो चुके हैं, 12 देशों में।

हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य और रामायण सम्मेलन का कार्य, ये दोनों आपस में कितने जुड़े हैं?

हिंदी के प्रचार-प्रसार में रामचरित मानस की भूमिका का विशेष महत्त्व है। आपने शायद सुना हो कि 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने के लिए लोग हिंदी सीखते थे, लेकिन इससे कहीं अधिक, सैंकड़ों गुना अधिक लोग रामचरित मानस पढ़ने के लिए

हिंदी पढ़ते थे। पहले लड़की की शादी-ब्याह के समय लड़की शिक्षित हो या नहीं, इससे फर्क नहीं पड़ता था। हां, इतना जरूर पूछा जाता था कि लड़की रामायण बांच लेती है या नहीं? (यहां रामायण का अर्थ रामचरित मानस से ही होता था।) यदि लड़की रामायण पढ़ लेती है तो उस शिक्षा के साथ संस्कार जुड़े होते थे और वो संबंध चलते थे। तो सामाजिक दृष्टि से, सांस्कृतिक दृष्टि से, भाषा साहित्य की दृष्टि से, हिंदी के प्रचार-प्रसार को लेकर रामायण की भूमिका अद्वितीय है। रामचरित मानस के माध्यम से हिंदी की जो सेवा हुई है, उसका अलग पक्ष है और रामायण सम्मेलन से प्रसंगवश हिंदी की सेवा हुई है। रामायण सम्मेलन सार्वभौमिक है। सार्वभौमिकता में हिंदी उतनी ही है, जितनी दूसरी भाषाएं।

विश्व हिंदी सम्मेलनों में तो अब आपकी सक्रिय भूमिका रही नहीं, आपका सारा ध्यान तो रामायण सम्मेलनों की ओर केंद्रित है। तो हिंदी के प्रचार-प्रसार से सीधे तौर पर कैसे जुड़े हैं या फिर इसका कार्य छूट गया है?

हिंदी सम्मेलनों का अपना महत्त्व है, लेकिन उससे ज्यादा महत्त्व है गोष्ठियों का। हिंदी की समस्याओं पर सम्यक् विचार-विमर्श के लिए गोष्ठियां होनी चाहिएं और उसमें निरंतरता होनी चाहिए। 'विश्व हिंदी दर्शन' पत्रिका के माध्यम से सन् 1987 से पहले तीन गोष्ठियां आयोजित हुईं और उसके बाद से निरंतर अंतरराष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठियां कर रहे हैं—विदेशों में भी और भारत में भी। लंदन से हमारी पहली अंतरराष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठी की शुरुआत हुई थी और 17 साल बाद आज वहां छठा विश्व हिंदी सम्मेलन होने जा रहा है।

इन संगोष्ठियों का स्वरूप क्या है?

इसमें राष्ट्रीय एकता के कार्य होते हैं। इसमें सभी भारतीय भाषाओं के प्रमुख लोग प्रतिनिधि के रूप में रहते हैं, विदेशों में रहकर हिंदी की किसी भी विधा में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं, उन्हें हम विश्व हिंदी सम्मान से सम्मानित करते हैं। अब तक विभिन्न देशों के लगभग पचास विशिष्ट विद्वानों को हम सम्मानित कर चुके हैं—जो साहित्य सृजन कर रहे हैं, जो हिंदी का अध्यापन कर रहे हैं, जो शोध-ग्रंथ तैयार करने में सहयोग करते हैं। और तो और, हिंदी प्रसारण के लिए भी हमने बी०बी०सी० रेडियो और जर्मन रेडियो को सम्मान प्रदान किया था। विदेशी लोग जब सम्मानित होकर अपने देश जाते हैं तो वे भारत के लिए वहां अनुकूल वातावरण बनाते हैं।

आज इतने वर्षों बाद भी अंग्रेजी का वर्चस्व बना हुआ है। आम लोगों में हिंदी के प्रति कुंठा क्यों है?

आजादी के बाद के इन वर्षों में भारत के स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सका। राजनीति ज्यादा हावी रही। राजनीति संस्कार नहीं बना सकती, क्योंकि यह सत्ता

से जुड़ी होती है। संस्कार संस्कृति से, सांस्कृतिक जगत से प्राप्त होते हैं। संस्कार न मिलने से हमारी जो नकलची वृत्ति थी, अनुकरण करने की वो बनी रही। गांधीजी कहते थे कि अंग्रेज जाएं तो अंग्रेजियत भी जाए, लेकिन हुआ उसका उल्टा। अंग्रेजी एक अंतरराष्ट्रीय भाषा जरूर है, लेकिन उस अंतरराष्ट्रीय संबंध के लिए हम अपने सारे भारतीय जीवन को उसी पर झोंक दें, ये कोई अच्छी बात नहीं है।

ऐसे क्या प्रयास किए जाएं, व्यक्तिगत व सरकारी स्तर पर, जिससे हिंदी का कार्य आगे बढ़े?

अपनी भाषा पर गर्व करें और इसका प्रयोग शुरू करें। विदेशी लोग हम पर हंसते हैं कि इनकी कोई भाषा नहीं। आजादी के बाद सारा संसार उन्मुख हुआ था भारत की ओर। बहुत से देशों ने हिंदी को श्रेय देना शुरू किया। दूतावास हिंदी में पत्र-पत्रिकाएं निकालते थे लेकिन फिर उन्होंने देखा कि भारत ही अपनी भाषा को महत्त्व नहीं देता तो हमें क्या जरूरत पड़ी है। इसके लिए शासन में जागरूकता आनी बहुत जरूरी है। विभिन्न दूतावासों को पत्र भेजकर कहा जाए कि हिंदी के कार्य को, गांधी के कार्य को, आगे बढ़ाएं, क्योंकि ये भारत सरकार की नीति है और प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट भी भेजें कि उन्होंने हिंदी का क्या कार्य किया तो इससे सारे संसार में हिंदी की जागरूकता दिखायी देगी।

दूसरे, हमारे अंदर देशभक्ति की भावना हो, देश की भाषा के प्रति गर्व हो, हम ये सोचें कि हमारे देश की राजभाषा ही संपर्क भाषा हो सकती है, ये भावना जाग्रत हो। इसके लिए प्रचार हो। ये कारगर तब होगा, जब तथाकथित बड़े लोग व उच्च पदों पर बैठे लोग अपने व्यवहार से इसे पेश करें। आज हमारे देश में चाहे भाषा की समस्या हो, सामाजिक समस्या, आर्थिक समस्या या फिर भ्रष्टाचार से जुड़ी समस्या हो, ये सब इसलिए हैं कि इसकी शुरुआत उच्च पदों से हुई है।

विदेशी संचार माध्यमों के आने से क्या आपको नहीं लगता कि हिंदी पर उसका असर पड़ा है?

दरअसल उनका उद्देश्य उपभोक्तावाद है। कई बार तो लगता है कि वास्तव में व्यक्ति बोल क्या रहा है, न हिंदी न अंग्रेजी, लेकिन इस प्रवृत्ति को मान्यता नहीं मिल सकती। हिंदी अनेकानेक रूप में प्रकट होती है, ये भी एक रूप है। दक्षिण भारत के राज्यों से संस्कृत मिश्रित हिंदी आपको दिखायी देगी तो उत्तर भारत में साहित्यिक हिंदी सुन सकते हैं। हरियाणा और पंजाब की सरल हिंदी होगी तो दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश और हैदराबाद में हिंदी की उर्दू शैली ज्यादा चलेगी। यह हिंदी के व्यापक व्यक्तित्व का परिचायक है। यह उसकी सामर्थ्य है और यही उसकी शक्ति है।

□

प्रवासी भारतीय और रामचरितमानस

डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण

'रामचरितमानस' महाकवि तुलसीदास की अमर कृति है जो अनेक भारतीयों के लिए प्रथम पूजा-ग्रंथ की श्रेणी में विराजमान रही है। मगर 'मानस' उन प्रवासी भारतीयों की मानस-कथा से भी गहरा संबंध रखता है जो ग़रीबी और गुलामी की आड़ में अपनी मातृभूमि को त्यागकर, सात समंदर पार जाने को विवश हुए और अपना 'वनवास' काटने लगे। यहीं वे अपने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के 'समरूप' हुए।

यदि आज भारत से बाहर बसे हुए भारतवंशियों और प्रवासी भारतीयों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन किया जाए तो एक तथ्य आश्चर्यजनक रूप से उद्घाटित होता है कि उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखने में गोस्वामी तुलसीदास की अमर रचना श्रीरामचरितमानस का योगदान अप्रतिम है।

यूं तो भारतीयों के प्रवासी होने के प्रमाण हजारों वर्ष के इतिहास में छिपे हैं लेकिन आज जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका एक निश्चित अर्थ-संदर्भ बन चुका है। दास-प्रथा की समाप्ति के बाद जब अंग्रेजों के विश्व भर में फैले उपनिवेशों में खेतिहर मजदूरों की एकदम कमी हो गई तो उनकी दृष्टि मेहनती भारतीय मजदूरों की ओर गई जो खेती, खासकर गन्ने की खेती, करने में अत्यंत कुशल थे। सन् 1838 में दास-प्रथा का घिनौना क्रम समाप्त हुआ था लेकिन इसी के साथ-साथ एक नई गुलामी की शुरुआत भी अंग्रेजों ने कर डाली जिसे इंडियन इंडेंचर लेबर सिस्टम यानी शर्तबंदी प्रथा के नाम से जाना जाता है। इस प्रथा के सहारे भारत

स्थित औपनिवेशिक सत्ता ने भारतीय खेतिहर मजदूरों को मॉरीशस, गयाना, त्रिनीडाड, सूरीनाम और फीजी जैसे दूरस्थ देशों में भेजना शुरू कर दिया।

भारतीय मानस स्थानीयता से जुड़ा मानस है। वह अपने परिचित परिवेश को छोड़ कहीं और जाने से कतराता रहता है। ऐसी मनःस्थिति वाले भारतीय किसानों को 'सात समंदर पार' भेजना एक दुष्कर कार्य था लेकिन गरीबी और भूख से पीड़ित व्यक्तियों को जब अंग्रेजी सत्ता द्वारा छोड़े गए दलालों (रिक्रूटरों) ने 'गंगा सागर तीर्थ' के पास बसी 'स्वर्ण नगरी' का प्रलोभन देकर कलकत्ता के घाट से सुदूर देशों में भेजना शुरू किया तो यह अमानवीय प्रक्रिया अनेक वर्षों तक चलती रही।

"दीन दुःखी मजदूरों को लेकर था जिस वक्त जहाज सिधारा
चीख पड़े नर-नारी, लगी बहने नयनों से विदा जलधारा।"

(फीजी के कवि—कमलाप्रसाद मिश्र)

जब विदेशों से इन पर किए जाने वाले अत्याचारों की कहानियां भारत पहुंचने लगीं तो हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के नेताओं ने विभिन्न स्तरों पर इसका विरोध किया और अंततः महामना मदनमोहन मालवीय, देशबंधु सी०एफ० एंड्र्यूज, महात्मा गांधी, बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे महान् लोगों के अनवरत प्रयासों और संघर्षों के बाद सन् 1916 में यह प्रथा समाप्त कर दी गई। इन 70-80 वर्षों में लाखों भारतीय किसान-मजदूरों को धोखे से इन ब्रिटिश उपनिवेशों में भेजा जा चुका था। उनमें से कुछ प्रवासी भारतीय भारत लौटने में सफल रहे लेकिन अधिकांश प्रवासी भारतीयों ने अपने आप को नई परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया था और इन्हीं देशों में अपना दूसरा भारत बनाने और बसाने में जुट गए।

नई जिंदगी शुरू करने की यह प्रक्रिया अत्यंत लोमहर्षक और कष्टदायी थी। इन तकलीफों की मार को अनेक लोग सह नहीं पाते थे तो आत्महत्या कर लेते थे। लेकिन अधिकांश प्रवासी भारतीयों का आस्तिक मन प्रभु का स्मरण करते हुए तुलसीदास के शब्द दोहराने लगता था: "जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिए।" विपरीत परिस्थितियों में चोट खाया हुए मन, विरोधों से संघर्ष करता हुआ हताश मन, सारी तार्किक और बौद्धिक चतुराई के बाद भी असफल होता हुआ भारतीय-मन हठात् यह कहकर मन की खोई शक्ति पाने में जुट जाता है: "होहिए वही जेहि राम रचि राखा।" राम की इच्छा के प्रति समर्पित यह भारतीय-मन सदियों से आत्मिक बल और शांति प्राप्त करता आ रहा है। इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि इन प्रवासी भारतीयों के बीच 'मानस' की उपस्थिति ने उन्हें निरंतर आत्मिक, नैतिक और भावनात्मक संबल प्रदान किया है।

इन सभी देशों में भारतीयों के पहुंचने और संघर्ष करने तथा बाद में वहीं बस जाने की कहानी लगभग एक-सी है। इन्हीं के साथ वहां भारत की भाषाओं (मुख्यतः

हिंदी), तीज-त्योहारों, वेशभूषाओं, भोजन एवं व्यंजनों का बीजारोपण भी इन द्वीपों पर हो गया। इन्हीं भारत-पुत्रों की झोली में लाल-तूल के कपड़े में बंधी रामचरितमानस, हनुमान चालीसा, आल्हा-ऊदल, सदाबृज सारंगा जैसी पुस्तकें वहां पहुंचीं और आज तक ये अपना अमिट प्रभाव बनाए हुए हैं।

वस्तुतः इन सबमें सर्वोच्च स्थान सदैव रामचरितमानस का ही रहा। आज डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर हो जाने के बाद भी तुलसी-रामायण का प्रभाव अक्षय है। यहां यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि इन डेढ़ सौ वर्षों में कई प्रवासी द्वीपों से हिंदी भाषा विरल होती चली गई है। आज गयाना और त्रिनीडाड में हिंदी बोलने-समझने वालों की संख्या प्रायः नगण्य-सी हो गई है। मॉरीशस, सूरीनाम और फीजी में अवश्य ही हिंदी भाषा अपने जीवंत रूप से उपस्थित है और इसे जीवंत बनाए रखने का संपूर्ण श्रेय तुलसीदास एवं उनकी रामायण को दिया जा सकता है।

इस पृष्ठभूमि को देखते-समझते मेरे मन में एक प्रश्न सहज ही उठता रहा है कि इन सभी द्वीपों में पहुंचे भारतीयों में 'मानस' क्यों इतना लोकप्रिय हुआ? जबकि अन्य अनेक रचनाएं भी इन प्रवासी भारतीयों के साथ वहां पहुंची थीं। इसी प्रश्न का उत्तर तलाशते मेरे मन में कुछ बातें आती-जाती रही हैं। उन्हीं को यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

'मानस' की मार्मिकता का नियामक तत्त्व राम का वनवास है और वनवास की आज्ञा भी उस समय जब राजतिलक की तैयारी हो रही थी। आशा, निराशा में बदल गई। सारा अवध राम के राजा होने की प्रतीक्षा कर रहा था लेकिन विधाता के मन में कुछ और ही प्रेरणा छिपी थी। मन्थरा द्वारा बरगलाने पर कैकेयी ने राम के वन-गमन की भूमिका तैयार कर दी। क्या कुछ ऐसा ही भारत के इन पुत्रों और पुत्रियों के साथ घटित नहीं हुआ? रिक्रूटरों (दलालों) ने मन्थरा की ही तरह उन्हें बहकाकर, धोखे से कलकत्ता के डिपुओं तक नहीं पहुंचा दिया था? जिस तरह सीता स्वर्ण-मृग की माया से मोहित हो गईं और जीवनपर्यंत कष्ट पाती रहीं, क्या उसी तरह ये प्रवासी भारतीय भी रिक्रूटरों द्वारा चित्रित 'स्वर्ण नगरी' (एल डोराडो) की कहानियां सुनकर भ्रमित नहीं हो गए थे? इसलिए राम के वनवास से इन प्रवासियों का सीधा तादात्म्य स्थापित हो जाता है। राम का वनवास उनका अपना भी प्रत्यक्ष अनुभव था, अतः साधारणीकरण की उर्वर भूमिका मौजूद थी। वनवास के प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त ऐसे अन्य अनेक कारण और तत्त्व हैं जो रामचरितमानस को इन प्रवासी भारतीयों के लिए प्रासंगिक बनाते रहे हैं। इनका जानना भी रोचक होगा।

तुलसीकृत 'मानस' में वर्णित परिवेश इन प्रवासियों का अपना, निज का परिवेश है जिसमें प्रादेशिक, प्राकृतिक, सांस्कृतिक और भाषागत समानताएं इन्हें प्रगाढ़ता के सूत्र में बांध देती हैं। अधिकांश प्रवासी भारतीय संयुक्त प्रांत के अवध एवं भोजपुर क्षेत्र से गए थे। ये जिस मिट्टी में पलकर बड़े हुए थे वह भूमि राम की लीला-

भूमि है। इसलिए उनके जीवन का प्रत्येक स्पंदन राम से जुड़ा हुआ था। 'मानस' में वर्णित देश उनका अपना देश था जिसे हम हिंदी-प्रदेश भी कहते हैं। तुलसीदास उत्तरी भारत और विशेषतः हिंदीभाषी लोगों के प्रदेश को, वहां के भौगोलिक परिवेश, नदियों, वन-प्रांतरों, भाषा और रीति-रिवाजों को, वहां के जन-मानस को, उनके दैन्य और अभावों को, उनके आत्मिक सौंदर्य को भली-भांति पहचानते थे। इस संदर्भ में डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का यह कथन सारगर्भित है कि "हिंदी का शायद ही कोई दूसरा कवि हो जो उत्तरी भारत की प्रकृति और जनता को इतने व्यापक और गहरे तौर पर जानता हो।"

इन भारतीयों को जंगल काटने और फिर वहां गन्ने की खेती करने के लिए ले जाया गया था। इनका जीवन घने जंगलों में गुजरा था। राम के जीवन का भी अधिकांश भाग राजमहलों में नहीं, जंगलों में ही बीता था। उनके चरणों की छाप से अरण्य-भूमि निरंतर अनुरंजित होती रही। बचपन और किशोरावस्था विश्वमित्र के साथ वन में बीता। विवाह उपरांत सीता-लक्ष्मण के साथ चौदह वर्ष का वनवास भोगा। वनवास का यह जीवन भी सरल न था। पहले राक्षसों से विश्वमित्र के यज्ञ की रक्षा की तो बाद में पंचवटी के सुरम्य-जीवन को सीता के हरण ने मर्मभेदी वियोग में बदल दिया। क्या इन प्रवासी भारतीयों का जीवन भी कुछ ऐसे ही नहीं था? अपनी मातृभूमि और अपने परिजनों से हजारों मील दूर इन्होंने कड़ा श्रम करके, जंगलों को काट-छांट कर अपने लिए एक 'पंचवटी' का निर्माण कर लिया था लेकिन औपनिवेशिक व्यवस्था के प्रतीक अंग्रेज खेत मालिक रूपी रावण और उनके कारिंदे रूपी राक्षसों के कारण न तो उनकी 'पंचवटी' सुरक्षित थी और न उनकी अपनी सीता ही:

'रावण' जो कोई आए के 'सीता' के हर लीना।
देख न 'लखन' कोऊ, बेहाल 'हे राम' रोए गिरमिटिया।।

—फीजी की कवयित्री अमर जीत कंवल

उनकी प्राणप्रिया को छलने वाले 'मारीचों' की वहां कोई कमी न थी। उन्हें बार-बार अहसास होता था जैसे उनका दुर्भाग्य राम से अलग नहीं है। राम की मर्मांतक पीड़ा और वियोग जैसे उन्हें उत्तराधिकार में ही मिले हैं और जिसे भोगने के लिए वे अभिशप्त हैं।

ये प्रवासी भारतीय जहां रहते थे, वह प्राकृतिक परिवेश भी उन्हें अपने जैसा ही लगा। वही वन-प्रांतर, नदियां, पहाड़, टीले, खेत-खलिहान, बादल, वर्षा, चांद-सूरज सब कुछ वैसा ही लगा जैसा उन्होंने अपनी मातृभूमि पर जाना, देखा और महसूस किया था। उनकी कुटिया भी पंचवटी जैसी ही थी। वहां की नदियां उन्हें सरयू, गंगा या जमुना जैसी लगीं। त्रिनीडाड की करोनी नदी और फीजी की रेवा नदी को आज भी वहां के लोग उसी आदर और श्रद्धा से देखते हैं। फीजी के महाकवि पं० कमला

प्रसाद मिश्र ने लिखा है-:

यमुना तट की स्मृतियों का चिंतन करके,
मेरे मानस से उमड़ चलो तुम रेवा।

इसी तरह मॉरीशस के सबसे बड़े ताल को गंगा तालाब नाम दिया गया है। त्रिनीडाड के लोग अपनी बड़ी नदी करोनी को 'करोनी मैय्या' के रूप में याद करते हैं। इसलिए मानस में वर्णित भूगोल और प्राकृतिक सुषमा से उनका तादात्म्य बड़ी सहजता से स्थापित हो जाता था और उसकी प्रतीति वे अपने नये परिवेश में भी पाते थे। फलतः मानस का प्रकृति वर्णन उनका प्रत्यक्ष अनुभव बन उन्हें भावुकता से ओत-प्रोत कर देता रहा होगा।

राम वनवास के संदर्भ में एक और तथ्य ध्यान रखने योग्य है। राम का वनवास उनकी स्वेच्छा का वरण था। वे चाहते तो इसे अस्वीकार कर सकते थे लेकिन पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर 'रघुकुल रीति सदा चलि आई', का निर्वाह करना उनका आदर्श था। उन्हें वनगमन तथा उसके कष्टों का अर्थ भली-भांति ज्ञात था। आगामी चौदह वर्ष संघर्ष के होंगे इसका अनुमान उन्हें था। यदि ऐसा न होता तो वे वन गमन को आतुर सीता को वन जाने से विमुख करने का प्रयास न करते। लेकिन हमारे इन भारतवंशियों के पुरखों को इसका ज्ञान या पूर्वानुमान न था कि उनका आगामी भविष्य कितना कष्टप्रद और कठिनाई से भरा होगा।

ये लोग 'आरकाटियों' (रिक्रूटर का अपभ्रंश) द्वारा चित्रित 'स्वर्ण नगरी' की कल्पना से मोहित होकर अपने-अपने घरों से निकल पड़े थे। उनमें कुछ नया करने की चाह थी। वे उद्यमी थे, साहसी थे, अन्यथा अपना घर-बार, देश छोड़कर इस तरह न निकल पड़ते। आज यह कहना अतिशयोक्ति भी हो सकती है कि उन्हें आने वाली कठिनाइयों की भनक न थी, लेकिन यह भी सच लगता है कि उनका आगत इतना कठिन और श्रमसाध्य होगा इसकी कल्पना तो अवश्य ही उन्हें न थी।

रामचरितमानस की भाषा अवधी है। इसमें भोजपुरी और ब्रज के शब्द भी घुले-मिले हैं। अधिकांश प्रवासी भारतीय अवधी और भोजपुरी बोलने वाले थे। इस भाषागत समानता के कारण भी 'मानस' की भाव वस्तु को ग्रहण करना उनके लिए अत्यंत सहज था।

भाषागत समानता से भी बड़ी बात 'मानस' में वर्णित सांस्कृतिक और लोकजीवन से उनका प्रत्यक्ष परिचय और परंपरित संपृक्ति थी। 'मानस' में जिस लोकजीवन के चित्र अंकित हैं, वह उनके अपने जीवन के अनुभवों से अलग नहीं हैं। जन्म-मरण, शादी-ब्याह, पूजा-अर्चना, लोकाचार आदि से जुड़े जितने भी प्रसंग हो सकते हैं उनका विशद और मार्मिक चित्रण रामचरितमानस में मिलता है। उसमें स्थानीयता की ऐसी सौंधी महक मिली हुई है जिसने हजारों मील दूर होने पर भी इन भारतवंशियों

को भारत की आत्मा से विमुख नहीं होने दिया। जिन परंपराओं के सहारे उनके जीवन को गति मिलती थी, वे सभी परंपराएं 'मानस' का सहारा पाकर वहां भी फलती-फूलती रहीं। 'गिरमिट' के आरंभिक दिनों में इन 'गिरमिटयों' की संतानों का विवाह, 'मानस' में वर्णित राम-सीता विवाह से जुड़ी चौपाइयों के गायन तथा अन्य विवाह-गीतों के सहारे संपन्न हो जाता था।

इन भारतवंशियों के सांस्कृतिक-धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में 'मानस' की भूमिका आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। त्रिनीडाड में नवरात्र के अवसर पर ही नहीं वरन् पूरे साल कहीं न कहीं नौ दिवसीय रामायण जग्यों (यज्ञों का अपभ्रंश) का आयोजन चलता रहता है। रामचरितमानस की चौपाइयों का संगीतबद्ध गायन होता है और उसके बाद उन पंक्तियों की विशद व्याख्या अंग्रेजी भाषा में होती है ताकि जनसामान्य तक 'मानस' का संदेश पहुंच सके। इसे रेडियो तथा टेलीविजन पर भी प्रसारित किया जाता है।

पूजा के समय हिंदू परिवारों के आंगन में तथा घर के बाहर अनेक रंग-बिरंगी झंडियों को लगाना एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान माना जाता है। मनोकामना पूरी होने पर फीजी के मंदिरों में आज भी लोग हनुमान का रोट चढ़ाते हैं। बजरंग बली इन सभी देशों के भारतवंशियों के विशेष आराध्य-देव हैं। 'हनुमान चालीसा' का पाठ नैमित्तिक अनुष्ठानों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

रामचरितमानस के महत्त्व का चरम उत्कर्ष मुझे फीजी में देखने को मिला। वहां के प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के बाद जयकारे लगते हैं उनके अंत में एक जयकारा 'रामायण महारानी की जय' का भी लगता है। यह जयकारा जहां एक ओर उनके जीवन में रामायण के महत्त्व की प्रतिष्ठा करता है वहीं उस समय की महारानी विक्टोरिया के मुकाबले अपनी अस्मिता कीं रक्षक रामायण को असली महारानी सिद्ध करने की इच्छा का उद्घाटन भी है। त्रिनीडाड में गोस्वामी तुलसीदास के जन्म की पांच सौवीं जयंती बड़ी धूमधाम से मनाई गई थी तथा उन्हें 'कैरीबाई हिंदुत्व का पिता' कहकर संबोधित किया गया। ऐसा इसलिए क्योंकि इन भारतवंशियों की यह मान्यता है कि यदि तुलसीदास की रामायर्ण न होती तो उनकी भाषा, संस्कृति और धर्म कभी का मिट गया होता।

धर्म-रक्षा को तत्पर इन भारतवंशियों ने सचमुच धर्म को संकीर्ण अर्थों से बाहर निकालकर मानव धर्म की प्रतिष्ठा की है। जाति-पांति की संकीर्णता को इन लोगों ने शायद जहाज में चढ़ते ही भुला दिया था। जब ये प्रवासी भारतीय कलकत्ता के घाट से पानी के जहाज में चढ़े तो वहां सभी अनजान और पराये थे। कुछ दिन की ही समुद्री यात्रा और उसकी परेशानियों ने उन्हें एक-दूसरे के करीब ला दिया था और ये सब एक-दूसरे के लिए हिंदू-मुसलमान जैसी पहचान से परे 'जहाजी भाई' बन गए थे। जाति-पांति, ऊंच-नीच के कृत्रिम बंधन टूट गए और मानवीय ऊष्मा से जन्मा एक

ऐसा रिश्ता पनपने लगा जिसे 'जहाजी भाई' के संबोधन में छिपी आत्मीयता से ही पहचाना जा सकता है।

'मानस' के नर-बानर संबंध और सहयोग की ही तरह इन प्रवासी भारतीयों ने स्थानीय जन-जाति तथा गुलाम अफ्रीकी लोगों के साथ धीरे-धीरे अच्छा तालमेल बैठा लिया था। वस्तुतः दोनों ही शोषण की मार और भविष्य की असुरक्षा से ग्रसित थे। फलतः संकट की आशंका ने दोनों को मिलकर रहने और शोषण के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा भी दी। 'मानस' में वर्णित राम के मित्र-परिवार को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मन में किसी भी प्रकार के जाति-पांति का मोह नहीं है। राम का मैत्री-भाव भी विलक्षण है। वे राजकुमार हैं, लेकिन उनकी मित्रमंडली की जांच-पड़ताल की जाए तो उनमें सभी वे लोग मिलेंगे जो सामान्यजन हैं, समाज में जिनका स्थान लगभग नगण्य प्रायः है। जो अपमानित हैं, शोषित हैं और जो अत्याचार के शिकार हैं, वे सभी राम का सान्निध्य पाकर धन्य हो जाते हैं तथा विरोधों से संघर्ष करने के लिए तत्पर भी। केवट, शबरी, निषाद, गुह्यराज, जटायू, सुग्रीव, विभीषण आदि सभी उनके मित्र हैं। इन भारतवंशियों के पुरखे जब इन द्वीपों पर पहुंचे तो इन्हें भी स्थानीय निवासियों तथा दासप्रथा के अंतर्गत बलपूर्वक लाए गए अफ्रीकी मूल के लोगों के साथ रहना पड़ा था। आरंभ में इन लोगों को उनके साथ एक तरह की प्रतियोगिता के वातावरण में रहना पड़ा लेकिन शीघ्र ही इन सभी को यह समझ आने लगा कि वे उनके शत्रु नहीं वरन् ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के शोषण के शिकार हैं। फलतः एक-दूसरे के संबंधों में मित्रता और सह-अस्तित्व का भाव आने लगा। उनके वनवास का यह अनुभव भी उन्हें रामकथा के करीब ले आता है।

राम का जीवन विरोधों को सहने और उनसे लड़ने की अनवरत परंपरा का नाम है। हिंदी के महाकवि निराला की एक ही पंक्ति राम के जीवन की संघर्षशीलता को उजागर कर देती है—*धिक जीवन जो पाता ही आया है विरोध।* राम के व्यक्तित्व की यह अजेय संघर्षशीलता ही उन्हें महानायक बनाती है। इन भारतवंशियों का जीवन भी संघर्ष का ही मानवीकरण है। अतः यह अकारण नहीं है कि तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम इन सभी भारतवंशियों के निर्विवाद प्रेरणा-पुरुष बन सके। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि " 'रामचरितमानस' हिंदी समझने वाली हिंदू जनता के जीवन का साथी रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुंचने वाली है।... जीवन की सभी दशाओं का चित्रण करके तुलसीदास ने मनुष्य के हृदय-सागर को उलीचकर रख दिया है।"

उत्तर भारत की जनता के लिए आज भी तुलसी का काव्य प्रेरणास्पद है। और वह इसीलिए कि राम के जिस रूप का चित्रण तुलसी की लेखनी ने किया है वह सर्वथा मानवीय है। तुलसी राम की ब्रह्ममयता को स्वीकारते हुए भी राम की जिस मूर्ति की सृष्टि करते हैं वह इतनी सहज है कि उसे कहीं भी पाया जा सकता है। वह उन्हीं

तत्त्वों से बनी है जिनसे हम सब बने हैं। इसलिए उसके सुख-दुःख, संघर्ष हमारे अपने बन जाते हैं। भारतवंशियों का राम से जो तादात्म्य स्थापित होता है, उसका नैसर्गिक आधार यही है। इन भारतवंशियों ने इन द्वीपों को अपने खून, आंसुओं और पसीने से सींचा है। ये लोग अदम्य इच्छा वाले श्रमिक थे। राम भी श्रमशील हैं इसीलिए उनके माथे पर झलक आए श्रम बिंदुओं को तुलसीदास देख पाते हैं—*भाल तिलक श्रम बिंदु सुहाए।* इन श्रमिकों ने भी अपने माथे पर झलक आए पसीने की बूंदों को पोंछते हुए बार-बार राम का स्मरण किया होगा। अपने मालिकों के अत्याचारों से व्यथित भारतवंशियों के होंठों पर अनायास ही मानस की यह पंक्तियां आ जाती थीं:

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।"

और जब फागुन की हवाएं वातावरण को उल्लासमय बना देती थीं तो ये सभी भारतवंशी अबीर-गुलाल ले 'फगवा' मनाने निकल पड़ते थे। ढोलक, झांझ, मंजीरे की ताल पर नाचते हुए गाते थे—*आज अवध में होरे खेले रे रघुवीरा।* इन लोगों ने 'भौगोलिक अवध' से अलग अपने मन के 'अवध' को खोज लिया था और उस अवध में इनके महानायक राम सदैव मौजूद रहते थे।

राम की ही तरह इन भारतवंशियों का जीवन भी परिस्थितियों की अजब त्रासदी रही है। कहीं-कहीं तो इनके दुःख और कष्ट राम की पीड़ाओं से भी बड़े हैं। राम अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर न उनका अंतिम दर्शन कर सके और न ही दाह-संस्कार। पर उन्हें भरत द्वारा इसकी सूचना जल्द ही मिल गई थी। लेकिन हमारे ये भारतवंशी इतने भाग्यशाली न थे। घर-परिवार के समाचार मिलते-मिलते कई वर्ष बीत जाते थे। अनपढ़ होना भी इसमें आड़े आता था। इससे भी बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि इनके परिजन, इन लोगों के अनायास कहीं दूर चले जाने से कितने उद्भ्रांत और व्यथित हुए होंगे, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। अनेकों को तो मृतक मानकर उनका तर्पण भी कर दिया गया। उनकी पत्नियों का दूसरा विवाह हो गया या जीवन-भर वैधव्य का भार ढोती रहीं और बहुतों की जमीन-जायदाद भी परिवार के लोगों ने आपस में बांट ली थी। अब ये भारतवंशी लौटें भी तो कहां लौटें? उनकी इस त्रासदी को फीजी के प्रसिद्ध कवि जोगिन्द्र सिंह कंवल ने इस प्रकार शब्द दिए हैं :

काट वनवास तो तेरा राम आया अयोध्या लौट।
जले दीप दीवाली के, घर-घर बांटे रोट।।
कहां लौटें प्रवासी राम, मन है अब उचाट।
कहां जायें अब भारत में, न घर है न घाट।।

इसलिए ये आह्वान करते हुए कहते हैं :

"आ तुलसीदास तू छेड़ अनोखा गायन।
इन रामों की आज फिर लिख नई रामायण।।"

समग्रतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रवासी भारतीयों के जीवन में भारतीय संस्कृति का जो स्पंदन मिलता है उसे जीवित रखने, पल्लवित और पुष्पित करने में गोस्वामी तुलसीदास की अमर रचना रामचरितमानस का योगदान निर्विवाद रूप से अप्रतिम और अभूतपूर्व है। आज भारत से बाहर जो अनेक छोटे-छोटे भारत दिखाई देते हैं उनके निर्माण और विकास का समूचा श्रेय किसी एक व्यक्ति या रचना को दिया जा सकता है तो वह श्रेय गोस्वामी तुलसीदास और उनकी अमृतमयी रचना रामचरितमानस को ही दिया जा सकता है। रामचरितमानस ही वह सेतु है जिसने भारत तथा इन दूरस्थ देशों में रह रहे भारतवंशियों की आत्मा को निरंतर जोड़ने का कार्य किया है और एक अडिग प्रहरी की तरह उनकी सांस्कृतिक-अस्मिता की रक्षा की।

□

दक्षिण की भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ लेन-देन किया है, इसलिए उसी परंपरा में आई हुई हिंदी बड़ी सरलता से राष्ट्रभाषा होने के लायक है। हिंदी प्रेम और सौहार्द की भाषा है। आजादी के लिए लड़ाई के समय हिंदी देश की एकता और राष्ट्रीयता की भाषा रही है। ऐसी भाषा कभी भी विघटन की भाषा नहीं हो सकती।

महादेवी वर्मा

साहित्यिक लेखन और हिंदी सिनेमा

मनमोहन चड्ढा

हिंदी के अनेक उत्कृष्ट उपन्यासों और कहानियों पर हिंदी की फिल्में बनी हैं और उनमें से कई का स्वागत भी हुआ है। मगर फिर भी इन दोनों कलाओं के मध्य एक संप्रेषणहीनता की खाई निरंतर मौजूद रहती है। क्या इस अंतराल को नकारा जा सकता है, या फिर कोई सर्वमान्य दृष्टिकोण तलाशा जा सकता है। इस संवेदनशील विषय को स्पर्श कर रहे हैं लेखक-फिल्मविद् मनमोहन चड्ढा।

यह एक अनोखी और सुखद सच्चाई है कि फ्रांस के लुमिये बंधुओं द्वारा आविष्कृत सिनेमैटोग्राफ, अपने जन्म के केवल सात माह बाद भारत में भी पहुंच गया और दो-तीन वर्ष बाद ही भारतीय फिल्मकार भी इस नई विधा में रचनात्मक योगदान देने लगे। सन् 1895 में बने चलचित्र कैमरों के उपयोग द्वारा सन् 1900 में भारतीय छायाकार सखाराम भाखडेकर और हीरालाल सेन, दैनिक जीवन को फिल्म पर उतार रहे थे। इस प्रकार के फिल्मांकन को बाद में वृत्तचित्र कहा गया।

सन् 1913 में धुंडिराज गोविंद फालके ने भारत की प्रथम कथा-फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण किया। उस समय तक फिल्मों में ध्वनि जोड़ने की तकनीक विकसित नहीं हो पाई थी। इसलिए इन मूक फिल्मों में कहानी लिखित कार्डों द्वारा कही जाती थी। ये कार्ड दो भाषाओं—अंग्रेजी और हिंदी में होते थे।

ध्वनि के आगमन के बाद सन् 1931 में पहली हिंदी फिल्म बनी 'आलमआरा'। फिल्म के पात्र जिस भाषा में संवाद बोलते थे वह उस फिल्म की भाषा मान ली गई,

यानी पहली मराठी, बंगाली या तमिल फिल्म आदि।

भारत बहुभाषी देश है। यहां का प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभाषा से प्यार करता है और अपनी भाषा बोलना-सुनना बेहद पसंद करता है। इसीलिए भारत में ध्वनि के आगमन और संवादों के जुड़ने से एक क्रांति-सी हो गई और भारत का अपना नितांत निजी सिनेमा विकसित हो सका।

सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने यह तैयारी कर ली थी कि भारत को बने-बनाए कपड़े के निर्यात के साथ-साथ, बनी-बनाई फिल्मों का निर्यात भी किया जाए। इसलिए ब्रिटेन में बनी मूक फिल्मों को भारत में प्रदर्शित करने की योजना बनाई गई थी। एक कमेटी का गठन किया गया। इस कमेटी ने संपूर्ण भारत में अध्यापकों, शिक्षाविदों, नेताओं, सामान्य जन और फिल्मकारों से कई प्रकार के प्रश्न पूछे। कमेटी को यह बताने के लिए कहा गया था कि भारत में सिनेमा के विकास हेतु सरकार क्या योगदान दे सकती है? कमेटी ने अपनी रिपोर्ट दी कि भारतीय, ब्रिटेन में बनी मूक फिल्मों को बहुत पसंद करते हैं। ब्रिटेन में बनी फिल्में कथाकथन और तकनीक में भारत में बनी फिल्मों से बेहतर होती हैं। कुछ ही समय बाद ध्वनि के आगमन और स्वराज के आंदोलन ने भारतीय सिनेमा को उपनिवेशवाद के इस नये हमले से बचा लिया। कलकत्ता का न्यू थियेटर्स हो या पूना की प्रभात फिल्म कंपनी, 1932 से 1940 तक यहां की प्रत्येक फिल्म दो भाषाओं में बनती थी। प्रभात की प्रत्येक फिल्म हिंदी और मराठी में तथा न्यू थियेटर्स की प्रत्येक फिल्म हिंदी और बंगाली में।

न्यू थियेटर्स की फिल्म 'देवदास' के बांग्ला संस्करण में कुंदनलाल सहगल ने अपना प्रथम फिल्मी गीत गाया था। स्टूडियो ने 'देवदास' के उपन्यासकार शरतचंद्र से पूछा था कि वेश्या के कोठे वाले दृश्य में किसी हिंदी गवैये से गीत गवा लिया जाए या नहीं? शरतचंद्र ने प्रतिप्रश्न किया था कि क्या कलकत्ता की वेश्याओं के कोठे पर आने का एकाधिकार बंगालियों के पास ही है? शरतचंद्र के इस जवाब के बाद एक उत्तर भारतीय स्वर उस परिवेश में गूंज उठा। फिल्म नामक विधा अपनी आंतरिकता में बहुभाषी, स्वतंत्रता को बढ़ावा देने वाली; बिना किसी भेदभाव के सबको बुलाकर रिझानेवाली विधा है। हिंदी वाले यदि बंबइया फिल्मों को जबरन अपना बनाने का प्रयत्न करेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। भारतीय सिनेमा के विकास में धुर उत्तर के असमिया सिनेमा का जितना योगदान है उतना ही धुर दक्षिण के मलयालम सिनेमा का भी।

यदि हम 'भारतीयता' को इकाई मानकर, गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त होना चाहें तो सिनेमा का अध्ययन एक अत्यंत उपयुक्त माध्यम बन सकता है। भारत की प्रत्येक भाषा की साहित्यिक कृतियों पर उन्हीं भाषाओं में या अन्य भाषाओं में अनेक फिल्में बनी हैं। उदाहरणार्थ उ०र० अनंतमूर्ति की कहानी *घटश्राद्ध* पर कन्नड़ में गिरीश कासरवल्ली ने फिल्म बनाई और हिंदी में इसी कहानी पर अरुण कौल ने

'दीक्षा' नामक फिल्म बनाई। सिनेमा के समीप जाने के लिए हमें अपनी इस दिमागी बाधा को दूर करना होगा कि सिनेमा के माध्यम से साहित्य का गहन अध्ययन संभव ही नहीं है।

हिंदी सिनेमा के इतिहास में भी एक समय ऐसा रहा जब हिंदी साहित्य और हिंदी सिनेमा बहुत करीब आए। भले ही इस नये दौर की प्रथम फिल्म होने का निर्विवाद श्रेय मृणाल सेन की 'भुवन-शोम' को मिला हो, लेकिन इस दौर की श्रेष्ठ फिल्में हैं, *उसकी रोटी* (मोहन राकेश-मणि कौल), *सारा आकाश* (राजेंद्र यादव-बासु चटर्जी), *माया दर्पण* (निर्मल वर्मा-कुमार शाहनी), *तीसरी कसम* (फणीश्वरनाथ रेणु-बासु भट्टाचार्य)। समय के अंतराल के बावजूद साहित्यिक कृतियों पर फिल्म निर्माण में निरंतरता बनी रही, जैसे *शतरंज के खिलाड़ी* (प्रेमचंद-सत्यजित राय), *तमस* (भीष्म साहनी-गोविंद निहलानी), *सूरज का सातवां घोड़ा* (धर्मवीर भारती-श्याम बेनेगल)। बेनेगल के अनुसार, उसके जीवन की सर्वाधिक चुनौतीभरी फिल्म 'सूरज का सातवां घोड़ा' थी। बेनेगल कहते हैं कि यह उपन्यास अत्यंत जटिल उपन्यास है। क्या अब भी यह कहते रहा जाए कि भारतीय फिल्मकार हिंदी के लेखकों को पर्याप्त सम्मान नहीं देते? 'सूरज का सातवां घोड़ा' 1954 में लिखा गया था — उस पर फिल्म बनाते समय हमारे श्रेष्ठ फिल्मकार ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि उपन्यास के मूल रूप को सटीक-सार्थक शैली में फिल्म पर उतारा जा सके। साहित्य और सिनेमा के संबंध के क्रम में मणिकौल की ताजातरीन फिल्म *'नौकर की कमीज'* विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास पर आधारित है। किसी भी साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाना आसान काम नहीं है। शाब्दिक लेखन और चलचित्र, अभिव्यक्ति के दो पूर्णतया भिन्न प्रकार हैं। शब्दकर्मी शब्द के माध्यम से कथा रचता है और एक निजी संसार निर्मित करता है। इन्हीं शब्दों को पढ़कर पाठक अपने अनुभवों के आधार पर निजी कथा-संसार रचता है।

फिल्मकार दूसरी सीमा में बंधा है। वह संसार को चित्रित करता है। चीजों को चित्रित करता है। वह भावनाओं को चित्रित नहीं कर सकता। वह वस्तुओं और व्यक्तियों को संमान स्तर पर ही चित्रित कर सकता है। साहित्यकार कभी-कभी वस्तुओं का, प्रकृति का वैयक्तिकरण कर देता है और कभी-कभी व्यक्ति के निर्जीवपन का वर्णन भी करता है। परंतु फिल्म तो निर्जीव वस्तुओं को दर्शाते हुए ही वर्णनात्मकता या कथात्मकता की ओर जा सकती है। फिल्म की यह सीमा है। फिल्म कथा-कथन हेतु संगीत या संवादों का सहारा अवश्य लेती है लेकिन उसका मुख्य संकेत-चिह्न चलचित्र ही है। शब्द के माध्यम से कथा कहने की परंपरा हजारों वर्ष पुरानी है जबकि इस नये माध्यम चलचित्र द्वारा कथा कहने की कोशिश को अभी सौ वर्ष ही हुए हैं। लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब शब्द नहीं थे तब मनुष्य संकेतों द्वारा, हाव-भाव द्वारा, परछाइयों द्वारा कथा कहता था।

कैसे इस गुत्थी को सुलझाया जाए कि क्यों एक साहित्यकार या साहित्य का अध्यापक (कथा-कथन की विभिन्न शैलियों का अध्ययन करने के बाद भी) किसी फिल्मकार को रचनाकार नहीं मानता। क्यों हम फिल्म नामक विधा का अध्ययन अपने पाठ्यक्रमों में एक स्वतंत्र विषय या साहित्य के अनुषंगी विषय के रूप में नहीं करते? क्यों हम फिल्म को साहित्यिक कृति को चलचित्रों में प्रस्तुत करने का एक माध्यम भर मानते हैं, स्वतंत्र रचना नहीं मानते? फिल्मकार ने भला क्या किया, बस एक कैमरा लिया और उपन्यास को फिल्मा लिया, वास्तविक रचना तो साहित्यिक कृति है, फिल्म तो एक यांत्रिक माध्यम भर है। इस सोच के पीछे एक छोटा-सा कारण यह भी हो सकता है। चलचित्र एकल छायाचित्र का विस्तार है। एक छायाचित्र को जब आप हाथ में लेकर देखते हैं तो वह स्थिर होता है। इन्हीं छायाचित्रों को यदि प्रति सेकंड चौबीस या पच्चीस की गति से किसी भी प्रकार के पर्दे (सिनेमाघर, टी०वी० या कम्प्यूटर) पर प्रक्षेपित कर दिया जाए तो वह चलचित्र बन जाता है।

शब्दकर्मी का तर्क है कि छायाचित्र में रचनाकार अनुपस्थित है। शब्दकर्मी कहता है कि जब मैं कहानी लिखता हूं या तीन पंक्तियों का हाइकू भी लिखता हूं तो उस पर मेरा नाम होता है। मैं रचनाकार हूं। साहित्य और साहित्यकार का सीधा संबंध है। वहां रचनाकार हमेशा उपस्थित है। कालिदास का 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', तुलसीदास का 'रामचरितमानस', रवींद्रनाथ टैगोर का 'नष्ट-नीड़' या 'घरे-बाइरे', प्रेमचंद की कहानियां 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'कफ़न', उ०र० अनंतमूर्ति का 'संस्कार' और 'घटश्राद्ध', वैक्कम मुहम्मद बशीर की कहानी 'दीवारें'। इन सबके साथ इनके रचयिता का नाम जुड़ा है। परंतु जब इन कृतियों पर फिल्म बनती है तो यह प्रश्न उपस्थित कर दिया जाता है कि फिल्म का रचयिता कौन है? क्या फिल्म उस कृति का सही 'अनुवाद' कर पाई है? क्या फिल्म ने लेखक के साथ न्याय किया है?

यदि हम एक फोटोग्राफर से अपने पहचान-पत्र पर चिपकाने के लिए फोटो खिंचवाने जाएं और फोटो देते समय वह कह दे कि जब भी यह फोटो आप किसी को दिखाएं तो यह उल्लेख अवश्य करें कि यह नायर स्टूडियो की रचना है और इसके रचयिता हैं श्री चंद्रशेखर नायर। उस समय आप आश्चर्य करेंगे कि यह व्यक्ति कितनी हास्यास्पद, बेतुकी और असंगत बात कह रहा है। कैमरे से फोटो तो कोई भी खींच सकता है। बल्कि अच्छे कैमरे का विज्ञापन इस कथन पर बल देता है कि *आपको बटन दबाने के अलावा कुछ नहीं करना है।* छायांकन के साथ यह बात आरंभ से ही जुड़ गई कि वहां रचनाकार अनुपस्थित है, यंत्र ही सब कुछ है।

हमें इस मानसिकता से बाहर निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। पिछले सौ वर्षों में चलचित्र कथा-कथन का एक सशक्त प्रकार बन गया है। सन् 1930 से 40 के वर्षों में रूसी फिल्मकार सर्गेई मिखायलोविच आईसंस्टाइन ने चलचित्र द्वारा कथा-कथन

की गहरी खोजबीन की और अपने छात्रों को कई गुर बताए। इन भाषणों को बाद में एकत्रित किया गया, जो सात पुस्तकों में संकलित हैं। आईसंस्टाइन को सिनेमा का पाणिनी माना जाता है। सन् 1980 से 1990 के दौरान मध्य प्रदेश चलचित्र निगम ने सिनेमा संबंधी साहित्य को हिंदी में अनुवादित करने का बीड़ा उठाया और काफी कुछ ऐसा प्रकाशित किया जिसका महत्त्व कम नहीं है।

पिछले दो वर्षों से उत्तर प्रदेश सरकार, प्रदेश में फिल्म विकास की योजना बना रही है। सन् 1999 में उत्तर प्रदेश सरकार ने फिल्म को उद्योग घोषित कर दिया है और अपनी नई औद्योगिक नीति के तहत बंबइया फिल्मकारों को अनेकानेक सुविधाएं देकर प्रदेश में बुलाने का प्रयत्न कर रही है। फिल्म कोई ऐसा उद्योग नहीं है जिसमें सस्ती जमीन देकर उद्योगपतियों को आकर्षित किया जा सके। सस्ती जमीन लेकर स्टूडियो बना लेने के बाद जिन प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होगी क्या वे हमेशा मुंबई से ही आते रहेंगे?

जब तक फिल्म को हम एक विषय के रूप में अपने विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं बनाएंगे तब तक हम इस नई विधा को सही ढंग से नहीं समझ पाएंगे। और तब तक इस विधा का शास्त्रीय-सैद्धांतिक अध्ययन अवरुद्ध रहेगा और हिंदी में मौलिक पुस्तकों की रचना नहीं हो सकेगी। भारतीय सिनेमा पर प्रकाशित विश्वकोश के प्रारूप निर्माण से प्रकाशन तक का श्रेय ब्रिटिश फिल्म संस्थान को है। □

अगर आज हिंदी भाषा मान ली गयी है, तो वह इसलिए नहीं कि वह किसी प्रांत विशेष की भाषा है बल्कि इसलिए कि वह अपनी सरलता, व्यापकता तथा क्षमता के कारण सारे देश की भाषा हो सकती है और सारे देश के लोग उसे अपना कह सकते हैं।

नेताजी सुभाषचंद्र बोस

हिंदी फिल्मों का सार और प्रभाव

युट्टा औस्टिन

इंग्लैंड के कैंब्रिज विश्वविद्यालय में लेखिका हिंदी के प्राध्यापक और जाने-माने लेखक डॉ० सत्येन्द्र श्रीवास्तव के निर्देशन में शोध कर रही हैं। युट्टा सीधे हिंदी में लिखती हैं। प्रस्तुत आलेख में उन्होंने हिंदी फिल्मों के अद्यतन अध्ययन-मनन से इस माध्यम और हिंदी समाज के मध्य का एक रेखाचित्र सजीव किया है। उनके लंबे आलेख के संपादित अंश।

दुनिया-भर में भारत की ख्याति फैली हुई है। उसकी बहुत-सी चीजों की—प्राचीन संस्कृतियों की, धर्मों और वेदों की, उसके भाषा और साहित्य, संगीत की, उसकी कलाओं और दस्तकारी की। उसका सिनेमा भी प्रसिद्ध होता है दुनिया में। हर साल भारत में करीब आठ सौ फिल्में बनाई जाती हैं। उनमें से अधिकांश हिंदी में। साधारणतया भारतीय फिल्में दो वर्गों की होती हैं: कला फिल्में और व्यावसायिक सिनेमा। फिल्मों का निर्माण अब फिल्म उद्योग कहा जाता है। देश और विदेश में करोड़ों भारतीय लोग ये फिल्में देखा करते हैं, पर भारत के बाहर जिन देशों का भारत से निकट संबंध नहीं रहता उनमें भारतीय फिल्में करीब-करीब अपरिचित होती हैं। परंतु इंग्लैंड में भारतीय फिल्में सिनेमाघरों में दिखाई जाती हैं, उनके वीडियो बिकते हैं, और साल में दस-पंद्रह बार यहां का टेलीविजन भारतीय फिल्में दिखाता है। यद्यपि मध्यरात्रि के बाद ही दिखाता है, मगर कम से कम दिखाता तो है।

अंग्रेज दर्शकों की आम धारणा होती है कि इन फिल्मों की कहानी प्रायः एक-सी होती है, बिल्कुल पूर्वज्ञेय; असंगतियों, अयुक्तियों एवं अवास्तविक घटनाओं की

भंडार इन फिल्मों में गीत, पोशाक तथा पद्धतियां लगभग पाश्चात्य ढंग की लगती हैं, बहुत अधिक हिंसा भी होती है। सिर्फ पश्चिमी लोग ही नहीं, बहुत-से भारतीय भी आक्षेप करते हुए कहते हैं कि इन फिल्मों की कोई सामाजिक प्रासंगिकता नहीं है बल्कि वे करोड़ों भारतीयों की वास्तविकता से बहुत दूर रहकर, लोगों को नशेदार स्वप्नों के द्वारा दैनिक कर्त्तव्यों और सामाजिक सुधार करने से पथभ्रष्ट होने के लिए फुसलाती हैं।

देखने में ये आक्षेप बिल्कुल सही और अखंडनीय लगते हैं। फिर भी ये सारे लोग फिल्में देखा करते हैं। अकसर एक ही फिल्म कई बार देख लेते हैं। मैं भी ऐसा करती हूं। क्यों? यह कैसे हो सकता है कि जो निंदा उचित हो और इन्हें प्रासंगिक भी समझा जाए? ये फिल्में इतनी दर्शनीय, इतनी लोकप्रिय क्यों रहती हैं?

रस का खेल

उक्त सवाल का उत्तर बहुत दिनों तक छिपा ही रहा। फिर एक दिन एक टिप्पणी मिली : "तथ्यों या चरित्रों का चित्रण-वर्णन उन्हें कुछ नहीं लगा; दर्शकों के मन में रस उत्पन्न करना ही उनका उद्देश्य था। इसलिए अन्य कुछ का कोई भी महत्त्व नहीं है सिवाय इसके जो इस लक्ष्य का काम करे। कथा-वस्तु अप्रधान तत्त्व है। उसे पेचीदा बनाने से मन भाव छोड़कर बौद्धिक दिलचस्पी लेता है, जो रस की उत्पत्ति के लिए हानिकारक होगा।" (डॉ० बैरिडेल कीथ: 'दि सैन्स्कृट ड्रामा') इसे पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि यह तो हिंदी फिल्म का विवरण है—और अगर उसका उद्देश्य यही होता हो तो सारे आक्षेप शून्य ही हो जाएंगे।

फिर मुनि भरत का 'नाट्यशास्त्र' पढ़ा, संस्कृत नाटक का पूरा विवरण। नाट्य-शास्त्र के नियम दो प्रकार के हैं। एक तरफ हैं मौलिक नियम, जो नाटक के स्वभाव, विषयों और उद्देश्य पर लागू होते हैं। दूसरी तरफ हैं गौण नियम जो नाटक का लक्ष्य निबाहने के लिए भिन्न-भिन्न तरीके सुझाते हैं। गौण नियम महत्त्व इसलिए रखते हैं कि भाषा, अभिनय, संगीत इत्यादि अगर अप्रासंगिक होता तो रस का संप्रेषण न होने देता। जब हिंदी फिल्मों का विचार करते हुए 'नाट्यशास्त्र' पढ़ते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक का सार-उद्देश्य—प्रेक्षकगण में रस की अनुभूति उपजाना—फिल्मों का सार-उद्देश्य भी होता है। भरत रस और भाव की परिभाषा-विवरण की ओर बहुत ध्यान देते हैं। उनके प्रयोग के बारे में भरत मुनि कहते हैं कि "किसी कृति को मंच पर एक ही रस द्वारा पेश नहीं किया जा सकता। हर नाटक का एक स्थायी रस होता है, जिसे दूसरे रसों के द्वारा सहायता दी जाती है।" विशेष बात यह है कि जो हिंदी फिल्में बहुत सफल हुई हैं इनमें यह नियम रखा गया है। उदाहरण के लिए फिल्म 'हम आपके हैं कौन' में स्थायी रस शृंगार है, हास्य और करुणा उसको सहारा देता

है। 'वीरगति' में वीर स्थायी रस है, और शृंगार की भूमिका सिर्फ यह है कि वीर के लिए काम उपजाता है। 'करन अर्जुन' का स्थायी रस अद्‌भुत है जिसे संचारी रस शृंगार, करुणा, रौद्र और वीभत्स के द्वारा सहायता दी जाती है।

सभी की भाषा

नाटक और फिल्म दोनों में भाषा और संगीत विशेष महत्त्व रखते हैं। संगीत के बारे में भरत के अनेक अध्याय भारतीय शास्त्रीय संगीत की नींव जमाते हैं। भाषा नाटक में पात्रों के अनेक सामाजिक वर्ग-वर्ण पर निर्भर होती है। देवता, राजा और अभिजात वर्ग के दूसरे आदमी संस्कृत छंदों में बोलते हैं, जबकि महिलाओं और निम्न वर्गों के लोगों के लिए प्राकृत गद्य का प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि हिंदी फिल्मों की भाषा के लिए ऐसे नियम नहीं होते, फिर भी कुछ सर्व-व्यापक प्रथाएं बहुत प्रत्यक्ष रूप में दिखती हैं। उदाहरण के लिए सभी लोग सामान्यतः हिंदी बोलते हैं, लेकिन कुछ सामान्य रूढ़ियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के पात्र विभिन्न परिस्थितियों में अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का इस्तेमाल करते हैं। सारी फिल्मों में अगर सब लोग लगातार ऐसी 'हिंग्लिश' बोलते तो उसकी कोई खास अहमियत नहीं होती, यों आजकल की भारतीय नागरिक स्थिति का आईना होती। कुछ प्रकार के पात्र नियमित रूप से अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं, जैसा धनी लोग (आदमी, महिलाएं कम), पाश्चात्य ढंग से पढ़े-लिखे लोग, प्रशासनिक सेवा में लगे लोग और भौतिकवादी भी, फिर कुछ प्रकार के अपराधी। कहा जा सकता है कि यह बिल्कुल आज के भारत की स्थिति जैसी ही है, लेकिन उन लोगों के अतिरिक्त काफी फिल्मों में कोई बेपरवाह-निश्चिंत और शायद कुछ समय के लिए गुमराह हुआ नायक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करके फिल्म के दौरान चिंताशील और उत्तरदायी हो जाता है, पुरानी भारतीय मान्यताओं को स्वीकार करता है और अंत में शुद्ध हिंदी ही बोलता है।

भारत में सैकड़ों बोलियां बोली जाती हैं। यह स्थिति देश की एकता के लिए समस्या हो सकती है। मुझे लगता है कि भारत को दो समस्याओं से खतरा है : एक सांप्रदायिकता से और दूसरा पश्चिम की ओर से आते साम्राज्यवाद से। दोनों से लड़कर उन्हें निष्प्रभावी बनाने के लिए सारे देश में प्रचलित संपर्क-भाषा बहुत कारगर साधन होती है। ऐसी भाषा की भूमिका यह नहीं है कि वह क्षेत्रीय पहचान लीलकर सारे देश की अद्‌भुत विभिन्नता को नष्ट करे बल्कि वह सहायता ही दे—लोगों के बीच एक-दूसरे के बारे में ज्ञान फैलाने के लिए। हिंदी को संपर्क-भाषा होना चाहिए यह तो थोड़े-बहुत विवाद की बात हो सकती है, परंतु यह निर्विवाद है कि हिंदी सिर्फ सबसे प्रचलित भारतीय भाषा ही नहीं है बल्कि अपने स्वभाव के अनुसार सच्ची

संपर्क-भाषा भी है। हिंदी भारत की ऐतिहासिक घटनाओं, सामाजिक परिस्थितियों और धार्मिक आस्थाओं का प्रतिबिंब है। वह जितनी आसानी से अलग-अलग प्रदेशों या धर्मों की पहचान स्पष्ट कर सकती है, उतनी ही आसानी से भारतीय एकता को महत्त्व दे सकती है। आज भी हिंदी में बहुत-से विचारों-भावों को स्पष्टतः प्रकट किया जा सकता है जिनके सूक्ष्म भेदों का यथोचित अनुवाद बहुत-सी दूसरी भाषाओं में संभव नहीं है। उदाहरण के लिए जब हिंदी फिल्में अंग्रेजी टी०वी० पर उपशीर्षकों सहित दिखाई जाती हैं, तब रह-रहकर कुछ वाक्यों का अनुवाद नहीं होता क्योंकि उनके सच्चे अर्थ देने के लिए स्पष्टीकरण के एक लंबे परिच्छेद की आवश्यकता पड़ती है। हिंदी बिल्कुल हिंदी ही है, जो भाषिक मिश्रण के रूप में हजारों शुद्ध आवाजों से बोलती है।

हिंदी फिल्मों जैसे लोक मनोरंजन के माध्यम में भाषा सबको जोड़ने का काम करती है। जहां भी फिल्में देखते हैं वहां लोग एक-से हो जाने के साथ-साथ एक-से अनुभव में भाग लेकर आपस के सेतु बन सकते हैं। यह भारत के अंदर बहुत अच्छी और उपयोगी बात तो है ही, लेकिन भारत के बाहर रहने वालों के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण। वे इन फिल्मों की घटनाओं, पद्धतियों, भाषा और संगीत में एक सार्वजनिक भारतीयता का अनुभव कर सकते हैं। फिल्में अपनी भारतीय पहचान नहीं छोड़तीं। फिल्मों में सांस्कृतिक संघर्ष अगर है तो भारतीयता जीत जाती है। और अधिकांश फिल्मों में लोग जो भी कहते हैं, जो भी करते हैं, भारतीय ही रहते हैं अपनी पद्धतियों और मान्यताओं में। एक ऐसी भारतीयता, जो दूसरी पहचानों से मेल खाते हुए भी खुली रहती है, पर बिगड़ नहीं सकती। वह सारे आप्रवासी लोगों के लिए सुरक्षा और विश्राम देने वाली बंदरगाह होती है।

सभी के गीत

'नाट्यशास्त्र' का एक बड़ा अंश संगीत का विवरण प्रस्तुत करता है। भारतीय फिल्मी गीतों में पश्चिमी संगीत का प्रभाव पर्याप्त सुनाई देता है। मगर ध्यान से सुनते-सुनते यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे पश्चिमी संगीत का कितना बड़ा प्रभाव क्यों न हो, फिर भी भारतीय फिल्मी गीत उससे अलग हुए रहते हैं। भारतीय फिल्मों में संगीत के दो मुख्य अंगों—यानी ताल और धुन और वाद्यों की निपुण एवं जटिल गति हुआ करती है, वैसी कला पश्चिमी गीतों में ज्यादातर नहीं मिलती। पश्चिमी मनोरंजक गीतों में धुन और ताल—दोनों लघु और आवृत्तिमय अंशों द्वारा चलते हैं। दूसरी चीज शब्दों की बात है। पश्चिमी लोकप्रिय गीतों के शब्दों में भाषिक मधुरता-सुंदरता ज्यादातर नहीं मिलती, काव्यतत्त्व नहीं है। बहुत-से गीतों के शब्द लचर लगते हैं और अश्रव्य भी, क्योंकि संगीत की आवाज स्वर से ज्यादा शोर मचाती है। हिंदी फिल्मी

गीतों की स्थिति ऐसी नहीं है। संगीत और शब्द एक-दूसरे से मिलकर साथ ही काम करते हैं रस के संप्रेषण के लिए, प्रायः बहुत खूबसूरत ढंग से। इन अच्छे गानों की काव्यमयी भाषा हिंदी, संस्कृत, अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्द प्रभावशाली ढंग से मिलाकर हिंदी शब्द भंडार के माध्यम से ऐसे गीत उपजाती है, जो भारतीय संस्कृति के अनेक आयामों को अंतरसात करके सब भारतीय लोगों के लिए सहज गम्य रहते हैं।

कला फिल्में

भारत में श्रेष्ठ कला फिल्मों का निर्माण होता है जैसा कि पश्चिम में भी। कुछ लोग हिंदी की कला फिल्मों की चर्चा अलग से करते हैं। ऐसी फिल्मों का लक्ष्य प्रायः यही होता है कि वास्तविकता-संबंधी एक कहानी दिखाएं, एक मानसिक या सामाजिक संदेश फैलाएं, लोगों का कुछ न कुछ तकलीफों से परिचय कराएं। लक्ष्य होता है, सत्य का तीव्र अनुभव। मानसिक और सामाजिक वास्तविकता की स्थितियों-परेशानियों का आलोचनापरक विवरण। विश्लेषण करने के लिए लोगों को सुलझे दिमाग से सोचने को बाध्य करने के लिए यह आवश्यक है कि भावों का प्रयोग-चित्रण, कथावस्तु संदेश के अधीन हो। यानी कला फिल्मों की कहानियां अगर विश्वसनीय और प्रभावशाली होनी चाहिए तो उन्हें अपने आपके संदर्भ में युक्तिसंगत और यथार्थ होना पड़ता है, जबकि फार्मूला फिल्मों की कहानियां यथार्थपरक होने की न कोई जरूरत, न अधिकार ही रखती हैं। इसलिए कला और रस फिल्मों में तुलना निरर्थक प्रयास लगता है।

फिल्में-फिल्में

जब मैं हिंदी फिल्में देखती हूं, तब वे ताजा करने वाली लगती हैं। वे बहुत-से भाव छुड़ाकर मुझे मेरे जीवन के कर्त्तव्य और समस्याएं निबटाने के लिए नई शक्ति देती हैं। चूंकि वास्तविकता से उनका कोई संबंध नहीं है इसलिए भावना के लिए अवकाश वहां नहीं होता। अपने स्वभाव के ही कारण वे जीवन से थोड़े समय का विराम और बचाव हो जाती हैं। वे मंजिल नहीं, आश्रय-कुटिया होती हैं हमारे मन के लिए। धर्मशाला का आराम यात्री को ताजा करता है—यात्रा नई शक्ति से, आगे बढ़ाने के लिए, उसकी शक्ति खत्म नहीं करता है।

बहुत-से समाजशास्त्री और समाज-सुधारक इस बात पर तर्क करते हैं कि इस प्रकार का लोक-मनोरंजन खतरनाक चीज होता है क्योंकि आम लोगों को मोह में फंसाकर बुरी मान्यताएं और लक्ष्य प्रेरित करता है। आलोचना विशेष रूप से

अनावश्यक हिंसा, बहुत अधिक वासना और स्त्रियों की एक अपमानपूर्ण छवि की बात करती है। इन सब मामलों की मिसालें ढूंढ़ लाना आसान तो है, परंतु रस-प्रधान कार्य के संबंध में कुछ और पहलुओं का विचार करना पड़ता है।

भारत एक विशाल, विविधतापूर्ण देश है। इसलिए कोई एक कार्य जो कई लोगों को सामान्य, सही, प्रासंगिक या कम से कम स्वीकार्य लगता हो वह दूसरे लोगों को बुरा लगना स्वाभाविक है। फिर जो चीजें एक बार किसी को अच्छी लगती हों वही दूसरे समय बुरी भी लग सकती हैं। लोग नाना स्थितियों में अनेक तरह से प्रभावित हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए जो क्रोध दैनिक जीवन में बार-बार दबाना पड़ता है, उसके लिए ये फिल्में सुरक्षित निर्गमद्वार बनकर अभ्यास करने का अवसर देती हैं। विनाश की यथार्थवादी कहानियों से ज्यादा, सुखांतों में आशा का संदेश मिलता है, जिससे स्थिति सुधारने का प्रयत्न करने योग्य लगने लगता है।

हिंसा और काम

भारतीय संदर्भ में हिंसा और काम की फिल्मों में भूमिकाओं की बात करने योग्य मैं शायद नहीं हूं, लेकिन भारतीय होना एक ही चीज तो नहीं है, भारत तो विभिन्नता की निधि है। तो सारे लोगों की आवाज कौन हो सकती है? फिर मैं मेरे अपने विचारों की बात करूंगी ही—पश्चिमी हूं, पर असभ्य नहीं।

फिल्मों में हिंसा मुझे पसंद नहीं, क्योंकि कोई भी हिंसा बुरी लगती है। हिंसा को समस्याओं के समाधान के रूप में दिखाना गलत लगता है। इसलिए भी कि यह प्रायः बहुत उबाऊ लगती है (वीडियो पर फिल्म को आगे बढ़ा देती हूं मैं।) फिर भी सोचती हूं कि बहुत-से लोगों के लिए क्रोध का अनुभव बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। निर्बलता की कुंठा छुड़ा सकती है यह हिंसा। वैसे भी रूढ़िगत बनकर कृत्रिम होने के कारण हिंदी फिल्मों में हिंसा पश्चिमी फिल्मों में उसके अत्यधिक यथार्थ चित्रण से कम दहाड़ती लगती है।

जैसा भेद पश्चिमी और हिंदी फिल्मों के बीच रहता है हिंसा के चित्रण में, वैसा भेद काम और वासना के उनके चित्रण में भी मिलता है। पश्चिमी फिल्मों में बड़ा प्रयास करते हैं, सारी बातें यथार्थ रूप से दिखाने के लिए। परंतु रस के पहलू से यह बहुत निष्फल तरीका होता है इसलिए कि इच्छुक, मस्त व्यक्तियों का चलन दिखाने के माध्यम से उनके भावों की स्थिति के बारे में जानकारी दी जा सकती है, लेकिन शुद्ध रस का संप्रेषण नहीं हो सकता। घनिष्ठता को जब बहुत ज्यादा हद तक दिखाया जाता है तो जोड़े के भावों को रस के रूप में संप्रेषण करने के बजाय क्रिया का संचालन दर्शक को शामिल न होने देकर उसे अपने को सिद्ध करके आँकने वाला

महसूस करवाएगा। यही चुंबन की बात तो भी है। पश्चिमी होने के नाते मुझे ऐसा लगता है कि अगर चुंबन दिखाना चाहते हैं तो दिखाने दो, मेरे लिए बड़ी बात नहीं है; लेकिन रस कला के संदर्भ में चुंबन बिल्कुल बेकार होते हैं। रस का अनुभव होने के लिए प्रेक्षक को शामिल होने की अनुभूति होनी चाहिए। इसलिए पुरुष और नारी समीप ही समीप हो सकते हैं, समीप होना आवश्यक तो है, मगर इतना समीप और घनिष्ठ नहीं होना चाहिए कि रस नष्ट हो जाए और दर्शकों को बेआराम, बेचैन करने वाला लगने लगे।

हिंदी फिल्मों में शृंगार का संचार करने की परंपराएं सफल इसलिए रहती हैं कि प्रासंगिक माध्यमों के प्रयोग से—जैसा कि नाच-गान, निगाहें आदि—प्रेक्षक में रस उत्पन्न करने के लिए उसकी अपनी कल्पना काम में लाती हैं। मेरा ख्याल अगर यह है कि इन फिल्मों में काम कला की बातें आम-तौर से बहुत संवेदनशील ढंग से दिखाई जाती हैं तो शायद उसका कारण यह कि मैं पश्चिमी हूं। परंतु मुझे लगता है कि भारत तो वही देश है जहां कला में मैथुन का सत्य अंगीकरण करने की लंबी परंपरा रही है। पुरानी मूर्तियां देखें, कालिदास की कृतियां पढ़ें। और यह तो सच है कि फिल्मों के अधिकांश में जहां शारीरिक प्रेम की बात है वहां मानसिक प्रेम भी है—वे अश्लील ढंग से शरीर की बातें नहीं करतीं।

नारी का चित्रण

हिंदी फिल्मों में स्त्रियों का वर्णन दो प्रकार से होता है। इनमें बहुत-सी लड़कियां शुरुआत में आधुनिक जमाने की होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, किसी अच्छी नौकरी में काम करती हैं। दूसरी तरफ हैं वे लड़कियां जो लखपती की बेटी बनकर अपने दिन ऐश-आराम में गुजारती हैं। लेकिन चाहे वे आधुनिक ढंग से अपना जीवन चलाती हैं या रूढ़िग्रस्त ढंग से जीती हैं, वे सब पुरानी भारतीय मान्यताओं के अनुसार जीती रहती हैं या अंत में जीने लगती हैं। पत्नी और मां बनना उनका एकमात्र लक्ष्य होता है अंत में।

यह चित्रण नारी-स्वातंत्र्य के दृष्टिकोण से काफी निंद्य लग सकता है। औरतों को कामना के विषय और पुरुष के अधीनस्थ के रूप में पेश किया जाता है। परंतु यह आक्षेप फिल्मों के असली संदर्भ की अपेक्षा में देखनी चाहिए। फिल्मों के दो संदर्भ हैं ही जो प्रायः एक-से रहते हैं। एक तरफ है : जिस सामाजिक वास्तविकता में वे बनाई जाती हैं, क्योंकि सपनों की कोई भी दुनिया शून्य से नहीं उपजती। फिर दूसरी तरफ है प्रेक्षकगण की सामाजिक वास्तविकता। यह वास्तविकता आज के भारत की भी है और भारत से बाहर रहने वाले लाखों भारतीय लोगों की भी। कुछ भारतीय लेखकों ने कहा है कि स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता से गड़बड़-हैरान होकर भारतीय पुरुषों

को हिंदी फिल्मों का अनुभव आश्वासनप्रद लगता है, जहां आधुनिक-आजाद होते हुए भी औरतें आखिर में नम्र-दबैल पत्नियां बन जाती हैं।

और स्त्रियों के विचार क्या हैं? क्या वे फिल्मों में स्त्री-चित्रण को अपमानजनक समझकर उन्हें अमान्य करती हैं? कई औरतों की राय ऐसी ही होती है, पर मालूम होता है कि उनसे ज्यादा औरतों को फिल्में अच्छी लगती हों। क्यों? मेरा ख्याल यह है कि बड़ी समस्या यह है कि एक तरफ हमें (स्त्रियों को) अपने अधिकारों में बराबरी की आवश्यकता-इच्छा रहती है जबकि दूसरी तरफ हमें शायद शारीरिक-संरचना संबंधी कारणों द्वारा पुरुष से इसी तरह के संबंध की चाह रहती है जो साधारणतया फिल्मों में ही मिलता है—उसके प्यार, चाह, लालच और परवाह का पात्र होना। परिणामस्वरूप हम नारियों का आचरण ही अकसर बराबरी की आवश्यकता के विपरीत चलता है। हम अपने दैनिक जीवन का एक बहुत बड़ा भाग गुजारते हैं स्वीकार्य समझौतों की तलाश में, निरंतर संघर्ष के दुःखमय जीवन और अन्याय स्वीकार करने से प्राप्त हुई अर्द्ध-खुशी के बीच।

पहचान का बंदरगाह

हिंसा और नारी के स्थान की तरह ही समाज-संबंधी मामलों का चित्रण भी फिल्मों के रस संप्रेषण के उद्देश्य के संदर्भ में जांचना चाहिए। फिल्मों की अयथार्थ दुनिया इतनी यथार्थ अवश्य होनी चाहिए कि लोग उसको ग्रहण कर सकें, लेकिन वह इतनी अयथार्थ होने लगती हैं कि शुद्ध रस का अनुभव ही होने देती हैं। इन मांगों का संतुलन कर पाना आसान कार्य नहीं है।

यह अ-वास्तविकता में वास्तविकता का उद्देश्य विशेष रूप से विदेशों में रहने वाले भारतीय लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण रहता है। उदाहरण के लिए जब सातवें दशक में बड़ी संख्या में भारतीय लोग इंग्लैंड आने लगे थे, तब यहां कोई भी भारतीय समाज नहीं था जो उनका स्वागत कर सकता। भारतीय जीवनशैली के अनुसार रहने के लिए कुछ भी सुविधाएं नहीं थीं; मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा नहीं थे, भारतीय दूकानें नहीं थीं, भारतीय भाषाएं बोलने वाले नहीं थे, त्योहार यथोचित ढंग से मनाने का अवसर नहीं मिलता था, भारतीय मनोरंजन भी नहीं थे। पर फिर ये फिल्में थीं जो उन सिनेमाघरों में दिखाई जाती थीं जहां-जहां भी भारतीय लोग रहते थे। उस समय फिल्में देखने के लिए लंबी-लंबी कतारें होती थीं। क्योंकि उन लोगों के लिए (आज भी) ये फिल्में सिर्फ व्यक्तिगत रस-अनुभव ही नहीं हैं बल्कि अवास्तविक होते हुए भी वे भारत को आज की दुनिया में दिखाती हैं। एक ऐसा भारत जो अन्य संस्कृतियों से आने वाले विभिन्न प्रभावों को सफलता से अपने अनुरूप-अनुकूल बनाता है, समाहित कर लेता है—अपने स्वभाव से, पर अपनी पहचान सर्वदा कायम रखता रहता है। ये

फिल्में अवकाश दे सकती हैं सिर्फ दैनिक जीवन के संघर्षों से नहीं, बल्कि जो विघटित पहचान एवं अपनी जड़ों से उखड़ जाने का दर्द जो हर एक प्रवासी का जीवनसाथी रहता है, उसे भी कम कर सकती हैं।

भारतीय आप्रवासी की विदेश में पैदा हुई संतान जिस स्थिति में रहती है वह भी पहचान और अपनेपन की समस्याएं उपजाती है। उनको सहायता देती है वह भारतीयता जो फिल्मों में खुशी से सब पश्चिमी धारणाओं और प्रभावों के साथ-साथ रहती है।

हिंदी फिल्मों में भारतीयता का मूल संदेश यह है कि दुनिया में कहीं भी भारतीय हो और रह सकते हैं। मान्यताएं और संस्कृति भिन्न-भिन्न तरह से बदल सकें तो भी भारतीयता नहीं बदलती। इस संदेश से यह विचार जन्म लेता है कि भारतीय होकर, दूसरे देश में रह सकते हैं आत्मसंघर्ष के बिना। फिल्मों के चलते थोड़े समय के लिए दुनिया सरल लगती है।

भावी परिदृश्य

जब मैं फिल्मों का विश्लेषण करने लगी तब सोचती थी कि 'रस' और 'कहानी' या 'संदेश' की फिल्में एक-दूसरे में शामिल नहीं कर सकती, क्योंकि मनोरंजक फिल्मों में कहानी की एकमात्र अहमियत यह है कि वह रस के संप्रेषण में सहायता करे, उसका अपना अभिप्राय उसमें सम्मिलित नहीं होना चाहिए, जबकि संदेश की फिल्मों में जो रस पैदा किया जाता है उसका एकमात्र काम यह है कि कहानी के 'संदेश' को आगे बढ़ाए।

इस प्रकार की फिल्मों में भाव और बुद्धि साथ-साथ काम करते हैं। कुछ काफी पुराने उदाहरण हैं, मसलन 'नया दौर'। हाल की ऐसी फिल्में हैं 'रोज़ा' और 'बंबई'। इन फिल्मों में उत्तम अभिनय और नाच-गीत एक तरफ रस उत्पन्न करते हुए कहानी की सेवा करते हैं, दूसरी तरफ अधिक गहन निजी और सामाजिक समस्याओं का अनुभव तीव्र करते हैं। यह विकास फिल्मों के एक मिश्रित रूप की ओर जाता है जो मुझे बहुत उत्साहजनक लगता है, क्योंकि इन मनोरंजक मगर हृदयस्पर्शी रूप द्वारा लोगों को रस अनुभव के अतिरिक्त जानकारी और गंभीर मतलब के संदेश पहुंचाए जा सकते हैं।

दुनिया भर में सामाजिक बदलाव की आवश्यकता रहती है, लेकिन इन दिनों बहुत-से सुधारक यह मानते हैं कि जब तक लोगों के विचार और मान्यताएं न बदलें, तब तक असली बदलाव न होगा। सिर्फ अगर बदलाव उचित समझकर लोग खुद ही उसे चाहते हों तो उसके लिए काम करेंगे, उसे सहायता देंगे। इस तरह का प्रभाव और क्रमिक बदलाव हिंदी फिल्मों जैसे लोकप्रिय माध्यमों से संभव लगता है। यह संभावना

फिल्म निर्माताओं को बड़ा दायित्व सौंप देती है। लोकप्रियता, लाभ और सामाजिक प्रासंगिकता की आवश्यकताओं के बीच बड़ा झगड़ा-संघर्ष चलता रहता है, फिर रस संप्रेषण की उसकी अपनी आवश्यकताएं भी रहती हैं।

ये सब मांगें पूरी करना न आसान है न सुविधाजनक। फिर भी बहुत-सी ऐसी फिल्में निर्मित होती हैं जो बढ़िया ढंग से रस का संप्रेषण करती हैं तथा बड़ी योग्यता से सार्थक कहानी-संदेश और रस का सम्मिश्रण प्रस्तुत करती हैं।

□

मैं यह मानता हूं कि भारत की कई भाषाएं हिंदी से अधिक समृद्ध और प्राचीन हैं। परंतु हिंदी एक ऐसी भाषा है जो सभी भारतीय भाषाओं में कड़ी का काम कर सकती है।

ज्ञानी जैल सिंह

हिंदी के लिए ख़तरा नहीं है हिंग्लिश

सुरेश उनियाल

टेलीविज़न एक ऐसा प्रचार माध्यम है जो भारत जैसे विकासशील देश के घर-घर में अपना प्रभाव जमाए बैठा है। उसके द्वारा प्रचारित की जाने वाली हिंदी भाषा में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है जिससे एक नई भाषा 'हिंग्लिश' का जन्म हो रहा है। इस भाषाई स्थिति पर हिंदी के कथाकार की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी।

'इंडिया ने पाकिस्तान को वार्न करते हुए कहा कि वह लाइन ऑफ कंट्रोल की सेंक्टिटी का ऑनर करते हुए अपनी ट्रुप्स को फौरन वापस बुला ले।

'इंडियन क्रिकेट सलैक्शन कमेटी ने अपनी मीटिंग में सचिन तेंडुलकर को फिर से इंडियन टीम का कैप्टन अपॉइंट कर दिया है।

'असम में हुए ट्रेन एक्सीडेंट में डैथ टौल 400 का नंबर क्रॉस कर चुका है। इसकी जिम्मेदारी एक्सेप्ट करते हुए रेलवे मिनिस्टर ने अपना रेजिगनेशन प्राइम मिनिस्टर के पास भिजवा दिया है।'

टेलीविजन पर अकसर समाचार सुनते हुए ऐसी भाषा आपने सुनी होगी। इस तरह की भाषा का इस्तेमाल जिस उदारता से हो रहा है, उससे तो लगता है, भाषा वैज्ञानिकों के सामने एक नया भाषाशास्त्र रचने की चुनौती भी आ सकती है। टेलीविजन चूंकि लिखे हुए या छपे हुए शब्द का माध्यम न होकर बोले हुए शब्द का माध्यम है इसलिए इसमें उस तरह की भाषागत शुद्धता की अपेक्षा नहीं की जा सकती जिसकी लिखे या छपे शब्द के माध्यम से की जाती है। इस तरह एक बिना

मांगी छूट तो पहले ही दिन से इस माध्यम को मिल जाती है। और इसी छूट ने टेलीविजन पर आज हिंदी को हिंग्लिश बनाकर रख दिया है।

आखिर यह हिंग्लिश बला क्या है और कहां से आ गई है? मोटे तौर पर देखा जाए तो दिल्ली और आसपास के इलाकों में कॉनवेंट पढ़ी नई पीढ़ी हिंदी के नाम पर जिस भाषा में बतियाती है, उसमें हिंदी और अंग्रेजी की जिस तरह की खिचड़ी बन जाती है, उसे देखते हुए इसे हिंग्लिश कहा जाने लगा है। दरअसल होता यह है कि दिल्ली जैसे महानगर में किसी एक खास जगह के रहने वाले या कोई एक खास भाषा बोलने वाले लोग तो नहीं हैं। हिंदीभाषी जरूर कुछ ज्यादा संख्या में हैं लेकिन पंजाबी, बांग्ला, तमिल, गुजराती, मराठी, मलयालम, तेलुगु बोलने वालों की संख्या भी कम नहीं है। इनकी नई पीढ़ी में भाषा को लेकर किसी तरह का आग्रह नहीं है क्योंकि बचपन से ही इन्होंने अपने आसपास कई तरह की भाषाओं को बोला जाता सुना है। बड़े सहज रूप से इन्होंने आपस में बोलचाल के लिए अपनी एक नई भाषा गढ़ ली जिसमें हिंदी और अंग्रेजी के शब्दों का घालमेल था। इस भाषा का ज्यादा प्रचलन मध्य और उच्चमध्य वर्ग में था। क्योंकि यही वर्ग अपने बच्चों को पढ़ने के लिए अंग्रेजी माध्यम वाले पब्लिक स्कूलों में भेज रहा था। निम्न वर्ग के बच्चे टूटी-फूटी हिंदी से ही काम चला रहे थे।

पब्लिक स्कूलों के दो भेद थे और उसी तरह उनमें पढ़ने वाले बच्चों के भी दो भेद थे। उच्चमध्य वर्ग के बच्चे जिस तरह के पब्लिक स्कूलों में पढ़ते थे वे पूरी तरह से अंग्रेजीमय थे। उनके लिखने-बोलने में ही नहीं, उठने-बैठने में भी अंग्रेजियत थी। लेकिन इस वर्ग के बच्चों के लिए भी हिंदी का मतलब वही था, हिंदी और अंग्रेजी के घालमेल वाली भाषा। निम्नमध्य वर्ग के बच्चे जिन स्कूलों में जाते हैं वहां की अंग्रेजियत सीमित होती है। यहां लिखने-पढ़ने की भाषा तो जरूर अंग्रेजी है लेकिन बाकी सब हिंदी में ही होता है। हिंदी का मतलब वही है जो इनके हिसाब से हिंदी है यानी हिंदी और अंग्रेजी का घालमेल। हिंदी इनके लिए पढ़े जाने वाले विषय के तौर पर लगभग नहीं ही होती क्योंकि हिंदी यहां वैकल्पिक विषय ही होती है और इसके बिना भी काम चल जाता है। इसके बजाय संस्कृत या कोई दूसरा विषय लेना बेहतर समझा जाता है क्योंकि उनमें नंबर अच्छे मिलते हैं। (यहां पर नंबर की जगह अंक शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है।) और इनमें ज्यादा मेहनत करने की भी जरूरत नहीं होती। रट-रटाकर काम चल जाता है। इस तरह शुद्ध हिंदी को लेकर कभी इनके कोई आग्रह नहीं रहे। हिंग्लिश ही कामचलाऊ हिंदी के रूप में इनके साथ रही।

इन सब लोगों की धारणा शायद धीरे-धीरे यही बनती चली गई कि उनकी हिंदी यानी जिसे हम हिंग्लिश कह रहे हैं, ही वह भाषा है जिसे लोग समझ सकते हैं। जिस हिंदी को बरसों से यहां का आदमी बोलता-समझता आ रहा है, इन्हें लगता है कि

वह आम आदमी की भाषा नहीं है। उसमें संस्कृत मूल के कई ऐसे कठिन शब्द हैं जिन्हें आम दर्शक नहीं समझ सकता। उनका सोचना बहुत गलत भी नहीं था। कुछ लोग सचमुच ऐसी हिंदी लिख और बोल रहे हैं जिसमें संस्कृत के कुछ ऐसे शब्दों की भरमार रहती है। इस भाषा को समझने में तो कम पढ़े-लिखे उत्तर भारतीयों को भी कठिनाई हो सकती है जो हिंदी और हिंदी के अलावा और कुछ नहीं जानते। तो फिर कॉनवेंटी पीढ़ी से यह उम्मीद करना तो बेकार था कि वह इनकी भाषा को समझ पाएगी।

टेलीविजन के निजी चैनलों पर, खासकर समाचारों का जिम्मा जिन लोगों को सौंपा गया, वे इसी कॉनवेंटी पीढ़ी के लोग थे। ये वे लोग थे जो पहले से अंग्रेजी में पत्रकारिता कर रहे थे। वहां काम करते हुए भी इनका संबंध हिंदी से सीधा कभी नहीं रहा। हिंदी को हिंग्लिश बनाने की मजबूरी इस पीढ़ी के लिए यों भी थी कि इन्हें खुद को अंग्रेजीदां साबित करने के लिए यह भी दिखावा करना होता है कि इन्हें हिंदी दरअसल आती नहीं है, बस किसी तरह कामचलाऊ ही बोल पाते हैं। इसलिए हिंदी बोलते हुए अंग्रेजी शब्दों को सायास बीच में डालते हैं। और धीरे-धीरे यह उनकी आदत बनती चली जाती है। फिर यही उनका सच बनता चला जाता है। इनका हिंदी का उच्चारण भी कुछ-कुछ वैसा ही होता है जैसा किसी गैरहिंदीभाषी या खास तौर पर किसी यूरोपीय का होता है।

जो लोग पहले से हिंदी में पत्रकारिता कर रहे थे, वे शायद इन्हें अपने ज्यादा अनुकूल नहीं लगते थे। इसलिए ऐसे लोग वहां कम ही गए। जो गए भी, वे न संख्या में इतने थे और न इतने प्रभावी थे कि अपनी बात मनवा सकते। इसलिए उन्होंने भाषा के मामले में, अगर उनके किसी तरह के आग्रह रहे भी हों तो उन्हें प्रकट करने की जरूरत नहीं समझी।

ऐसा नहीं है कि हिंग्लिश के पक्ष में कोई तर्क नहीं थे। उनका कहना है कि भाषा वही होती है जो बोली जाती है। और भाषा वही जीवित रहती है जो खुद को समय और परिस्थितियों के हिसाब से बदल सकती हो। अंग्रेजी के या किसी भी दूसरी भाषा के जो शब्द आज चलन में हैं, उन्हें भाषा का हिस्सा क्यों नहीं बनाया जा सकता? आखिर बहुत से शब्द हैं जिन्हें अपनाया गया है। मेज, कुर्सी, चाकू जैसे शब्द तो मूल रूप से हिंदी के नहीं हैं लेकिन आज इन्हें हिंदी का ही मान लिया गया है। स्कूल, कॉपी, पेन जैसे शब्द बोलचाल में आम तौर पर इस्तेमाल होते रहते हैं। इनकी जगह विद्यालय, पुस्तिका और लेखनी जैसे शब्द इस्तेमाल जरूर किए जा सकते हैं लेकिन ये आम बातचीत का उस तरह से हिस्सा नहीं हैं जिस तरह इनके अंग्रेजी विकल्प हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसे अनेक शब्द हमें मिल जाएंगे जिनके अंग्रेजी विकल्प आम बोलचाल में इस्तेमाल होते हैं लेकिन उनके हिंदी या संस्कृत तत्सम बोलचाल में इतनी बहुलता से इस्तेमाल नहीं होते। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि

बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल करने के आग्रह से चला जाए जैसा कि हिंग्लिश के मामले में देखने को मिल रहा है।

इसमें तो कोई शक नहीं कि भाषा के मामले में बहुत सख्त और अनुदार रवैया अकसर परेशानी ही पैदा करता है। यहां आप जितने उदार होंगे, उतना सफल हो पाएंगे। देखा गया है कि किसी भाषा में दूसरी भाषा के शब्दों को ग्रहण करने की जितनी ज्यादा उदारता होगी, वह भाषा उतनी अधिक अपनाई जाएगी। हमारे सामने ऐसे कई उदाहरण मौजूद हैं जहां किसी भाषा ने अपनी श्रेष्ठता के बावजूद अनुदारता के कारण अपनी जगह खोयी है। लेटिन और संस्कृत के उदाहरण हमारे सामने हैं। व्याकरण के मामले में इन भाषाओं ने बहुत सख्त रवैया अपनाए रखा। आम बोलचाल के या दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में शामिल नहीं होने दिया। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा और अध्ययन के क्षेत्र में तो इनका व्यवहार होता रहा और आज भी हो रहा है लेकिन आम बोलचाल से यह बाहर होती चली गईं। इसके विपरीत अंग्रेजी को देखें। अंग्रेजी बड़े उदार भाव से हर प्रचलित शब्द को आत्मसात करती चली गई जिनका प्रयोग इसके बोलने वाले अपनी क्षेत्रीय बोलियों में करते थे। इसीलिए अंग्रेजी आज भी, जब महान् अंग्रेजी साम्राज्य की बात इतिहास बन चुकी है, दुनिया के अनेक देशों में बोली जाती है। हर जगह उन्होंने स्थानीय भाषाओं और बोलियों के शब्दों को अपना लिया है। यह प्रक्रिया आज भी जारी है। हाल ही में ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के दक्षिण एशियाई संस्करण में यहां बोले जाने वाले कई शब्दों को शामिल किया है।

इन स्थापनाओं से उन बहुत से लोगों की नाराजगी मोल ली जा सकती है जो भाषाई शुद्धता में यकीन रखते हैं। हमारा यह आशय कतई नहीं है कि अंग्रेजी की तरह हमें अपने शब्दकोश ही बदल देने चाहिएं। इसकी कोई जरूरत नहीं है । लेकिन अतिशुद्धतावाद से भी बचना जरूरी है। क्योंकि आप जितना ज्यादा शुद्धतावादी और धारणाओं में कठोर बनेंगे, उतना ही दूसरों में अपने प्रति भय पैदा करेंगे। तब आपको उनके मुखर और सक्रिय विरोध का सामना भी करना पड़ सकता है। तमिलनाडु में हिंदी का जो तीव्र विरोध होता रहा है, उसे हम इसी प्रकाश में देख सकते हैं।

...बात हिंग्लिश की हो रही थी। भाषाई उदारता एक बात है और भाषा को अपने ढंग से चलाने का दुराग्रह दूसरी चीज है। अंग्रेजी के जो शब्द हमारी आम बोलचाल में समा गए हैं, उनको भाषा में स्वीकार कर लेने में कोई बुराई नहीं है। लेकिन यह उतना ही होना चाहिए जितना भाषा के अपने मिजाज के भीतर सहज रूप से समा सके। ऐसा न हो कि ऐसा करके भाषा ही पराई लगने लगे, जैसा हिंग्लिश के मामले में होता नजर आ रहा है।

अभी तक हम टेलीविजन जैसे दूर तक पहुंच रखने वाले माध्यम में हिंदी के साथ अंग्रेजी को मिश्रित करने के समाजशास्त्रीय-भाषाशास्त्रीय कारणों पर चर्चा करते

रहे हैं। लेकिन बात इतनी सीधी और इकहरी भी नहीं है। थोड़ा गौर से देखें तो इसके आर्थिक कारण भी हमारी समझ में आ जाएंगे। टेलीविजन के हिंदी के कार्यक्रमों के दर्शकों में सिर्फ हिंदीभाषी क्षेत्रों के लोग ही नहीं होते। भारत के अहिंदीभाषी ही नहीं, मध्यपूर्व से लेकर सुदूरपूर्व तक के, और यूरोप और अमेरिका के भारतीय मूल के लोग बड़ी संख्या में इनके दर्शक होते हैं। वे आम तौर पर अंग्रेजी में ही व्यवहार करते हैं। हिंदी के कार्यक्रम तो वे इसलिए देखते हैं ताकि उतनी देर के लिए वे खुद को कल्पना में ही सही, भारत में महसूस कर सकें। इसीलिए ऐसा मान लिया गया कि ये लोग हिंदी जानते हैं लेकिन बहुत ज्यादा हिंदी वे पचा नहीं सकते। उनके लिए अंग्रेजी के शब्दों की बहुतायत की वजह से हिंग्लिश आसान पड़ती है। ये दर्शक इन चैनलों के लिए महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं क्योंकि ये इन कार्यक्रमों को देखने के लिए डीटीएच पर मोटी रकम खर्च करते हैं। जिसकी कमाई, जाहिर है, इन चैनलों को ही मिलती है। ये सब लोग पैसे वाले होते हैं। ये निजी चैनल बड़ी संख्या में इन्हें अपने साथ इसलिए भी जोड़े रखना चाहते हैं ताकि इनके नाम पर विज्ञापनदाताओं को आकर्षित कर सकें।

विज्ञापन और बड़ी ग्राहक संख्या, ये दो बड़े लालच जब सामने हों तो इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि भाषा का क्या हो रहा है। भाषा की चिंता से बड़ी चिंता इनके लिए अपने व्यवसाय की है। और जाहिरा तौर पर इसमें कुछ गलत भी नहीं दिखता। आखिर ये व्यवसाय करने के लिए ही तो यह सब कर रहे हैं।

अब एक सवाल यह पैदा होता है कि क्या यह हिंग्लिश सचमुच एक नई भाषा के तौर पर विकसित होने जा रही है? इसका जवाब आज नहीं दिया जा सकता। वक्त ही इस सवाल का सही जवाब दे सकता है। कुछ संकेत जरूर मिलते हैं जिनके आधार पर अनुमान जरूर लगाए जा सकते हैं। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की देखा-देखी कुछ अखबारों ने भी हिंग्लिश को अपनाना शुरू कर दिया था। लेकिन वह ज्यादा समय तक उसे जारी नहीं रख सके। जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि इसका उन्हें फायदे के बजाय नुकसान ही अधिक हो रहा है। इससे उनकी ग्राहक संख्या बढ़ने के बजाय घटने लगी है। क्योंकि छपी हुई भाषा के मामले में पाठक ज्यादा आजादी नहीं देता। यों भी बोल-चाल में हम खुद भी भाषा को गलत बोल या सुन क्यों न लें, उसे लिखने या छपा हुआ देखने में गलतियां अच्छी नहीं लगतीं। और कोई भी भाषा गलत बोले जाने में भले ही ज्यादा बुरी न लगें लेकिन गलत लिखे जाने में बहुत बुरी लगती है। सही अर्थ में तो भाषा वही होती है जिस रूप में वह लिखी जाती है।

टेलीविजन पर भी हम देखते हैं कि एक या दो साल पहले इस हिंग्लिश में बड़ी उदारता के साथ अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग हो रहा था, इधर वह कुछ कम हुआ है। इससे यह तो जाहिर हो ही जाता है कि हिंग्लिश अपनाने वालों को भी यह अंदाजा हो गया होगा कि भाषा के साथ यह खिलवाड़ आम दर्शक को स्वीकार्य नहीं

है और इससे दूर तक काम चलने वाला भी नहीं है।

भाषा सहज रूप से विकसित होने वाली शैय है। इसका विकास कोई अपनी तरह से अपनी धारणाओं के आधार पर नहीं कर सकता। लेकिन यह भी उतनी ही बड़ी सचाई है कि भाषा को बांधकर भी नहीं रखा जा सकता। बांधकर रखने की कोई भी कोशिश भाषा का हित नहीं कर सकती। इससे भाषा जड़ हो जाएगी और उसका विकास रुक जाएगा। भाषा को सतत गतिशील रहना चाहिए, तभी वह जीवित रह सकती है।

ऐसा नहीं है कि हिंदी को हिंग्लिश बनाने की कोशिश इस तरह की कोई आखिरी कोशिश है। इस बार भी इस कोशिश से ऐसा नहीं है कि कोई प्रभाव न पड़ रहा हो, कुछ ज्यादा अंग्रेजी शब्द इसके साथ जुड़ गए हैं, इसका हिस्सा बन गए हैं। समय के साथ और भी जुड़ेंगे। और हिंदी—अंग्रेजी के और दूसरी भाषाओं के शब्द अपने में समेट पा रही है, यह इसकी जीवंतता का प्रमाण है।

□

हिंदी में जो ध्वनि संगीत है, जो शांति का सूक्ष्म झंकार परिव्याप्त है, जो पवित्रता है वो बेजोड़ है। भावी मनुष्यत्व के तत्वों से हिंदी परिपूर्ण होगी। भविष्य में संस्कृति का जो नवीन संस्करण होगा, उसे हिंदी अपने में समाहित करेगी।

सुमित्रानंदन पंत

विज्ञापन जगत में हिंदी की दुर्दशा

विनोद अग्निहोत्री

शीतल पेय बनाने-बेचने वाली एक कंपनी के विज्ञापन की पंक्ति है—ये दिल मांगे मोर। अब से कुछ वर्ष पहले यह पंक्ति प्रचारित होती तो 'मोर' को अवश्य ही 'मयूर' के अर्थों में पढ़ा जाता मगर आज की युवा पीढ़ी उसे अंग्रेजी का एम-ओ-आर-ई ही पढ़ेगी। विज्ञापनों की भाषा में हिंदी की उभरती इस नई शक्ल को दिखा रहे हैं जाने-माने पत्रकार तथा मीडियाकर्मी विनोद अग्निहोत्री।

शायद दुनिया में हिंदी ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसके विकास के लिए हिंदीभाषी 'हिंदी दिवस' मनाते हैं। वरना किसी भी भाषा के नाम पर कोई दिवस मनाया जाता हो, ऐसा सुनने में नहीं आता है। इंग्लैंड में 'इंग्लिश डे' या फ्रांस और जर्मनी में फ्रेंच और जर्मन डे नहीं मनाए जाते हैं। चीनी, रूसी के नाम पर भी दिवस मनाए जाने की परंपरा नहीं है। यहां तक कि भारत में भी मराठी, बांग्ला, तमिल, कन्नड़, मलायलम आदि के नाम पर दिन या दिवस नहीं मनाते हैं। इसके बावजूद इन सभी भाषाओं का उत्तरोत्तर विकास और विस्तार भी हो रहा है और हिंदी से ज्यादा रचनात्मक काम भी किया जा रहा है। दरअसल आजादी के बाद हिंदी को राजभाषा का दर्जा देकर उसे सरकारी बैसाखी के सहारे खड़ा करने की जो कोशिश की गई, उसका नतीजा यह है कि व्यवहार में आज भी हिंदी, अंग्रेजी के मुकाबले दोयम दर्जे की भाषा होकर रह गई है। यही नहीं, आजादी के आंदोलन के दौरान जो हिंदी कश्मीर से कन्याकुमारी तक अंग्रेजी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के खिलाफ

स्वाधीनता संघर्ष की भाषा बन गई थी, आजादी के बाद हिंदीभाषी एक ऐसी हीन ग्रंथि का शिकार होते चले गए कि हिंदी उनके लिए एक ऐसी बूढ़ी मां की तरह हो गई, जो घर के कोने में पड़ी-पड़ी खांसती रहे, लेकिन साहबजादों को उसकी तरफ देखने की न फुर्सत है और न ही उस मां का बेटा कहलाने की ललक।

पिछले कुछ दशकों के दौरान देश की शिक्षा व्यवस्था, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने देश में एक ऐसे वर्णसंकर वर्ग को जन्म दिया है, जो खाता तो हिंदी की रोटी है, लेकिन गीत अंग्रेजी के गाता है। चाहे हिंदी फिल्मों के अंग्रेजीदां कलाकार हों या विज्ञापन एजेंसियों में काम करने वाले कान्वेंटी शिक्षा प्राप्त एक्जीक्यूटिव, उनके लिए हिंदी एक ऐसा उपजाऊ खेत हो गई है, जिसमें बिना खाद-पानी डाले, उसे जितना चाहे, जैसे चाहे रौंदते चले जाएं और चांदी की फसल काटते जाएं।

एक जमाना था जब हिंदी में साहित्य, कविता, नाटक, गीत, लेख, कहानियां और उपन्यास लिखने की होड़ थी और हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ सृजनकर्ताओं को सामाजिक सम्मान और राष्ट्रीय ख्याति मिलती थी। इसके साथ ही इससे भी बढ़कर रचनाकारों को आत्मसंतोष मिलता था। लेकिन जैसे-जैसे बाजार का विस्तार हुआ, बाजार ने विशाल हिंदीभाषी क्षेत्र में पूंजी दोहन की अपार संभावनाएं देखीं। फिर शुरू हो गया हिंदी की ऐसी-तैसी करने का सिलसिला। जो अंग्रेजीदां वर्ग सिर्फ अपने नौकरों के साथ हिंदी में बात करता है, जिसके लिए हिंदी गंवारों और अपढ़ों की जुबान है, एकाएक हिंदी की ओर मुड़ गया। बाजार के साथ-साथ देश में हुए टी०वी० और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के हमले ने विज्ञापन जगत के लिए अपार संभावनाएं पैदा कर दीं। लेकिन विज्ञापन जगत पर काबिज अंग्रेजीदां वर्ग के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी कि उसे उपभोक्ता के रूप में उस विशाल हिंदीभाषी क्षेत्र से संवाद करना था, जिसे अंग्रेजी नहीं आती है, जबकि दूसरी तरफ विज्ञापन जगत के कर्ताधर्ताओं का हिंदी से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इसलिए इस वर्णसंकर वर्ग ने अपनी प्रकृति के अनुरूप ही अपने लिए एक सुविधाजनक वर्णसंकर भाषा तैयार कर ली, जिसे 'हिंग्लिश' कहा जाने लगा है।

इस प्रक्रिया की शुरुआत सबसे पहले एक निजी टी०वी० चैनल ने अपने समाचार बुलेटिन में हिंदी-अंग्रेजी की खिचड़ी शब्दावली के इस्तेमाल से की। हिंदी को भ्रष्ट करने की इस साजिश के पक्ष में तर्क दिया गया कि गैर हिंदीभाषी क्षेत्रों और भारत के अलावा पाकिस्तान, दुबई सहित अन्य दक्षिण एशियाई देशों के दर्शकों को संबोधित करने के लिए ऐसी भाषा आवश्यक है। लेकिन कुछ ही दिनों में जब दर्शकों ने इस भ्रष्ट भाषा प्रयोग को नकार दिया, तब उस टी०वी० चैनल को भी अपना नजरिया बदलना पड़ा। लेकिन पैसा कमाने के लिए कुछ भी करने के लिए उतारू इस वर्ग ने हार नहीं मानी और अंग्रेजी के शब्दों को देवनागरी लिपि में लिखना और हिंदी

के प्रचलित मुहावरों और शब्दों को रोमन लिपि में लिखकर विज्ञापन तैयार करना शुरू किया गया। नटखट शब्द को Natkhat और Ab Ayega Maza जैसे प्रयोग इस समय आम हैं। विडंबना यह है कि एक तरफ विज्ञापन न मिलने के कारण टाइम्स ऑफ इंडिया और हिंदुस्तान टाइम्स जैसे सबल प्रकाशन समूहों की 'दिनमान', 'धर्मयुग', 'सारिका', 'वामा', 'माधुरी', 'पराग,' 'इन्द्रजाल कामिक्स' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' जैसी लोकप्रिय पत्रिकाएं दम तोड़ गईं, 'रविवार' जैसी खोजी पत्रिका को बेमौत मरना पड़ा। नवभारत टाइम्स के लखनऊ, पटना, जयपुर संस्करण बंद हो गए। कई हिंदी अखबार और साप्ताहिक पत्र बंदी की कगार पर हैं। वहीं दूसरी ओर हिंदीभाषी दर्शकों को उपभोक्ताओं में बदलकर उनकी जेब खाली करने के लिए विज्ञापनदाता वर्ग हिंदी को ही अपनी सीढ़ी बना रहा है, वह भी उसकी कमर तोड़कर!

एक तरफ तो हिंदी के प्रति मन में नफरत और हीन भाव है तो दूसरी तरफ सिर्फ अंग्रेजी से ही विज्ञापनों की दूकानदारी नहीं चल सकती है—इसलिए हिंदी के कान मरोड़ने का जो नया सिलसिला शुरू हुआ है, वह भाषा को किस कदर भ्रष्ट और विकृत कर रहा है, इसका सहज अनुमान किशोरों और युवाओं की हिंदी सुनकर लगाया जा सकता है।

हिंदीभाषी प्रदेशों में अब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, श्यामसुंदर दास, जयशंकर प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त जैसे नाम नई पीढ़ी के लिए अपरिचित से हो चले हैं। भ्रष्ट हिंदी के सहारे बह रही विज्ञापनों की इस आंधी में नई पीढ़ी के लिए टेलीविजन और अखबारों में प्रयोग हो रही वर्णसंकर भाषा ही हिंदी है। हिंदी में हो रहे इन नए विज्ञापनी प्रयोगों ने एक बार फिर उसी तरह हिंदी की कमर तोड़ने का काम शुरू कर दिया है, जैसे पिछले कुछ वर्षों में सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रयोग के नाम पर सरकारी संस्थानों ने हिंदी में सिर्फ शास्त्रीय और संस्कृतनिष्ठ शब्द ठूंस-गढ़कर उसे अनुवाद की भाषा बनाने की कोशिश की थी। इन अनुवादकों ने 'सड़क का चौड़ीकरण हो रहा है' या भूतल के लिए 'सर्व निम्न मंजिल' जैसे बेतुके शब्द या वाक्य गढ़कर हिंदी की ऐसी-तैसी करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी। उसी तरह बाजारीकरण के दौर में विज्ञापन जगत हिंदी की दुर्दशा करने में जुटा हुआ है।

□

आज़ादी के बाद हिंदी

डॉ० श्रीप्रकाश शुक्ल

लेखक का मानना है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पांच दशकों में हिंदी की प्रगति और विकास के लिए पर्याप्त कदम उठाए गए तथा उच्चतम कोटि के साहित्य का सृजन हुआ। हिंदी के भावी स्वरूप के प्रति आश्वस्त करता हुआ एक महत्त्वपूर्ण आलेख।

हिंदी स्वतंत्रता आंदोलन की भाषा थी। बीसवीं सदी के आरंभ में अनेक लोगों ने बचपन में हिंदी भाषा इसलिए सीखी थी कि वे स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदार हो सकें। वह समय ऐसा था जब हिंदी के समर्थक और प्रशंसक देश के कोने-कोने में विद्यमान थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, गोपाल स्वामी आयंगर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी दयानंद सरस्वती, केशवचंद्र सेन आदि अनेक ऐसे विद्वान और मनीषी हुए, जिन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार में अविस्मरणीय योगदान किया। ज्ञातव्य है कि अहिंदी भाषी क्षेत्र के इन विद्वानों ने हिंदी का समर्थन और सेवा बड़ी प्रखरता से की। यही नहीं, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान दक्षिण भारत में हिंदी की कई प्रचार सभाएं भी सक्रिय रहीं। इसके पीछे एक शक्ति कार्य कर रही थी, जो थी समग्र राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने की शक्ति। वह शक्ति हिंदी के माध्यम से कश्मीर से कन्याकुमारी तक देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य कर रही थी। यही वह शक्ति थी, जब केशवचंद्र सेन के कहने पर स्वामी दयानंद सरस्वती ने *'सत्यार्थ प्रकाश'* की रचना हिंदी में की, जबकि वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, उनकी मातृभाषा गुजराती थी और प्रेरणा देने वाले केशवचंद्र सेन

स्वयं बांग्लाभाषी थे। तब एक जुनून था निज भाषा का। निजभाषा की उन्नति ही लोकोपयोगी और लोक कल्याणकारी समझी गई और वह निजभाषा भारत के बहुसंख्यक लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली हिंदी थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान निर्माण के समय अन्य बातों के साथ भारत संघ की राजभाषा निर्धारित करने के लिए काफी लंबी बहस चली। काफी समय तक अनिर्णय की स्थिति बनी रही और अंततः मुंशी-आयंगर फार्मूले के अनुसार देवनागरी लिपि में लिखी गई हिंदी को भारत की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के विकास और प्रचार-प्रसार में कोई बाधा नहीं आयी, बल्कि इसका प्रचार-प्रसार बढ़ता रहा। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के विकास का प्रमुख कारण भारतीय बाजार-व्यवस्था रही। हिंदी फिल्मों का योगदान भी इसमें कम नहीं है। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की लोकप्रियता का अंदाज इस बात से भी लगाया जा सकता है कि पहले निजी टी०वी० चैनलों पर चौबीसों घंटे अंग्रेजी में कार्यक्रम आते थे किंतु अब अधिकतर कार्यक्रम हिंदी भाषा में आते हैं और अत्यंत लोकप्रिय हैं। बहुदेशीय चित्रपटल पर हिंदी की उपादेयता बढ़ी है।

पाचवें दशक में हिंदी में विज्ञान, गणित, सामाजिक विज्ञान जैसी पाठ्य पुस्तकों का लेखन कार्य उत्कृष्ट रहा। मौलिक लेखन के साथ ही इस दशक में अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद कार्य भी व्यापक स्तर पर हुआ। इन दोनों तरह के प्रयासों से हिंदी में पाठ्य पुस्तकों का अभाव दूर हुआ। अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद करने वाले अधिकांश लोग अहिंदी भाषी रहे। कार्यालयीन अनुवाद के लिए सरकारी स्तर पर अनुवाद की व्यवस्था स्वतंत्रता के बाद की गई और सातवें दशक में केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो की स्थापना की गई। अनुवाद और द्विभाषिकता एक अपरिहार्य स्थिति है और इसका महत्त्व तब और बढ़ जाता है, जब हमें अंतरराष्ट्रीय पटल पर पहचान बनानी हो। अनुवाद किसी देश की समृद्धि और जागरूकता का परिचायक है। दुनिया में क्या हो रहा है, हम अनुवाद के माध्यम से ही जान पाते हैं। कई देशों में अनुवाद की बड़ी प्राचीन परंपरा रही है। अरब की 'बैतुल हिक्मा' एक ऐसी ही संस्था थी, जो आठवीं शताब्दी में सक्रिय थी और इस संस्था ने समग्र संस्कृत वाङ्मय का अरबी भाषा में अनुवाद सम्पन्न कराया। द्विभाषिकता की स्थिति भारत की अकेली समस्या नहीं है। यह संपूर्ण विश्व के राष्ट्रों की भाषा समस्या है। रूस, चीन, जापान, फ्रांस, अमेरिका जैसे देश भी अपनी भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग किसी न किसी रूप में करते ही हैं। आरंभ में हिंदी का प्रयोग अंग्रेजी की प्रतिद्वंद्विता में हुआ, किंतु राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पटल पर आकर प्रतिद्वंद्विता की जगह सह-अस्तित्व का सहारा लेना समीचीन है। समकालीन साहित्य लेखन में हिंदी भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से विश्व की किसी भाषा और साहित्य से पीछे नहीं है। आज हिंदी में प्रतिदिन पर्याप्त लेखन होता है। ऐसा नहीं है कि यह साहित्य परिमाण की दृष्टि से ही भारी भरकम

है, बल्कि गुणवत्ता की दृष्टि से भी यह कार्य श्रेष्ठ और उच्चकोटि का है। तकनीकी परिवर्तन के साथ-साथ हिंदी में भाषिक परिवर्तन भी हुआ। इन पांच दशकों में हिंदी भाषा शब्दावली की दृष्टि से बहुत संपन्न हुई है। इसमें ज्ञान-विज्ञान के तकनीकी और पारिभाषिक शब्दों का विशाल भंडार जुड़ा है। भारत की अन्य भाषाओं के साथ-साथ विदेशी भाषाओं के शब्द बहुतायत से प्रयोग किए गए हैं।

इन पांच दशकों में हिंदी की पहचान बढ़ी है। हिंदी क्षेत्रों के अलावा अहिंदी भाषी क्षेत्रों में भी हिंदी अपनायी गई है, भले ही वह व्याकरण की दृष्टि से खरी न हो। बंबइया हिंदी, कलकतिया हिंदी इसके प्रमाण हैं। स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजी की तुलना में हिंदी के प्रयोग को लेकर हीनताबोध धीरे-धीरे कम हुआ है। वरिष्ठ नौकरशाह और राजनेता भी अब हिंदी के प्रतिष्ठित कवि-लेखक कहलाने में गौरव महसूस करते हैं।

इन दशकों में हिंदी को बढ़ावा देने में स्वैच्छिक और निजी संस्थाओं का योंगदान कम नहीं रहा है। अनेक संस्थाओं ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में व्यापक योगदान किया। कई ऐसी संस्थाएं भी खुलीं, जिसने पुरस्कार प्रदान कर इसके माध्यम से हिंदी का प्रचार-प्रसार किया। सरकारी स्तर पर भी इस प्रकार के अनेक प्रयास किए गये। राजभाषा के प्रयोग के लिए छोटे-बड़े अनेक पुरस्कारों की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था व्यक्ति और संस्था, दोनों के लिए की गई। इसका भी बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा। राजभाषा के रूप में हिंदी के कार्यान्वियन के लिए कई तरह की समितियां भी गठित की गईं। यें समितियां कार्यालय स्तर, नगर स्तर, क्षेत्र, मंत्रालय और देश स्तर की समितियों के रूप में गठित की गईं और यहां तक कि संसदीय समिति भी सक्रिय रही। समितियों की देख-रेख में कार्यालयीन हिंदी ने धीरे-धीरे चलना सीखा। राजभाषा हिंदी की चर्चा के समय हम यह भूल जाते हैं कि कार्यालयीन भाषा के रूप में हिंदी का इतिहास केवल पचास वर्ष पुराना है और किसी भाषा के लिए पचास वर्ष का समय कुछ भी नहीं होता। अंग्रेजी को भी यह दूरी तय करने में तीन सौ से अधिक वर्ष लगे थे। इन पांच दशकों में हिंदी को कार्यालय की भाषा के रूप में स्थापित करने में हम हिंदी अनुवादकों की भूमिका की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

इन दशकों में हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही। देश की स्वतंत्रता का उद्घोष सही मायने में इनसे ही होता है। इनकी पहचान समाज में इतनी मजबूत हुई कि हाल के दिनों में अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। हां, एक परिवर्तन अवश्य हुआ है कि पहले साहित्यिक पत्रिकाओं की भरमार होती थी और अब घरेलू पत्रिकाएं बढ़ी हैं।

पहले लोकप्रिय साहित्य स्तरीय भी था। पहले कवि सम्मेलनों में उच्च कोटि के कवि और साहित्यकार जाना पसंद करते थे, अब कवि सम्मलनों में साहित्यकारों की संख्या घट रही है। हिंदी का व्यावसायिक पक्ष बढ़ा है। कम्प्यूटर के क्षेत्र में भी हिंदी पीछे नहीं रही। आज हम वह सभी कार्य कम्प्यूटर पर हिंदी में कर सकते हैं, जो

अंग्रेजी में करते हैं। यहां तक कि इंटरनेट पर हिंदी में संदेश भेजने की भी व्यवस्था सी-डैक ने कर दी है।

स्वतंत्रता के बाद का हिंदी साहित्य विश्व के किसी भी साहित्य से कम समृद्धिशाली नहीं है। इन दशकों में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, आलोचना, संस्मरण, रेखाचित्र, व्यंग्य आदि विधाओं में प्रचुर साहित्य सृजन हुआ। कविता के क्षेत्र में हरिवंश राय बच्चन, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, नागार्जुन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', मुक्तिबोध, त्रिलोचन, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी आदि; नाटककार के रूप में जगदीश चन्द्र माथुर, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा आदि, उपन्यासकार के रूप में अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी; कहानीकार के रूप में विष्णु प्रभाकर, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, रांगेय राघव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, हिमांशु जोशी, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल आदि निबंधकार के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय; व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, बेढब बनारसी, गोपाल चतुर्वेदी आदि; आलोचना के क्षेत्र में नंददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विजयेन्द्र स्नातक, रामचंद्र तिवारी आदि की रचनाओं से इन दशकों में हिंदी साहित्य समृद्धिशाली हुआ है।

□

हिंदी का ताना-बाना

राधेश्याम तिवारी

किसी भी क्षेत्र और स्तर पर हम हिंदी की बात करें तो दो तथ्य समान रूप से सामने आते हैं—उसका अंग्रेजी द्वारा हड़पा गया मूल अधिकार तथा शिक्षित वर्ग का अंग्रेजी के प्रति आकर्षण। इस परिचर्चा में प्रस्तुत हैं हिंदी के दो लेखकों—गिरधर राठी तथा अब्दुल बिस्मिल्लाह के विचार।

किसी भी देश की राष्ट्रभाषा ही वहां के निवासियों के लिए संपर्क भाषा का काम करती है। वैसे तो हिंदी को संविधान में राजभाषा का दर्जा प्राप्त है, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर देश में आज भी संपर्क भाषा का काम अंग्रेजी ही करती है। चाहें वह सरकारी दफ्तरों में कामकाज की स्थिति हो या सर्वोच्च प्रतियोगी परीक्षाओं में अगुवाई पाने का। सुसंस्कृत या सभ्य कहलाने के मामले में भी अंग्रेजी, हिंदी से कहीं अधिक सम्मान प्राप्त किए हुए है। साठ के दशक या उसके बाद हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में स्थापित करने के लिए कभी-कभार आवाज भी उठती रही है। दुर्भाग्य यह रहा कि जब-जब उत्तर भारत से हिंदी को स्थापित करने की आवाज उठी, तब-तब देश के अन्य राज्यों ने हिंदी के खिलाफ आवाज बुलंद की और पूरे देश में 'हिंदी समर्थन' और 'हिंदी विरोध' के नाम पर राजनीति होने लगी। संविधान में राजभाषा का दर्जा पाने के बावजूद हिंदी के संपर्क भाषा न बन पाने के गतिरोध भी इन्हीं बिंदुओं में कहीं छिपे हैं।

भारत में हिंदी और अंग्रेजी जानने वालों की संख्या के संदर्भ में आंकड़े बताते

हैं कि आज लगभग तीस करोड़ लोग हिंदी जानते हैं, जबकि अंग्रेजी जानने वालों की संख्या मात्र 30 लाख है। देश के प्रायः हर क्षेत्र में अंग्रेजी की तुलना में हिंदी बोलने और समझे वालों की संख्या कहीं ज्यादा है। जो लोग अंग्रेजी को इस देश की संपर्क भाषा के रूप में देखते हैं, वे इस सत्य से इंकार करते हैं कि हिंदी इस देश की बहुसंख्यक लोगों की भाषा है। यह तय है कि कोई विदेशी भाषा इस राष्ट्र की न तो राष्ट्रभाषा बन सकती है और न ही संपर्क भाषा। हिंदी ही वह एकमात्र भाषा है, जो इस भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम है। अब समय आ गया है कि इसे स्वीकार किया जाए और हिंदी को संपर्क भाषा बनने के मार्ग की बाधाओं को हटाया जाए।

इन बाधाओं से लड़ने के लिए जनसंपर्क एवं सांस्कृतिक चेतना पैदा करनी होगी। इसके बिना यह कार्य संभव नहीं है। मात्र कानून बनाने से तो यह काम हो नहीं सकता। सुप्रसिद्ध हिंदी लेखक गिरिराज किशोर ने अपने एक लेख—'भाषा और राजनीति' में इस ओर संकेत किया है, जिससे सहमत हुआ जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि "भाषा के मामले में सबसे बड़ी बात गुंजाइश की है। भाषा के विकास या उसके बारे में समझ बनाने की बात को अन्य राजनीतिक और प्रशासनिक मुद्दों की तरह अध्यादेशों और अधिनियमों को नहीं सौंपा जा सकता। हालांकि इस मुल्क में अंग्रेजी और उर्दू भाषाओं का विकास कुछ-कुछ इसी तरह हुआ। हो सकता है कि अंग्रेजी भाषा इसलिए साहित्य की प्रभावी भाषा न बन सकी हो। उस भाषा में साहित्य तो लिखा जा रहा, परंतु वह मातृभाषाओं में लिखे जाने वाले साहित्य के मुकाबले दोयम दर्जे का ही साहित्य समझा जाएगा।" इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है। उसकी प्रकृति ही भाषा की जान है।

यहां इस संदर्भ में प्रस्तुत हैं हिंदी के दो जाने-माने रचनाकारों के विचार।

हमारी मानसिक गुलामी लगातार बढ़ती जा रही है

गिरधर राठी

13 अगस्त, 1946 को जन्मे हिंदी के सुपरिचित एवं प्रतिष्ठित लेखक श्री गिरधर राठी की अब तक विभिन्न विधाओं की 40 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें तीन कविता-संग्रह भी हैं। सम्प्रति, साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के संपादक श्री गिरधर राठी का मानना है कि—"हिंदी भाषियों में अपनी भाषा के लिए कोई प्रेम नहीं है। चिंतन और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा है। हम बुरी तरह से अंग्रेजी-अनुवाद की भाषा में सोचते, लिखते और पढ़ते हैं।"

इसके कारणों का जिक्र करते हुए राठी जी बताते हैं कि—"अनुमान यह है कि

चूंकि हिंदी बहुत बड़े भू-भाग की भाषा है और केंद्र की राजनीति में प्रायः इसी क्षेत्र के कुछ नेताओं का वर्चस्व रहा है, इसलिए सांस्कृतिक और भाषा के धरातल पर हमारे भीतर गफलत आ गयी है। दूसरी ओर सत्ता बनाए रखने के लिए भाषा के मामले में बहुत बुरे समझौते होते रहे। अब जब हिंदी प्रदेश केंद्र में समाप्त प्रायः है तब परिस्थितियां बदल चुकी हैं। तथाकथित वैश्वीकरण और कम्प्यूटर जैसी टेक्नोलॉजी जैसे कई दबाव हैं, जिनके तहत अब हिंदी का या किसी भी भारतीय भाषा का सिर उठाना असंभव-सा लगने लगा है। दूसरी ओर भाषा के मामले में हमारी मानसिक गुलामियां लगातार बढ़ती जा रही हैं। अब इस दुश्चक्र से निकलना और भी कठिन हो गया है।''

''यह दुश्चक्र क्या भारत में ही है?'' उत्तर में राठी जी बताते हैं—''यह दुश्चक्र विश्वव्यापी है, लेकिन विश्व में कुछ ताकतवर देश इसका भरपूर लाभ उठा रहे हैं। बाकी तीन चौथाई से ज्यादा दुनिया की आबादी गुंजलकों में ऐंठती जा रही है।''

इसके निदान के संबंध में अपनी राय व्यक्त करते हुए वे कहते हैं, ''इससे निपटना कोई सामान्य काम नहीं है। हालांकि यदि गांधी जैसा कोई महापुरुष पैदा हो तो संभव है लोगों को जगा सके, लेकिन यह हल भी क्षणिक ही होगा। इससे मुक्ति प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चेतना, सक्रियंता और प्रतिबद्धता के विस्तार में ही दिखती है। ठोकरें हम बहुत खा चुके हैं। शायद कभी कोई गहरा अहसास लोगों के मन में अपने भीतर से पैदा हो और वही सामूहिक रूप से इस परिदृश्य को बदले। जब तक हम छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति से संतुष्ट होते रहेंगे, और अपने निहायत संकरे दायरों के बाहर नहीं झांकेंगे, तब तक परिदृश्य यही रहेगा।''

भाषागत आंदोलनों का जिक्र करते हुए श्री राठी कहते हैं कि, ''इन आंदोलनों से हिंदी भाषा का कोई कल्याण होने वाला नहीं है। हिंदी भाषा के विकास और उद्धार के लिए शुरुआत शिक्षा से करनी होगी। अब तो इसके लिए कोई भी तैयार नहीं है। हिंदी भाषी राज्यों में पहली कक्षा से ही अंग्रेजी पढ़ाने की मुहिम छिड़ी हुई है। सरकारों के पास और सब चीजों के लिए धन है, लेकिन शिक्षा के लिए नहीं है। शिक्षा से शुरू करके प्रशासन, न्यायपालिका, संसद और विधायिका और तमाम स्तरों पर अपने देश की भाषाओं के प्रयोग की अब तो बात भी नहीं की जाती। हमारी भाषा मूलरूप से निरक्षरों के बल पर जीवित है। हम साक्षरों को भाषा के मामले में ईमान बदलते एक पल भी देर नहीं लगती।''

विदेशों में हिंदी की स्थिति पर उनका कथन है, ''जब हमारे देश में ही हिंदी की यह स्थिति है तो विदेशों में हिंदी के विषय में सोचना कितना सार्थक है, इसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है।

''दरअसल शिक्षा की बुनियाद दिनोंदिन कमजोर होती गयी। जब प्राथमिक और

माध्यमिक स्तरों पर ही भाषा और उससे जुड़ी विधाओं को सम्यक् रूप में सिखाया नहीं जाता, तब स्नातकोत्तर और शोध-कार्यों में क्या हो सकता है। अधिक से अधिक आप कुछ अच्छे नमूने दिखा सकते हैं, पर वे अपवाद ही हैं। यदि हम हिंदी या किसी भी भारतीय भाषा को बचाना चाहते हैं तो काम तो बुनियाद से ही शुरू करना पड़ेगा। यदि हम अनेक कार्यों के लिए अरबों रुपये इकट्ठे करके गंगा-यमुना में बहा सकते हैं तो शिक्षा जैसी बुनियादी जरूरत के लिए क्यों नहीं कुछ गैर सरकारी ढंग से जमा करके शुरुआत की जाती। एक बिंदु पर सरकार की आलोचना भी नाकाफी लगती है। असली सवाल यह है कि व्यक्तिशः और समष्टि के रूप में समूचे समाज को क्या हो गया है?''

हिंदी भाषा के शुद्धिकरण की काफी चर्चा है। अपनी टिप्पणी में राठी जी कहते हैं कि ''मुझे लगता है कि हिंदी के स्वरूप के तमाम सवाल वे लोग उठा रहे हैं, जिनका वास्तव में हिंदी भाषा से या किसी भी भारतीय भाषा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। भाषाएं हजारों धाराओं और अंतर्धाराओं से बनती-बिगड़ती और संवरती रहती हैं। दुर्भाग्य तो यही है कि वस्तुतः वे सारे स्रोत अवरुद्ध कर दिए गए हैं और फिजूल का वितंडा खड़ा कर दिया जाता है। भाषा बरतने की चीज है। शब्द-कोशों और फाइलों में दबाकर रखने की चीज नहीं है। जब पहली कक्षा से आप अंग्रेजी पढ़ाना चाहेंगे, तब कौन-सी भाषा बनेगी। हिंदी के मामले में सांप्रदायिकता मुख्य रूप से हिंदी और उर्दू को लेकर शुरू होती है दोनों तरफ से। संप्रदायों में बांटकर भाषा को एक और राजनीतिक हथियार बना लिया जाता है।''

दूरदर्शन और रेडियो में प्रयुक्त होने वाली हिंदी का जिक्र करते हुए वे कहते हैं कि ''हिंदी भाषा सरकार के दूरदर्शन की अपेक्षा टेलीविजन के अन्य निजी चैनलों पर अधिक सुनाई और दिखाई पड़ती है। हिंदी में अब कितने और कौन-से कार्यक्रम दूरदर्शन पर होते हैं, इसकी जांच करें तो चौंकते-चौंकते थक जाएंगे। गिरावट का असर रेडियो और दूरदर्शन में भी देखा जा सकता है। अब साहित्य के लिए तो इनमें जगह लगातार सिकुड़ती जा रही है। जो बचा-खुचा सामने नजर आता है, उस पर कोई उत्साहजनक टिप्पणी नहीं की जा सकती।''

हिंदी भाषा का विस्तार हुआ है

अब्दुल बिस्मिल्लाह

5 जुलाई, 1949 को जन्मे हिंदी के लोकप्रिय रचनाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह के अब तक पांच उपन्यास, पांच कहानी-संग्रह, तीन कविता-संग्रह, एक नाटक और एक निबंध-संग्रह आ चुके हैं। पिछले वर्षों में विदेश में हिंदी व्याख्याता के रूप में

पदस्थ रह चुके डॉ० बिस्मिल्लाह हिंदी की दशा और दिशा पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि—"आमतौर से हिंदी की दुर्दशा पर चर्चा होती है, लेकिन मेरा मानना है कि हिंदी भाषा का बहुत विस्तार हुआ है। हिंदी में इतनी पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं, यह इसका एक जीवंत प्रमाण है। हिंदी का विकास केवल साहित्यिक पत्रिकाओं से नहीं हो रहा है, बल्कि हिंदी में निकलने वाली हर तरह की पुस्तकों की भी इसके योगदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मसलन इतिहास, राजनीति शास्त्र, विज्ञान, अर्थ शास्त्र—सभी तरह की पुस्तकें अब हिंदी में आ रही हैं। यह हिंदी के विकास का एक सकारात्मक पक्ष है।"

डॉ० अब्दुल बिस्मिल्लाह बताते हैं कि "अब दुनिया की लगभग सभी भाषाओं का साहित्य-अनूदित रूप में हिंदी में उपलब्ध है। इससे लोगों में हिंदी पढ़ने की रुचि तो बढ़ी ही है, इसका एक फायदा यह भी हुआ है कि दूसरी भाषाओं के साहित्य में कैसा लिखा जा रहा है, इससे भी एक बड़ा हिंदी पाठक वर्ग परिचित हो रहा है। हालांकि अनूदित साहित्य पढ़ने के कई खतरे भी हैं। जब हम किसी भाषा के साहित्य को अनूदित रूप में पढ़ते हैं तो जरूरी नहीं कि वह संबंधित मूल रचना के बिल्कुल करीब हो। एक कठिनाई यह भी है कि प्रायः अनूदित साहित्य मूल भाषा से न होकर, अंग्रेजी से होते हैं। ऐसे अनुवाद कम ही हैं, जो मूल भाषा से हुए हों। फिर भी तमाम विसंगतियों के बावजूद मूल और अनूदित का फर्क बताना विद्वानों का काम है, आम पाठक को इससे कुछ लेना-देना नहीं है। आम पाठक के लिए यही बड़ी बात है कि वह हिंदी में उपलब्ध विदेशी साहित्य पढ़ रहा है।

"लोग विदेशी साहित्य को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। हिंदी में अच्छी से अच्छी पुस्तकों की भी चर्चा नहीं होती, जबकि अंग्रेजी की कम महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की खासी चर्चा हो जाती है। दरअसल यह हमारी गुलाम मानसिकता है, जिससे हम अभी तक उबर नहीं पाये हैं। जब तक हम अपने साहित्य के महत्त्व को नहीं समझेंगे और गौरव का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक हिंदी को वह स्थान नहीं मिल सकेगा, जो एक राष्ट्रभाषा को मिलना चाहिए।"

आखिर वह कौन-सा कारण है जिसके होते हिंदी को वह सम्मान नहीं मिलता? इसके उत्तर में डॉ० बिस्मिल्लाह बताते हैं—"एक खास तरह का वर्ग है जो सभी महत्त्वपूर्ण जगहों को अपने हाथ में समेटे हुए है, वह नहीं चाहता कि हिंदी को सम्मानजनक स्थान मिले। फिर भी हिंदी का विकास वे रोक नहीं पाएंगे। हिंदी का विकास विश्वविद्यालयों से नहीं, जनता के बीच से हो रहा है। कुछ लोग हैं, जो हिंदी के शुद्धिकरण की बात करते हैं। हिंदी तो शुद्ध ही है। अगर हिंदी में प्रयुक्त होने वाले दूसरे शब्दों को हम निकाल देंगे तो इससे हिंदी शुद्ध नहीं हो जाती। जिसे हम विदेशी शब्द मानते हैं, वे हिंदी में इस तरह पच-खप गये हैं कि उनकी जगह हम कोई और शब्द नहीं दे सकते। मसलन 'सुराही', 'मेज' आदि अनेक शब्द हैं, जो हिंदी के हो

गये हैं। दुनिया में वही भाषा सबसे अधिक समृद्ध है, जिसमें अधिक से अधिक दूसरी भाषाओं के शब्दों को खपा लेने की क्षमता है। यही गुण अंग्रेजी का है। जो लोग हिंदी के शुद्धिकरण की बात करते हैं, वे अरबी और फारसी शब्दों को हिंदी से निकालने की बात करते हैं, अंग्रेजी शब्द उनके लिए विदेशी नहीं हैं। इससे एक प्रकार की भाषाई सांप्रदायिकता की भी गंध आती है। जिसे जन सामान्य ने स्वीकार कर लिया, उसे हिंदी से बाहर नहीं किया जा सकता। हिंदी का विकास समितियां या कानून से संभव नहीं है। इसे जनता ही आगे बढ़ाएगी। यह सुखद बात है कि अब अहिंदी प्रदेशों में भी हिंदी खूब पढ़ी जा रही है।''

''विदेश में हिंदी पढ़ाते हुए आपने क्या महसूस किया!'' इसके उत्तर में डॉ० बिस्मिल्लाह बताते हैं कि ''पोलैंड में हिंदी से अधिक संस्कृत पढ़ने में लोगों की रुचि है। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि संस्कृत को लोग वहां सम्मान के साथ बचाये हुए हैं और हम इससे लगातार दूर होते जा रहे हैं। वहां हिंदी पढ़ने वाले छात्र जब भारत आते हैं तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य होता है कि यहां के लोग हिंदी में नहीं, अंग्रेजी में उनसे बातें करते हैं, जबकि स्वयं पोलैंड में अंग्रेजी बहुत कम बोली जाती है। यह सोच कि अंग्रेजी के बिना हम आधुनिक एवं सभ्य नहीं हो सकते, हमारी गुलाम मानसिकता की देन है।''

समकालीन हिंदी साहित्य पर चर्चा करते हुए वे कहते हैं—''हिंदी में लिखा जा रहा साहित्य दुनिया की दूसरी भाषाओं के साहित्य के मुकाबले बेहतर है। जहां तक हिंदी कविता का सवाल है, इस संदर्भ में पाठकों को भी अपना मानसिक विकास करना होगा। मेरा मानना है कि आज की कविता पहले से अधिक जटिल है। इसे लिखना सबके लिए संभव नहीं है। अगर चीजों के तौर-तरीकों में बदलाव आए हैं तो फिर कविता में यह बदलाव क्यों नहीं आते। भौतिक क्षेत्र में हमारी जितनी तरक्की हुई है, ऐसा लगता है कि मानसिक रूप में अभी हमारी वह तरक्की नहीं हो पायी। इसका यह मतलब नहीं कि आज जो लिखा जा रहा है, वह सब उत्तम ही है। बड़े पैमाने पर बहुत कुछ ऐसा लिखा जा रहा है जिसे अनावश्यक रूप से प्रचारित करके उसके महत्त्व को दर्शाया जा रहा है। साहित्य के लिए यह उचित नहीं है। पहले आवश्यकता है कि हिंदी को हम सम्मान की नजर से देखें। यह इसकी हकदार है। अन्य देशों में भी अपनी राष्ट्रभाषा को लोग सम्मान की नजर से देखते हैं। जब तक भारत में यह चेतना नहीं आयेगी, हम भाषा के मामले में कुंठा के ही शिकार रहेंगे।''

□

हिंदी की भूमिका दोहरी नहीं, तेहरी है

बलराम

लेखक-पत्रकार बलराम का मानना है कि हिंदी जबरदस्ती थोपी गई भाषा नहीं है बल्कि उसे हम भारतीयों ने अपने संस्कारों से अर्जित किया है। वह मात्र सरकारी प्रयासों से ही आगे नहीं बढ़ी है बल्कि हमारे भीतर प्रवाहित होने वाली भाषा है जिसने अपनी राह तथा मंजिल स्वयं तय की है।

भारत कोई साधारण देश नहीं, एक महादेश है, विशाल हृदयवाला एक महान् देश। इसकी सभ्यता में, संस्कृति में, भाषाओं और बोलियों में निश्चय ही कुछ न कुछ ऐसा है, जो संसार के किसी भी देश में इस तरह एकत्र संभव नहीं है। अन्यथा ऐसा क्योंकर संभव होता कि दुनिया की चाहे जो जाति अपनी भाषा, सभ्यता और संस्कृति लेकर आयी, इस देश ने उसे अपने में रचा-बसाकर पचा लिया और खुद को पहले से कुछ और समृद्ध हुआ महसूस किया। वे जातियां या कौमें चाहे शरणार्थी बनकर आयी हों या आक्रांता बनकर, मगर यहां आकर वे यहीं की हो गयीं। भारत के सिवा और कौन-सा देश इस दुनिया में है, जहां इतनी जातियां, इतनी सभ्यताएं, इतनी संस्कृतियां, इतनी भाषाएं और इतनी बोलियां हों और सब अपने-अपने तरीके से फल-फूल रही हों। दुनिया में कुल कितनी भाषाएं हैं, इसकी सही-सही और सर्वमान्य सूची तो किसी के पास नहीं है, लेकिन एक मोटा अनुमान है कि धरती पर कोई ढाई हजार भाषाएं और बोलियां हैं, जिनमें से कई के बोलने वालों की संख्या कुछ सौ तक सीमित है, लेकिन जिन भाषाओं को दस लाख से अधिक लोग बोलते हों, इनकी संख्या डेढ़ सौ से ज्यादा नहीं है, जिनमें से कोई पच्चीस अकेले भारत में

मौजूद हैं और अधिकांश अपने-अपने क्षेत्रों की राजभाषाएं हैं और भारत में सबकी सब भारतीय भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भारत के अलावा दुनिया में और कहां ऐसा संभव है? इस अर्थ में भी भारत की विशिष्टता जग जाहिर है।

कुछ लोग भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को आधिकारिक भाषा का दर्जा दिलाकर भारतीयता को पोषने की गुहार लगाते हैं। ऐसी गुहार लगाते हुए वे भूल जाते हैं कि दुनिया के अन्य देशों की तरह भारत कोई एकजातीय, एकधर्मी और एकभाषी मुल्क नहीं है और जब ऐसा नहीं है तो उनकी इस एकरंगी भारतीयता की गुहार का क्या मतलब हो सकता है। अब तो हमें भारतीय रंग के रूप में रंग-बिरंगे आकाश को कुबूल कर सभी रंगों को भारतीय रंग मानना है और सभी भाषाओं की गरिमा को भारतीय गरिमा से जोड़ना है। और तो और, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, भूटान, श्रीलंका, म्यांमार, सिंगापुर तथा तिब्बत तक की भाषाओं के रंग को भारतीय रंग के रूप में देखने की मानसिकता बनानी है। उर्दू, दरी-फारसी, भोटी, नेपाली, बांग्ला, तमिल, पंजाबी, कश्मीरी, सिंधी तथा सिंहली जैसी उनकी भाषाएं हमारी साझी भाषाएं हैं। इसलिए उन देशों के साथ भारत का रिश्ता कुछ इस तरह जुड़ा हुआ है कि उसे अन्य देशों से भारत के रिश्तों की तरह नहीं देखा जा सकता। भारत के आस-पास बसे ये सारे के सारे देश भारतीय हवाओं में सांस लेते हैं और अपनी हवाओं से भारत को उद्वेलित-आंदोलित करते हैं और इस उद्वेलन का माध्यम बनती है भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी, कहीं-कहीं उर्दू, तमिल और बांग्ला, लेकिन इन सबसे ऊपर रहती है अंग्रेजी। दुनिया के अन्य अनेक मुल्कों की तरह भारत और पड़ोसी देशों के बीच अंतरराष्ट्रीय स्तर के संवाद के काम को अंग्रेजी ही अंजाम देती है। यह चाहे गलत हो या सही, पर वस्तुस्थिति यही है और जब तक हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्य भाषाओं में स्थान नहीं मिलता, यह स्थिति बनी रहनेवाली है। लेकिन टीवी के विभिन्न चैनलों पर देखिए तो अंग्रेजी के साथ हिंदी की अनिवार्यता भी दिखाई पड़ती है और इस माध्यम से धीरे-धीरे ही सही, हिंदी राष्ट्रभाषा से आगे विश्वभाषा की ओर कदम बढ़ा रही है। जरूरत है इन कदमों को मजबूती प्रदान करने की।

निखालिस राष्ट्रभाषा, और निखालिस भारतीयता की तलाश अब शायद दिवास्वप्न ही लगे। इस्लामी सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य को भारत ने अपने में ऐसे एकमेक कर लिया है कि उसे अलगाना असंभव है। ऐसे ही पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, कला और अंग्रेजी भाषा की जड़ें भारत में इतने गहरे तक फैल गई हैं कि उन्हें पचा लेने के सिवा हमारे पास कोई चारा नहीं है। फारसी पढ़नेवालों ने जरूर तेल बेचा होगा कभी, पर अंग्रेजी पढ़ा-लिखा तबका स्वतंत्र भारत में भी तेल नहीं बेच रहा, वह सत्ता में हिस्सेदार है, जिस हिस्सेदारी के टूटने की दूर-दूर तक कोई संभावना नहीं दिखती।

राजनीतिक रूप से भारत के रूप में एक राष्ट्र होकर व्यावहारिक रूप से एक राष्ट्रभाषा के सूत्र में हम वैसे कभी बंध ही नहीं पाए, जैसे चीन, रूस, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन आदि ने खुद को अपनी-अपनी राष्ट्रभाषाओं की डोर से बांध रखा है, पर वह क्या भाषा का साम्राज्यवाद नहीं है? इसी ज्यादती के चलते उर्दू के साम्राज्यवादी मंसूबों को ध्वस्त करते हुए क्या पाकिस्तान टूट नहीं गया? सांस्कृतिक और भाषाई दृष्टि से तो वह पहले से ही विभाजित था, सिर्फ राजनीति का डंडा था, जो उसे जोड़े हुए था। इसलिए हिंदी को वैसी डंडेदार राष्ट्रभाषा न बनाना ही बेहतर है। वैसे भी दुनिया के विशालतर जनसमुदाय के बीच संपर्क का स्वाभाविक माध्यम होने के कारण पल-प्रतिपल हिंदी को दुनिया भर में तमाम जगह फैलते ही जाना है। दुनिया भर के भाषाशास्त्रियों की नजर में सबसे अधिक वैज्ञानिक भाषा हिंदी के प्रसार को रोकना किसी के लिए भी संभव नहीं है। संचार माध्यमों के जरिए, हिंदी फिल्मों के द्वारा तथा व्यापारिक और शैक्षिक जरूरतों के चलते हिंदी को लगातार फैलते जाना है और यह काम राजनीति के बल के बगैर होना है, लेकिन इससे भारत की अन्य भाषाओं को सिकुड़ नहीं जाना है, बल्कि हिंदी में अनूदित होकर उन्हें भी और-और फैलना तथा समृद्ध होना है।

इसके लिए जरूरी है कि भारत की सभी प्रमुख भाषाएं हिंदी अनुवाद के माध्यम से आपसी आदान-प्रदान की प्रक्रिया को और तेज करें। बांग्ला के *गणदेवता* (ताराशंकर वद्योपाध्याय), मलयालम के *मछुआरे* (तकषि शिवशंकर पिल्लै), मराठी के *मृत्युंजय* (शिवाजी सावंत), कन्नड़ के *पर्व* (भैरप्पा), तमिल के *चित्रप्रिया* (अखिलन) तथा ओड़िया के *दो सेर धान* (फकीरमोहन सेनापति) जैसे उपन्यास जब अनूदित होकर हिंदी में छपते हैं तो एकाएक कैसे उनके रचयिता भारत के प्रतिनिधि लेखक के रूप में उभर आते हैं और कैसे वे प्रेमचंद के *गोदान*, अज्ञेय के *शेखर: एक जीवनी*, फणीश्वरनाथ रेणु के *मैला आंचल*, राजेंद्र यादव के *सारा आकाश*, अमृतलाल नागर के *अमृत और विष*, भगवतीचरण वर्मा के *टेढ़े-मेढ़े रास्ते* यशपाल के *झूठा सच*, श्रीलाल शुक्ल के *रागदरबारी*, कृष्णा सोबती के *ज़िंदगीनामा* तथा विनोद्कुमार शुक्ल के *नौकर की कमीज* की तरह हिंदी जगत का कंठहार हो जाते हैं। भारत का दो-तिहाई हिस्सा राष्ट्रभाषा हिंदी में बोलना अगर जानता है तो हिंदी का ही ज्यादा से ज्यादा कर्तव्य बनाता है कि ऐसे सार्वदेशिक प्रयत्न वह ज्यादा से ज्यादा करे ताकि भगिनी भाषाएं प्रेरित होकर खुद भी वैसे प्रयत्न करने की कोशिश करें। वे न भी करें तो भी हिंदी को शिकायत नहीं होनी चाहिए। हम सारे संसार को हिंदी में समेटें, पर राष्ट्र को भी समग्रता में समेटने के उत्तरदायित्व से मुंह न चुराएं, तभी हिंदी को राष्ट्रभाषा और विश्वभाषा का उसका स्वाभाविक अधिकार मिल पाएगा। इसलिए हिंदी की भूमिका दोहरी नहीं, बल्कि तेहरी है। जन भाषा के रूप में उसे अपने दूर-दूर तक फैले इलाकों की बोलियों की शब्द संपदा तो समेटनी ही है, भगिनी भाषाओं

से भी उदारतापूर्वक शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों की लेनी-देनी करनी है और यह उसका पहला और अनिवार्य काम है। इसके बिना उसके नकली या टकसाली भाषा बन जाने का खतरा है, जो सरकारी कामकाज की भाषा भले ही बन जाए, वह जनभाषा का अपना स्वाभाविक रूप-सौंदर्य खो सकती है। किसी भी समृद्ध भाषा को लगातार जन के बीच पैठकर उससे रस लेते रहना जरूरी ही नहीं, अनिवार्य भी होता है।

हिंदी में काफी अनुवाद हुआ है और निरंतर हो रहा है : भारत की भाषाओं से और दुनिया की दूसरी महत्त्वपूर्ण भाषाओं से भी। यह काम सबसे अधिक अंग्रेजी के माध्यम से हुआ है। फिर रूसी के माध्यम से और इधर कुछ काम चीनी, जर्मन, पोलिश, स्पेनी और फ्रांसीसी भाषाओं से भी सीधे-सीधे हुआ है। यह देखकर अच्छा भी लगता है कि पश्चिमी साहित्य से अवगत होने के लिए अंग्रेजी के जरिये जो एकमात्र खिड़की खुलती थी, अब रूसी, जर्मन, फ्रांसीसी, चेक, हंगारी, पोलिश आदि भाषाओं के जरिए अनेक खिड़कियां खुल गयी हैं, जिनसे कुछ ज्यादा हवाएं हिंदी को सहला सकती हैं और हिंदी अपना रूप-सौंदर्य पश्चिम को कुछ और खिड़कियों के जरिए भी दिखा सकती है। दिखा सकती है और बता सकती है कि विश्वभाषा के रूप में स्थापित होने से उसे रोकना भारत के ही नहीं, मानवता के खिलाफ भी क्यों है?

हम अपने आंकड़े देकर प्रस्तुत करेंगे तो शायद उन पर संदेह व्यक्त कर दिया जाए, इसलिए हम पश्चिम के भाषाविद्ों के आकड़ों के हिसाब से ही देखते हैं तो बोलनेवालों की संख्या के हिसाब से हिंदी दुनिया की तीसरी बड़ी भाषा ठहरती है। कोई सत्तर करोड़ लोग मंदारिन बोलते हैं और यही है दुनिया की भाषा नंबर एक, जिसे हम सामान्यत: चीनी कहते हैं, जिसकी कई बोलियां और उपभाषाएं हैं, जिनमें लिपि की समानता के बावजूद उतना ही अंतर है, जितना हिंदी और मराठी या नेपाली में अथ्वा अंग्रेजी और डच में, लेकिन गणना में वे सब चीनी भाषा के अंतर्गत गिन ली जाती हैं, जबकि हिंदी और उर्दू में कोई अंतर है तो सिर्फ लिपि का, मगर उन्हें दो भाषाओं के रूप में गिना जाता है, जिससे 44 करोड़ लोगों की भाषा अंग्रेजी विश्व की दूसरे नंबर की भाषा ठहर जाती है। प्रभाव की बात हो, तब वह विश्व की एक नंबर की भाषा ठहर जाएगी, लेकिन सांख्यिकी के आधार पर पश्चिम वाले मानते हैं कि हिंदी बोलने वाले सिर्फ पैंतीस करोड़ हैं। इनमें दस करोड़ उर्दूभाषी लोग जोड़कर देखिए जरा, क्या आंकड़ा बनता है? तीसरे नंबर की भी मानिए तो भी क्यों नहीं हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं में शामिल किया जाना चाहिए?

तीन करोड़ या उससे अधिक लोगों द्वारा बोली जानेवाली 35 भाषाओं में 11 भाषाएं भारतीय हैं: हिंदी, बांग्ला, उर्दू, पंजाबी, तेलुगु, तमिल, मराठी, कन्नड़, गुजराती, मलयालम तथा ओड़िया। दुनिया का कितना साहित्य हिंदी में अनूदित हो

रहा है और हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का कितना साहित्य दुनिया की दूसरी भाषाओं में अनूदित हुआ और हो रहा है, यह जानने के लिए हमारे पास कोई संस्थान नहीं है और हो भी तो खबरें कोई बहुत उत्साहजनक नहीं हैं। हम शायद फैलना नहीं जानते। किसी विवशता में सूरीनाम, मॉरीशस, फीजी आदि में फैल भी गए तो हमें छा जाना नहीं आता। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और स्पेनिश भाषाएं कहां से कहां पहुच गईं, एक हमारी हिंदी है कि हम उसे दुनिया के सामने अपनी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रस्तुत करने से भी डरते हैं, क्यों, आखिर क्यों? बलात् छा जाने की हमारी परंपरा नहीं है, लेकिन अपने ही घर में हिंदी को उसका स्वाभाविक अधिकार न मिले तो किस भारतीय का दिल नहीं जलेगा। लेकिन दिल जलाने की बजाय अब हमें हिंदी में ही काम करने का दीप जलाना सीखना होगा, तभी हिंदी विश्व जगमगाएगा और तभी हिंदी के विश्व भाषा बनने का मार्ग प्रशस्त होगा।

□

मैं इंग्लैंड में काफी रहा हूं और मैं जानता हूं कि वहां कोई अंग्रेज किसी दूसरे अंग्रेज से अपनी मातृभाषा को छोड़कर किसी अन्य भाषा में वार्तालाप नहीं करता। जब मैं भारतीयों को अपने भारतीय भाईयों के साथ विदेशी भाषा में बोलते देखता हूं तब मुझे बड़ी वेदना होती है।

महात्मा गांधी

हिंदी जहां है, वहां तो रहेगी

अशोक गुप्ता

हिंदी के युवा कथाकार अशोक गुप्ता हिंदी की भावी दशा को लेकर पर्याप्त आशान्वित और आश्वस्त हैं। उनका कहना है कि हिंदी भारत में संपर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है।

हिंदी के वर्तमान-भविष्य पर चर्चा का सुयोग बन पड़ा है। ऐसी स्थितियां मुझे आशान्वित करती हैं कि संभवतः इनसे कुछ ऐसे प्रश्न सामने आएंगे, जो अगर उत्तर खोज पाए तो भाषा के विकास को कुछ गति मिलेगी...अगर निरुत्तरित रह गये तो एक मंथन छोड़ेंगे। उनसे कुछ नहीं भी निकलेगा तब भी कोई विचार नियामक तो हाथ लगेगा ही, जो रास्ता भले न हो, प्रकाश होगा।

पहला और ठेठ बुनियादी सवाल यह है कि हिंदी किस की भाषा है और वह जिसकी भी है, वह अपनी भाषा से क्या अपेक्षाएं रखता है? मैं समझता हूं कि कम से कम उत्तर भारत में तो हिंदी लगभग हर किसी की भाषा है, भले ही कुछ कोस जाकर उसका आंचलिक स्वरूप बदल जाये। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा और बिहार में, जहां कुछ घरों में पंजाबी, बंगाली, गढ़वाली, और भोजपुरी मैथिली बरती जाती है, वहां भी बातचीत इन भाषाओं की डगर से चलकर कब हिंदी में उतर आती है, पता नहीं चलता। पूरब की ओर बढ़ने पर, बंगाल और असम, उड़ीसा में अगर आप सिर्फ हिंदी भाषी भी हैं, तब भी आपके फंस जाने जैसी संभावना करीब-करीब नहीं है। अलबत्ता दक्षिण भारत में आप जरूर ऐसे संकट में फंस सकते हैं, पर उनके कारण जितने राजनैतिक हैं, उससे कहीं ज्यादा व्यावहारिक

हैं। इस नाते, उत्तर भारत हिंदी का गढ़ कहा ही जा सकता है, और हम चाहें तो इस पर प्रसन्न हो सकते हैं।

अब अगर यह प्रश्न उठाया जाए कि इस गढ़ में, जहां हिंदी जनजीवन का हिस्सा है, वहां के लोगों के लिए भाषा की क्या भूमिका है, तो शायद प्रसन्नता की लहर में थोड़ा व्यवधान पैदा होगा। दरअसल हिंदीभाषी इलाकों में भी लोगों का जुड़ाव हिंदी से कई सूत्रों से है। एक सूत्र तो सीधा अपनी परंपरा और विरासत से निकलता है, क्योंकि माता-पिता दादी-बुआ की आशीष-फटकार की भाषा हिंदी ही है। गली-मुहल्ले, दुकान और बचपन की नटखट दुनिया में हिंदी का ही दखल होता है और उसके नक्श व्यक्ति के भीतर ज्यों के त्यों आजीवन बने रहते हैं। कहने को हम इसे अपनी अंतर्संपदा भी कह सकते हैं।

भाषा का दूसरा सूत्र निकलता है शिक्षा से। मैं शिक्षा को अपने में एक बहु-आयामी तंत्र के रूप में देखता हूं। अगर बहुत बारीकी में न उतरा जाए तब भी, शिक्षा के दो मूलभूत अवयव तो पहचाने ही जा सकते हैं, पहला तो वह जिसके जरिये हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है, जो हमें दुनिया को देखने-समझने का नजरिया देता है, और जिससे हम अपने लिए जीवन-मूल्य गढ़ते हैं। अपने जीवन मूल्यों पर बने रहने की दृढ़ता भी हमें शिक्षा के इसी अवयव से मिलती है। शिक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवयव व्यक्ति को पैसा कमाने के काबिल बनाता है। इंजीनियर बनने के लिए मशीन चलाने की शिक्षा है, डॉक्टर बनने के लिए चीर-फाड़ की शिक्षा है। यहां तक कि दुकान-व्यापार चलाने तथा अभिनय तक करने की शिक्षा भी सामने मौजूद है। हर शिक्षा का दूसरा मुहाना किसी धंधे की तरफ खुलता है। इधर से बस्ता लेकर घुसो और उधर से निकल कर अपनी कद-काठी के हिसाब से, नोट गिनने लगो। शिक्षा के दोनों अवयवों की अपनी-अपनी भाषा और भाषा संस्कृति है, और यहां हिंदी की विपन्नता सामने आती है कि धंधा सिखाने वाली शिक्षा का माध्यम बनने में हिंदी चूकी है और चूक रही है। इस नाते जब ठेठ हिंदी के गढ़ में पला बढ़ा आदमी अपनी भाषा से अपनी अपेक्षाएं तय करता है तो उपयुक्त भाषा के रूप में हिंदी वह नहीं चुन पाता और वह अंग्रेजी के खेमे में जा खड़ा होता है। धंधे तक पहुचने के रास्ते में यह एक जरूरी दौर है जिससे विकासशील और अविकसित हिंदी भाषी प्रदेशों के कस्बे और गांवों के उन लोगों को भी गुजरना पड़ता है, जिनका अंग्रेजी से वास्ता ना के बराबर होता है। यह दौर बहुत कठिन होता है और इसीलिए इसे सरल करना- कराना भी एक नए धंधे के रूप में अपनी जरूरी जगह बनाता है। फफूंदी कुकुरमुत्तों की तरह उगे गली-कूचों के अंग्रेजी माध्यम के प्राइमरी नर्सरी स्कूल इन्हीं दुकानों के रूप में पहचाने जा सकते हैं।

यह दौर हिंदी छीनता है और अंग्रेजी नहीं देता। भाषाहीनता की स्थिति यहीं से बनती है। इसका समांतर असर होता है संवादहीनता और आदमी समाज से बदल कर

इकाई होने लगता है। इकाई तो वह वैसे भी होने लगता है क्योंकि धंधे की दुनिया उसे एक बड़े और शोर भरे बाजार की ओर खींचती जाती है, जहां आदमी को खुद अपना ही संवाद नहीं मिलता।

ऐसे में, उसके लिए हिंदी की भूमिका चुकते-चुकते इतनी भी नहीं रह जाती कि हिंदी का प्रयोग घर-रिश्तेदारी में खत लिखने के लिए ही किया जाए या हिंदी में धोबी-परचून का हिसाब ही लिख लिया जाए। तब भी अंग्रेजी ही काम आती है क्योंकि इससे समय बचता है। दफ्तरी फर्मे में यह काम आसान लगता है। पूरमपूर दफ्तर की गंध देता, बिटिया की शादी की खबर लिए अंग्रेजी में लिखा पत्र, पाने वाले के हाथ में अखबार से ज्यादा फर्क नहीं रह जाता। यह पत्र खबर तो देता है लेकिन वह आत्मीयता नहीं देता कि न्योता नकारा न जा सके।

यह क्षय है भी, या नहीं... क्या पता...?

ऐसे में एक समुदाय और भी है जिसे मैं भाग्यशाली कहता हुआ चल सकता हूं। यह वह तबका है जिसका काम-धंधा हिंदी से ही संपन्न होता है। प्राध्यापक, पत्रकार, संपादक, लेखक और प्रकाशक, ये सारे लोग उस श्रेणी में आते हैं, जिनके लिए हिंदी उनकी समूची भागवत मांग पूरी करती है। वह अंग्रेजी या इतर भाषाओं का प्रयोग बस संदर्भ भाषा के रूप में करते हैं। अपनी प्रस्तुति और रंग-ढंग में इन लोगों को पर्याप्त हिंदीमय देखा भी जा सकता है।

लेकिन इनकी भी एक त्रासदी है। यह वर्ग गिनती में बहुत बड़ा नहीं है। इनके धंधे इन्हें बहुत आसानी से आनन-फानन में कुबेरपति नहीं बनाते इसलिए इनके परिजन तथा इनकी आनेवाली पीढ़ी इन्हीं के रास्ते पर चलने को बहुत उत्सुक नहीं दिखती। इस नाते यह लोग अपने घर-परिवार में भी प्राय: उतने ही अकेले होते हैं जितने बाहरी परिवेश में... और बाहरी परिवेश तो है ही एक बड़ा शोर भरा बाजार, जहां हिंदी का सिक्का लगभग नहीं चलता। इसलिए यह वर्ग भी जानता है कि अंग्रेजी से लैस तो होना ही है। यह सच इनसे, इनमें भी हिंदी के प्रति वह गौरव भाव छीन लेता है, जो बहरहाल हिंदी के हिस्से आना ही चाहिए।

कुल जमा, हिंदी जहां है, वहां तो रहेगी और खूब रहेगी क्योंकि वह हमारे जनजीवन की भाषा है और दूसरे अस्तित्व के प्रति चिंता करने का कोई औचित्य नहीं है। चिंता करें तो हम इस बात की करें कि हिंदुस्तान में हिंदी के प्रति गौरव का भाव किसी के भी मन में नहीं बचा है और उसके पनपने का स्रोत भी कहीं आस-पास नहीं सूझ रहा है!

□

दूसरी भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग

डॉ० परमानन्द पांचाल

अपनी वैज्ञानिकता के लिए देवनागरी लिपि प्रसिद्ध है तथा इसे उत्तम सिद्ध करने के लिए विश्व के अनेक भाषा लिपि विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। विश्व की अन्य भाषाएं इस लिपि का प्रयोग करके लाभान्वित हो सकती हैं।

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम होती है जिन्हें लिखित रूप में व्यक्त करने के लिए कुछ भाषा संकेतों का सहारा लिया जाता है जो लिपि-चिह्न कहलाते हैं। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न भाषाओं के लिए अनेक प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया गया। ये लिपियां अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को व्यक्त करने का साधन बनीं। आज वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ विश्व इतना लघु हो गया है कि हमें विभिन्न देशों के साथ निकट का संपर्क रखना पड़ता है। किंतु विभिन्न लिपियां सभी भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं।

पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ रोमन लिपि का भी प्रचार-प्रसार बढ़ा किंतु क्या रोमन लिपि विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने में सक्षम है? इसका उत्तर शायद हम इंग्लैंड के प्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नाड शॉ द्वारा की गई वसीयत में व्यक्त इन विचारों में ढूंढ सकते हैं कि "मैं अपनी सम्पत्ति का एक अंश ऐसे व्यक्ति को देना चाहता हूं जो रोमन लिपि में आवश्यक सुधार कर इसे आदर्श लिपि बना सके।" इसी प्रकार के विचार उन विद्वानों ने भी रखे हैं जिन्हें

रोमन लिपि की कमियां खलती रही हैं। अनेक विदेशी विद्वानों ने नागरी लिपि को सर्वश्रेष्ठ लिपि बताया है तथा इस लिपि की वैज्ञानिकता की प्रशंसा की है। आइजेक पिटमैन लिखते हैं, "संसार में यदि कोई पूर्ण अक्षर हैं तो देवनागरी के हैं।" प्रो० मोनियर विलियम्स ने कहा था कि देवनागरी अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं। जानक्राइस्ट तो यहां तक कहते हैं, "मानव के मस्तिष्क से निकली हुई वर्णमाला नागरी सबसे पूर्ण वर्णमाला है।"

देवनागरी में प्राय: सभी ध्वनियों के लिए संकेत चिह्न हैं जो लगभग पचास से अधिक हैं। जो कुछ बोला जाता है प्राय: वही लिखा भी जाता है। इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही लिखित रूप स्वीकार किया गया है। रोमन लिपि की भांति यह नहीं कि 'क' ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए C,K,CH,Q तथा 'ज' ध्वनि के लिए J,G,Z आदि कई-कई वर्ण मिलते हैं। नागरी में एक प्रतीक वर्ण से एक ही ध्वनि निकलती है। रोमन आदि में ऐसा नहीं है। जैसे :

'U' वर्ण: But में 'अ' ध्वनि; Put में 'उ' ध्वनि; Unit में 'यू' ध्वनि आदि। लगभग यही स्थिति फारसी लिपि में भी है। 'ज' ध्वनि के लिए जीम, जे, ज़ाल, ज्वाद, जोय आदि हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमन लिपि में विश्व लिपि के रूप में स्वीकार्य किए जाने की क्षमता नहीं है। फिर भी विश्वलिपि के रूप में स्वीकार किए जाने की दृष्टि से सबसे अधिक गुण संभवत: देवनागरी लिपि में ही मिल सकते हैं। इस तथ्य पर सबसे अधिक चिंतन आचार्य विनोबा भावे का रहा है जिन्होंने देवनागरी लिपि को न केवल इस देश की विभिन्न भाषाओं के लिए उपयोगी बताया था बल्कि देश के बाहर के पड़ोसी देशों और विश्व की अन्य भाषाओं के लिए नागरी लिपि को सुविधाजनक माना था। भारतीय भाषाओं की लिपियों के संबंध में उनका कहना था कि "हिंदुस्तान की एकता के लिए हिंदी भाषा जितना काम करेगी, उससे कहीं अधिक काम देवनागरी लिपि देगी। इसलिए मैं चाहता हूं कि हिंदुस्तान की समस्त भाषाएं देवनागरी में भी लिखी जाएं, नागरी लिपि सब भाषाओं में चले। इसका मतलब दूसरी लिपियों का निषेध नहीं है। दोनों लिपियां चलेंगी।" विनोबा जी चाहते थे कि सभी भारतीय भाषाएं अपनी-अपनी लिपियों के साथ-साथ वैकल्पिक लिपि के रूप में देवनागरी का भी प्रयोग करें। इससे देश की भाषाई एकता में सहायता मिलेगी। वे चाहते थे कि नागरी लिपि की वैज्ञानिकता और सरलता को देखते हुए यदि पड़ोसी देश भी इस लिपि का प्रयोग करें तो अंतरराष्ट्रीय सद्भावना में अवश्य वृद्धि होगी। उन्होंने कहा कि पड़ोसी देश नेपाल की भाषा नेपाली है किंतु इसकी लिपि नागरी है। इस प्रकार दोनों देशों की पारस्परिक सांस्कृतिक और सामाजिक सद्भावना का बहुत कुछ श्रेय इस लिपि को भी है। जापानी भाषा के संबंध में उन्होंने कहा था, "जापानी भाषा की लिपि चित्रमय लिपि है इसलिए इसके पास चित्रों की संख्या लगभग दो हजार है जिसे सीखना सरल काम नहीं है। भारतीय और जापानी भाषा की बनावट

और एकरूपता की दृष्टि से लगभग समान हैं, इसमें (प्रीपोजीशन) पूर्व प्रत्यय नहीं है (पोस्ट पोजीशन) उत्तर प्रत्यय है। वाक्य के पहले कर्ता फिर कर्म और फिर क्रिया— ऐसा चलता है। मतलब शब्द जापानी का अनुवाद करें तो हिंदी, मराठी में हो सकता है। जापानियों को 'ल' बोलना कठिन होता है, 'र' बोलना कठिन होता है। अंग्रेजी के कारण जापानी शब्द गलत ढंग से हमारे पास आते हैं। टोकियो का उच्चारण है तोकियो। जापानी कोश में पहला शब्द है 'आई'। मराठी में भी वह शब्द है। उसका मतलब है 'माता' और जापानी में उसका अर्थ है 'प्रेम', तो बहुत समानता है। जापानी वर्णमाला का क्रम ठीक संस्कृत वर्णमाला के क्रम पर बना है। वाक्य विन्यास और उच्चारण की दृष्टि से भी हिंदी और जापानी खूब मिलती-जुलती हैं। जापानी विद्वान दोई भी जापानी के लिए नागरी लिपि के पक्षधर थे।

उत्तर पूर्व और दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ प्राचीनकाल से ही भारत के बड़े निकट संबंध रहे हैं। नेपाल, चीन, इंडोनेशिया, जावा, सुमात्रा, वियतनाम, म्यांमार तथा मंगोलिया, जापान और कोरिया तक हमारे गहन सांस्कृतिक संबंध रहे हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ भारतीय दर्शन और साहित्य इन देशों में पहुंचा और व्यापारिक तथा राजनैतिक संबंध भी काफी प्रगाढ़ रहे। इन भाषाओं की शब्दावली में भारत से गए अनेक समान शब्द आज भी उपलब्ध हैं। भाषा इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति के अनेक शब्द आज भी विद्यमान हैं। इन देशों की भाषाओं की लिपियां भी भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि से ही निकली हैं और इनकी वर्णमाला का क्रम भी प्राय: वही है। इस प्रकार इन दोनों देशों में यदि देवनागरी लिपि का भी प्रचार किया जाए तो ये देश स्वेच्छा से इस लिपि को एक वैकल्पिक लिपि के रूप में ग्रहण करने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

हमें सबसे पहले इस कार्य को विनोबा भावे द्वारा बताए मार्ग पर चलते हुए नेपाल जैसे देशों के सहयोग से आगे बढ़ाना होगा। नेपाल सार्क अर्थात् दक्षेस देशों का मुख्यालय है और दक्षिण एशिया के देशों की बैठकें प्राय: यहीं होती हैं और उनके साथ पत्राचार नेपाल स्थित इस कार्यालय से ही होता है। इसलिए इस मुख्यालय के देशों को नागरी लिपि के समीप लाने के काम करने की काफी गुंजाइश है। नागरी लिपि परिषद् ने जहां भारतीय भाषाओं के लिए नागरी लिपि में पुस्तकें तैयार करने की योजना बनाई है, पड़ोसी भाषाओं के लिए भी उसी प्रकार की योजनाएं बनाना श्रेयस्कर होगा। यह अवश्य है कि हमें यथा आवश्यक नागरी में विशेष ध्वनियों के लिए और चिह्न बनाने होंगे। त्रिनिडाड और टुबैगो में 1996 में आयोजित पांचवे विश्व हिंदी सम्मेलन में भी नागरी लिपि के प्रचार-प्रसार पर विशेष बल दिया गया था।

□

विदेश में हिंदी अध्ययन और अध्यापन

डॉ० कमलेश सिंह

कुछ वर्षों पूर्व डॉ० कमलेश सिंह ने बेल्जियम के गेंट विश्वविद्यालय में वहां के छात्रों को हिंदी पढ़ाने का कार्य किया था। इस अनुभव के दौरान उन्होंने हिंदी की विदेशों में शिक्षण की स्थिति पर अनेक आयामों से विचार किया और यह पाया कि विदेशों में छात्र हिंदी पढ़ने को प्राय: इसलिए लालायित होते हैं ताकि इस भाषा के माध्यम से वे भारत की समृद्ध संस्कृति की थाह और राह पा सकें।

किन्हीं दो संस्कृतियों के भिन्न होने के मूल में बहुत से तथ्य निहित रहते हैं, जिनमें एक तथ्य जलवायु का भिन्न होना भी है। शरीर का विज्ञान भी उससे प्रभावित होता रहता है। हमारे चारों ओर प्राकृतिक रूप से बहुत कुछ घटित होता रहता है जिसका पता साधारणतया नहीं चल पाता। एक संस्कृति में पला व्यक्ति, दूसरी संस्कृति में पले व्यक्तियों के सान्निध्य में यदि लंबे समय तक रहे तो उस संस्कृति की बारीकियां समझ में आने लगती हैं। ये बारीकियां एक व्यक्ति अपने अनुभव और अपने समय से समझ पाता है। उसे अन्य व्यक्ति भी उसी तीव्रता से समझ पाएगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाषा की दृष्टि से, भाषावैज्ञानिक कारणों अथ्वा सिद्धांतों के अतिरिक्त भी, प्रकृति अपना बारीक काम करती रहती है। किसी भी एक भाषा को दूसरी भाषा के निकट ले जाने के लिए दोनों भाषाओं के संरचनात्मक ढांचे को समझना आवश्यक होता है। उन भाषाओं के मूल में पहुंचे बिना दोनों भाषाओं की क्षमता को पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता। दोनों

में कार्य-कारण संबंध स्थापित करके, एक के प्रकाश में दूसरी भाषा को देखना-समझना अपेक्षित होता है।

किसी भी भाषा अथ्वा किसी भी वस्तु की संरचना को समझना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि उसको समझे बिना हमारा ज्ञान मात्र अंतर्दर्शी बना रहता है अथ्वा सहजबोध से प्रेरित ज्ञान होता है। यह ज्ञान, विज्ञान नहीं बन पाता। विज्ञान एक सिद्धांत है और संरचना को पहचानने के लिए अंतर्दर्शी ज्ञान से ऊपर उठना आवश्यक है। यह अंतर्दर्शी ज्ञान नैसर्गिक होने के कारण वस्तु के सैद्धांतिक ढांचे द्वारा अर्जित किए गए ज्ञान की आवश्यकता पर भी बल देता है। भाषा के संदर्भ में संरचना की पहचान भाषा की संप्रेषणीयता के गुण को रेखांकित करती है। इस आधारभूत गुण का महत्त्व समझ लें तो दो अलग-अलग भाषाओं के जानने वाले दो व्यक्ति, तीसरी संपर्क भाषा के माध्यम से एक-दूसरे की भाषा से परिचित हो सकते हैं। अपने देश की भाषा का ज्ञान हमें भाषा की संरचना द्वारा नहीं प्राप्त होता, पहले वह वातावरण की नैसर्गिक देन होती है, फिर उसे संरचनात्मक ढांचे में ढालकर ज्ञानवर्धन किया जाता है। स्वाभाविक है कि कुछ नया जान लेने के प्रति व्यक्ति का आग्रह अधिक होता है और उसे पूर्ण ज्ञान बना लेने का प्रयत्न सार्थक होता है।

दूसरे देश में अपनी भाषा का प्रसार किन स्थितियों में और किस प्रकार सफल बनाया जा सके—इसके लिए अनेक संभावनाएं दिखाई तो देती हैं, परंतु व्यावहारिक रूप में अनेक छिटपुट प्रयत्न करने के बावजूद इसे सार्थक बनाने के लिए एक यज्ञ आरंभ करने जैसा प्रयत्न करना पड़ता है। जहां से व्यक्ति आया है एक वह देश, और जहां व्यक्ति गया है दूसरा वह देश, दोनों ही देशों की भाषा को समझने-समझाने के लिए एक संपर्क भाषा का होना एक अनिवार्यता है। उस व्यक्ति के लिए तीनों भाषाओं के संरचनात्मक ढांचे को भी जानना महत्त्वपूर्ण होता है। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि विदेश में लोगों को हिंदी तथा संस्कृत के प्रति अनन्य आकर्षण है। इस आकर्षण का मुख्य कारण भारतीय संस्कृति को बहुत गहराई से जान पाने की प्रबल इच्छा है। छात्र तथा अन्य लोगों का यह भी विश्वास है कि किसी भी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को समझने के लिए उस देश की भाषा को जानना आवश्यक है। विदेश में दो भिन्न परिवेश, भिन्न संस्कृतियां, भिन्न दृष्टिकोण, भिन्न मापदंड—इन सभी वस्तुओं का ध्यान रखते हुए अपनी भाषा की नींव को तैयार करके, एक विशेष वातावरण में अक्षर ज्ञान के बीज बोए जाते हैं। इन सभी बातों को समझने के लिए एक विशेष संदर्भ में जाना उचित होगा।

बेल्जियम के 'स्टेट गेंट विश्वविद्यालय' की स्थापना सन् 1817 में नीदरलैंड्स के प्रथम किंग विलियम द्वारा हुई। इसका पूरा नाम 'Rijkse Universitiet te Gent' है। अर्थात् 'स्टेट युनिवर्सिटी आफ घेंट' है। गेंट शहर को अंग्रेजी भाषा में घेंट कहते हैं। इस विश्वविद्यालय की स्थापना के तेरह वर्ष के बाद सन् 1830 में

बेल्जियम स्टेट बनी। सन् 1992 में इस विश्वविद्यालय की 175 वीं वर्षगांठ मनाई गई। इस विश्वविद्यालय के इंडोलॉजी विभाग में अन्य विषयों के साथ प्राकृत, संस्कृत, हिंदी भाषा तथा साहित्य भी एक विषय है। विश्वविद्यालय में आने से पूर्व विद्यार्थियों का इन भाषाओं से कोई संपर्क नहीं होता। हिंदी और पूर्व भाषाओं से प्रथम परिचय होते हुए भी विषय का स्तर बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है। अक्षर ज्ञान से आरंभ करके, लघु-निबंध लेखन तक, चार वर्षों में पहले भाषा के स्तर पर, उसके बाद साहित्य के स्तर पर, अध्ययन और अध्यापन से संबंधित अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जहां तक स्तर को बनाए रखने का प्रश्न है, साहित्य में जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन, प्रेमचन्द, यशपाल आदि पढ़ाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त इंडोलॉजी विभाग स्वतंत्र है कि वह क्या पाठ्यक्रम रखे। भाषा तथा साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों में भारतीय विद्याओं का परिचय, (introduction of Indology) उच्च संस्कृत (Classic Sanskrit), वैदिक, मध्यकालीन हिंदी, आधुनिक हिंदी, हिंदुइज्म, बुद्धिज्म, केंद्रीय तथा दक्षिण एशिया का तुलनात्मक साहित्य, तुलनात्मक दर्शन-शास्त्र, तुलनात्मक धर्म आदि हैं। यहां विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिए जाते हैं, उसके बाद प्रत्येक विभाग स्वतंत्र है कि वह उस निर्धारित पाठ्यक्रम को किस पद्धति से प्रस्तुत करे, किस पुस्तक का चुनाव करे और किस रीति को अपनाए। अर्थात् यह स्वतंत्रता अध्यापक की रुचि को भी पोषण प्रदान करती है। विश्वविद्यालय द्वारा एक निश्चित दिशा-निर्देश प्राप्त करके कोई भी अध्यापक अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम बनाने के लिए स्वतंत्र है। इसमें विश्वविद्यालय कोई हस्तक्षेप नहीं करता। ऐसी व्यवस्था केवल विश्वविद्यालय में ही नहीं, स्कूलों में भी है। व्यवस्था का यह मानना है कि इस प्रकार अध्यापक, विद्यार्थियों के साथ न्याय कर सकता है। और अध्यापक भी अपनी बौद्धिक कार्यक्षमता का सदुपयोग करके संतोष प्राप्त कर सकता है। भारत से आने वाले अध्यापक के लिए यह पद्धति एक उत्साहवर्धक स्थिति और एक आश्चर्य था। विश्वविद्यालय की ओर से भारतीय अध्यापक की रचनाओं को भी पाठ्यक्रम में रखने के लिए निरंतर प्रोत्साहित किया गया और मूलस्रोत प्राप्त ज्ञान (First hand knowledge) पर महत्त्व दिया।

18 वर्ष की आयु में स्कूल की शिक्षा पूरी करके जब छात्र विश्वविद्यालय में प्रवेश पाते हैं तो उनका हिंदी या पूर्व की भाषाओं से कोई संपर्क नहीं होता। इन भाषाओं से पहली बार उनका परिचय होता है। आरंभ अक्षर ज्ञान से ही होता है। नई ध्वनि को पहली बार सुनने और फिर उससे पहली बार ठीक से परिचित होने में पर्याप्त समय लग जाता है। शुरू में उन अक्षरों को उसी वजन और उच्चारण से बोलना संभव नहीं हो पाता जो उस भाषा के लिए अपेक्षित है। निरंतर अक्षरों के और शब्दों के आरोह-अवरोह ध्यान में लाने पड़ते हैं। यह समस्या सतही समस्या है जो

साधारण अभ्यास से सुलझ जाती है। उसके बाद भाषा के संरचना ढांचे को समझे बिना प्रयत्न सार्थक नहीं होता। किसी भी देश के देशवासी प्राय: अपनी भाषा के संरचना-विधान से अनभिज्ञ रहते हैं। यदि कोई उसके आधारभूत सिद्धांतों को जानने का प्रयत्न करता भी है तो या तो वह व्यक्ति दूसरे देश का होगा अन्यथा वह व्यक्ति होगा जो उस भाषा को विधिवत् सीखने का आकांक्षी है। परंतु देशवासी को संरचना की गहराई में उतरकर यह सैद्धांतिक ज्ञान विशेष प्रयत्न द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। क्योंकि अपनी भाषा का ज्ञान उसे नैसर्गिक देन है अत: कार्य-कारण का संबंध जानने के लिए भाषा का सैद्धांतिक रूप जानना आवश्यक है। भाषा को बनाने वाले घटक उसी प्रकार एक-दूसरे से संलग्न रहते हैं जिस प्रकार गणित की एक इकाई, दूसरी इकाई से जुड़कर एक नया परिणाम लाती है।

अनुभूत सत्य किसी भी सत्य को व्यापक भूमि प्रदान करता है। इस संबंध में अनेक बातें अनुभव द्वारा समझ में आईं। जो पाठ्यक्रम इस विश्वविद्यालय में निर्धारित किया जाता है उसमें जब अन्य विषयों के साथ हिंदी पढ़ाई जाती है तो विद्यार्थी की इच्छा एक भाषा को पूरी तरह जानने की होती है। इस विश्वविद्यालय में हिंदी एक स्वतंत्र विषय नहीं है। 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' की ओर से एक अध्यापक की प्रतिनियुक्ति होती है। यहां व्यावहारिक अभ्यास करवाने के लिए एक से अधिक हिंदीभाषी अध्यापकों की आवश्यकता है। स्थानीय अध्यापक का सैद्धांतिक ज्ञान, सिद्धांत की सीमाओं में पूर्ण ज्ञान भी हो सकता है परंतु व्यावहारिक अभ्यास की कठिनाइयां उनके द्वारा नहीं सुलझ पातीं। उन्हें केवल हिंदीभाषी अध्यापक ही सुलझाने का प्रयत्न करता है, वह सफल भी होता है। परंतु जिस विधि-विधान से यहां के विद्यार्थी, बचपन से चीजों को पहचानने के आदी होते हैं, उनसे थोड़ा-सा भी परे हटकर काम करना उन्हें पसंद नहीं आता या कठिन लगता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय अध्यापक मात्र भाषाशास्त्री होने के कारण अपना संबंध साहित्य से नहीं मानते, न अन्य क्षेत्र को उतना अधिक जानते ही हैं। उनका अपना ही क्षेत्र है, उसी में उनका अनुभव-प्रशिक्षण है। यह स्थिति प्रथम वर्ष के छात्रों के लिए तो कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं करती लेकिन शेष तीन वर्षों को पूरा करने में कठिनाई उत्पन्न करती है। बाहर से आने वाले एक अध्यापक पर व्यावहारिक अभ्यास करवाने का दायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों के पास अन्य विषयों के कारण थोड़ा-सा भी समय नहीं रहता कि वे व्यक्तिगत रूप से भी कुछ लाभ ले सकें। इसके विपरीत वास्तविक स्थिति यह है कि उस एक अध्यापक को स्वयं को प्रमाणित करने के लिए और स्वयं विद्यार्थियों को उनके लाभ के लिए भी उनकी सुविधानुसार समय नियत करना पड़ता है जिससे अलग-अलग समय पर आकर वे अपनी समस्याओं का समाधान पा सकते हैं। समस्या एक नहीं अनेक प्रकार की होती हैं। व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थियों को समय देना अध्यापक के लिए श्रम-साध्य हो जाता है। और छात्रों को

इससे जो कुछ भी प्राप्त होता है, वे उसे प्राय: गंभीरता से नहीं लेते हैं। अत: अभ्यागत शिक्षक के इस प्रावधान का बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। विद्यार्थियों के साथ संबंधों का रूप भी सहज और विशिष्ट हो जाता है और प्रत्येक छात्र को उसकी आवश्यकतानुसार निर्देशन मिल जाता है। बाहर से आने वाले अध्यापक के लिए इस प्रकार, हर समय बदलती स्थिति से बार-बार जूझना एक बहुत बड़ी चुनौती सिद्ध होती है। ऐसे समय में दो भिन्न भाषाओं में, दो भिन्न संस्कृतियों के समग्र परिवेश का अंतर किस प्रकार का व्यावहारिक शून्य भी उत्पन्न कर सकता है, इस बात को समझकर ही कदम उठाना अपेक्षित है। स्थितियों का सामना करने से पूर्व इन सबकी कल्पना हम अपने परिवेश में रहकर नहीं कर सकते। यद्यपि स्थितियों से संघर्ष के साथ-साथ सुफलदायी परिणाम भी मिलते हैं। ऐसा लगता है कि भाषा के माध्यम से मानो गणित के प्रश्न हल हो रहे हों, और उसी प्रकार का एक नया उत्तर भी पाकर रोमांच हो आता है। अपनी मातृभाषा होते हुए भी भाषा का वैज्ञानिक, सैद्धांतिक प्रकाश भाषा को अधिक बोधगम्य बनाता है। इतना कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि बाहर से आने वाला अध्यापक विषय के सैद्धांतिक पक्ष से अनभिज्ञ होता है, परंतु छात्र तथा अध्यापक दोनों को नए परिप्रेक्ष्य में एक केंद्र बिंदु निश्चित करना पड़ता है जिस पर स्थिर रहकर साधना कर पाने का अवसर प्राप्त हो सके।

कुछ ऐसी समस्याएं भी सामने आईं, जिनके विषय में यहां आने से पूर्व अधिक आशंका नहीं थी। उदाहरण के लिए, 'ने' कारक-चिह्न के साथ वाक्य-रचना में छात्र विशेष कठिनाई का अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनेक अति साधारण रचना विधान भी आरंभ में, इन छात्रों के लिए एक समस्या बन जाते हैं, परंतु शीघ्र ही वे वस्तुस्थिति से परिचित हो जाते हैं। वे अपने सैद्धांतिक ज्ञान की लीक नहीं छोड़ते। यही कारण है कि आरंभ में व्यावहारिक ज्ञान से प्रथम परिचय होने पर वे उसके नयेपन से उलझते रहते हैं और थोड़े समय के बाद वस्तुस्थिति पहचानने लग जाते हैं। ऐसा छात्रों के साथ ही नहीं होता, अध्यापक के साथ भी यही होता रहता है। स्थिति का इतना गहरा अनुभव अपने परिवेश में रहकर नहीं हो सकता। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनका अनुभव समय-समय पर आश्चर्यभरा रोमांच उत्पन्न करता रहा है। ऐसा भी अनुभव हुआ है कि अध्यापक भी इस प्रकार मिलने वाले व्यावहारिक ज्ञान में बहुत विकसित होते हैं। जीवन में अनुभवों की भी अनेक विविधताएं हैं। उन्हीं के प्रकाश में हम बहुत कुछ नया सीख लेते हैं।

गेंट विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में चतुर्थ वर्ष में एक लघु निबंध (thesis) लिखने का विधान है। उसका मुख्य उद्देश्य यह प्रस्थापित करना होता है कि पिछले तीन वर्षों में छात्र जो कुछ भी सीख पाए हैं, उसे अपने ज्ञान, बुद्धि तथा तर्क द्वारा प्रस्तुत कर सकें। इस निबंध को प्रस्तुत करने में भी व्याकरण के बहुत सूक्ष्म बिंदुओं पर ध्यान देकर परीक्षा में प्रश्न पूछे जाते हैं। बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती।

लिखित परीक्षा के साथ-साथ मौखिक परीक्षा का भी विधान है। यह छात्र की वास्तविक कसौटी होती है। इस परीक्षा में उपस्थित होते समय छात्र को बहुत सावधान रहना पड़ता है। अध्यापक के सामने बैठकर अत्यंत गंभीरता से उस स्थिति का सामना करना पड़ता है। छात्र की कोई भी कमजोरी हो, प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश में आ जाती है। सारा क्रम व्यवस्थित ढंग से चलता रहता है। लघु निबंध लिखने में भारतीय अध्यापक की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि निबंध की रचना में भाषा के रूपांतरण के अतिरिक्त जो परिणाम निकाले जाते हैं वे बहुत महत्त्व के होते हैं। यहां पर दूसरी संस्कृति की बात बीच में आ जाती है क्योंकि साहित्य भारत का है तो स्वाभाविक है कि उसमें अभिव्यक्त संस्कृति भी वहीं की होगी। संस्कृति के साथ जुड़े प्रश्नों पर प्रकाश डालने का काम समग्र रूप से भारतीय अध्यापक का होता है। इस काम को उचित ढंग से करने में स्थानीय अध्यापक उत्तरदायित्व का अनुभव तो करते हैं परंतु वे इस कार्य को करने का सफल बीड़ा नहीं उठा सकते। इसके अतिरिक्त भी अनेक कष्टदायी स्थितियां उत्पन्न होती हैं क्योंकि छात्र उस स्थिति की वास्तविकता को ग्रहण करने में एक तो समय बहुत ले लेता है, दूसरे कभी-कभी वह स्थिति दूसरे देश की होने के कारण पहुंच के बाहर भी जाने लगती है।

इस विश्वविद्यालय के इंडोलाजी के विभाग में जो अन्य विषय पढ़ाए जाते हैं, उनमें क्लासिक संस्कृत, हिंदुइज्म तथा बुद्धिज्म भी है। ये विषय स्थानीय अध्यापक ही पढ़ाते हैं। वे उसमें प्रशिक्षित भी हैं और निपुण भी। परंतु जब भी कभी धर्म की बात आती है तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि इस क्षेत्र में उनका शास्त्रीय ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। छात्रों को व्यावहारिक ज्ञान दिए बिना छात्र को बात पूरी तरह से समझ नहीं आ पाती। वैसे भी देखा गया है कि भारतीय धर्मों के दर्शन को लेकर विदेश में अनेक भ्रांतियां हैं। तात्पर्य यह है कि विषयों का इतना विस्तार देखते हुए एक भारतीय अध्यापक भाषा पढ़ाने के अतिरिक्त दूसरे अपेक्षित कार्य नहीं कर सकता। समस्याएं अनेक स्तर पर हैं। यहां की जनता में और कई अन्य संस्थाओं में भी धर्म पर तथा भारतीय समाज तथा राजनीति में स्त्रियों का स्थान आदि विषयों को लेकर अनेक जिज्ञासाएं हैं जिन्हें शांत करने के लिए वे भारतीयों से चर्चा-विचारणा करना चाहते हैं और करते रहते हैं। लोगों को प्राय: यह समझ नहीं आता कि यह हिंदू धर्म एक धर्म है या एक जीवन पद्धति, या कोई विशिष्ट दर्शन। व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में इस विषय को लेकर यहां के लोग बहुत उलझते हैं।

इस विश्वविद्यालय में एक भाषा के साहित्य को दूसरी भाषा में रूपांतरण करने का कार्य बहुत कुशलता से किया जाता है। उसमें बहुत अधिक सावधानी बरती जाती है। यद्यपि दूसरी भाषा के साथ खिलवाड़ हो जाने का भय निरंतर बना रहता है, फिर भी इस क्षेत्र में छात्रों के प्रयत्न सार्थक होते देखे गए हैं। इस सफलता का मुख्य कारण उनका व्याकरण का समृद्ध ज्ञान है जिसमें उनसे प्राय: भूल नहीं होती। विशेष बात

ध्यान देने की यह है कि यहां प्राथमिक स्कूल से ही जो शिक्षा दी जाती है, उसका आधार बहुत ठोस होता है। बचपन से जैसी नींव पड़ जाती है उसी आधार पर छात्र निष्ठापूर्वक काम करते रहते हैं। वे जितना जानते हैं पूरी तरह जानते हैं। बीच की स्थिति में डोलते रहने में वे विश्वास नहीं करते।

भारतीय अध्यापक अपने स्तर पर छात्रों को भाषा बोल पाने के लिए भी बहुत प्रकार के प्रोत्साहन देता है। छात्र भरसक प्रयत्न करता है परंतु हिंदी का विस्तृत वातावरण न होने के कारण वह प्रोत्साहन जो वास्तविक रूप से अपेक्षित है, वह छात्र को नहीं मिल पाता। भारतीय अध्यापक की नियुक्ति होने से पूर्व चारों वर्ष पूरे कर लेने और उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद भी बोली गई भाषा विद्यार्थी नहीं समझ सकता था। भारतीय अध्यापक के लिए यह चुनौतीभरा प्रश्न बन जाता था। यह स्थिति बेहद संकटपूर्ण थी। प्रश्न था कि कैसे निराकरण हो इस स्थिति का? जब-जब अवसर मिला, भरसक प्रयत्न किया भी गया। कितने ही प्रकार के 'कैसेट' भी उपयोग में लाए गए। सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विभिन्न कार्यक्रमों में भाग लेने को प्रोत्साहन दिया गया। धीरे-धीरे वांछित परिणाम प्राप्त होने आरंभ हुए। कई छात्र अपने विचार हिंदी भाषा में प्रस्तुत करने लगे। इस सुखद स्थिति का एक उदाहरण प्रस्तुत है—प्रथम वर्ष की छात्रा ने मौसम की बेचैनी में यह एक कविता रची : *'कभी बहुत पास, कभी बहुत दूर/ मैं खिड़की से बाहर देखती हूं /मैं तुम्हें बुलाना चाहती हूं/ लेकिन तुम मुझे सुन नहीं सकते हो.../ मैं देखती हूं, थकती हूं, और छिप जाती हूं/ मैं फिर लौट आती हूं/ मैं सोचती हूं कि बाहर सूरज चमक रहा है/ मुझे सूरज देखना है/ मैं फिर-फिर लौटती हूं/* लेकिन मैं सिर्फ बर्फ देख पाती हूं।' यह बहुत आश्चर्यजनक उपलब्धि थी। अब यह स्थिति है कि काफी छात्र हिंदी में बोल भी लेते हैं। हर वर्ष वे काफी संख्या में भारत की यात्रा भी करते हैं। कुछ छात्र विशेष अध्ययन के लिए छात्रवृत्ति मिले या न मिले, वे भारत जाकर हिंदी पढ़ने, बोलने और भारतीय संस्कृति को गहराई से समझना चाहते हैं।

भाषा का प्रवाह अपने-आप में बड़ा समृद्ध होता है। उसे पानी के विस्तार में फैली मछलियों की तरह इधर-उधर थिरकने में पोषण और विकास प्राप्त होता है। इस प्रवाह को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। विदेश में भाषा शिक्षण के मूल में संरचनात्मकता का ठोस आधार होने के कारण भाषा के साथ मनमाना खिलवाड़ नहीं हो पाता। पश्चिम में छात्रों की प्रथम शिक्षा लेटिन (Latin) से शुरू हुई थी। संरचना की दृष्टि से लेटिन भाषा ने सर्वांग संरचना को अन्य देशों की भाषा के साथ किस प्रकार जोड़ा, यह जगत विख्यात है। इस भाषा के पारिभाषिक शब्द व्यापक अर्थ देते हैं जिन्हें अन्य कई भाषाओं में उसी प्रकार ले लिया गया है। विशेषकर औषधि के क्षेत्र में। इसलिए कि वे नाम अन्य भाषाओं में भी एक ही प्रकार से जाने जा सकें। आधुनिक विज्ञान अब हर क्षेत्र की विश्लेषणात्मक संरचना (analytical structure)

की आवश्यकता पर बल देता है। भाषा भी उनमें से एक है।

भारतीय संस्कृति पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उन्हें ऐतिहासिक तत्त्व को सुरक्षित रखने की विवेक बुद्धि नहीं। इस संदर्भ में वैयाकरणविद् कामताप्रसाद गुरु ने कहा है कि "हिंदी के सर्वांगपूर्ण व्याकरण में, मूल विषय के साथ साहित्य का इतिहास... भाषा ज्ञान की पूर्णता के लिए आवश्यक है...परंतु किसी भी भाषा का संर्वांगपूर्ण व्याकरण वही है, जिससे भाषा के सब शिष्ट रूपों और प्रयोगों का पूर्ण विवेचन किया जाए और उनमें यथासंभव स्थिरता लाई जाए। हमारे पूर्वजों ने यही उद्देश्य माना है।" और फिर उन्हीं का कथन है कि "किसी भी भाषा के सर्वांग व्याकरण में उस भाषा के रूपांतरों और प्रयोगों का इतिहास लिखना आवश्यक है।" इतने व्यापक विषय में विवेचन की कठिनाई और मूल रूप से भाषा की अस्थिरता के कारण कई बातों का छूट जाना स्वाभाविक है। कामताप्रसाद गुरु का कथन है कि "हिंदी में आरंभ से ही लगभग अंग्रेजी प्रणाली का अनुसरण किया गया है और किसी लेखक ने संस्कृत प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया। वर्तमान प्रणाली में स्पष्टता और सरलता विशेष रूप से पाई जाती है।" किसी भाषा के व्याकरण का निर्माण उसके साहित्य की पूर्ति का कारण होता है। भारतीय परंपरा एक समय पर एक ही भाषा का विश्लेषण करती है, जबकि पश्चिम में सार्वदेशीय संरचना (universal structure) पर बल देते हैं। संस्कृत, जर्मन, डच, अंग्रेजी, ग्रीक आदि भाषाएं ऐतिहासिक रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। हरेक भाषा का अपना एक क्रमिक विकास होता है। पश्चिम में भाषा के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन अधिक समृद्ध है। जबकि उसका मूल वैयाकरण पाणिनी से ही ग्रहण किया गया था। बीच के समय में भारतीय परंपरा का संबंध विशृंखल हो गया। संस्कृत की संरचना स्थिर थी जबकि भाषा की संरचना बदलती रहती है।

गेंट विश्वविद्यालय में किसी भारतीय अध्यापक के आने से पूर्व छात्र परीक्षा के समय शब्दकोश की सहायता से परीक्षा दिया करते थे। उनके लिए यह बहुत बड़ा श्रम का काम हुआ करता था। सबसे पहले शब्दकोश का परीक्षा में दिया जाना बंद कराया गया। केवल व्याकरण का आधार रखकर, भाषा का विस्तार समझे बिना, व्यावहारिक अभ्यास की कमी के कारण छात्र शब्दकोश का आश्रय लेने के लिए बाध्य थे। 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' का यह प्रयत्न निश्चय ही प्रशंसनीय है कि एक हिंदीभाषी अध्यापक की नियुक्ति होने के कारण छात्रों को हर प्रकार की सहायता मिलती है। अधिक शब्द-ज्ञान का अभ्यास करवाने के आधार को ठोस बनाकर एक क्रम बनाया और उस क्रम को टूटने से बचाया ताकि टूटने पर कहीं पारे की तरह नीचे गिरकर बिखर न जाए। इससे पूर्व देखा गया कि प्रश्न-पत्र तैयार करने की भी कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी। यह भारत से आने वाले अध्यापक के लिए अंधेरे में हाथ मारने जैसी स्थिति थी। एकदम नया वातावरण, नई पद्धति आरंभ से

लेकर अंत तक सब कुछ समझने में पूरा एक वर्ष का समय लग गया। किसी भी चलती हुई चीज को आगे चलाना सहज होता है और नई चीज को शुरू करने के लिए अनेकानेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। अब यह स्थिति सुचारु रूप से अपनी दिशा में अग्रसर है।

इसके अतिरिक्त एक और बात पर ध्यान जाता है कि विश्वविद्यालय में हिंदी सीखने के लिए अन्य विषयों के साथ इस भाषा को सीखने के लिए यदि थोड़ा और अधिक समय दिया जाए तो विदेश में पढ़ाने के लिए हिंदी के एक से अधिक अध्यापकों की आवश्यकता है। संभव है कि गेंट विश्वविद्यालय में यह व्यवस्था अभी आरंभ होने के कारण वातावरण बनाने में अधिक प्रयत्नशील होना पड़ा है, परंतु थोड़े से सुधार के साथ दो भाषाशास्त्रियों और कम से कम दो भारतीय अध्यापकों के होने से इस व्यवस्था में बहुत से सुधारात्मक परिवर्तन लाए जा सकते हैं। इसी प्रकार संस्कृत पढ़ाने के लिए भी एक अध्यापक की आवश्यकता है। यहां के छात्र संस्कृत भी अंग्रेजी प्रतिलेखन (transcription) द्वारा पढ़ते हैं। भारत में शिक्षा का उद्देश्य और पश्चिम में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य में बहुत अंतर है। भारत में शिक्षा के उद्देश्य के पीछे व्यक्ति की अनेक व्यावहारिक आवश्यकताएं छिपी हैं, जबकि पश्चिम में अन्य अनेक कारण भी हैं। इस विषय का विस्तार यहां पर देना उचित नहीं है। इतना जान लेना पर्याप्त है कि छात्र हिंदी के प्रति बहुत अधिक आकर्षण रखने के कारण संस्कृत को प्रतिलेखन में भी पढ़ना पसंद करते हैं। हिंदी के साथ संस्कृत विषय लेना अनिवार्य है। संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा नहीं है और हिंदी बोलचाल की भाषा है इसलिए वे संस्कृत को प्रतिलेखन में भी पढ़ने-लिखने के लिए तैयार रहते हैं। पश्चिम में किसी भी व्यक्ति को देश से बाहर जाकर अपनी रुचि का कोई भी काम करने के लिए अधिक सोचना नहीं पड़ता। वे अपनी तरह से सोचने और करने के लिए मुक्त हैं। न ही उनकी ऐसी विवशताएं हैं कि उन्हें किसी निश्चित आयु तक कोई विशिष्ट उपाधि प्राप्त करनी ही है। कितनी ही बार यह प्रश्न छात्रों से पूछा गया है कि हिंदी सीखने के पीछे उनका उद्देश्य क्या है तो शत-प्रतिशत यही जानने को मिला है कि उनकी रुचि है और वे भारतीय संस्कृति की गहराई को समझना चाहते हैं और ऐसा करने के लिए भाषा का जानना बहुत आवश्यक है। इस स्थिति को जब हम अपने परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करते हैं तो बात कुछ दूसरी हो जाती है। क्योंकि हमारी जीवन आवश्यकताएं और उनकी जीवन की आवश्यकताओं में बड़ा अंतर है। आरंभ में ही यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि दो देशों की भिन्न जलवायु बहुत से तथ्यों का कारण बनती है जिनका साधारण तौर पर ध्यान नहीं आता। जलवायु के कारण ही बहुत तरह के मानसिक दबाव पड़ते हैं, जिसका कारण अत्यधिक शीतल वातावरण होने के कारण वायु-रोधक कांच के घरों में रहने की विवशता है। धूप की कमी, स्वच्छ हवा में अत्यधिक ठंडक, गर्म किए गए घरों में रहने के लिए विवश,

जिसके कारण सप्ताहांत में दो दिन का अवकाश रखना आवश्यक हो जाता है। लोगों को इन कारणों से बहुत तरह के 'डिप्रेशन' में से गुजरना पड़ता है। अन्य कारण भी हैं परंतु यह चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है।

जब 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' की ओर से हिंदी अध्यापक की प्रतिनियुक्ति हुई थी उस समय यह नियुक्ति बेल्जियम के दो विश्वविद्यालयों में हुई थी। ज्ञात हुआ कि छात्रों के अभाव में 'ल्यूवन' विश्वविद्यालय का विभाग बंद कर दिया गया है। 'गेंट' में भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी कि विभाग बंद हो जाता क्योंकि व्यावहारिक अभ्यास के अभाव में छात्रों की संख्या नहीं के बराबर थी। बाद के तीन वर्षों में संख्या में बहुत वृद्धि हुई। छात्रों में तथा दूसरे लोगों में भी भारतीय संस्कृति को जानने की ललक भी इतनी अधिक है कि यहां की शिक्षा संस्थाओं में भारतीय दिवस मनाने की परंपरा-सी पड़ गई है। बेल्जियम तथा भारतीय शासन के मध्य यह सांस्कृतिक अनुबंध उल्लेखनीय है। विशेष रूप से प्रगतिशील हिंदी राज-भाषा के लिए जो अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में और अधिक समृद्ध-सुदृढ़ बनेगी।

□

हिंदी का स्वदेशीपन, हिंदी में रही संस्कृत की शब्दावली और हिंदी में प्रादेशिक शब्द हजम करने की शक्ति — ये तीन गुण इतने जबरदस्त हैं कि हिंदी स्वराज्य भारत की राजभाषा और राष्ट्रभाषा होकर ही रहेगी।

आचार्य काका कालेलकर

हिंदी पढ़ने में उनका दिशा-बोध स्पष्ट है

डॉ० वी०पी० मुहम्मद कुंज मेत्तर

मलयालमभाषी भारतीय साहित्यकार डॉ० मेत्तर आजकल गेंट विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफेसर हैं। वहां हिंदी की क्या स्थिति है, इसके विषय में उनकी ताजातरीन टिप्पणी।

बेल्जियम में भारत, भारतीय संस्कृति एवं भारत विद्या के प्रति बड़ा अनुराग है। उनका यह अनुराग दो रूपों में प्रकट होता है—एक, यहां भारत के लगभग तीन हजार बच्चे गोद लिए गए हैं। दो, गेंट विश्वविद्यालय में विगत एक सौ उन्नीस वर्षों से संस्कृत का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन किया जा रहा है। जो केंद्र संस्कृत के लिए आरंभ किया गया था वही बाद में भारत-विद्या विभाग के रूप में बदल दिया गया था। यद्यपि हिंदी की पढ़ाई की व्यवस्था पहले लूवैन के कैथोलिक विश्वविद्यालय में ही की गई थी तथापि वहां कोर्स को बंद करने के कारण 1988 ई० में गेंट विश्वविद्यालय के भारत-विद्या विभाग में हिंदी को भी स्थान दिया गया। बेल्जियम में हिंदी के स्थान को निर्धारित करने के लिए भारत और भारत-विद्या के प्रति वहां के लोगों, विशेषकर संस्कृति-कर्मियों की दृष्टि समझनी चाहिए।

बेल्जियम के विद्वानों और विद्यार्थियों का विचार है कि जो भारत को समझना चाहता है, जो भारतीय संस्कृति का वास्तविक परिचय पाना चाहता है, उसको जरूरी है कि वह कम-से-कम संस्कृत, प्राकृत और हिंदी का अध्ययन-अनुशीलन करे। उनका विचार है कि भारत-विद्या के बारे में काफी सामग्री अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में उपलब्ध होती है मगर वर्तमान पीढ़ी के युवक-युवतियां सोचते हैं कि वह सामग्री भारत की महान संस्कृति को प्रत्यक्षत: समझने का सही माध्यम नहीं है। उनका विचार

है कि भारतीय जीवनधारा के अमृत-प्रवाह में डुबकियां लगाने के लिए वैदिक संस्कृति में वर्तमान समय तक मिल रही भाषा-शृंखला की हर कड़ी को सावधानी से परखें और प्रत्येक कड़ी की अलग-अलग छवि के साथ उनके सम्मिलन से प्राप्त सामूहिक सुषमा का भी आस्वादन करें। यह एक ऐसी दृष्टि है जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय विद्यार्थी की समझ के बाहर पड़ती है।

मैंने अपने विद्यार्थियों से यह जानना चाहा कि वे हिंदी क्यों पढ़ते हैं या भारत-विद्या पढ़ने का क्या कारण है। उनका उत्तर सुनकर मुझे लगा कि बेल्जियम के विद्यार्थी लक्ष्यहीन नहीं हैं। वे सुनिश्चित दिशा-बोध के साथ ही विश्वविद्यालय में अपना अध्ययन करते हैं। अधिकांश विद्यार्थियों का यह उत्तर था कि वे बेल्जियम से लगभग सौ गुने बड़े भारत के वैविध्यपूर्ण जीवन-प्रवाह की अतिशय विलक्षणता का विश्लेषण करना चाहते हैं। कतिपय विद्यार्थियों ने भारत का भ्रमण किया है। उनका कहना है कि भारत की गलियों-सड़कों एवं गांवों में मानवीय भाव थिरकते नजर आते हैं। उन्होंने महसूस किया है कि गरीब-से-गरीब और अभावों से पीड़ित लोगों के चेहरों पर भी एक प्रकार की मंद स्मिति एवं शांति लहरें मारती देखी जा सकती हैं। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक की लंबी यात्रा के दौरान लोगों के व्यवहार में निश्छल प्रेम के अतिशय माधुर्य का अनुभव होता है। अनेक परस्पर विरोधी विचारधाराएं बिना संघर्ष के, समन्वय के राजमार्ग पर समरसता के साथ चलती हैं। वे पूछते हैं कि इतने सारे धर्म कैसे आपस में गलबाहें डालकर प्रेमपूर्वक रहते हैं। धर्म के कट्टर नियमों से मुक्त होकर स्वच्छंद विचरण करने वाले बेल्जियम के युवक-युवतियों को संदेह है कि धार्मिक अनुष्ठानों के कारण व्यक्ति और समाज का विकास क्यों अवरुद्ध नहीं होता? धर्म-बंधन से जनता क्यों ऊब नहीं जाती?

भारत की योग विद्या, भारत में जन्मा बौद्ध धर्म, भारत का भोजन, भारत का आयुर्वेद, भारत के मंदिर, भारत की स्थापत्य-कला, भारत का अध्यात्म आदि न जाने कितनी चीजें हैं, जो यूरोप को अपनी ओर खींचती हैं। भारतीय साहित्य, नृत्य, संगीत, वीणा, सितार, सरोद, तबला आदि बेल्जियम के युवक-युवतियों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अतः यूरोप के संस्कृतिकर्मियों का विचार है कि भारतीय भाषा और साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान से भारतीय संस्कृति के मूल तक पहुंचा जा सकता है और इस प्रकार एक अभिनव दृष्टि पाकर भूमंडलीय संस्कृति के निर्माण में अपना योग दे सकता है। गेंट विश्वविद्यालय के भारत-विद्या विभाग की स्थापना से उपर्युक्त सारी बातें सिद्ध होती जा रही हैं। भारत की राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी शिक्षण को महत्त्व देने के पीछे उपर्युक्त सांस्कृतिक उपलब्धियां ही कार्य करती हैं।

भारत-विद्या का जो कोर्स यहां चल रहा है, वह 'साहित्य एवं दर्शन संकाय' के अंतर्गत चार साल का एक स्नातकोत्तर कोर्स है। जो विद्यार्थी प्रथम दो वर्ष पूरा

करता है, उसे 'कान्डिडेत्यूर' (स्नातक) का प्रमाण-पत्र दिया जाता है। तदुपरांत दो वर्ष और पढ़ने पर 'लैसेन्शियात' (स्नातकोत्तर) की उपाधि दी जाती है। हिंदी यहां मुख्य विषय न होकर भारत-विद्या के अंतर्गत पढ़ाए जाने वाले विषयों जैसे—संस्कृत, प्राकृत, भारतीय समाज, संस्कृति आदि के साथ पढ़ाई जाती है।

हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अध्येता को अक्षरमाला से प्रारंभ कर हिंदी में बातचीत करने की दक्षता ही नहीं दी जाती, बल्कि उसे हिंदी साहित्य के प्रेमचंद, प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेणु जैसे महान लेखकों की रचनाओं का सही परिचय भी कराया जाता है। चौथे वर्ष की अंतिम परीक्षा के साथ चुने हुए किसी हिंदी साहित्यकार पर लघुशोध-प्रबंध तैयार कराने की योजना भी है। इसमें हिंदी रचनाओं को डच में रूपांतरित भी किया जाता है। लेकिन यह ऐच्छिक है। कोई-कोई संस्कृत या प्राकृत का इस प्रकार विशेष अध्ययन करता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि पश्चिमी यूरोप के इस छोटे-से देश में भारत-विद्या के अध्ययन से क्या लाभ है? यह अध्ययन अमेरिका या अन्य कतिपय यूरोपीय देशों की तरह राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों के तहत नहीं किया जा रहा है। जैसे मैंने ऊपर सूचित किया है, शुद्ध सांस्कृतिक दृष्टि से ही हिंदी तथा भारत-विद्या को अध्ययन का विषय बनाया गया है। उदाहरण के लिए जब विद्यार्थियों ने जाना कि मेरी मातृभाषा मलयालम है तब उन्होंने मलयालम में भी एक कोर्स चलाने का आग्रह किया और 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' की अनुमति से यह कोर्स भी चलाया। अकसर भारत-विद्या पढ़ने वाले विद्यार्थियों के भविष्य के बारे में प्रश्न किया जाता है। यह सही है कि भारत-विद्या में स्नातकोत्तर उपाधि लेने वाले व्यक्ति के सामने किसी विशेष नौकरी का द्वार नहीं खुला पड़ा है। कुछ लोगों को हाई स्कूल में इतिहास का शिक्षक पद मिल सकता है या किसी पर्यटन-एजेंट के यहां पर्यटक-गाइड का पद मिल सकता है। भारत से व्यावसायिक संबंध जुड़ने पर शायद कुछ लोगों को बेल्जियम की भारत स्थित फर्मों या बैंकों में नौकरी मिल सकती है। कुछ एक को भारतीय भाषा एवं संस्कृति संबंधी परिचय देने वाली संस्थाओं की सेवा का मौका मिल सकता है। कतिपय अध्येता सोचते हैं कि इक्कीसवीं सदी में भारत ग्लोबल आर्थिक समुदाय का शक्तिशाली सदस्य निकलेगा, तब अपने ज्ञान के उपयोग का मौका मिलेगा। कुछ विद्यार्थी पश्चिम की अति भौतिक एवं उपभोक्ता संस्कृति से आक्रांत मन को शांति दिलाने के लिए अध्यात्म-चिंतन पर आधारित भारतीय संस्कृति का परीक्षण करना चाहते हैं और वे इस तरह से मानसिकोल्लास पाना चाहते हैं। कुछ विद्यार्थी विषय में अपनी असीम रुचि के कारण अपने को भारत-विद्या के लिए समर्पित करना चाहते हैं, जो शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से भारत-विद्या का विवेचन-विश्लेषण कर भारत-विद्याविद् बनेंगे। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि हमारे विभाग के तीन विद्यार्थियों को पिछले साल भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की

छात्रवृत्ति से भारत के विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा पाने का सौभाग्य मिल गया है। जो हो, पिछले तीन सालों की विद्यार्थी-संख्या (30 से 45 तक) देखकर यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि बेल्जियम में भारत-विद्या-प्रेमियों की संख्या बढ़ रही है।

भारत-विद्या विभाग के पुस्तकालय के बारे में भी दो शब्द कहना अनुचित नहीं होगा। भारत-विद्या से जुड़ी अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, डच आदि भाषाओं में उपलब्ध पुस्तकों के अलावा संस्कृत के पुराने ग्रंथों का विपुल भंडार इस पुस्तकालय का अलंकार है। भारतीय भाषाओं के प्रायः सभी प्रामाणिक शब्दकोश यहां उपलब्ध हैं। भारत के बहुत-से पुराने मानचित्रों का अपूर्व भंडार भी विभाग के कार्यकलापों पर प्रकाश डालने वाला है। हिंदी की पुस्तकें बहुत ही कम हैं, लेकिन हिंदी-शिक्षण के लिए आवश्यक काफी सामग्री, अंग्रेजी में ही सही, उपलब्ध है। कंप्यूटर से भी हिंदी के अध्ययन-अध्यापन में सहायता ली जाती है।

इस विभाग का आकार बहुत छोटा है, अतिथि प्रोफेसर के अतिरिक्त केवल दो प्रोफेसर — प्रो०ई० मूर्लोज और प्रो० वान दन बोस्से और एक सेक्रेटरी श्रीमती हिल्दे। प्रों० डॉ० मूर्लोज संस्कृत के अच्छे विद्वान हैं, जो प्रो० स्खार्पे द्वारा बनाए गए 'कालिदास कोश' के तीसरे भाग के संपादन व प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रो० डॉ० वान दन बोस्से जैन साहित्य के बड़े विद्वान हैं। आप संस्कृत, प्राकृत और हिंदी का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। इस वर्ष एक हिंदी सहायक शिक्षक की नियुक्ति की जाएगी। हिंदी सहायक के अध्यापन के अलावा हिंदी में शोध करके डाक्टरेट लेने की भी आवश्यकता है। इस साल एक विद्यार्थिनी को प्राकृत रामायण 'पउम चरिउ' पर शोधोपाधि ग्रहण करने हेतु पंजीकरण दिया गया है। विभाग के दो स्वर्गीय प्रोफेसर, शोध व अध्यापन में अपनी छाप छोड़ गए हैं। स्व० प्रो० डॉ० स्खार्पे विशाल आकार वाले 'कालिदास कोश' के दो भाग ही अपने जीवन-काल में प्रकाशित कर पाए थे। तीसरे भाग का संकलन किया, लेकिन अप्रकाशित छोड़ गए। उन्हें उज्जैन की कालिदास अकादेमी ने कालिदास पुरस्कार से सम्मानित भी किया था। वैसे ही स्व० प्रो० डॉ० द ल्यू हिंदी के वरिष्ठ अध्यापक थे, जिन्होंने यहां हिंद-शिक्षण की अच्छी नींव डाली।

विगत ग्यारह वर्षों से भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की ओर से अतिथि हिंदी प्रोफेसर भेजे जाते रहे हैं, जिनके सहयोग से हिंदी शिक्षण को सुदृढ़ आधार मिला है। इससे भाषा-शिक्षण में विद्यार्थियों का आत्मविश्वास ही नहीं बढ़ा है बल्कि उनका उत्साह भी बढ़ा है। भारतीय मूल के अध्यापक से भाषा और संस्कृति के जीवंत स्वरूप का परिचय पाकर विद्यार्थी भारत से आत्मीय संबंध जोड़ते देखे जाते हैं।

इस आलेख को समाप्त करने से पूर्व बेल्जियम के दो वरिष्ठ हिंदी विद्वानों का नाम न लेना उचित नहीं होगा — एक, स्वर्गीय फादर (डॉ०) कामिल बुल्के और दो, लूवैन के कैथोलिक विश्वविद्यालय के प्रो० डॉ० वीनंद कलवार्त। जन्म से बेल्जियम

और आजीवन कर्म से भारतीय रहे फादर (डॉ०) कामिल बुल्के अपने विख्यात शोध-प्रबंध 'राम-कथा' एवं 'अंगरेजी-हिंदी कोश' के लिए अत्यंत प्रामाणिक माने जाते हैं। हिंदी को ऐसी अमर कृतियां प्रदान कर वे स्वयं अमर हो गए। प्रो० डॉ० वीनंद कलवार्त हिंदी भक्ति साहित्य के अधिकारी विद्वान हैं। हिंदी भक्ति साहित्य को डच और अंग्रेजी के माध्यम से यूरोपीय लोगों को प्रदान करने की उनकी महान् साधना की कितनी ही प्रशंसा की जाए वह अधूरी ही रहेगी। संप्रति, आप कबीर की रचनाओं का प्रामाणिक संस्करण निकालने में लगे हुए हैं। लैटिन और ग्रीक विभाग में शोध कर रहे श्री एरिक सेल्दस्लखस्स का नाम लेना आवश्यक है, जो पुराने ग्रीक साहित्य में उल्लिखित भारतीय नामों (व्यक्ति, स्थान, पशु-पक्षी आदि) पर अपना शोध पूरा करने जा रहे हैं। यह अध्ययन जो भारत-विद्या विभाग से जुड़कर किया जा रहा है, भारतीय नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन-अनुशीलन है।

विश्वविद्यालय के बाहर भी हिंदी के प्रति ममता और प्रेम प्रकट करने वाले लोगों को देखकर आपको आश्चर्य होगा। उदाहरण के लिए गेंट में 'ओरियंथाल' नामक एक भाषा शिक्षण संस्थान है जहां अरबी, तुर्की आदि भाषाओं के साथ हिंदी का कामचलाऊ ज्ञान दिया जाता है। इस संस्था की खूबी यह है कि यहां की हिंदी शिक्षिका गेंट विश्वविद्यालय की छात्रा सुश्री रजीन कुसुमंत हैं। मैंने देखा कि कम समय में हिंदी का अच्छा-खासा ज्ञान कैसे दिलाया जाता है। उनका हिंदी उच्चारण भी बहुत ही शुद्ध और सहज-स्वाभाविक पाया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि यहां जो भी कार्य किया जाता है वह लगन के साथ, बड़ी सावधानी से किया जाता है।

बेल्जियम में हिंदी के अध्ययन-अनुसंधान की गतिविधियों को देखकर आशा बंध जाती है कि इस देश में हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति ममता कायम रहेगी। नई पीढ़ी के लोग भारत की बहुत-सी चीजों को बड़े प्रेम से देखते हैं, उन्हें आत्मसात करने की भरसक चेष्टा करते हैं। अतः सांस्कृतिक दृष्टियों से भारत-विद्या के अध्ययन-अनुसंधान की जो सारस्वत साधना यहां चल रही है, वह भविष्य में ज्ञान के नए क्षितिज को छू लेगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

□

संघर्ष की भाषा हिंदी

डॉ० वेदप्रकाश 'वटुक'

अनेक वर्षों से अमेरिका में रहकर अध्यापन तथा अन्य गतिविधियों के माध्यम से हिंदी की सेवा में संलग्न डॉ० वेदप्रकाश 'वटुक' हिंदी की वर्तमान स्थिति से चिंतित भी हैं और सजग भी। अनुभवों की आग से निकली उनकी यह खरी टिप्पणी।

अभी-अभी एक सप्ताह की न्यूयार्क की यात्रा से लौटा हूं। न्यूयार्क की पब्लिक लायब्रेरी में अचानक मुझे 'गदर' के उर्दू और पंजाबी संस्करण की फाइलें देखने को मिलीं। 1913 में लाला हरदयाल जैसे बौद्धिकों, करतारसिंह सरामा और विष्णु गोविंद पिंगले जैसे युवा छात्रों और सोहनसिंह भकना जैसे हजारों किसान-मजदूरों ने अमेरिका के पश्चिमी तट पर ब्रिटिश सरकार से भारत को मुक्त कराने के लिए जो पार्टी बनाई थी, उसका मुख पत्र था 'गदर'। प्रमुख रूप से 'गदर' छपता था — हिंदी, उर्दू और पंजाबी में। बंटता था विश्व भर में फैले भारतीयों में। स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक-आर्थिक न्याय, धार्मिक सहिष्णुता और भाईचारा उसके आधारभूत संदेश थे। हजारों भारतीय 'गदर' के आह्वान पर अपना सब कुछ छोड़कर वापिस भारत जाकर आजादी के लिए लड़े। जानें गंवाईं, फांसी चढ़े, कालापानी भोगा, जेलों में सड़े। उनकी प्रेरणा से भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी पैदा हुए। इसीलिए 'गदर' के चार वर्षों के अंक देखकर मैं श्रद्धा से अभिभूत हो गया।... इसलिए कि इन लोगों ने घोषणा की थी, 1 नवंबर 1913 को, आज हम विदेश की धरती से अपनी भाषा में ब्रिटिश सरकार के विरोध में लड़ाई का ऐलान करते हैं। और अपनी

भाषा में किया गया लड़ाई का यह ऐलान कुछ महीनों में ही विश्व भर में फैले प्रवासी भारतीयों की आत्मा में रम गया। 'गदर' में छपे गीत उनकी रग-रग में गूंज उठे। यह काम अंग्रेजी का कोई पत्र नहीं कर सकता था।

मन ने कहा, हां अपनी भाषा ही अपनी स्वतंत्रता, अस्मिता की भाषा है, संघर्ष की भाषा है, विद्रोह की भाषा है।

1916 में बनारस में एकत्र राजा-महाराजाओं की सभा में महात्मा गांधी ने उनकी दासभावना और ऐश्वर्यवृत्ति के लिए उन्हें लताड़ लगाते हुए जो महत्त्वपूर्ण बात कही थी, वह थी हिंदी को अपने संप्रेषण की भाषा बनाने की। अंग्रेजी का स्थान व्यवहार में हिंदी को दिलाने पर ही स्वतंत्रता आंदोलन जन-आंदोलन बना — अंग्रेजी डिबेटिंग क्लब से निकल कर भारत-उद्घोष बना। जनभाषा ही जनतंत्र की मूल आत्मा को प्रतिबिंबित कर सकती है, यह बात गांधी जी ही नहीं और नेता भी जानते थे। तभी तो राजाजी कहते थे, हिंदी का प्रश्न आजादी के प्रश्न से जुड़ा है। और तभी तो आजाद हिंद फौज की भाषा हिंदी थी। तभी तो 1906 में जन्मे मेरे पूज्याग्रज सुंदरलाल जी की तरह अनेक युवकों को अंग्रेजी स्कूलों से हटाकर उनके अभिभावकों ने हिंदी राष्ट्रीय विद्यालयों में भेजा था। लाल बहादुर शास्त्री आदि देशरत्न ऐसे ही विद्यालयों की उपज थे।

हिंदी परिवर्तन की भाषा थी, क्रांति का उद्बोधन थी उन दिनों।

1946 में वायसराय कौंसल के सदस्य चौधरी मुखत्यार सिंह ने जापान और जर्मनी की यात्रा के बाद यह अनुभव किया था कि यदि भारत को कम समय में आर्थिक दृष्टि से उन्नत होना है तो जन वैज्ञानिक बनाने होंगे जन भाषा में। उन्होंने मेरठ के पास एक छोटे-से कस्बे में 'विज्ञान कला भवन' नामक संस्था की स्थापना की। हिंदी मिडिल पास छात्रों को उसमें प्रवेश दिया। और हिंदी के माध्यम से मात्र पांच वर्षों में उहें एम०एस-सी० के कोर्स पूरे कराकर 'विज्ञान-विशारद' की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार के प्रयोग से वे देश की सरकार को दिशा देना चाहते थे कि जापान की भांति भारत का हर घर लघु उद्योग-केंद्र हो सकता है। दुर्भाग्यवश दो स्नातक-टोलियों के निकलने के बाद ही चौधरी साहब की मृत्यु हो गई। और हमारी 'राष्ट्रीय प्रदेश सरकार' ने 'विज्ञान कला-भवन' को इंटर कालिज बना दिया। वहां तैयार किए गए ग्रंथों के प्रति भी कोई मोह सरकार का नहीं था। पर इस प्रयोग ने यह भी सिद्ध तो किया ही (अगर यह सिद्ध करने की जरूरत थी तो) कि जनभाषा ही आर्थिक उन्नति का रहस्य है। जनविज्ञान की आत्मा है।

आजादी से पहले और कुछ समय बाद तक भी इसीलिए नागरी प्रचारणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदी विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ आदि संस्थाओं का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। उस गौरव-गरिमा के पीछे था उनकी तंत्रमुक्त स्वतंत्र अस्मिता। जनता में मुक्त रूप से स्तरीय ज्ञान पहुंचाने की निष्ठाभरी आकांक्षा। अपने

साहित्य के प्रति गर्व, अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति गौरवमयी भावना। आज हम वह पीछे छोड़ आये हैं। इसी से हिंदी आज मुक्ति की नहीं पिछलग्गूपन की पर्याय हो गई है।

तंत्र की दासता के साथ हम अभी भी मानसिक दासता से भी ग्रस्त हैं। अंग्रेजी-भाषियों ने रवींद्रनाथ टैगोर की पीढ़ी से लेकर सल्मन रुश्दी, विक्रम सेठ, आर०के० नारायण, अरुंधती राय आदि अंग्रेजी में लिखने वालों के कारण अंग्रेजी का महत्त्व बढ़ा है, ऐसा नहीं माना। उल्टा वे मानते हैं कि अंग्रेजी में लिखने के कारण इन्हीं लोगों का कल्याण हुआ है। इसके विपरीत हिंदी वाले किसी भी विदेशी के मुख से गलत उच्चारण के साथ कुछ वाक्य सुन लेते हैं, तो श्रद्धानत हो जाते हैं। कितने विदेशी हैं जिन्होंने हिंदी में एक भी स्तरीय रचना लिखी है? और जिनका हमारे आलोचक उसी दृष्टि से आकलन करते हैं जिस दृष्टि से आंग्ल आलोचक भारतीय लेखकों का (जो अंग्रेजी में लिखते हैं)।

वही श्रद्धा का भाव, जो अभारतीय विदेशियों के प्रति हम भारतीय रखते हैं, कुछ अंशों में प्रवासी भारतीयों के प्रति भी रहता है, जो हिंदी में लिखते हैं। अमेरिका में प्रकाशित हिंदी की पत्रिकाएं स्वत: ही उच्चस्तरीय, उत्कृष्ट, सुसंपादित, स्तुत्य आदि विशेषणों की पात्र हो जाती हैं। उसकी हर निम्न स्तर की कविता में भी काव्य के सभी गुण ढूंढ लिए जाते हैं। ''भारत से हजारों मील दूर रहकर भी आप हिंदी की जो सेवा कर रहे हैं, वह श्लाघनीय है,'' मूलमंत्र है हर भारत में रहते मनीषी का। जबकि तथ्य यह है कि अमेरिका में जितने भी अच्छे लेखक-कवि हैं, उनमें अनेक भारत से आने से पहले ही अपना स्थान बना चुके थे। अमरीका-निवास में उनके काव्य में कुछ नयापन आया है, इसमें भी संदेह है। शेष आप्रवासियों की रचनाएं ऐसी हैं, जो भारत के किसी प्रतिष्ठित पत्र में (भारत में रहते) स्थान नहीं पातीं। हर अमेरीकी हिंदी पत्रिका के हर अंक में मुद्रण की कुछ न कुछ अशुद्धियां हैं और इनमें हिंदी के प्रति निष्ठा का तो संपादकों में पूर्णत: अभाव है। वे भारत से आये कई हिंदी विद्वानों, वहां की छोटी-मोटी संस्थाओं से प्रशस्ति-फलक पाकर या भारतीय भाषा विभागों में बिना बुलाए जाकर भी कक्षा में भाषण देकर स्वयं को विशिष्ट सम्मानित तो घोषित करते ही हैं, अपने अतिथियों को भी भारत में शंकराचार्य बना देते हैं। इस प्रकार एक दूसरे की पीठ खुजलाने से न हिंदी का कोई हित होता है, न हिंदी जगत का सम्मान बढ़ता है। मुझे तो 'हिंदी की सेवा' शब्द से सख्त चिढ़ है। हिंदी अपंग नहीं है, जो सेवा की अपेक्षा रखती है।

हिंदी को नहीं, हिंदी वालों को इस मानसिक दासता से मुक्त होना ही पड़ेगा। एक युग था जब हिंदी के पुरोधा महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे तपोनिष्ठ व्यक्ति होते थे, जो साधना का जीवन जीते थे, मनीषी कवियों लेखकों को पैदा करते थे, आज तो ऐसे अनेक दुबे हैं, जिनका हिंदी काव्य-प्रणयन कम है, पर प्रचार और प्रशस्तियों से

सजी हैं उनके घर की प्राचीरें।

इसी संदर्भ में है एक और तथ्य। अमेरिका के संदर्भ में ही। उत्तरी अमेरिका में प्रवासी भारतीयों में सबसे अधिक संख्या हिंदी भाषियों की है। फिर भी उनकी पत्रिकाओं में किसी की भी ग्राहक संख्या 300-400 से ऊपर नहीं। इसके विपरीत उत्तरी अमेरिका में 50 से 100 पृष्ठों के साप्ताहिक पत्र, जो पंजाबी और बांग्ला में प्रकाशित होते हैं उनकी ग्राहक संख्या दस-दस हजार तक है। पंजाबी घरों में सैंकड़ों की संख्या में भारत से प्रकाशित दैनिक पत्र 'स्वदेश सेवक' और 'नवां जमाना' के साप्ताहिक संस्करण आते हैं। अभी पिछले मास मैंने देखा, हजारों बंगाली पुस्तकें आयीं और हाथों-हाथ बिक गयीं। हिंदी का कोई प्रकाशक आज तक अमेरिका में किसी पुस्तक प्रदर्शनी में आया हो, मुझे ध्यान नहीं। प्रश्न उठता है, क्यों है हिंदीभाषियों में हिंदी पुस्तकों के पाठकों का इतना अभाव? शायद इसलिए कि एक पूरी पीढ़ी को हिंदी के पठन-पाठन, उसकी शक्ति-सामर्थ्य और अस्मिता के संस्कार नहीं मिले। यूं तो भारत में भी जिस प्रकार का माहौल है, वहां साहित्य के प्रति कम, हिंदी फिल्मों के प्रति अधिक अनुराग है।

□

भारत जैसा विशाल देश जिसका इतना बड़ा इतिहास है और जिसकी संस्कृति इतनी प्राचीन तथा भव्य है उसके लोगों से यदि कहा जाए कि उनकी अपनी कोई भाषा नहीं है तो यह बड़ी लज्जा की बात है।

पं० कमलापति त्रिपाठी

नौकरी के अभाव में हिंदी कम पढ़ी जाती है

डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि

ओसाका विश्वविद्यालय (जापान) में भारतीय भाषाओं के प्रोफेसर मिज़ोकामि ने दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी में स्नातकोत्तर की उपाधि ली है। उनका हिंदी का गहन अध्ययन इस आलेख में दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत है जापान में पचास वर्ष की हिंदी-यात्रा उनकी कलम से।

जापान में हिंदी अध्ययन-अध्यापन के दो केंद्र हैं—तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय—दोनों सरकारी विश्वविद्यालय हैं। तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय का निर्माण लगभग नब्बे वर्ष पहले तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय की स्थापना लगभग पचहत्तर वर्ष पहले हुई थी। परंतु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व ये दोनों विश्वविद्यालय इंटरमीडिएट कालिज स्तर के त्रिवर्षीय कोर्स के 'विद्यालय' मात्र थे, जिनमें विश्व की विभिन्न विदेशी भाषाओं का (अध्ययन कम) अध्यापन (अधिक) होता था। भारतीय भाषा विभाग दोनों विद्यालयों में लगभग प्रारंभ से ही मौजूद था, परंतु वहां हिंदी का अध्यापन नहीं होता था बल्कि 'हिंदुस्तानी' के नाम से सहज उर्दू ही पढ़ाई जाती थी। जो भारतीय अध्यापक पढ़ाने के लिए बुलाए जाते थे अधिकतर हिंदू थे। इसलिए उर्दू से कोई धार्मिक भाव संबद्ध नहीं था। यह 'भाषा-शिक्षण' की दृष्टि से भले ही सही भी था, पर भाषा के साथ उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को काटा गया। परिणामत: छात्र

भारतीय संस्कृति के साथ गहराई से परिचित नहीं हो सके। जिज्ञासु छात्र इस बात से संतुष्ट नहीं थे। तोक्यो और ओसाका में इस 'हिंदुस्तानी' के प्रवर्त्तक थे क्रमश: प्रो० रेइचि गामो तथा प्रो० एइज़ो सावा। दोनों उर्दू के अलावा फारसी में भी निपुण थे। उल्लेखनीय है कि उक्त हिंदुस्तानी विभाग में सहायक या ऐच्छिक भाषा के रूप में समय-समय पर तोक्यो में तमिल भाषा का तथा ओसाका में अरबी या फारसी भाषा का अध्यापन भी होता था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इन दोनों विद्यालयों को विश्वविद्यालय का स्तर प्रदान कर दिया गया और चार कक्षाओं की व्यवस्था के साथ बी०ए० की उपाधि भी प्रदान की जाने लगी, परंतु विभाग तथा अध्यापक वही रहे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब भारत ने हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया तब से इन दोनों विश्वविद्यालयों में धीरे-धीरे हिंदी का महत्त्व बढ़ने लगा परंतु हिंदी के अध्यापक की नियुक्ति में अभी कुछ समय की आवश्यकता थी। ऐसी हालत में उर्दू पढ़े हुए छात्रों में से ही हिंदी के विशेषज्ञ बनने की आशा की जा सकती थी। प्रो० क्यूया दोई ही ऐसे पहले विशेषज्ञ बने। उन्होंने हिंदी का अध्ययन पहले-पहल बर्मा में स्वयं शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया था जब वे द्वितीय महायुद्ध के समय सेना में भरती होकर वहां गए थे। सन् 1949 के बाद प्रो० दोई अपने तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में उर्दू पढ़ाते हुए हिंदी का अध्ययन श्रीमती रत्नम् के नेतृत्व में करते रहे जिनके पतिदेव तोक्यो स्थित भारतीय राजदूतावास के प्रथम सचिव थे। सन् 1953 में उनको दो साल के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन करने का अवसर मिला। सन् 1955 में हिंदी विषय में पारंगत होकर जापान वापस आने पर वे हिंदुस्तानी (उर्दू) विभाग से अलग हिंदी विभाग को स्थापित करने में जुट गए और उनका यह प्रयत्न सन् 1959 में सफल हो गया। विभाग का नाम भी 'हिंदुस्तानी विभाग' से 'भारत-पाकिस्तान विभाग' में परिवर्तित किया गया। वैसे हिंदी तथा उर्दू संपूर्ण रूप से अलग-अलग विभाग न होकर इसी 'भारत-पाकिस्तान विभाग' के दो अलग कोर्स (उपविभाग भी कह सकते हैं!) बनीं। तब से हिंदी और उर्दू के लिए पंद्रह-पंद्रह सीटों की परंपरा चली आ रही है, भले ही आगे जाकर विभाग का नाम फिर 'दक्षिण-एशियाई अध्ययन विभाग' में परिणत हो गया।

प्रो० दोई ने *संक्षिप्त हिंदी कोश* (हिंदी-जापानी तथा जापानी-हिंदी) का निर्माण किया था, कई पाठ्य पुस्तकों को प्रकाशित किया था। तब तक कोई उपयोगी हिंदी-जापानी शब्दकोश मौजूद नहीं था जिसके कारण जापानी छात्रों के लिए हिंदी सीखने में बड़ी असुविधाएं थीं। उन्होंने प्रेमचंद के *गोदान* का जापानी में अनुवाद किया था। *इंदो-बुंगाकु* (भारतीय साहित्य) नामक पत्रिका में शृंखला में 16 प्रमुख हिंदी लेखकों का परिचय दे दिया था—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० धर्मवीर भारती आदि-आदि। ये प्राय: सभी लेख अपनी प्रत्यक्ष भेंट-वार्त्ता के आधार पर लिखे गए थे।

व्याकरण तथा ध्वनि विज्ञान के विषयों पर भी कई शोध-प्रबंध लिखे थे। इस प्रकार प्रो० दोई ने जापान में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन का श्रीगणेश किया था। जापान के हिंदी जगत् में मार्गदर्शक के रूप में उनका नाम अमर रहेगा। उनका देहांत सन् 1983 में हुआ था।

प्रो० दोई ने अपने छात्रों में से ऐसे अनेक विद्वान तैयार किए जो आजकल जापान के विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न भारतीय विषयों का अध्ययन-अध्यापन करते हैं।

प्रो० तोशिओ तानाका अपने तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में प्रो० दोई के उत्तराधिकारी के रूप में लगभग 35 वर्ष से हिंदी-शिक्षण में कार्यरत हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य आपका विषय है। आपने बहुत से शोध-प्रबंध लिखे हैं, इसके साथ काफी बड़ी संख्या में हिंदी गद्यों तथा कविताओं का जापानी भाषा में अनुवाद किया है, उनमें से प्रमुख भीष्म साहनी का *तमस* जो स्वतंत्र पुस्तक के रूप में छपा था। भारतीय भाषाओं की लिपियों के विकास पर भी शोध-प्रबंध लिखा है। *इंदो बुंगाकु* (भारतीय साहित्य) नामक पत्रिका के संपादकद्वय में से एक हैं । प्रो० तानाका अगले वर्ष तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण कर रहे हैं।

प्रो० काजुहिको माचिदा का विषय भाषा विज्ञान है। छात्रोपयोगी पुस्तकें भी लिखी हैं—जैसे *एक्सप्रेस हिंदी* (उक्त प्रो० तानाका सहलेखक हैं।), *हिंदी उच्चारण प्रवेशिका* आदि। हिंदी के वर्जित शब्दों (taboo words) का संग्रह करके जापानी में व्याख्या दी है। यह बहुत ही अनोखा काम है। आप कम्प्यूटर के विशेषज्ञ हैं। प्रेमचंद के *गोदान* में प्रयुक्त सभी क्रियाओं को कम्प्यूटर के माध्यम से चुनकर वर्णानुक्रम तथा आवृत्ति (frequency) के अनुसार विश्लेषण किया है। इससे पता चलता है कि संपूर्ण *गोदान* में कौन-सी क्रिया कितनी बार आई है—उदाहरण के लिए 'मरना' शब्द 177 बार आया है। प्रो० माचिदा कम्प्यूटर के क्षेत्र में अग्रदूत हैं। कम्प्यूटर की सहायता से हिंदी भाषा-विज्ञान से संबंधित बहुत कुछ नए कार्यों की आशा की जाती है।

प्रो० त्सुयोशि फुजिई हिंदी का भाषाशास्त्री अध्ययन करते हैं। आपने *गौरीशंकर हीराचंद ओझा* की कृतियों पर ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। आपकी रुचि केवल साहित्य और भाषा में नहीं है, अपितु आप भारत की सामाजिक व्यवस्था पर—विशेष रूप से जाति-व्यवस्था पर बारीकी से अध्ययन करते हैं।

यह तो रही प्रो० दोई की 'वंश परंपरा'। अब पश्चिमी जापान का हिंदी का एक और केंद्र ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय की परंपरा पर प्रकाश डाला जाए जिसमें इस आलेख का लेखक स्वयं गत तीस साल से कार्यरत है।

ओसाका में उक्त प्रो० एइज़ो सावा स्वयं उर्दू के साथ हिंदी भी पढ़ाते थे : उर्दू की कक्षा में 'मैदान-ए-अमर' तथा हिंदी की कक्षा में 'कर्मभूमि' पढ़ाते थे। उन्होंने सन्

1948 में *हिंदी प्रवेशिका* नामक पुस्तक लिखी थी। यह जापान में देवनागरी में छपी प्रथम हिंदी की पुस्तक के रूप में प्रसिद्ध है। इस किताब के अलावा भी उन्होंने कई किताबें लिखी थीं। उनमें सबसे मोटी और विख्यात किताब थी *इंदोबुन्तेन्* जिसमें संपूर्ण हिंदी व्याकरण का परिचय विस्तार से दिया गया है। हिंदी के प्रति प्रेम होने पर भी प्रो० सावा का अधिकार उर्दू पर अधिक था। अत: इस विश्वविद्यालय में भी हिंदी-उर्दू उप-विभाग विभाजन के बाद हिंदी के विशेषज्ञ बनने लगे।

इस प्रकार के विशेषज्ञ प्रो० कात्सुरो कोगा निकले जो आजकल जापान में हिंदी के वरिष्ठतम अध्यापकों में से एक हैं। आपने भी हिंदी शिक्षण के अग्रगामी के रूप में बहुत पाठ्य-पुस्तकें लिखीं—इनमें से *हिंदी प्रवेशिका* प्रमुख है। राजेंद्रप्रसाद की आत्म-कथा, राहुल सांकृत्यायन का *पाकिस्तान या जातियों की समस्या* आदि प्रबंधों का जापानी में अनुवाद किया है। बाज़ारू हिंदुस्तानी, *देवरानी जेठानी की कहानी* तथा कहावतों पर शोध प्रबंध लिखा। हिंदी व्याकरण पर भी अगाध ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए प्रेरणार्थक क्रियाओं एवं निपात के बारे में नई दृष्टि से विश्लेषण किया है। आपका सबसे बड़ा योगदान *जापानी-हिंदी शब्दकोश* का प्रकाशन है। 891 पृष्ठों के इस मोटे ग्रंथ में लगभग 40 हजार शब्द अंतर्भुक्त हैं। प्रो० कोगा इस कार्य में तीन दशक से लगे हुए थे। गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से अभूतपूर्व शब्दकोश है। यह न केवल हिंदी के जापानी शिक्षार्थियों के लिए अपितु जापानी पढ़नेवाले भारतीय विद्यार्थियों के लिए भी अमोल रत्न है। यह एक लेखक के लिए जीवन-भर का श्रम लगता है। इतना ही नहीं, अब नए हिंदी-जापानी शब्दकोश के निर्माण में लगे हैं। *इंदो-मिज़ोकु केन्क्यू* (भारतीय लोकतत्त्व अध्ययन) पत्रिका के संपादन का काम भी किया है। प्रो० कोगा भी अगले वर्ष इस विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण कर रहे हैं।

डा० नोरिहिको उचिदा का नाम बहु-भाषा विद् के रूप में संसार-प्रसिद्ध है। केवल भारोपीय भाषाओं में नहीं, अपितु द्रविड़ भाषाओं में भी निपुण हैं। आपकी बहुमुखी प्रतिभा ने बहुत सी भाषाओं पर कृतियां रचीं। किंतु यहां केवल हिंदी से संबंधित दो पुस्तकों का नाम देना समुचित होगा। एक तो दिल्ली से प्रकाशित *Hindi Phonology*, दूसरे जर्मनी से प्रकाशित *Zur Hindi Vokalphonologie* है। डा० उचिदा ने केवल पांच साल इस विश्वविद्यालय में पढ़ाया था। इस आलेख के लेखक ने प्रो० कोगा तथा प्रो० उचिदा— इन दो अध्यापकों से शिक्षण ग्रहण किया था। लेखक का विषय भी भाषा-विज्ञान से संबंधित है। हिंदी के अलावा, पंजाबी, बांग्ला भाषाओं पर भी काम किया है। भाषा-संपर्क पर जालंधर शहर में क्षेत्रीय कार्य किया था और उसी के आधार पर दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि मिली थी। लेखक ने हिंदी में कुछ मौलिक कहानियां लिखने का दुस्साहस किया था, उनमें से एक कहानी 'एक रिक्शेवाले की कहानी' तो *गगनाञ्चल* में छपी थी।

प्रो० शो कुवाजिमा इतिहासकार हैं। विषय सीधे हिंदी से संबंधित न होने पर भी

इसलिए उनका नाम लिया जा रहा है कि वे भी ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक हैं, हिंदी के माध्यम से आधुनिक भारतीय इतिहास पढ़ाते हैं तथा भारत में कई शोध-ग्रंथ अंग्रेजी में प्रकाशित किए हैं। इनमें प्रतिनिधिक कृति *Muslims, Nationalism and the Partition : 1946 Provincial Elections in India* है। प्रो० कुवाजिमा भी अगले साल अवकाश ग्रहण कर रहे हैं।

प्रो० अकिरा ताकाहाशि भी इसी विश्वविद्यालय में दशक से अधिक समय से हिंदी के अध्ययन-अध्यापन में लगे हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य उनका प्रमुख विषय है। आपने मिथिलेश्वर की कहानियों पर शोध-प्रबंध लिखा है। बालकृष्ण पाल कृत *सत्यनारायण व्रत-कथा* का जापानी में अनुवाद किया है। हापुड़ से प्रकाशित शोध-ग्रंथ *मुल्ला वजही कृत सबरस की दक्खिनी हिंदी का भाषाविश्लेषण* जापानी के द्वारा हिंदी में लिखी हुई और भारत में प्रकाशित पहली रचना है। प्रेमचंद की कहानियों पर आपने पहली बार आलोचनात्मक शैली से निबंध लिखा है। प्रो० ताकाहाशि ने सन् 1990 तक जापान में हिंदी के संबंध में प्रकाशित सभी लेखों, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की विशाल सूची तैयार की थी जिसकी सहायता इस लेख के लेखन में ली गई है। असल में आपकी रुचि हिंदी तक सीमित न होकर 'भारतीय साहित्य' में है। अंग्रेजी में लिखे कुछ उपन्यासों को भी समान रूप से महत्त्व देते हैं और संप्रति आपने अनीता देसाई कृत *'इन कस्टडी'* का जापानी अनुबाद प्रकाशित किया है।

अंशकालिक प्रवक्ता के रूप में इस विश्वविद्यालय में पढ़ानेवाले प्रो० यूइचिरो मिकि का सबसे बड़ा योगदान उपेंद्रनाथ अश्क की गिरती दीवारें का जापानी अनुवाद है। इसी तरह अंशकालिक प्रवक्ता सुश्री हिरोको नागासाकि ने पहले मन्नू भंडारी पर काम किया था और अब रामचरितमानस के छंद पर काम कर रही हैं।

तोक्यो तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालयों में अब एम०ए० के साथ पी-एच०डी० के पाठ्यक्रम की व्यवस्था है यद्यपि इन पाठ्यक्रमों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम है—इसका मुख्य कारण नौकरी का अभाव है।

उक्त दो सरकारी विश्वविद्यालयों के अलावा कई गैरसरकारी विश्वविद्यालय होते हैं जहां वैकल्पिक विषय के रूप में प्रारंभिक या माध्यमिक कक्षाओं तक हिंदी पढ़ाई जाती है। ऐसे विश्वविद्यालय अधिकतर तोक्यो में या उसके आसपास ही स्थित हैं।

प्रो० तेइज़ि साकाता ताकुशोक विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं। वे प्रो० दोई के शिष्य रहे। वे सबसे अधिक कृतियां रचनेवाले बहुत कर्मठ विद्वान के रूप में जाने जाते हैं। आपका योगदान हिंदी भाषा-विज्ञान से लेकर, अनुवाद, लोक-कहानी संकलन, भक्ति-साहित्य, पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण आदि बहुत विस्तृत क्षेत्रों में है। आपकी सभी कृतियों के नाम यहां देना असंभव है। केवल प्रतिनिधिक रचनाओं का परिचय अवश्य दिया जाएगा। आपने पहली बार जापानी में *हिंदी साहित्य का*

इतिहास लिखा है जो परिचयात्मक है। *हिंदी प्रवेशिका* लिखी, मोहन राकेश कृत *मिस्टर भाटिया* तथा *मिस पाल* का अनुवाद किया, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कृत *हिंदी साहित्य की भूमिका* का अनुवाद प्रो० केइचि मियामोतो व प्रो० ताइगेन् हाशिमोतो से मिलकर किया। दो *बैलों की कथा, बड़े भाई साहब, पूस की रात, नशा* आदि प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानियों का अनुवाद किया। सूरसागर पर कई विद्वतापूर्ण शोध-प्रबंध लिखे। संप्रति आपने *हिंदी लोक-कहानियां* प्रकाशित की हैं जो आपने मथुरा के एक परिवार में रहकर एक वृद्धा महिला के मुंह से सीधे सुनकर संग्रह की थी और जिनका जापानी अनुवाद दिया था।

प्रो० हिदेआकि इशिदा दाइतो बुंका विश्वविद्यालय में काफी समय से हिंदी पढ़ाते हैं। आपने जैनेंद्र कुमार और यशपाल की कृतियों तथा जाति की समस्या पर शोध-प्रबंध लिखे, मोहन राकेश के *आखिरी सामान* व *जानवर* और *जानवर* का अनुवाद किया, *व्यावहारिक हिंदी वार्तालाप* की रचना की है। आपका अच्छा ज्ञान मराठी साहित्य में भी है। मराठी साहित्य के दलित साहित्य में विशेष रुचि लेते हैं। मराठी साहित्य की कुछ रचनाओं का अनुवाद भी करते हैं।

प्रो० ताइगेन् हाशिमोतो तोओयो विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं। उनका विषय संत साहित्य है—विशेष रूप से कबीर की भाषा तथा विचारधाराओं पर बहुत काम किया है। संप्रति आपने अपने हिंदी के विद्यार्थियों के साथ मन्नू भंडारी के उपन्यास आपका *बंटी* का सहानुवाद किया है।

प्रो० योशिबुमि मिज़ुनो ने भी मध्यकालीन हिंदी साहित्य विशेष रूप से बिहारी की सतसई पर काम किया है। सतसई में प्रयुक्त रूपक की तुलना संस्कृत के काव्यों से की है। ऐसा इसलिए संभव हो सका है कि आप संस्कृत भाषा में भी पारंगत हैं। प्रो० मिज़ुनो कई विश्वविद्यालयों में अंशकालिक प्रवक्ता के रूप में हिंदी का अध्यापन करते हैं।

हाई स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाते हुए भारतीय भाषाओं (विशेष रूप से पंजाबी) के प्रो० नोरिओ ओकागुचि ने हाल ही में अपनी श्रीमती योशिको के साथ *सरल हिंदी वार्तालाप* का सहलेखन किया है। वैसे प्रो० ओकागुचि की गहरी रुचि सिख धर्म-ग्रंथ तथा पंजाबी साहित्य में है।

तोयामा कोकुसाइ विश्वविद्यालय में पढ़ानेवाले प्रो०कोउकि नागा भी हिंदी में पारंगत हैं। आपने प्रेमचंद तथा गांधीवाद पर शोध-प्रबंध लिखा है। आम पाठकों के लिए जापानी में भारत के बारे में परिचयात्मक पुस्तक लिखी है। प्रेमचंद की विचारधाराओं की जापानी विचारधाराओं से तुलना करने की कोशिश की है।

ओबिरिन् विश्वविद्यालय में दक्षिण एशियाई समाज पर अध्यापन कर रहे प्रो० शिगेओ आराकि ने पहले काशीनाथ सिंह के *अपना मोर्चा, एक प्रेम की कहानी, हस्तक्षेप* आदि का जापानी में अनुवाद प्रकाशित किया था।

एशिया विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ानेवाले प्रो० तेरुमित्सु माएकावा का प्रमुख विषय भारतीय विचारधाराओं तथा पश्चिमी विचारधाराओं (विशेष रूप से मैक्स वेबर) का तुलनात्मक अध्ययन है। आपकी इस विषय की उत्कृष्ट रचना के लिए आपको नाकामुरा हाजिमे पुरस्कार से सुशोभित किया गया है।

ओसाका के पास स्थित ओत्तेमोन् गाकुइन विश्वविद्यालय पश्चिमी जापान में एकमात्र गैरसरकारी विश्वविद्यालय है जहां हिंदी पढ़ाई जाती है। यहां श्रीमती मिवाको कोएज़ुका हिंदी पढ़ाती हैं। आपने हिंदी साहित्य पर कुछ निबंध लिखे हैं। आप रेडियो जापान (एन०एच०के० का अंतरराष्ट्रीय प्रसारण) में हिंदी की वाचिका के रूप में भी प्रसिद्ध हैं, अर्थात् उनकी मीठी आवाज़ को रोज हजारों भारतीय सुनते हैं लघुतरंग प्रसारण के माध्यम से। असल में आपकी हिंदी का उच्चारण इतना शुद्ध है कि यदि यह नहीं बताया जाए भारतीय श्रोताओं को कि यह जापानी महिला बोल रही हैं, तो उनको बिलकुल ऐसा लगेगा कि कोई भारतीय महिला बोल रही हैं। इतनी धाराप्रवाह हिंदी बोलनेवाला शायद ही कोई दूसरा जापानी मिले।

विश्वविद्यालय के अलावा भी तोक्यो के पास मिताका नामक शहर में स्थित एक निजी स्कूल में हिंदी पढ़ाई जाती है जिसका नाम है एशिया-अफ्रीका भाषा-विद्यालय। यहां दो साल का दिन भर का स्कूल है। यहां नियमित रूप से पढ़ानेवाले प्रो० योइचि युकिशिता हैं।

अब तक उल्लेखित सभी विद्वानों के लिए हिंदी न्यूनाधिक जीविका का साधन है, परंतु कुछ ऐसे हिंदी-सेवी व्यक्ति भी हैं जिनकी रोटी-रोजी हिंदी से संबंधित नहीं है। श्री योशिआकि सुज़ुकि का नाम तुरंत याद आता है हिंदी की निष्काम सेवा करनेवाले भक्त के रूप में। आपने स्वयं *गेंदाई हिंदी बुंगाकु एनो शोताई* (आधुनिक हिंदी साहित्य पर आमंत्रण) प्रकाशित किया था। मोहन राकेश की *उसकी रोटी* का अनुवाद किया था। परंतु आपका नाम *ज्वालामुखी* पत्रिका के संपादक के रूप में अमर है। यह हिंदी की ऐसी प्रथम पत्रिका थी जिसमें लिखनेवाले सभी जापानी थे। शीर्षक *ज्वालामुखी* के साथ उपशीर्षक दिया गया था जापानी लोगों द्वारा लिखित हिंदी पत्रिका। प्रथम अंक सन् 1980 में प्रकाशित हुआ था। निबंध, आलोचना, मौलिक रचना, जापानी साहित्य का हिंदी में अनुवाद या चर्चा आदि बहुत दिलचस्प लेखों से भरा था। प्रस्तुत लेख के कुछ प्रारंभिक अंश स्वयं ज्वालामुखी के तृतीय अंक (सितंबर 1982) में मुद्रित अपने लेख 'जापान में हिंदी-शिक्षण की समस्याएं' से उद्धृत किए गए हैं। उन दिनों अभी देवनागरी के Word Processor की सुविधा नहीं थी। सुज़ुकि जी प्राय: हर साल अपने खर्चे से भारत आकर अपने खर्चे से पत्रिका छपवाते थे— हां, भारत सरकार की ओर से कुछ धनराशि सहायता के लिए *अवश्य मिली थी।* इस अनोखे ढंग की पत्रिका का आविर्भाव उन दिनों हिंदी सेवी संसार में बहुचर्चित विषय बना था और बहुत प्रशस्त हुई थी। परंतु खेद की बात है कि धन के अभाव में और

सुज़ुकि जी की व्यस्तता के कारण यह *ज्वालामुखी* पत्रिका अंक पांच (जनवरी सन् 1985) के बाद बंद हो गई थी। अब कौन दूसरे सुज़ुकि जी आ निकलें इस पत्रिका को पुनर्जीवित करने के लिए।

सुश्री तामाकि मात्सुओका पहले हिंदी की विद्यार्थिनी थीं। इन्होंने प्रेमचंद की *ईदगाह* का अनुवाद किया था। हिंदी-शिक्षण के माध्यम से जब इन्होंने पहले-पहल भारत में हिंदी फिल्म देखी थी तो इतनी मंत्रमुग्ध हो गई थीं कि उसके बाद दीवानेपन की हद तक भारतीय फिल्मों में डूब गई थीं। आप भी हर साल अपने खर्चे से भारत जाती रहीं और क्या-क्या फिल्म नहीं देखी थी? अमिताभ बच्चन जी से मुलाकात करने का सौभाग्य जब मिला था तो आपके दिल की धड़कन बंद नहीं हुई थी। अंतत: आप नौकरी छोड़कर हिंदी फिल्मों को जापानी दर्शकों में प्रचार करने के कार्य में जुट गईं। तब जापान में हिंदी फिल्म के प्रति लोगों का अधिक ध्यान नहीं था। प्राय: देखने का मौका भी नहीं मिलता था। भारतीय फिल्म का मतलब था सत्यजित राय की उच्च अनुवाद करके चित्रपट पर दिखाती थीं। कई बार भारतीय फिल्म-उत्सव को बड़ी सफलता से संपन्न कराया था। भारतीय फिल्म संबंधी कई पुस्तकें भी लिखीं। अब जापान में जब भी किसी भारतीय फिल्म-समीक्षक का नाम लिया जाता है तो निस्संदेह सबसे पहले मात्सुओका जी का नाम लिया जाता है। आजकल जापान में (केवल हिंदी ही नहीं) भारतीय फिल्मों को देखने का अवसर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इसका श्रेय निश्चित रूप से सुश्री मात्सुओका को है।

इन दो-तीन दशकों में जापानी में अनुवादित हिंदी रचनाओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ गई है। सबकी सूची यहां देना सर्वथा असंभव है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के प्रो० ताकाहाशि ने सन् 1990 तक जापानी में अनुवादित हिंदी कृतियों की संपूर्ण सूची बनाई है—बहुत श्रमसाध्य कार्य रहा होगा, क्योंकि उन्हें छोटी-से-छोटी दुष्प्राप्य पत्रिका को भी चप्पा-चप्पा छान मारना पड़ा था या अपरिचित लोगों से पूछ-पुछवाकर पता लगाना पड़ा था। उसके अनुसार लेखकों की कुल संख्या 121 है तथा कृतियों की संख्या 312 है। इनमें से जिनकी दस से अधिक रचनाओं का जापानी में अनुवाद हो गया था ऐसे पाँच मुख्य लेखकों—best five—के नाम ये हैं: प्रेमचंद, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, मोहन राकेश तथा हज़ारीप्रसाद द्विवेदी।

जापान में हिंदी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन ने अब शैशवकाल से युवावस्था में प्रवेश किया है। गुण और मात्रा में बहुत अधिक प्रगति हुई और होती रहेगी। किंतु विश्व की अन्य प्रमुख भाषाओं की तुलना में अभी भी हिंदी जापान में तथाकथित अल्पसंख्यक भाषा मानी जाती है यद्यपि हिंदी का स्थान बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से विश्व में तीसरा है। पढ़नेवालों की संख्या की दृष्टि से अल्पसंख्यक

या बहुसंख्यक कहा जाता है जापान में। बहुसंख्यक भाषाओं में अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, चीनी, रूसी, कोरियन तथा स्पेनी आदि आती हैं। इन भाषाओं के पढ़नेवालों की संख्या लाखों-हजारों है और पढ़ानेवाले सैकड़ों-हजारों हैं जबकि हिंदी भाषा पढ़नेवालों की संख्या केवल सैकड़ों तथा पढ़ानेवालों की संख्या केवल दर्जनों है। जमीन-आसमान का अंतर है!

भारत में आधी शताब्दी से अधिक रहकर हिंदी की सेवा करनेवाले व्यक्ति का नाम देना बहुत आवश्यक होगा। उनका नाम प्रो० महेंद्र साइज़ि माकिनो। आप विश्वभारती से जापानी भाषा के अध्यापक के पद से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं लेकिन अभी भी शान्तिनिकेतन में रह रहे हैं। मूलत: वे गांधीवादी और कृषि के अभियंता थे। किंतु समय-समय पर वे तरह-तरह की भारतीय पत्रिकाओं में जापानी कहानियों (विशेष रूप से बालकों की) का अनुवाद छापते रहे। कुल संख्या कितनी हो गई, मुझे पता नहीं है परंतु इतना अवश्य है कि एक अलग स्वतंत्र पुस्तक के रूप में संकलन करने लायक है। फिर भी जहां हिंदी से जापानी में सीधे अनुवाद तीन सौ से अधिक हुआ है वहां जापानी से हिंदी में अनुवाद बहुत ही नगण्य है। यह अकेले प्रो० माकिनो के बस का काम नहीं है। इस दृष्टि से गत वर्ष प्रकाशित उनीता सच्चिदानन्द द्वारा अनुवादित तीन जापानी लेखकों के हिंदी-अनुवाद श्लाघ्य कार्य है। लोग प्राय: अंग्रेजी से अनुवाद करते थे। बीच में अंग्रेजी को रखने से मूल जापानी की अर्थच्छाया हिंदी में व्यक्त नहीं की जाएगी। अंग्रेजी तो बहुत दूर की भाषा है। जापानी और हिंदी में कहीं अधिक नैकट्य है। हिंदी से जापानी में अनुवाद और जापानी से हिंदी में अनुवाद—इन दो कार्यों के बीच मात्रा में जो विलक्षण असंतुलन है उसको दूर करने का पहला कदम उठाया है सच्चिदानन्द जी ने।

अब तक हिंदी भाषा और साहित्य पर हुए शोध-कार्यों तथा प्रकाशनों और हिंदी साहित्य के जापानी अनुवादों पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है। अंत में हिंदी भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में कौन-सा नया कदम उठाया जा रहा है—इसका परिचय भी पाठकों से कराना समीचीन होगा, क्योंकि इसमें इस प्रपत्र के लेखक की कुछ भूमिकाएं हैं। हिंदी उच्चारणों में जापानियों के लिए महाप्राण तथा अल्पप्राण का भेद, मूर्धन्य का उच्चारण और 'र' व 'ल' तथा 'ड़' का भेद बहुत कठिन लगते हैं। परंतु आजकल के विद्यार्थी बीस-तीस वर्ष पहले के विद्यार्थियों की तुलना में कहीं अधिक परिस्थितियों का लाभ उठा सकते हैं और उठाते भी हैं। दृश्य-श्रव्य शैक्षणिक सामग्रियां आसानी से मिलने लगी हैं। विश्वविद्यालय में भाषा-प्रयोगशाला की सुविधा है। प्रस्तुत प्रपत्र का लेखक स्वयं रामानंद सागर कृत टी०वी० सीरियल 'रामायण' के वीडियो कैसेट को अपनी कक्षा में दिखाता है। 'नीरस' व्याकरण की कक्षा की तुलना में कुछ विद्यार्थी ''मरुभूमि में मरुद्यान (oasis)'' कहकर इसका आनंद लेते हैं। इसकी वाचन-पुस्तिका भी डॉ० गिरीश बख्शी के सहयोग से छपवाई थी— जापानी टीका

सहित। हिंदी फिल्मों के वीडियो कैसेट भी सहज मिलने लगे हैं—यद्यपि पाल सिस्टम और एन टी एस सी सिस्टम के चक्कर के कारण भारत से लाए हुए वीडियो कैसेट जापान में हू-ब-हू देख सकने में असुविधा है। आजकल के विद्यार्थियों के लिए सबसे अधिक सुविधा यह है कि भारत जाना ही बहुत आसान हो गया। आम जापानी विद्यार्थियों के लिए थोड़ा-सा अंशकालिक कार्य (part-time job) द्वारा धनोपार्जन करके भारत-भ्रमण करना बहुत कठिन नहीं है। हर साल इस तरह बहुत से विद्यार्थी भारत जाते हैं और कुछ तो भारतीय परिवार के सदस्य के रूप में रहकर आते हैं। स्वाभाविक है कि उच्चारण तथा वार्तालाप की क्षमता में बहुत वृद्धि देखने को मिलती है। जिस प्रकार हिंदी फिल्म हिंदी भाषा-शिक्षण का सशक्त माध्यम है उसी प्रकार हिंदी गीत भी बहुत अच्छा साधन है। कुछ गीत-प्रिय विद्यार्थियों के लिए तो बहुत आसान तरीका है जो गाना गाते-गाते भाषा सीख सकते हैं। लेखक ने डॉ० गिरीश बख्शी के साथ *लोकप्रिय जापानी गीत* (हिंदी में) का संपादन तथा अनुवाद किया है जिसमें 101 जापानी गीतों का हिंदी अनुवाद है। केवल अनुवाद नहीं गेय भी हैं। इसके आधार पर छः सी०डी० भी बनवाई जापानी महिला तथा भारतीय गायक श्री सर्वजीत चड्ढा के स्वर में। इनमें दो सी०डी० तो बिकाऊ हैं। हमारा उद्देश्य यह था कि जापानी विद्यार्थी अपने ही गीतों को अपने संगीत में हिंदी में सुनेंगे तो हिंदी से शीघ्र परिचित हो जाएंगे और अपने इन लोकप्रिय गीतों को हिंदी में गाते-गाते भारतीय रंग में रंग जाएँगे। हमारे प्रयास को शत प्रतिशत सफलता मिली, यह दावा तो नहीं कर सकते, परंतु कुछ शिक्षार्थियों ने अवश्य इसका स्वागत किया है।

यों तो तोक्यो तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालयों में वार्षिक सांस्कृतिक उत्सव में विदेशी भाषाओं में नाटक खेलने की परंपरा थी और है। जर्मन विभाग के विद्यार्थी जर्मन में, रूसी विभाग वाले रूसी में, और चीनी विभागवाले चीनी में नाटक खेलते हैं। हिंदी विभाग के विद्यार्थी तो हिंदी में नाटक खेलते थे। मेरे छात्र-जीवन (ओसाका) में *ध्रुवस्वामिनी* तथा *रीढ़ की हड्डी* खेले गए थे। *ध्रुवस्वामिनी* के मंचन के बारे में हाल ही में प्रकाशित महेश आनंद (सं०) *प्रसाद : रंग-दृष्टि* में वर्णन मिलता है। कभी-कभी भारतीय दर्शकों को आमंत्रण देते थे और प्रवासी भारतीयों की ओर से प्रशंसा मिलती थी। परंतु प्रायः दर्शक बहुत कम उपस्थित होते थे, आम जापानी छात्र तो भाषा न समझने के कारण हिंदी नाटक की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाते थे। इसलिए यह परंपरा प्रायः बीस साल तक टूट-सी गई थी। बहुत लंबे समय का अंतराल था। किंतु छः साल पहले छात्रों ने इस परंपरा को पुनर्जीवित किया था और अब हर साल अभिनय करते हैं। अब तक *अकबर बीरबल विनोद, शकुंतला, साचिको की शादी, परदा उठने से पहले, प्यार कैसे होता है* तथा *कायाकल्प* खेले गए हैं।

किंतु ओसाका विदेशी-भाषा विश्वविद्यालय के छात्रों के नाट्य-दल के सामने

एक क्रांतिकारी घटना हुई—वह यह कि उन्होंने सन् 1997 दिसंबर से सन् 1998 जनवरी के बीच भारत के चार मुख्य शहर—दिल्ली, वाराणसी, आगरा तथा मुंबई—में हिंदी के दो नाटकों—राजेंद्र शर्मा द्वारा रचित *परदा उठने से पहले* तथा रमाशंकर निशेष द्वारा रचित *प्यार कैसे होता है?* का मंचन बड़ी सफलता से किया था। यह इस दृष्टि से ऐतिहासिक घटना थी कि उसके पहले किसी विदेशी दल (मॉरीशस जैसे भारत मूल के देशों को छोड़कर) ने भारत आकर किसी भी भारतीय भाषा में नाटक प्रस्तुत नहीं किया था। इसीलिए हमारा हिंदी में अभिनय भारतीय लोगों के लिए कौतूहल का विषय बना था। जनसंचारों—समाचारपत्रों और दूरदर्शन दोनों ने बड़े पैमाने पर इस नाट्य-मंचन के बारे में विस्तार के प्रसारित किया था। हमें राष्ट्रपति महोदय तथा उपराष्ट्रपति महोदय से भेंट करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। यह स्वाभाविक बात है कि इस अद्भुत सफलता ने विद्यार्थियों का हौसला बढ़ाया और उन्हें फिर से दूसरे मंचन की ओर प्रवृत्त किया था।

जब गत वर्ष के ग्रीष्मावकाश में हमें लंदन में हिंदी नाटक प्रस्तुत करने का अवसर मिला था तो हम लोगों ने फिर से *परदा उठने से पहले* को तथा स्कूल के बच्चों के लिए मस्तराम कपूर द्वारा लिखे गए *अब हम आज़ाद हैं* को प्रस्तुत किया था। लंदन में हुए तीन मंचन भी बहुत सफल हुए थे।

उसके बाद फिर हमारे जापानी विद्यार्थियों के नाट्य-दल ने इस साल फरवरी के अंतिम सप्ताह से मार्च के मध्य तक भारत में आकर शान्तिनिकेतन, कलकत्ता, मुंबई, पुणे, आगरा तथा दिल्ली—इसी क्रम से आठ बार मंचन किया था। इस बार के मंचन के लिए हमने राजेंद्र शर्मा का एक और हास्य-नाटक *कायाकल्प* को प्रस्तुत किया था।

यह हमारे लिए परम गौरव की बात है कि हमारी इन गतिविधियों को मान्यता प्राप्त हुई और राजभाषा हिंदी की स्वर्ण जयंती के अवसर पर छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के 'विश्व मंच' पर अभिनय प्रस्तुत करने का सुनहरा मौका प्रदान किया गया है। समस्त जापान इससे गौरवान्वित हुआ है।

□

इंटरनेट पर हिंदी

राजेश कुमार

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् भारत-रूस मैत्री की प्रगाढ़ता विश्वप्रसिद्ध रही है। इसके पीछे सांस्कृतिक कारणों को तलाशा जा सकता है और इस तलाश में हमें हिंदी एक सुदृढ़ नींव की भूमिका में दिखाई पड़ती है। इस आयाम को पिछले दिनों नया जीवन मिला है वहां इंटरनेट पर हिंदी की प्रस्तुति द्वारा। प्रो० राजेश कुमार हमें सूचित करा रहे हैं रूस में हिंदी की अद्यतन स्थिति से।

24 मई, 1999 को भारत के विदेश मंत्री श्री जसवंत सिंह ने रूसियों के लिए इंटरनेट पर हिंदी सिखाने के कार्य का उद्घाटन किया। यह समारोह मॉस्को स्थित पूर्वी अध्ययन संस्थान में संपन्न हुआ। इस अवसर पर संस्थान के निदेशक प्रो० आर०बी० रेबाकोव, भारत के राजदूत श्री एस०के० लांबा तथा संस्थान और मॉस्को के अन्य संस्थानों के विशिष्ट और सुप्रसिद्ध विद्वान, शिक्षाविद्, भारतविद्, हिंदीविद् और अन्य गणमान्य अतिथि उपस्थित थे। यह परियोजना भारतीय राजदूतावास के जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केंद्र ने तैयार की। इसके अंतर्गत विद्यार्थी हिंदी के पाठ पढ़ सकते हैं और इंटरनेट से इलेक्ट्रॉनिक हिंदी-रूसी शब्दकोश प्राप्त कर सकते हैं। यह शब्दकोश हिंदी और रूसी शब्दों के अर्थ उपलब्ध कराता है। माननीय मंत्री ने वहां 'मित्रता' शब्द टाइप करके इस निराली पद्धति का शुभारंभ किया।

आम तौर से रूस की सड़कों से गुजरते हुए आपको देखकर कोई बुजुर्ग महिला या पुरुष 'हिंदी-रूसी भाई-भाई' कहकर मुस्कराए, तो आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

आजकल मॉस्को में काफी गरीबी है, इसलिए लोग (खास तौर से बूढ़े लोग) रोजी-रोटी के कई गैर-परंपरागत काम करते हैं, जैसे यदि किसी को कोई बाजा बजाना आता है, तो वह मैट्रो स्टेशन या पैरिखोद (सड़क के नीचे बने पैदल पार-पथ) में बैठकर बैंजो या इसी तरह का कोई बाजा बजाकर लोगों से मदद की उम्मीद कर सकता है। ऐसा ही कोई व्यक्ति किसी भारतीय को देखकर बाजे पर राजकपूर का प्रसिद्ध गीत 'मेरा जूता है जापानी' सुना सकता है।

पिछले दिनों हमें मॉस्को स्थित हिंदी स्कूल में आयोजित भारत दिवस में सम्मिलित होने का अवसर मिला। हिंदी स्कूल नाम से आप यह न समझ बैठें कि यह भारत सरकार का स्कूल है, इसलिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह शत-प्रतिशत रूसी स्कूल है। इस स्कूल की स्थापना छठे दशक में पंडित नेहरू की रूस यात्रा के बाद की गई और इस स्कूल के अध्यापक गर्व से कहते हैं कि यहां इंदिरा गांधी भी आ चुकी हैं। ऐसा ही एक हिंदी स्कूल सेंट पीटर्सबर्ग में भी खोला गया था, और यह भी सक्रिय है। हिंदी का अध्ययन-अध्यापन तब तजाकिस्तान आदि सोवियत संघ के पूर्व गणराज्यों में भी आरंभ हुआ था।

जब हम लोग हिंदी स्कूल पहुंचे तब हल्की-हल्की बर्फ गिर रही थी। अब तक बहुत ठंड हो चुकी थी। बर्फ और तापमान में हल्की कमी की वजह से सड़कों पर फैला हुआ कीचड़ भी अब बर्फ के नीचे दब चुका था, इसलिए चलते समय फिसलने और कपड़े खराब होने की संभावना खत्म हो चुकी थी। हम लोग टैक्सी में थे और टैक्सीवाला युवक था, इसलिए उसे हिंदी स्कूल के बारे में पता नहीं था। यदि कोई प्रौढ़ होता, तो बहुत संभावना थी कि वह सीधे स्कूल ले चलता और बीच-बीच में स्कूल आदि से जुड़ा अपना कोई संस्मरण भी सुनाता। टैक्सी वाले को फिर भी कोई पूछताछ नहीं करनी पड़ी, क्योंकि यदि आपके पास मॉस्को में ठीक पता है, तो आप बिना किसी परेशानी के वहां पहुंच जाएंगे, क्योंकि यहां सड़कों और दोमों (भवनों) की इतनी सुव्यवस्था है कि भ्रमित होने की कोई संभावना नहीं है।

विद्यालय में हमारे आने की सूचना थी, इसलिए द्वार पर ही विद्यार्थियों और अध्यापकों ने हमारे ऊपर 'नमस्ते' और 'आपका क्या हाल है'—अभिवादनों के द्वारा अपना आदर भाव प्रकट किया। गोरे-गोरे रूसी बच्चे भारतीय पोशाकों में दिखाई दिए। लड़कियां साड़ियां पहने थीं और लड़के बंद गले के कोट। जब हमें कार्यक्रम के लिए हॉल में ले जाया गया, तो हमने देखा कि भवन की मंजिलों पर हिंदी में लिखा था—पहली मंजिल, दूसरी मज़िल आदि। हॉल में पहुंचे, तो वहां भी देवनागरी लिपि में 'भारत दिवस कार्यक्रम' लिखा गया था। यह देखकर मुझे रोमांच हो आया। हिंदी अध्यापिका येल्येनोरा ने हिंदी और रूसी में हम लोगों का परिचय विद्यार्थियों को दिया। इसके बाद विद्यार्थियों ने हिंदी और रूसी में कार्यक्रम का संचालन किया। रूसी लड़कियों ने 'अली मेरे अंगना टरस दिखा दे' और 'डस गया पापी बिछुआ' पर

परंपरागत पोशाकों में कत्थक नृत्य प्रस्तुत किए। वंदे मातरम् गाया गया और हिंदी में लघु प्रहसन प्रस्तुत किए गए। छोटे बच्चों ने कुछ कविताएं सुनाईं। इसके साथ ही रूसी गीत और संगीत भी प्रस्तुत किए गए। कार्यक्रम बहुत ही सुंदर ढंग से आयोजित किया गया था और उससे रूसी विद्यार्थियों और उनके अध्यापकों और स्कूल के निदेशक का भारत और हिंदी भाषा के प्रति प्रेम और सम्मान मुखरित होकर सामने आता था।

इस स्कूल में लगभग तीन सौ बच्चे कक्षा पांच से हिंदी पढ़ना सीखते हैं। पहले यह व्यवस्था कक्षा एक से ही थी, लेकिन संसाधनों की कमी से इसे सीमित करना पड़ा। यह बोर्डिंग स्कूल है इसलिए माता-पिता बच्चों को इसमें दाखिला दिलाने के लिए बहुत उत्साहित रहते हैं। सेंट पीटर्सबर्ग के स्कूल की भी यही स्थिति है, हालांकि वहां अभी भी कक्षा एक से ही हिंदी पढ़ाने की परंपरा को बरकरार रखा गया है। लेकिन स्थिति बहुत उत्साहजनक इसलिए नहीं है क्योंकि स्कूलों में पाठ्यपुस्तक जैसे मूल संसाधन भी नहीं हैं। लेकिन अध्यापकों की जिजीविषा जैसे हार नहीं मानती और वे हाथ से अपना पाठ लिखकर उसे फोटोकॉपी करके विद्यार्थियों को हिंदी सिखाने के मार्ग पर अग्रसर रहते हैं। रूस के सुदूर पूर्व नगर व्लादिवोस्तोक में भी एक जिमनाजिया (व्यवसायिक शिक्षा देने वाला एक खास तरह का विद्यालय) में इस वर्ष से हिंदी सिखाने का कार्य शुरू हुआ है।

स्कूल के स्तर पर भारत सरकार का केंद्रीय विद्यालय भी अपने ढंग से हिंदी के अध्यापन का कार्य करता है, हालांकि यह अंग्रेजी माध्यम का विद्यालय है। यों तो इसमें मुख्यत: भारतीय मिशन और व्यापारियों के बच्चे ही पढ़ते हैं, लेकिन अफ्रीका, बंगलादेश, पाकिस्तान आदि देशों के विद्यार्थी भी यहां दाखिला लेते हैं और उनमें से ज्यादातर हिंदी भाषा भी पढ़ते हैं, हालांकि वहां हिंदी के स्थान पर फ्रांसीसी भी सीखने की व्यवस्था है।

विश्वविद्यालय और सांस्थानिक स्तर पर भी रूस में हिंदी सीखने की उल्लेखनीय व्यवस्था है। मॉस्को के लोक मैत्री विश्वविद्यालय (पीपल्स फ्रेंडशिप यूनिवर्सिटी) और सेंट पीटर्सबर्ग के विश्व-प्रसिद्ध सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय और व्लादिवोस्तोक के सुदूर पूर्व विश्वविद्यालय में हिंदी के नियमित पाठ्यक्रम हैं, जहां विद्यार्थी पांच वर्षों के हिंदी डिप्लोमा पाठ्यक्रमों (यानी भारत की स्नातकोत्तर उपाधि के समकक्ष) में पढ़ते हैं। कुछ विद्यार्थी डिप्लोमा के बाद हिंदी में अनुसंधान कार्य भी करते हैं। पूर्वी अध्ययन केंद्र, पूर्वी विश्वविद्यालय और अंतरराष्ट्रीय संबंध संस्थानों में भी हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। रूसी राज्य विश्वविद्यालय ने भी पिछले वर्ष से हिंदी पाठ्यक्रम शुरू किया है। इसी तरह दर्शनशास्त्र संस्थान में भी पिछले वर्ष से ही हिंदी पाठ्यक्रम आरंभ हुआ है। लेकिन इन सभी विश्वविद्यालयों में भी संसाधनों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। पुस्तकालयों में प्राचीन हिंदी साहित्य की गिनी-चुनी पुस्तकें ही

उपलब्ध हैं, हिंदी पत्र-पत्रिकाएं मंगवाने की व्यवस्था नहीं है और मीडिया के नाम पर मात्र शून्य नजर आता है। स्थिति दयनीय है। कंप्यूटर पर हिंदी के इस्तेमाल की दिशा में भी कोई नहीं सोच रहा है। अध्यापकों के नाम पर पुराने लोग ही हिंदी सिखा रहे हैं, जिनमें से बहुत तो अवकाश प्राप्त कर चुके हैं, लेकिन निजी और संस्थागत दोनों ही मजबूरियों से अध्यापन करते चले जा रहे हैं। नए लोगों के लिए न तो स्थान ही हैं और न ही उनकी रुचि ही इस ओर है, क्योंकि अध्यापकों का वेतन बहुत कम है। इतना कम कि कम-से-कम नई पीढ़ी के लोगों को तो उसमें कोई आकर्षण नजर नहीं ही आता। विभिन्न पाठ्यक्रमों में भी विद्यार्थियों की संख्या अधिक नहीं है। व्लादिवोस्तोक में तो हिंदी अध्यापक हैं ही नहीं। वहां की इस कमी को भारतीय कौंसुलेट के कर्मचारियों की उत्साही पत्नियां हिंदी की कक्षाएं लेकर पूरा कर रही हैं। रियाज़ान क्षेत्र में वहां के कुछ उत्साही हिंदी प्रेमी रूसियों ने गोर्की पुस्तकालय में स्वाध्याय के तौर पर हिंदी अध्ययन के लिए 'संगम क्लब' का निर्माण किया है। इसी तरह यारास्लावल, ऊफा आदि क्षेत्रों में भी हिंदी के प्रति प्रेम दिखाई देता है, लेकिन संसाधनों की कमी के कारण वे इसे आगे नहीं बढ़ा पा रहे हैं।

हिंदी शिक्षण के क्षेत्र में भारतीय राजदूतावास भी पिछले एक दशक से महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है। राजदूतावास के जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केंद्र में हिंदी की नियमित कक्षाएं होती हैं। अन्य संस्थाओं में हिंदी अध्ययन की सुविधाओं की तुलना में सांस्कृतिक केंद्र की खास बात यह है कि यहां भारतीय प्रोफेसर द्वारा हिंदी का अध्यापन होता है। अन्य सभी स्थलों पर रूसी विद्वान ही हिंदी पढ़ाने का काम करते हैं। हिंदी मूल के प्रोफेसर से हिंदी सीखने के आकर्षण में अन्य संस्थानों में हिंदी सीख रहे विद्यार्थी भी यहां चले आते हैं। यहां विभिन्न स्तरों पर लगभग 80 विद्यार्थी हिंदी सीखने के लिए आते हैं।

पिछले लगभग आधे दशक से रूस में हिंदी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहां के प्रगतिशील प्रकाशन (जिसके एक भाग ने बाद में रादुगा प्रकाशन के नाम से काम किया) ने मार्क्स, लेनिन, दोस्तोवस्की, तोलोस्तोय, चेखव, पूश्किन आदि कालजयी रचनाकारों की कृतियों को हिंदी पाठकों के लिए प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्हीं दिनों *सोवियत संघ*, *सोवियत नारी* आदि अनेक पत्रिकाएं हिंदी में प्रकाशित हुईं। दो खंडों का विशालकाय *हिंदी-रूसी शब्दकोश*, *रूसी-हिंदी शब्दकोश*, उतनी ही विशालकाय तीन खंडों में हिंदी पाठ्यपुस्तक, हिंदी व्याकरण, हिंदी बातचीत, हिंदी साहित्य पर आलोचनात्मक रचनाएं आदि विपुल मात्रा में प्रकाशित हुईं।

हिंदी भाषा सीखने के इच्छुक विद्यार्थी हर साल केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में विद्यार्थीवृत्ति पर जाते हैं। अनेक विद्यार्थी अपने खर्चे से भी हिंदी सीखने के लिए भारत जाते हैं। इन लोगों में भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति असीम प्रेम दिखाई

देता है। इसी तरह लगभग आधे दशक से मॉस्को रेडियो का विदेश प्रभाग भारत और नेपाल के हिंदी श्रोताओं के लिए कार्यक्रम तैयार करके प्रसारित कर रहा है। इसमें हिंदी में वार्ताएं, रिपोर्ट और रूस संबंधी जानकारी प्रसारित की जाती है। लेकिन यहां भी प्रसारण समय से लेकर कर्मचारियों तक की कटौती की गई है। रूस के हिंदी श्रोताओं के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। रूस का चैनल रैन टी०वी० चैनल जरूर शनिवार और रविवार के दिनों में हिंदी फिल्में दिखाता है और उन्हें बहुत से रूसी दर्शक शौक से देखते भी हैं, लेकिन ये फिल्में रूसी अनुवाद के साथ दिखाई जाती हैं, इसलिए इनका महत्त्व अभिनेता और अभिनेत्री की दृष्टि से तो होता है, लेकिन हिंदी भाषा की दृष्टि से नहीं।

कुल मिलाकर यह कहना असंगत नहीं होगा कि रूस में हिंदी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम हुआ है, लेकिन रूस के विघटन के बाद और यहां आर्थिक संकट की स्थिति में हिंदी पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। रूसी सरकार की ओर से हिंदी को दी जाने वाली प्राथमिकता और सहायता प्राय: बंद हो चुकी है। अन्य विदेशी भाषाओं के प्रति भी सरकार का यही रवैया है, लेकिन अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के कामों में कमी नहीं आई, क्योंकि इन्हें संबंधित देशों की मदद उपलब्ध हो गई है। लेकिन हिंदी के लिए ऐसी कोई सहायता न मिलने के कारण उसके विकास-कार्य लगभग ठप हो गए हैं। प्रगतिशील प्रकाशन की हिंदी इकाई बंद हो चुकी है। शेष इने-गिने संस्थान आखिर कितने रोजगार के अवसर दे सकते हैं! इन्हीं सब कारणों से नई पीढ़ी में हिंदी के प्रति अब अपेक्षित उत्साह नहीं है, क्योंकि उन्हें हिंदी के साथ कोई भविष्य दिखाई नहीं देता। लेकिन इन स्थितियों में भी हिंदी सीखने के इच्छुक रूसी लोगों की सेवा करने और उन तक पहुंचने के अनवरत प्रयास जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केंद्र कर रहा है और इसकी इंटरनेट की योजना इस दिशा में एक नई पहल है।

□

अब हिंदी पढ़ने के कारण बदल गए हैं

डॉ० ल्युदमिला खखलोवा

डॉ० ल्युदमिला खखलोवा, भाषा विज्ञान संस्थान, मॉस्को से विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त हैं तथा पिछले 22 वर्षों से मॉस्को राज्य विश्वविद्यालय में हिंदी अध्यापन कर रही हैं। रूसी, पंजाबी, हिंदी और अंग्रेजी की यह विद्वान शिक्षिका अपने अनुभवों को इस लेख के माध्यम से शब्दांकित कर रही हैं जो हमें रूस में हिंदी की वर्तमान स्थिति के प्रति आश्वस्त करता है और खबरदार भी।

मैंने मॉस्को राज्य विश्वविद्यालय के एशियाई और अफ्रीकी अध्ययन संस्थान (पहले पूर्वी भाषाओं का विद्यालय) में 1976 में हिंदी पढ़ना शुरू किया। मेरी मां चीनी भाषा की विद्वान थीं और मैं भी विदेशी भाषा सीखना चाहती थी। मुझे भारत में बहुत दिलचस्पी थी। मुझे इसका दर्शन, संस्कृति, रहन-सहन और हां, हिंदी फिल्में पसंद थीं। मुझे भारत की विश्वबंधुत्व की भावना बहुत पसंद आई। लोग बहुत अच्छे लगे, हालांकि पहले समय में केवल भारतीय साम्यवादी ही सोवियत संघ में आते थे। मुझे अच्छे लगते थे। मैं समारोहों और अन्य अवसरों पर इन लोगों से मिलने की कोशिश करती थी। उस समय विदेश यात्रा बहुत कठिन थी और इसके लिए सरकारी रास्ता ही एकमात्र उपाय था। उस समय मैं भारत जाना चाहती थी। अब तो मैं कई बार विभिन्न सिलसिलों में भारत जा चुकी हूं और भारत मुझे अपने-घर जैसा ही लगने लगा है।

हिंदी भाषा का डिप्लोमा (लगभग भारतीय स्नातकोत्तर उपाधि) पूरा करने के

बाद मैंने मॉस्को के भाषा विज्ञान संस्थान से विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त की। इसके लिए मैंने हिंदी और राजस्थानी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया। मुझे हिंदी पढ़ाने का शौक था, लेकिन शुरू में मुझे सैनिक संस्थान में हिंदी पढ़ाने की नौकरी मिली, जहां लोगों को हिंदी परीक्षा पास करने के लिए पढ़नी पड़ती थी। उसमें मुझे कुछ मजा नहीं आया, मैं विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ाना चाहती थी। जब मैं अपने संस्थान में इस बारे में पता करने के लिए गई, तो वहां के तत्कालीन निदेशक प्रो० अक्सानोफ ने बताया कि संस्थान में हिंदी पढ़ाने के लिए तो नहीं, लेकिन पंजाबी सिखाने के लिए स्थान खाली है। जब मैंने उन्हें बताया कि मुझे पंजाबी नहीं आती (अब तो पंजाबी जैसे मेरी अपनी भाषा हो गई है) तो उन्होंने कहा कि सीख लो। मैंने उनकी बात मान ली और स्वाध्याय से पंजाबी सीखने लगी। अभी शायद इस बात को हफ्ता ही हुआ होगा कि उन्होंने बताया कि वे सितंबर से पंजाबी का पाठ्यक्रम शुरू कर रहे हैं। वे मुझसे फरवरी में बात कर रहे थे। मैंने उन्हें बताया कि अभी तो मुझे ठीक से ककहरा भी नहीं आता, तो उन्होंने कहा कि अभी तुम्हारे पास आधा साल है। खैर, मैंने पंजाबी सीखी और हिंदी सिखाने की कोशिश में पंजाबी सिखानी शुरू कर दी। करीब दो-तीन साल पंजाबी सिखाने की परीक्षा के बाद मुझे हिंदी पढ़ाने का अवसर भी मिला। प्रो० अक्सानोफ़ ने उस समय कर्मचारियों को विभिन्न भाषाओं में दक्षता हासिल करने के लिए भारत के विभिन्न हिस्सों में भेजा। मैं तब चंडीगढ़ के पंजाब विश्वविद्यालय में गई और पंजाबी सीखी। बाद में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी भी सीखी।

जब मैं इस तथ्य पर गौर करती हूं कि हम लोग क्यों हिंदी पढ़ते थे, और आज की पीढ़ी क्यों हिंदी पढ़ती है, तो बहुत अंतर नजर आता है। पेरेस्त्रोइका (पुनर्निर्माण) के बाद से तो यह बात और भी स्पष्ट दिखाई देती है। जब हम लोग हिंदी पढ़ते थे, तो सोवियत रेडियो स्टेशनों, तास प्रेस एजेंसी, ए०पी०एन० समाचार एजेंसी और विदेश मंत्रालय में नौकरी के अवसर दिखाई देते थे। अब विदेश मंत्रालय को छोड़कर अन्यत्र ये अवसर समाप्त हो चुके है। तनख्वाहें कम हो गई हैं और एशियाई भाषाओं का बाजार भाव कुछ भी नहीं रह गया है। कुल मिलाकर कैरियर की दृष्टि से अब हिंदी पढ़ने का कोई महत्त्व नहीं रह गया है और लोग केवल रुचि के लिए पढ़ते हैं। वरीयता क्रम की दृष्टि से इस समय एशियाई भाषाओं में जापानी पहले स्थान पर है, लेकिन हिंदी भी बिल्कुल नीचे नहीं है और चीनी व अरबी के बाद उसका चौथा स्थान है।

जब हम लोग हिंदी पढ़ते थे, तो भाषा सीखने के लिए आज के जैसी आजादी नहीं थी। हम लोग दूसरे देश की संस्कृति और समाज से परिचय के लिए नहीं, अपितु संबंधित देश में अपने देश की विचारधारा के प्रचार के लिए हिंदी सीखते थे। उदाहरण के लिए, हमने अपने पहले वर्ष के पाठ्यक्रम में हिंदी में सोवियत संघ का

संविधान पढ़ा था, जिसकी हिंदी पढ़ने के लिए कोई आवश्यकता नहीं थी। इसी तरह हम प्रगतिशील प्रकाशन द्वारा अनूदित और प्रकाशित हिंदी पुस्तकें पढ़ते थे, जो मुख्य रूप से कम्युनिस्ट दर्शन से संबंधित थीं। हम लोग अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि की रचनाएं नहीं पढ़ते थे और केवल प्रेमचंद, कृष्णचंदर भीष्म साहनी आदि तक ही सीमित थे। यों ये लेखक खराब नहीं थे, लेकिन सीमा तो थी ही।

पेरेस्त्रोइका से सब कुछ सुलभ हो गया। पहले सरकार की पाबंदी के कारण बाजार से फोटोकॉपी तक की सुविधा नहीं थी कि जाने क्या सरकार-विरोधी सामग्री फोटोकॉपी करके बंटवाई जा रही हो। संस्थानों में भी बहुत पूछताछ और अनेक अधिकारियों के हस्ताक्षरों के बाद सामग्री की फोटोकॉपी संभव थी। विदेशियों से संपर्क को हतोत्साहित किया जाता था। लेकिन अब सब चीजों की सुविधा है। हम लोग अपनी पसंद के अखबार पढ़ सकते हैं, साहित्य पढ़ सकते हैं और विदेशी लोगों से भी स्वतंत्रता से मिल सकते हैं, पर अफसोस इस बात का है कि अब हमारे पास हिंदी अखबार तक खरीदने के लिए पैसा नहीं है।

अब हम लोगों ने पाठ्यक्रम से व्यर्थ की अरोचक बातें हटा दी हैं और भारतीय सभ्यता, संस्कृति आदि से संबंधित बातें इसमें शामिल कर ली हैं। पहले हम लोग टी०वी०, आकाशवाणी वाली शुद्ध हिंदी पढ़ाते थे। उदाहरण के लिए, जब मैं अपने विद्यार्थियों के साथ नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय गई, तो वहां के विद्यार्थियों के साथ बातचीत में हमारी एक विद्यार्थी ने 'पर्वतारोही' शब्द का प्रयोग कर दिया, जो किसी की समझ में नहीं आया। बाद में भारतीय विद्यार्थियों ने कहा कि इसके लिए वे 'माउंटेयरिंग' शब्द का इस्तेमाल करते हैं और वे हंसने भी लगे। तब मेरे विद्यार्थियों ने मेरे पास आकर कहा कि उन्हें वैसी हिंदी क्यों पढ़ाई जाती है, जिसे सुनकर हिंदी-भाषी हंसने लगें! मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की कि वे तुम्हारे ऊपर नहीं, बल्कि अपने ऊपर हंस रहे हैं। लेकिन अब हम बोलचाल की भाषा पर बल देते हैं। हम विद्यार्थियों को सिखाते हैं कि हिंदी की अलग-अलग शैलियां हैं और उनके रूप उनके सामने पेश करते हैं। रूस में हिंदी के साथ जो मुख्य कमी है, वह यह कि यहां हिंदी विद्यार्थी बहुत कम हिंदी पढ़ते हैं। देश, साहित्य, दर्शन, समाज, संस्कृति आदि के बारे में सब कुछ रूसी भाषा में पढ़ाया जाता है। हम लोग अनुवाद अधिक पढ़ते हैं और मूल कम। यहां तक कि अध्यापक भी पढ़ाते समय तालमेल नहीं रखते कि जैसे साहित्य का इतिहास पढ़ाने वाला यदि रूसी भाषा में प्रेमचंद पढ़ा रहा है, तो साहित्य पढ़ाने वाला भी उसी की रचनाएं पढ़ाए।

अब हम गलतियों पर भी बहुत अधिक ध्यान नहीं देते और मुख्य ध्यान इस पर रहता है कि विद्यार्थी ज्यादा से ज्यादा भाषा पढ़ें, चाहे वे लिंग आदि की गलतियां करते रहें। मुझे लगता है कि हिंदी-भाषी भी इस पर अधिक ध्यान नहीं देते। अब व्याकरण पर बल बहुत कम रह गया है। पहले जब हम हिंदी पढ़ते, तो उसके साथ

एक-दो अन्य भारतीय भाषाएं भी पढ़ते थे। यह अब भी होता है, लेकिन अब अंतर यह है कि हम लोग मिलती-जुलती जुबानें सिखाते हैं, जैसे कि हिंदी के साथ उर्दू, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि। पहले हिंदी के साथ तमिल, मलयालम आदि सीखनी पड़ती थीं, जो बिल्कुल अलग भाषाएं थीं और एक-दूसरे की मदद नहीं करती थीं।

जहां तक विद्यार्थियों की संख्या का प्रश्न है, अभी भी उतने ही विद्यार्थी हिंदी भाषा सीखते हैं, जितने पहले सीखते थे, क्योंकि विश्वविद्यालय में स्थान नियत हैं और दाखिले के वास्ते एक स्थान के लिए लगभग चार विद्यार्थी परीक्षा देते हैं। लेकिन जैसा कि देश में अन्य स्थानों पर हो रहा है, हमारे यहां भी इस मामले में धांधली शुरू हो गई है। यदि आप देखेंगे और आपने देखा ही है कि अब विद्यार्थी किसी-न-किसी अध्यापक, अधिकारी आदि के बच्चे हैं। अब कोई मजदूर का बच्चा हिंदी पढ़ने के लिए दाखिला नहीं ले पाता, क्योंकि दाखिले में जान-पहचान, सिफारिश आदि पर जोर रहता है। यह भी अफसोस की बात है। एक अन्य समस्या अध्ययन सामग्री की हैं। हमारे पास इस समय कोई भी ढंग की पाठ्य-पुस्तक नहीं है, जो हमारे विद्यार्थियों की जरूरतों को ध्यान में रखकर बनाई गई हो। न तो इसके लिए संसाधन दिखाई देते हैं और न ही योग्य व्यक्ति। तो कुल मिलाकर जब मैं अपने देश में हिंदी की स्थिति पर नजर डालती हूं, तो पाती हूं कि पहले के मुकाबले हम अध्यापक और हमारे विद्यार्थी स्वतंत्र हैं, लेकिन अब न तो हिंदी पढ़ाने के लिए संसाधन रह गए हैं और न ही कैरियर की दृष्टि से हिंदी पढ़ने वालों को बेहतर भविष्य दिखाई देता है।

☐

सोचें हिंदी में, लिखें हिंदी में, पढ़ें हिंदी में तो हिंदी दिन-दिन उन्नति करती जाएगी। याद रखें कि भाषा की क्षमता उसके प्रयोग पर ही निर्भर करती है।

डॉ० हरिवंश राय बच्चन

हिंदी भाषा के शिक्षकों का अभाव है

एयराप्येतोवा येल्येनोरा सम्सानोव्ना

भारत और रूस की मैत्री बहुत पुरानी है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रचुरता ने इसे और भी गहरे रंग से रंगा है। हिंदी की वर्तमान स्थिति पर कुछ विचार श्रीमती एयराप्येतोवा के जो मॉस्को के एक हिंदी स्कूल से संबद्ध हैं।

7 जून 1955...स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी बेटी इंदिरा गांधी के साथ सोवियत संघ की सरकारी यात्रा पर पहुंचे। भारतीय कलाकारों, गायकों, नर्तकों आदि की बदौलत इन्हीं वर्षों में हमारे देश में भारत की लोकप्रियता बढ़ती ही गई। इन्हीं वर्षों में भारतीय चित्रपट 'आवारा' का प्रदर्शन हो रहा था, राज कपूर की फिल्मों के गीत रूस में बहुत लोकप्रिय हो रहे थे। रूसी नगर कालीनीन में अफ़ानासी निकितन का स्मारक खड़ा किया गया, जो 15वीं शताब्दी में भारत तक पहुंचे थे और उन्होंने भारत के बारे में 'तीन समुद्र पार' नामक किताब लिखी थी।

हमारे देश के लोगों को भारतीय चित्रपटों, पत्रिकाओं, समाचारपत्रों आदि की बदौलत भारत से परिचय हुआ करता था। इसी समय पंडित नेहरू की पुस्तक 'भारत की खोज' का हमारे देश में रूसी में अनुवाद किया गया। इन्हीं घटनाओं के कारण भारत देश हमारे देश के लोगों के नजदीक आ गया। और इसीलिए नेहरू जी की रूसी यात्रा बहुत कामयाब रही और हमारे दो देशों के भावी सहयोग के नये रास्ते खुल गए। इसी के बाद सोवियत सरकार के फैसले पर सन् 1956 में छात्रावास सुविधा के साथ हिंदी भाषा अध्ययन विद्यालय खुला, जो अभी तक हिंदी भाषा,

भारत का इतिहास, साहित्य और संस्कृति को सिखाने के अपने उद्देश्य को सफलता से पूरा कर रहा है। अपने अस्तित्व के वर्षों में इस विद्यालय ने सैंकड़ों विद्यार्थी तैयार किए, जो अच्छी तरह से हिंदी भाषा जानते हैं और जो भारत से संबंधित विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में और दूसरे क्षेत्रों में काम करते हैं, अपने अस्तित्व के पहले दिन से ही यह विद्यालय मॉस्को में स्थित दूतावास और दूसरी देशी-विदेशी संस्थाओं से घने संपर्क में रहा है, जो आज तक भी कायम हैं। 'नेहरू बाल समिति' संस्था से हमारी मैत्री है। भारतीय दूतावास के सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक श्री अशोक सज्जनहार और केंद्र में हिंदी प्रोफेसर डॉ० राजेश कुमार को हम बहुत धन्यवाद देते हैं। वे हमको बहुत मदद करते हैं। वे स्कूल के लिए हिंदी पाठ्य पुस्तकें देते हैं और अकसर हमारे स्कूल आते हैं। हम स्कूल में हमेशा मॉस्को में आने वाले प्रतिनिधि-मंडलों का स्वागत करते हैं। कुछ समय पहले भारत के शिक्षा मंत्रालय के उप-मंत्री के नेतृत्व में भारतीय शिक्षकों का प्रतिनिधि-मंडल हमारे स्कूल में आया था। हमारे स्कूल में भारतीय त्योहारों से संबंधित पार्टियां और दूसरी सभाएं आयोजित की जाती हैं। हमारे स्कूल के परंपरागत त्योहारों में भारतीय गणतंत्र दिवस, महात्मा गांधी का जन्मदिन, पंडित नेहरू का जन्मदिन, बाल दिवस तथा इंदिरा गांधी का जन्मदिन शामिल हैं। इसके अलावा धार्मिक त्योहार मनाए जाते हैं। इनमें होली, दिवाली आदि त्योहारों का समावेश है।

मॉस्को अंतरराष्ट्रीय संबंधों का विश्वविद्यालय हमारी बहुत सहायता करता है। इस विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के संचालक आलेग उल्त्सिफ्येरोव के हम बहुत-बहुत आभारी हैं। स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद हमारे विद्यार्थी इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बन जाते हैं और वहां हिंदी भाषा आगे पढ़ते हैं। पढ़ाई के बाद वे भारत और दक्षिण एशिया के देशों से संबंधित संस्थाओं में काम करते हैं। इनमें से बहुत से आज विदेश मंत्रालय, मास्को रेडियो के हिंदी विभाग, टी०वी० और विदेशों में काम करते हैं।

स्कूल में हिंदी के क्रमिक पाठों के बाद भारत से संबंधित विभिन्न कार्यक्रम होते हैं। उदाहरण के तौर पर इंदिरा गांधी संग्रहालय स्थापित हुआ और अंतरराष्ट्रीय मैत्री क्लब सफलता से काम कर रहा है। संग्रहालय के अनमोल उपहारों में इंदिरा गांधी द्वारा दिए गए उपहार हैं, जो उन्होंने अपनी मास्को यात्रा के दौरान दिए थे।

वस्तु संग्रहालय अंतरराष्ट्रीय क्लब का केंद्र है। यहां पर विदेशी अतिथियों से मुलाकातें होती रहती हैं। हमारा संग्रहालय महात्मा गांधी, पंडित नेहरू और इंदिरा गांधी के चित्रों से सुशोभित है। अंतरराष्ट्रीय मैत्री क्लब में 'हमारा मित्र देश—भारत' इस विषय पर चर्चा होती है। बच्चे भारतीय विद्यार्थियों से पत्र-व्यवहार करते हैं। यहां भारतीय गीत और नृत्य सिखाए जाते हैं और भारत के बारे में चित्र बनाए जाते हैं। हमारे स्कूल के अतिथियों में भारतीय केंद्रीय विद्यालय के विद्यार्थी भी हैं। भारतीय

बच्चे हमारे स्कूल में आते हैं, गीत गाते हैं और नृत्य करते हैं। बच्चों के साथ बात करते हैं। वे हमारे बच्चों को भारत की कलाओं से परिचित कराते हैं।

हमारे विद्यार्थियों ने दो बार भारत की यात्रा की। और दो बार भारतीय विद्यार्थी हमारे स्कूल में आए। हमारी भारत-यात्रा के दौरान 'नेहरू बाल समिति' के अध्यक्ष श्री एस०पी० गोविल, गुड़गांव के डीएवी पब्लिक स्कूल की प्रधानाचार्य श्रीमती अनिता मक्कड़ और दिल्ली बाल विकास विद्यालय की प्रधानाचार्य कु० गुरबचन कौर ने हमारी बहुत मदद की। इनकी सहायता से हम लोग दिल्ली, आगरा और जयपुर के ऐतिहासिक स्मारकों और वस्तुओं से परिचित हो सके। हमारे बच्चे पूरी जिंदगी भारत को याद रखेंगे और अपने दिलों में भारत के लोगों के प्रेम और मैत्री भी भरे रहेंगे। इसके जवाब में श्रीमती अनिता मक्कड़ अपने स्कूल के विद्यार्थियों के साथ मॉस्को आकर हमारे स्कूल में रहीं। हम लोगों ने भी अपनी तरफ से मॉस्को, लेनिनग्राद और दूसरे शहरों के स्मारकों और मशहूर जगहों से उनका परिचय कराया। ये सब कुछ देखकर वे दिल से खुश हुए।

अब मैं थोड़ी-सी हमारे स्कूल के पाठ्यक्रम से आपकी पहचान कराना चाहती हूं। हमारे स्कूल में दो विदेशी भाषाएं सिखाई जाती हैं। दूसरी कक्षा से अंग्रेजी और पांचवी कक्षा से हिंदी। यह पाठयक्रम हमारे हिंदी विभाग में तैयार किया गया और मॉस्को अंतरराष्ट्रीय संबंधों का विश्वविद्यालय इसे सहमति दे चुका है। बच्चे बड़े शौक से हिंदी भाषा सीखते हैं। उनको हिंदी में लिखना, पढ़ना और बोलना पसंद है। छोटी कक्षाओं के बच्चे भारतीय लोक-कथाओं में दिलचस्पी लेते हैं और बड़े बच्चे रामायण और महाभारत की कहानियां बड़ी रुचि से पढ़ते हैं। इसके साथ-साथ वे रवींद्रनाथ ठाकुर, प्रेमचंद, कृष्णचंद्र आदि की रचनाओं से परिचित हैं।

हमारे कार्य में बहुत सी कठिनाइयां भी हैं। हमारे पास नई पाठय-पुस्तकों की कमी है। इसलिए हमको भारतीय शिक्षकों के साथ मिलकर पाठ्य-पुस्तक लिखनी चाहिए। मगर अभी तक ऐसा मौका नहीं मिला। हमारे स्कूल में हिंदी भाषा के शिक्षकों की कमी है। स्कूल में भारतीय हिंदी शिक्षक की बहुत जरूरत है। और हमारी सबसे बड़ी इच्छा है कि कोई हमारे बच्चों की भारत-यात्रा और भारतीय बच्चों की मॉस्को यात्रा को प्रायोजित करने वाला मिले।

इन कठिनाइयों के बावजूद हम रूसी-भारतीय मैत्री और सहयोग में अपनी सेवा करते रहेंगे। हमारे बच्चों के दिलों में भारत के लिए बहुत प्यार और इज्जत है। हमें विश्वास है कि रूसी बच्चे और भारतीय बच्चे हमारे देशों की युगों से चली आ रही मैत्री की रक्षा करेंगे।

□

हिंदी की पढ़ाई : बढ़ते कदम

उल्फत मुखीबोवा

उज़्बेकिस्तान में हिंदी पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला विगत लगभग पचास वर्षों से चल रहा है। इस आलेख के अनुसार, वहां हिंदी में शिक्षा पाने वाले छात्रों को बेहतर रोजगार के अवसर प्राप्त हो सकते हैं। दूसरी कक्षा से प्रारंभ होने वाली हिंदी की पढ़ाई में, उसी देश में शोध-कार्य करके, पी-एच०डी० की उपाधि भी प्राप्त करना सहज संभव है। संपूर्ण विवरण प्रस्तुत आलेख में दिया गया है।

दुनिया के हर देश की अपनी कुछ खूबियां होती हैं। संसार-भर में भारत अपने प्राचीन इतिहास और संस्कृति, गहन दर्शन तथा काफी पुराने और गंभीर साहित्य, सुंदर प्रकृति के लिए प्रसिद्ध है। किसी भी विदेशी से यह सवाल पूछें कि भारत के प्रति उसके इतने लगाव का कारण क्या है, तो प्रायः आपको यही जवाब मिलेगा कि भारत के दर्शन, उसकी सुंदर कला आकृतियों एवं साहित्य से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसे और ज्यादा सीखने की इच्छा पैदा हुई है।

मध्य एशिया के देशों में भी भारत के प्रति व्यापक रुचि तथा बहुत ही लगाव है। खासकर उज्बेकिस्तान और ताजिकिस्तान के निवासी संसार-भर के देशों में सबसे ज्यादा प्यार के साथ हिंदुस्तान का नाम लेते हैं। इसी कारण इन देशों में अन्य पूर्वी भाषाओं में हिंदी का अपना अलग तथा विशिष्ट स्थान है। उज्बेकिस्तान में हिंदी भाषा पाठशालाओं तथा उच्च शिक्षा संस्थाओं में भी पढ़ाई जाती है। ताशकंद की संख्या 24, 92, 144 तथा अंदीजान की 36 नंबर की पाठशालाओं में हिंदी भाषा एक

विदेशी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। ये तमाम हिंदी की विशेष पाठशालाएं हैं जहां हिंदी की पढ़ाई दूसरी कक्षा से प्रारंभ होती है। इन पाठशालाओं में सबसे पहले 24 नंबर की पाठशाला में हिंदी की पढ़ाई शुरू हुई थी। सन् 1974 में इसी पाठशाला को भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री का नाम दिया गया था। पाठशाला के प्रांगण में शास्त्री जी की प्रतिमा स्थापित की गई है। उसके उद्‌घाटन के अवसर पर 'ताशकंद 74' फिल्म समारोह के लिए मुख्य अतिथि के रूप में भारत की प्रसिद्ध फिल्मी हस्ती राज कपूर को आमंत्रित किया गया था। लालबहादुर शास्त्री नाम की यह पाठशाला आजकल उज़्बेकिस्तान की सबसे बड़ी और प्रसिद्ध हिंदी पाठशाला है। सन् 1992 में जब भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री नरसिंह राव सरकारी यात्रा के समय उज्बेकिस्तान में पधारे थे तो वे पूरे भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के साथ ताशकंद की 24 नंबर की शास्त्री पाठशाला में भी आये थे। पिछले लगभग 50 वर्षों से उज़्बेकिस्तान की पाठशालाओं में हिंदी भाषा पढ़ाई जा रही है।

हिंदी की बी०ए०, एम०ए० तथा एम-फिल०, पी-एच०डी० की उपाधि उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्राप्त की जा सकती है। ताशकंद विश्वविद्यालय में सन् 1944 में पूर्वी फेकल्टी की स्थापना हुई थी जहां पूर्व के देशों की भाषाएं—अरबी, फारसी, चीनी, अफगान भाषाओं के साथ-साथ हिंदी तथा उर्दू भी सिखाई जाती थी। तब भारतीय भाषाओं के केंद्र में मॉस्को एवं भारत से आए हुए अध्यापक हिंदी और उर्दू पढ़ाते थे। बाद में उस विभाग में उज्बेक विद्वान भी आने लगे। विगत 45 सालों में यह फेकल्टी, इतनी बड़ी और प्रसिद्ध हो गई है कि ताशकंद, मॉस्को और लेनिनग्राद के बाद पूर्व के देशों के अध्ययन का यह तीसरा बड़ा केंद्र बन गया। सन् 1992 में पूर्वी फेकल्टी को ताशकंद विश्वविद्यालय से अलग होना पड़ा क्योंकि उसमें नई-नई फेकल्टियां खुलने लगीं जहां पूर्व के देशों की भाषा के अलावा उनकी आर्थिक स्थिति, दूसरे देशों के साथ राजनीतिक तथा कूटनीतिक संबंध, उन देशों की कला एवं साहित्य, दर्शन, इतिहास का भी अध्ययन हो सके। आजकल वही इंस्टीट्यूट 'ताशकंद सरकारी प्राच्य-विद्या इंस्टीट्यूट' (Tashkent State Institute of Oriental Studies) के नाम से जाना जाता है। पिछले पांच सालों में इस संस्थान ने पश्चिम तथा पूर्व के काफी देशों के विश्वविद्यालयों के साथ अध्यापक तथा विद्यार्थियों के आदान-प्रदान के समझौतों पर हस्ताक्षर करके उनके साथ अच्छा संबंध स्थापित किया है।

प्राच्य-विद्या इंस्टीट्यूट में कुल मिलाकर चार फेकल्टी हैं—अंतरराष्ट्रीय-अर्थ संबंध की, इतिहास की, फिलोलोजी तथा कोरियाई स्कूल्स। कोरियाई के अलावा बाकी तीन फेकल्टियों में हिंदी पढ़ाई जाती है। हर एक फेकल्टी में चार साल के बी०ए० तथा दो साल के एम०ए० एवं तीन साल के पी-एच०डी० के पाठ्यक्रम होते हैं। एम०फिल०का दो साल का कोर्स भी है। पी-एच०डी० में भारत के इतिहास,

साहित्य, दर्शन, आर्थिक-स्थिति, राजनीति पर शोध-कार्य करके डिग्री प्राप्त कर सकते हैं। इन फेकल्टियों में पढ़ाई उज्बेक तथा रूसी भाषा के माध्यम से होती है।

हिंदी की पाठ्य-पुस्तकें

उज़्बेकिस्तान में जब से हिंदी भाषा पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने लगी तब से हिंदी के विद्वान इस भाषा की पाठ्य-पुस्तकें लिखने लगे। सन् 1960 के बाद उज्बेक में हिंदी की पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। उज्बेक भाषा में लिखी गई हिंदी भाषा की तीन पाठ्य-पुस्तकें हैं जिनको प्राच्य-विद्या इंस्टीट्यूट के भारतीय भाषाओं के विभाग के प्रसिद्ध विद्वान् रहमान बिरदी मुहम्मदजानोव ने लिखा है। हिंदी की पहली पाठ्य-पुस्तक दूसरी कक्षा के छात्रों के लिए है जिसमें देवनागरी लिपि तथा उसे पढ़ने के नियम दिए गये हैं। दूसरी पाठ्य-पुस्तक तीसरी कक्षा के छात्रों के लिए और तीसरी किताब है—चौथी कक्षा के छात्रों के लिए। पांचवी तथा सातवीं कक्षा के छात्रों के लिए एक पाठ्य-पुस्तक उज्बेक भाषा में लिखी गई है। पाठ्य-पुस्तकों में हिंदी व्याकरण का साधारण रूप, उनके लिए अभ्यास तथा शब्दकोश सहित पाठ दिए गए हैं। पाठ्य-पुस्तकों में शामिल अध्यायों में हिंदी साहित्य की प्राचीन कथाएं जैसे महाभारत, रामायण, पंचतंत्र, कालिदास का नाटक 'शकुंतला' जैसी रचनाओं के कुछ अंश, भारत के महावीरों, प्रसिद्ध कवियों तथा लेखकों के जीवन-चरित, भारतीय त्योहारों एवं रीति-रिवाजों के बारे में कहानियां आदि मौजूद हैं। ये सारे अध्याय इस सिद्धांत के अनुसार चुने गए हैं ताकि छात्र उन्हें पढ़ते और अनुवाद करते समय न केवल भारत के बारे में ज्यादा जानकारी हासिल कर सकें बल्कि इसके साथ-साथ छात्रों के स्वभाव में अच्छे गुणों का विकास भी हो सके। वास्तव में छात्रों में पाठशाला में पढ़ते समय ही हिंदी रचनाओं से प्रभावित होकर उनमें भारत के प्रति, मानव के प्रति एवं प्रकृति के प्रति बेहद लगाव पैदा होने लगता है।

उच्च शिक्षा संस्थाओं में हिंदी, रूसी के माध्यम से सिखाई जाती है क्योंकि उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए लिखी गई पाठ्य-पुस्तकें रूसी में लिखी गई थीं। आजकल इनका उज्बेक में अनुवाद किया जा रहा है।

हिंदी का प्रयोग

उज़्बेकिस्तान में हिंदी भाषा का प्रयोग तरह-तरह के क्षेत्रों में हो सकता है। इनमें से एक है हिंदी की पाठशालाएं तथा उच्च शिक्षा संस्थाएं—जहां बी०ए०, एम०ए० तथा पी-एच०डी० डिग्री पाने के लिए हिंदी पढ़ सकते हैं तथा साथ-साथ शोध-कार्य भी कर सकते हैं। दूसरा बड़ा केंद्र यहां उज्बेक विज्ञान अकादेमी का प्राच्य-विद्या

इंस्टीट्यूट है जहां पूर्व के देशों के इतिहास, साहित्य, दर्शन आदि पर शोध-कार्य किए जाते हैं। इसी इंस्टीट्यूट में हस्तलिखित ग्रंथों का विभाग भी है। यहां भिन्न-भिन्न देशों के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ मौजूद हैं जिन्हें अति सुरक्षित रूप से रखा गया है। उनमें भारत से संबंधित हस्तलिखित ग्रंथ भी हैं। उनका ऐतिहासिक, दार्शनिक, भाषा-वैज्ञानिक, साहित्यिक दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है, जिसके लिए हिंदी तथा उर्दू की जानकारी होना अत्यंत आवश्यक होता है।

हिंदी का प्रयोग ताशकंद रेडियो में भी होता है। वहां विदेशों के लिए कार्यक्रम विभाग में हिंदी एकांश है। यह एकांश भारतीय श्रोताओं के लिए उज़्बेकिस्तान के बारे में—उसकी नीति, कृषि, उद्योग, कला के बारे में प्रतिदिन एक घंटे का कार्यक्रम तैयार करके प्रस्तुत करता है।

हिंदी में अनुवाद के काम के लिए भी काफी मांग रहती है। विशेष तौर पर हिंदी फिल्मों के अनुवाद, उज़्बेकिस्तान-भारत के बीच तरह-तरह के क्षेत्रों में कार्यरत संयुक्त कारखानों, फार्मों तथा भारतीय प्रतिनिधि मंडलों, पर्यटकों के समूह में अनुवादक (दुभाषिए) का काम करने में भी हिंदी की जानकारी की जरूरत पड़ती है।

हिंदी भाषा को अपनी रुचि के लिए सीखने वाले भी बहुत से व्यक्ति मिलते हैं। उनके लिए प्राच्य-विद्या इंस्टीट्यूट में दो साल का एक विशेष पाठ्यक्रम है। इस कोर्स को खत्म करके काफी लड़के और लड़कियों को उच्च शिक्षा संस्थाओं के लिए प्रवेश मिला है। इनमें ऐसे भी हैं जिनको भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा भारत की शिक्षा-संस्थाओं के लिए दाखिला मिला है और वे आजकल यहां पढ़ रहे हैं।

हिंदी भाषा को जानना, उसका किसी काम में प्रयोग करना—प्रत्येक स्थिति में दोनों देशों की मैत्री बढ़ाने, उसे मजबूत करने और उन्हें एक-दूसरे के और करीब लाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग देगा।

□

हिंदी के नानाविध आयाम

ओम्प्रकाश सिंहल

चीन में हिंदी का परिदृश्य पर्याप्त संतोषजनक तस्वीर देता है। प्रेमचंद की सैकड़ों कहानियों का अनुवाद चीनी में उपलब्ध है और वहां की राजधानी में विश्वविद्यालय स्तर पर हिंदी का पठन-पाठन संभव है। मगर फिर भी बहुत कुछ है, जिसे समय रहते पूरा करने की आवश्यकता है।

विदेशों में बसे भारतवंशियों में हिंदी-भाषा-भाषियों की संख्या सर्वाधिक है। अतएव यह स्वाभाविक है कि जितना ध्यान हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था की ओर दिया जा रहा है उतना शेष भारतीय भाषाओं के प्रशिक्षण की ओर नहीं दिया गया। इंग्लैंड,अमेरिका,त्रिनीडाड,गुयाना,सूरीनाम,फीजी,मॉरीशस,दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में हिंदी-शिक्षण की वर्तमान व्यवस्था से इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

भारतवंशियों ने चीन जाकर आसन नहीं जमाया। सच तो यह है कि वहां पीढ़ी-दर-पीढ़ी निवास करने वाले भारतवंशी हैं ही नहीं। यदि कुछ भारतवंशी वहां कभी-कभार पहुंचे भी तो वे चीनी जन-जीवन में इस प्रकार रस-बस गए कि आज उनके वंशज भारतवंशी होने की पहचान खो बैठे हैं। अतएव चीन में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था भारतवंशियों के लिए नहीं की गई। यह तो चीनियों को भारत के संबंध में अधिकाधिक प्रामाणिक जानकारी प्रदान करने के निमित्त प्रारंभ की गई थी और आज भी इसका मुख्य लक्ष्य यही है।

हिंदी-शिक्षण की परंपरा

चीन में हिंदी-शिक्षण की परंपरा अपनी पचासवीं वर्षगांठ मना चुकी है। इसकी शुरुआत सन् 1942 में खुनमिङ के ओरियंटल स्कूल ऑफ लेंग्वेजज एंड लिटरेचर में दो वर्षीय पाठ्यक्रम से हुई थी। सन् 1945 में यह संस्थान छुङ छिङ चला आया। अतएव हिंदी-शिक्षण का केंद्र भी छुङ छिङ हो गया। यहां पर हिंदी का पाठ्यक्रम दो वर्ष के स्थान पर तीन वर्ष का कर दिया गया। एक वर्ष बाद इस अध्ययन-केंद्र का पुनः स्थान-परिवर्तन हुआ। अब वह नानचिङ आ गया। नानचिङ में इस संस्थान ने सन् 1949 ई० तक कार्य किया। तदनंतर हिंदी की पढ़ाई पेइचिङ विश्वविद्यालय में प्रारंभ हुई। सन् 1965 तक हिंदी की विधिवत एवं नियमित पढ़ाई की व्यवस्था केवल पेइचिङ विश्वविद्यालय में ही रही। सन् 1966 ई० में चीन में सांस्कृतिक महाक्रांति का दौर शुरू हुआ। इस दौरान स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में ताले ठोंक दिए गए। बहुत से अध्यापकों को च्याङ शी प्रांत के नानछाङ शहर से पचास किलोमीटर दूर ख्वी च्यू में शारीरिक श्रम तथा प्रशिक्षण के लिए भेजा गया। सन् 1970 ई० में यहां पर अंग्रेजी, रूसी, हिंदी तथा वियतनामी भाषाएं पढ़ने के लिए तीन सौ से भी अधिक विद्यार्थी दाखिल किए गए। हिंदी के अध्ययन के निमित्त अट्ठासी विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया। इनमें से अधिकांश विद्यार्थी सेना से आए थे। इन विद्यार्थियों ने अपने भावी जीवन में हिंदी का कोई कार्य नहीं किया। ख्वी च्यू में हिंदी केवल एक वर्ष तक अर्थात् सन् 1970-71 ई० के दौरान ही पढ़ाई गई। इन विद्यार्थियों को आगे की पढ़ाई के लिए पेइचिङ विश्वविद्यालय भेज दिया गया। इस प्रकार सन् 1971 ई० से पेइचिङ विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन पुनः प्रारंभ हुआ। संप्रति चीन में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था केवल यहीं है। यहां हिंदी-शिक्षण का कार्य बी०ए० तथा एम०ए० की उपाधियों के लिए तो होता ही है, साथ ही हिंदी में पी-एच०डी० करने की व्यवस्था भी है। अब तक केवल एक विद्यार्थी ने हिंदी में पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। उसका नाम है च्याङ चुङ खुई।

पेइचिङ विश्वविद्यालय का हिंदी-विभाग विश्व के प्रतिष्ठित हिंदी-विभागों में से एक है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यहां पर संसार के कई देशों के विद्यार्थी हिंदी पढ़ने आते रहे हैं। पेइचिङ विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में अब तक जिन चीनी शिक्षकों ने हिंदी पढ़ाई है उनके नाम हैं—सर्वश्री यिन होंग युएन, चिन ख मू, फङ चङ तू, ल्यू आन ऊ, स्व० श्वी श्याओ याङ, ल्यू क्वो नान, जिन दिंग हान, मा मङ काङ स्व० (श्रीमती) वाङ ई श्याङ, वाङ सू इन, चाङ श्वाङ कू, थाङ रन हू, वाङ मिङ लिङ, श्रीमती लिङ फेई, डॉ० च्याङ चुङ खुई तथा श्रीमती कुआ थोङ। यों तो इन सभी ने अपने-अपने क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की है किंतु फिर भी कुछ अपने उच्चारण एवं शिक्षण, कुछ शोध और आलोचना, कुछ कोश-निर्माण एवं

व्याकरण, कुछ पाठ्य-पुस्तक-निर्माण एवं कुछ अनुवाद-कार्य के लिए प्रख्यात हैं। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि प्रोफेसर यिन होंग युएन ने चीनी भाषा में हिंदी का पहला व्याकरण-ग्रंथ लिखने, प्रोफेसर ल्यू आन ऊ ने प्रेमचंद-साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करने और आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखने तथा प्रोफेसर जिन दिंग हान ने गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा हिंदी-चीनी मुहावरा कोश तैयार करने के लिए विशेष ख्याति अर्जित की है।

चीन में हिंदी-शिक्षण का विवरण प्रस्तुत करते हुए भारत से विशेषज्ञ के रूप में चीन गए अध्यापकों का उल्लेख कर देना भी समीचीन प्रतीत होता है। इस योजना के अंतर्गत अब तक चीन गए भारतीय विद्वानों में प्रोफेसर (डॉ०) पूर्ण सिंह डबास तथा इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं हिंदी-शिक्षण-व्यवस्था को समृद्ध करने में विशेष योगदान दिया। इन दोनों विद्वानों ने पेइचिङ विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग द्वारा तैयार किए जा रहे हिंदी-चीनी शब्दकोश के अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने की दिशा में भी सक्रिय साझेदारी निभाई।

हिंदी साहित्य का चीनी अनुवाद

यद्यपि चीन में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था सन् 1942 में ही हो गई थी किंतु अनुवाद-कार्य का श्रीगणेश नये चीन की स्थापना अर्थात् सन् 1949 के बाद ही हुआ। ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि पहली अनूदित कृति सन् 1956 में प्रकाशित हुई। 'मां' शीर्षक से प्रकाशित इस कृति में मुंशी प्रेमचंद की पांच कहानियों के अनुवाद प्रस्तुत किए गए थे। तदनंतर प्रेमचंद की कहानियों के अनुवाद करने की एक परंपरा-सी बन गई। सर्वश्री श्वेङ च्येन फू, सुन चिङचओ, ग्वान तिङ, प्रोफेसर ल्यू आन ऊ, ई मिन, मङ फान, शी.पी. च्वाङ, यिन होंग ग्वान, चओ चिख्वान, जिन दिंग हान, सुन पाओ काङ, थाङ रन हू, चाङ श्वाङ कू आदि अनेक हिंदी-प्रेमियों ने समय-समय पर प्रेमचंद की लगभग दो सौ कहानियों के अनुवाद कर डाले। इस प्रकार चीनी भाषा में प्रेमचंद की सभी प्रतिनिधि कहानियां अनूदित हो गईं। ये अनुवाद चीनी पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए तथा पुस्तकाकार भी निकले। सर्वाधिक अनुवाद प्रोफेसर ल्यू आन ऊ ने किए। उन्होंने प्रेमचंद की अस्सी कहानियों के अनुवाद किए जो 'घासवाली', 'नया विवाह' तथा 'कामना तरु' शीर्षकों से प्रकाशित कहानी-संग्रहों में संकलित हैं। उनके अनुवाद पाठक के मन में मूल रचना का सा प्रभाव छोड़ने में समर्थ हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने दो वर्ष तक वाराणसी में रहकर हिंदी तथा भारतीय समाज एवं संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। चीन में प्रेमचंद की कहानियों के साथ-साथ उनके उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ। येन शाओत्वान ने 'गोदान', प्रोफेसर जिन दिंग हान तथा प्रोफेसर मा मङ काङ ने

संयुक्त रूप से 'निर्मला', प्रोफेसर मा मङ काङ तथा उनके अन्य साथियों ने च्वाङ चुङ उपनाम से 'रंगभूमि' तथा 'गबन', चओ चिख्वान तथा उनके सहयोगियों ने संयुक्त रूप से 'प्रेमाश्रम' के अनुवाद करके प्रकाशित कराए।

प्रेमचंद के अतिरिक्त वृंदावनलाल वर्मा, इलाचंद्र जोशी तथा जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास भी अनूदित-प्रकाशित हुए। प्रोफेसर यिन होंग युएन ने वृंदावनलाल वर्मा कृत 'झांसी की रानी' तथा इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी' तथा श्री थाङ रन हू ने जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' उपन्यास के अनुवाद किए। श्रीमती ऊ फूखुन ने प्रोफेसर (डॉ०) ओम्प्रकाश सिंहल के संस्मरणों, यात्रावृत्तों तथा निबंधों के अनुवाद किए।

चीन में हिंदी-गद्य-साहित्य की तुलना में काव्यानुवाद काफी कम हुआ है। इस दिशा में प्रोफेसर जिंन दिंग हान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की कालजयी कृति 'रामचरितमानस' का फूसामान छंद में प्रभावी अनुवाद किया है। डॉ० चाङ चुङ ख्वै ने हिंदी के सात आधुनिक कवियों — सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, हरिवंश राय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताओं के मार्मिक अनुवाद किए हैं।

साहित्य-सृजन

वर्तमान शताब्दी के दसवें दशक के प्रारंभ में भारत से डॉ० ओम्प्रकाश सिंहल चीन के पेइचिङ विश्वविद्यालय में अतिथि आचार्य तथा शैक्षिक-सांस्कृतिक विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त होकर गए। अपने कार्य-काल में उन्होंने हिंदी-प्रेमी चीनियों को हिंदी में ही लिखने और सोचने के लिए प्रेरित किया। उनके प्रोत्साहन से वहां के युवावर्ग ने हिंदी में मौलिक लेखन का बीड़ा उठाया। उन्होंने काव्य-रचना की, कहानियां लिखीं तथा एकांकियों का प्रणयन किया। कुछेक ने यात्रावृत्त, संस्मरण और आलोचना के क्षेत्र में पग बढ़ाए। इन विभिन्न दिशाओं में चीन के जिन हिंदी-प्रेमियों ने विशेष रुचि दिखाई है उनमें श्री वाङ चिन फङ, श्रीमती याङ ई फङ, श्रीमती कुआ थोङ, श्रीमती छन लि च्युन, श्रीमती थाङ य्वान क्वे, श्रीमती पाय च्वै, सुश्री यान ली चिङ, श्री शिन शिन पिङ आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाएं समय-समय पर भारत की कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और अब भी छपती रहती हैं। श्रीमती याङ ई फङ ने तो दो पुस्तकें ही हिंदी में लिख डालीं। इन पुस्तकों के नाम हैं — 'चीन और भारत' तथा 'चीन में भारत'।

प्रसारण

चीन में हिंदी-प्रसारण की भी व्यवस्था है। सी०आर०आई० (चाइना रेडियो इंटरनेशनल) के हिंदी-विभाग की ओर से प्रतिदिन एक घंटे का हिंदी-कार्यक्रम

भारतीय समय के अनुसार प्रतिदिन रात को साढ़े आठ से साढ़े नौ बजे तक सुना जा सकता है। तदनंतर साढ़े नौ से साढ़े दस तक इसकी पुनरावृत्ति होती है। कार्यक्रम में सबसे पहले देश-विदेश के समाचार होते हैं। विदेश के समाचारों में एशिया के समाचारों को मुख्यता दी जाती है। अंतरराष्ट्रीय समाचारों की समीक्षा रहती है। इसके बाद दैनिक रिपोर्ट प्रस्तुत की जाती है। रिपोर्ट के विषय प्रतिदिन बदलते रहते हैं। शनिवार का दिन श्रोताओं की डाक के लिए निश्चित है। हिंदी-विभाग के पास प्रतिवर्ष अपने श्रोताओं के एक लाख से भी अधिक पत्र आते हैं। इन पत्रों से यह पता चलता है कि श्रोता उनके कार्यक्रमों को कितनी रुचि से सुनते हैं। संप्रति पूरे चीन में हिंदी भाषा में काम करने वाले सर्वाधिक व्यक्ति अंतरराष्ट्रीय रेडियो के हिंदी-विभाग में ही हैं। यहां पर अब तक कुल चौदह चीनियों ने काम किया है। इनमें से कुछ सेवानिवृत्त हो चुके हैं और कुछ कार्यरत हैं। हिंदी का काम करने वाले पहले व्यक्ति श्री ली म्याओ सङ थे। इस समय वे हांगकांग में रहते हैं तथा एक बैंक में काम करते हैं। संप्रति जो व्यक्ति कार्यरत हैं उनके नाम हैं, श्रीमती सुन कुई इन, श्री वाङ चिङ फङ, श्री हू वेई मिन, श्रीमती ल्यो हुई, श्री छङ श्वे पिङ, श्री मू शाओ लिङ, श्रीमती चाओ युई हुआन, श्रीमती आओ मिङ, श्री छङ चुङ रन, श्रीमती याङ ई फङ, न्यू वेई तुङ तथा श्रीमती थाङ य्वान क्वे।

हिंदी-फिल्में

नये चीन की स्थापना के बाद से चीन में हिंदी-फिल्में भी दिखाई जाती हैं। लेकिन ये फिल्में हिंदी में न दिखाई जाकर चीनी भाषा में रूपांतरित करके प्रदर्शित होती हैं। चीन में हिंदी-फिल्मों के अभिनेता-अभिनेत्री आपको धाराप्रवाह चीनी भाषा बोलते दिखाई देंगे। हां, गाने अवश्य आपको हिंदी में ही सुनाई देंगे। हिंदी-फिल्मों के चीनी रूपांतरण में चीनी के जिन हिंदी-विद्वानों ने सराहनीय भूमिका निभाई हैं उनमें सर्वश्री छन ली शिङ, छन शि य्वे तथा वाङ चिन फङ के नाम उल्लेखनीय हैं। अब तक जिन हिंदी-फिल्मों को चीनी में रूपांतरित करके प्रदर्शित किया जा चुका है उनमें प्रमुख हैं — दो बीघा जमीन, आवारा, तूफान, झांसी की रानी, कारवां, नूरी, आनंद, सरगम, हम किसी से कम नहीं, हाथी मेरे साथी, एक फूल दो माली, चश्मे बद्दूर, नाम, जलवा, बॉबी, कयामत से कयामत तक, हीरो हीरालाल, त्रिदेव, घायल, स्वाहा, गंगा-जमुना, दौलत की जंग, खून भरी मांग, उत्तर-दक्षिण, सारांश, डॉ० कोटनीस की अमर कहानी। जिस भारतीय फिल्म ने चीनी जनता पर जादू का सा असर किया है उसका नाम है 'आवारा'। यह फिल्म चीन में प्रायः प्रदर्शित होती रहती है। इस फिल्म के गाने भी चीनी भाषा में अनूदित हो चुके हैं। चीनी जनता हिंदी-फिल्में इसलिए पसंद करती है क्योंकि इनमें अन्याय पर न्याय की विजय दिखाई जाती है तथा भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया जाता है।

साहित्यिक संस्थाएं

भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन तथा शोध-कार्य के लिए उस भाषा के विद्वानों में समय-समय पर पारस्परिक विचार-विनिमय का होते रहना अत्यंत आवश्यक है। भारतीय भाषाओं और उनमें रचित साहित्य पर कार्यरत चीनी विद्वानों ने इसी निमित्त सन् 1982 ई० में भारतीय साहित्य अनुसंधान प्रतिष्ठान की स्थापना की तथा यह निर्णय लिया कि इसका अधिवेशन हर दो वर्ष बाद होना चाहिए। प्रसन्नता का विषय है कि उन्होंने अपने इस निर्णय का क्रियान्वयन भी किया। प्रेमचंद की पचासवीं बरसी के अवसर पर क्वाङचओ में 'प्रेमचंद और भारतीय यथार्थवादी साहित्य' विषय पर एक विचारोत्तेजक गोष्ठी आयोजित की गई। 25 अप्रैल, सन् 1996 ई० से 29 अप्रैल, सन् 1996 ई० तक इस संस्था ने सनचन विश्वविद्यालय, सनचन तथा विश्व साहित्य संस्कृति संस्थान, नई दिल्ली, भारत के सहयोग से तेरहवां अंतरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन का विषय था — रामायण तथा आधुनिक चुनौतियां : एशियाई साहित्य तथा संस्कृति के विशेष संदर्भ में। चीन के विश्वप्रसिद्ध वयोवृद्ध संस्कृत विद्वान तथा वाल्मीकी रामायण के चीनी अनुवादक प्रोफेसर ची० श्येनलिन इसके मानद अध्यक्ष थे। चीन के प्रेमचंद-विशेषज्ञ प्रोफेसर ल्यू आन ऊ परामर्शदाता थे। प्रोफेसर यू लुङ यू व्यवस्थापक अध्यक्ष थे।

पुस्तकालय

राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा पेइचिङ विश्वविद्यालय पुस्तकालय चीन के दो सबसे बड़े पुस्तकालय हैं। इन दोनों ही में हिंदी पुस्तकों, समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं का अच्छा संग्रह है। एक व्यक्तिगत बातचीत में राष्ट्रीय पुस्तकालय के क्षेत्रीय अध्ययन विभाग में कार्यरत सुश्री चू श्याओलान ने बताया कि यदि हिंदी के प्रकाशक अपने प्रकाशनों के सूचीपत्र नियमित रूप से भेजते रहें तो पुस्तकालय का हिंदी खंड और अधिक अच्छा हो सकता है। वैसे संप्रति राष्ट्रीय पुस्तकालय में लगभग बीस हजार और पेइचिङ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में लगभग दस हजार हिंदी पुस्तकें हैं। इनका संबंध हिंदी भाषा तथा साहित्य के अतिरिक्त भारतीय इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन, भूगोल, पुरातत्त्व कला आदि से है। राष्ट्रीय पुस्तकालय में हिंदी पुस्तकों के संकलन का काम श्री लिङ छवे ने प्रारंभ किया था। वे कुछ समय पूर्व क्षेत्रीय अध्ययन विभाग के निदेशक पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। संप्रति वहां पर हिंदी का काम श्रीमती यू श्याओलान देख रही हैं। वे बहुत अच्छी हिंदी बोलती हैं। इन दो पुस्तकालयों के अतिरिक्त चीन की सामाजिक विज्ञान अकादमी, सछवान विश्वविद्यालय, छङतू के दक्षिण एशियाई संस्थान और शङहाए स्थित विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के पूर्वी साहित्य का अध्ययन संस्थान के पुस्तकालयों में हिंदी भाषा तथा साहित्य संबंधी ग्रंथों

के अच्छे संकलन हैं।

पत्रिकाएं

चीन से हिंदी में एक मासिक पत्रिका 'चीन सचित्र' भी प्रकाशित होती है। श्री लिन फूची इसके संस्थापक-संपादक थे। श्रीमती ऊ फू खुन तथा श्रीमती चांग क्वांग हुङ ने उन्हें अनुवाद-कार्य में भरपूर सहयोग दिया। संप्रति स्थिति यह है कि श्री लिन फूची और श्रीमती ऊ फू खुन सेवानिवृत्त हो चुके हैं। श्रीमती चाङ क्वाङ हुङ हिंदी-संपादिका हैं। सुश्री छन लि च्युन तथा श्री हुङ छ्योङ अनुवाद-कार्य में सहयोग दे रहे हैं। 'चीन सचित्र' का प्रवेशांक जुलाई, सन् 1957 ई० में प्रकाशित हुआ था। तब से अगस्त, सन् 1999 ई० तक इसके 530 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। सामान्यत: इसमें चीनी भाषा में लिखी रचनाओं के हिंदी-अनुवाद ही प्रकाशित होते हैं, किंतु कभी-कभी मूलत: हिंदी में लिखे गए लेख भी प्रकाशित किए जाते हैं। विदेशों से प्रकाशित होने वाली हिंदी-पत्रिकाओं में यह सर्वाधिक बिक्री वाली पत्रिका है। अब तक यह चालीस हजार प्रति अंक की बिक्री का कीर्तिमान स्थापित कर चुकी है। यह कीर्तिमान श्री लिन फूची के कार्यकाल में स्थापित हुआ था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आगामी कुछ वर्षों में यह कीर्तिमान भी पीछे छूट जाएगा।

पुस्तक-बाजार

चीन के पुस्तक-बाजारों में हिंदी की पुस्तकें भी मिलती हैं। ये मुख्यत: दो स्थानों पर उपलब्ध हैं। ये हैं—शिङ ह्वा शूत्येन (शिङ ह्वा पुस्तक भंडार) तथा वायवन शूत्येन (विदेशी पुस्तक भंडार)। पुस्तक-वितरण के क्षेत्र में ये दोनों संस्थान चीन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्थान हैं। चीन के सभी छोटे-बड़े शहरों में इनकी शाखाएं हैं। बड़े शहरों में तो इनकी कई-कई दुकानें हैं। चीन के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में इनके बिक्री केंद्र हैं।

चीन की राजधानी पेइचिङ में एक स्थान है तुङतान। यहां पुरानी पुस्तकों की एक प्रसिद्ध दुकान है—चुङह्वा शूत्येन। इस दुकान में चीन तथा दूसरे देशों में प्रकाशित पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। यहां मैंने हिंदी की बहुत-सी पुरानी पुस्तकें देखीं। इनमें कोश, व्याकरण-ग्रंथ तथा प्रेमचंद के उपन्यासों की संख्या सर्वाधिक थी। यहां पर मुझे कैलाग द्वारा लिखित हिंदी व्याकरण का पहला संस्करण भी खरीदने को मिल रहा था। भारतीय मुद्रा में इसकी कीमत थी इक्कीस सौ रुपए।

चीन में दैनिक जीवन में प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुएं बेचने वाली दुकानों के अगल-बगल में पुस्तकें बेचने वाली दुकानें भी होती हैं। ये दुकानें मुख्यत: चीनी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें ही बेचती हैं, किंतु कभी-कभार हिंदी की पुस्तकें भी दिख

जाती हैं। चीन की राजधानी पेइचिङ में, जहां मैं तीन वर्ष रहा, मैंने चुङ क्वान छुन, रैंता, पेता शीमन, पेता नानमन आदि स्थानों पर पुस्तकों के पटरी बाजार भी लगते देखे। इन बाजारों में हिंदी कोश, व्याकरण-ग्रंथ तथा अन्य पुस्तकें भी बिकती हुई दिखलाई दीं। हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित मानक अंग्रेजी-हिंदी कोश तथा ज्ञानमंडल, काशी का वृहद हिंदी कोश तो मैंने स्वयं इन्हीं स्थानों से खरीदे थे।

पुस्तक प्रकाशन व्यवस्था

चीन में हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन का दायित्व विदेशी भाषा प्रकाशन गृह ने संभाला हुआ है। इस संस्थान से अब तक छह सौ से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संप्रति आधी से भी ज्यादा पुस्तकें अप्राप्य हैं। चीनी साहित्य, इतिहास, संस्कृति, राजनीतिक चिंतन आदि विविध विषयों से संबद्ध ये पुस्तकें मुख्यत: चीनी भाषा में लिखी रचनाओं के हिंदी अनुवाद हैं। संप्रति छन शिय्वे हिंदी-विभाग के निदेशक हैं।

मुद्रण-व्यवस्था

चीन में हिंदी मुद्रण की भी समुचित व्यवस्था है। विदेशी भाषा प्रकाशन गृह से प्रकाशित होने वाली सभी पुस्तकें चीन में ही छपती हैं। मासिक पत्रिका 'चीन सचित्र' का मुद्रण भी चीन में ही होता है। पेइचिङ विश्वविद्यालय द्वारा तैयार कराई गई हिंदी-पाठ्य पुस्तकों का मुद्रण भी चीन में ही हुआ है। हां, यह अवश्य है कि पूरे चीन में हिंदी-मुद्रण की व्यवस्था केवल पेइचिङ में ही है। पेइचिङ में हिंदी-मुद्रण का कार्य 'इन स्वा छाङ' अर्थात् विदेशी भाषा मुद्रण फैक्ट्री में होता है।

समग्रत: चीन में हिंदी के ये नानाविध आयाम चीनियों के अगाध हिंदी-प्रेम के परिचायक हैं। लेकिन चीन की नई पीढ़ी में हिंदी के प्रति पुरानी पीढ़ी जैसा अनुराग प्राय: परिलक्षित नहीं हो रहा। जब मैंने इसका कारण जानना चाहा तो लगभग सभी चीनियों ने एक ही उत्तर दिया—हिंदी पढ़कर हम अपना समय गंवाने के साथ-साथ भावी प्रगति का मार्ग क्यों अवरुद्ध करें? यह सच है कि हमें अनेक स्तरों पर और क्षेत्रों में आत्मनिरीक्षण करना होगा कि कहीं उनकी इस निराशा के जिम्मेदार हम स्वयं ही तो नहीं हैं? चीन की नई पीढ़ी के ये उद्गार भारत के हिंदी-प्रेमियों को आत्म-निरीक्षण के लिए प्रेरित करने वाले हैं। ये हमें यह सीख देते हैं कि कम से कम हिंदी-भाषियों तथा सरकारी कर्मचारियों को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे विदेशियों को हिंदी पढ़ना-लिखना और उसमें काम करना निरर्थक प्रतीत हो। □

पेइचिङ विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा व साहित्य

प्रो० थाङ रन हू

सन् 1950 में जन्मे लेखक ने पेइचिङ विश्वविद्यालय में हिंदी सीखी। उन्होंने हिंदी की पाठ्य पुस्तकें, शब्दकोशों को तैयार कराने में योगदान देने के साथ-साथ, कई पुस्तकों का अनुवाद भी किया। फिलहाल पेइचिङ विश्वविद्यालय के हिंदी भाषा व साहित्य अनुभाग के सीनियर प्रोफेसर। इस अंक के लिए विशेष रूप से लिया गया आलेख।

पेइचिङ विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा व साहित्य अनुभाग की स्थापना सन् 1949 ई० में हुई थी। अब तक इस अनुभाग का इतिहास 50 वर्ष का हो गया है। पिछले 50 वर्षों में लगभग पंद्रह अध्यापकों व अध्यापिकाओं ने इस अनुभाग में अध्यापन व अध्ययन किया। अब इस अनुभाग में तीन् अध्यापक और दो अध्यापिकाएं हैं। अनुभाग के अध्यक्ष डॉक्टर च्याङ चुङ खुई हैं।

हिंदी भाषा व साहित्य अनुभाग के प्रोफेसर व अध्यापक पिछले 50 वर्षों में हिंदी भाषा व साहित्य पढ़ाने के साथ-साथ अध्ययन करने की कोशिश भी करते आए हैं, और काफी उपलब्धियां प्राप्त कर चुके हैं। सबसे पहली उल्लेखनीय उपलब्धि है 'हिंदी-चीनी शब्दकोश' जो छंठे दशक के शुरू में प्रकाशित हुआ था। इस शब्द-कोश में लगभग 45 हजार हिंदी शब्द हैं। हालांकि यह शब्दकोश बड़ा नहीं है,

लेकिन विद्यार्थियों व हिंदी संबंधी काम करने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। इस शब्दकोश की कमी को ध्यान में रखते हुए इस अनुभाग के प्रोफेसरों ने एक नया शब्दकोश तैयार किया है जिसका शीर्षक है 'वृहद हिंदी-चीनी शब्दकोश'। इस शब्दकोश में लगभग 90 हजार हिंदी शब्द और पर्याप्त मुहावरे रखे गए हैं। यह शब्दकोश सन् 2000 ई० में पाठकों के सामने आ जाएगा। यह बड़ी खुशी की बात है, क्योंकि सन् 2000 ई० बहुत महत्त्वपूर्ण वर्ष है, यह नई शताब्दी का पहला वर्ष होगा और नये हजार वर्ष का पहला वर्ष भी। सारे संसार के लोग इस वर्ष के आने का इंतजार कर रहे हैं, और नये वर्ष के आने की खुशी मनाने की तैयारी कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि यह शब्दकोश हिंदी सीखने वाले और हिंदी संबंधी काम करने वाले चीनियों के लिए बड़ा मददगार होगा।

प्रो० यिन होंग युएन, जो रिटायर्ड हो गए हैं, हिंदी भाषा व साहित्य अनुभाग का सूत्रपात करने वालों में से एक हैं। वे मुख्य रूप से हिंदी व्याकरण और हिंदी शब्द का अध्ययन करते हैं। उन्होंने चीनी और हिंदी दोनों भाषाओं को मिलाकर 'हिंदी व्याकरण' नामक मोटी पुस्तक लिखी है और प्रकाशित करवाई है। यह पुस्तक हिंदी पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। प्रो० जिन दिंग हान, जो रिटायर्ड हो गए हैं, ने भी हिंदी भाषा खासकर हिंदी मुहावरों का अध्ययन करने में बड़ी शक्ति लगाई है। उन्होंने हिंदी-चीनी मुहावरा कोश बनाया है। इसके अलावा उन्होंने 'रामचरितमानस' का अनुवाद हिंदी से चीनी में किया है।

विश्वविद्यालय ऐसा संस्थान है जहां विद्यार्थी लोग आकर ज्ञान प्राप्त करते हैं। विद्यार्थियों के हिंदी अनुभाग में प्रवेश करने का उद्देश्य है हिंदी सीखना। इसलिए विद्यार्थियों की पढ़ाई के लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार करना हिंदी अनुभाग के प्रोफेसरों एवं अध्यापकों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्होंने पिछली आधी शताब्दी में बहुत पाठ्य पुस्तकें तैयार की हैं, जैसे 'हिंदी की बुनियादी पाठ्य पुस्तक' जो चार भागों में है, और जो प्रोफेसर जिन दिंग हान, प्रोफेसर थाङ रन हू और प्रोफेसर मा मुं कांग आदि के द्वारा तैयार की गई है। यह पाठ्य पुस्तक पहली 'बुनियादी पाठ्य पुस्तकों' की कमियों व अच्छाइयों को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई है, इसलिए यह अच्छी पाठ्यपुस्तक है जिसे पढ़कर विद्यार्थी जल्दी से हिंदी के व्याकरण व बुनियादी शब्दों आदि पर अधिकार कर सकते हैं, और आगे चलकर हिंदी में अच्छी तरह अधिकार कर पाएंगे। इसके अलावा 'हिंदी की माध्यमिक पाठ्य पुस्तक', 'हिंदी की उच्च पाठ्य पुस्तक' पाठ्य-पुस्तक के रूप में 'हिंदी कहानी-संग्रह', 'हिंदी का चीनी में अनुवाद पाठ्य-पुस्तक' और 'चीनी का हिंदी में अनुवाद पाठ्य-पुस्तक' आदि-आदि पाठ्य पुस्तकें तैयार की गई हैं।

हिंदी साहित्य का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास है, और हिंदी साहित्य के अनेक प्रसिद्ध कवि, नाटककार, उपन्यासकार व कहानीकार हैं। इसलिए हिंदी

साहित्य का अध्ययन करना भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रोफेसर ल्यू आन ऊ ने जिन्होंने भारत में चार साल हिंदी और हिंदी साहित्य पढ़ा था, दसियों वर्षों में हिंदी साहित्य का अध्ययन करके, उन्होंने 'भारतीय हिंदी साहित्य का इतिहास', 'प्रेमचंद और उन के उपन्यास व कहानियां' आदि पुस्तकें तथा बहुत शोधलेख आदि लिखे हैं। प्रोफेसर थाङ रन हू हिंदी भाषा का अध्ययन करने के साथ-साथ हिंदी साहित्य का भी अध्ययन करते हैं, दस से अधिक शोधलेख तथा 'पूर्वी साहित्य इतिहास' में हिंदी साहित्य के बारे में कुछ लेख लिखे हैं। एसोशिएट प्रोफ़ेसर च्याङ चुङ खुई ने पी-एच० डी० करते समय हिंदी नाटक व एकांकी का अध्ययन किया और 'हिंदी नाटक व एकांकी का इतिहास' लिखा है।

हिंदी साहित्य की कुछ बहुत अच्छी रचनाएं हैं। चीनी पाठकों से उन रचनाओं का परिचय कराना भी हमारा काम है। पेइचिङ विश्वविद्यालय के हिंदी भाषा के प्रोफेसरों व अध्यापकों ने अनेक हिंदी उपन्यास और बहुत-सी हिंदी कहानियों का चीनी में अनुवाद किया है, जैसे *प्रेमचंद की चुनी हुई कहानियां संग्रह* का अनुवाद, *प्रेमचंद के साहित्य संबंधी लेख* का अनुवाद, प्रेमचंद के *रंगभूमि* व *प्रेमाश्रम* का अनुवाद, वृन्दावनलाल वर्मा के *झांसी की रानी* का अनुवाद आदि। इसके अलावा हिंदी के द्वारा भारत की दूसरी भाषाओं की कुछ प्रसिद्ध रचनाओं का चीनी में अनुवाद किया, जैसे प्रोफेसर थाङ रन हू ने हिंदी के द्वारा टैगोर के 'गोरा' उपन्यास का चीनी में अनुवाद किया है।

कुछ शब्दों में कहा जाए, पेइचिङ विश्वविद्यालय के हिंदी अनुभाग के प्रोफेसर व अध्यापकों ने हिंदी भाषा व हिंदी साहित्य का अध्ययन करने में बहुत परिश्रम दिया है। उन्होंने अपनी मेहनत से हिंदी के प्रसार के लिए बहुत बड़ा योगदान किया है।

भारत सरकार की ओर से भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् समय-समय पर हिंदी विद्वानों को पेइचिङ विश्वविद्यालय, बेइजिंग चीन में प्रतिनियुक्त करते रहे हैं। इस समय डॉ० प्रो०सी०ई० जीनी को पेइचिङ विश्वविद्यालय में प्रतिनियुक्त किया गया है। इनका सहयोग एवं सुझाव हमें बराबर प्राप्त हो रहा है। हमें आशा है, इनके सहयोग से चीनवासियों को हिंदी सीखने में एक नया मोड़ मिलेगा और हिंदी का प्रचार-प्रसार और जोरों पर होगा।

□

कदमताल करती हिंदी

प्रेम जनमेजय

जिस देश में भारतीय मूल के लगभग 42 प्रतिशत लोग हों और उनमें से एक प्रतिशत लोग भी सही से हिंदी न बोल पा रहे हों तो यह एक व्यापक चिंता का विषय होना चाहिए। व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय आजकल त्रिनीडाड में हिंदी के विजिटिंग प्रोफेसर हैं तथा वहां के हिंदी वातावरण का आंखों देखा हाल बता रहे हैं। व्यंग्यकार होने की वजह से उनकी नजर उस गैर हिंदी-वातावरण पर भी चली जाती है, जहां नहीं जानी चाहिए थी।

संतों का कथन है कि पहला प्यार, पहला भ्रष्टाचार, पहली रचना, पहला पति/पत्नी, अर्थात् जो भी पहला हो, वह सदा याद रहता है। सन् 1999 के आरंभ में मेरे जीवन में बहुत कुछ पहला-पहला घट गया। यह पहला अवसर था कि मैंने हजारों किलोमीटर की हवाई यात्रा की और पहली बार त्रिनिडाड पहुंच गया। यह पहला अवसर था कि मैं स्वदेश, स्वजन, स्वपत्नी, स्वमित्रों आदि 'स्वों' से दूर एक लंबे अंतराल के लिए भीड़ में भी अकेला रहने को विवश हुआ। ऐसी 'पहली' उर्वर-भूमि उपस्थित हो तो त्रिनिडाड जैसे देश से पहली नजर में प्यार होना स्वाभाविक ही है। प्रथम-प्रेम दृष्टि में ऐसी धुंध उत्पन्न करता है कि दूर-दृष्टि धुंधला जाती है और सावन के अंधे-सा व्यक्ति सब कुछ हरा ही देखता है।

भारत से बाहर निकलते ही मन हिंदी और हिंदुस्तान के लिए भावुक हो जाता है। विदेश में कोई भारतीय चेहरा दिखाई दे तो मन उसे लपककर पकड़ना चाहता है

और यदि 'एतराज न' हो तो गले भी लगाना चाहता है। टूटी-फूटी ही सही, हिंदी सुनने को मिल जाए तो मन गद्गद हो जाता है। ऐसी ही भावुकता ने मेरे मन में भी जन्म ले लिया।

त्रिनिडाड हवाई अड्डे पर मुझे भारतीय उच्चायोग के अधिकारियों के अतिरिक्त वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय के डीन श्री विष्णुदत्त सिंह भी लेने आए थे। मैंने जब यह नाम सुना तो लगा कोई अपना मिल गया। कार में बैठा तो 'बैजू बावरा' फिल्म के गीत 'तू गंगा की मौज, मैं जमुना का धारा' सुनकर मन झूम उठा। मैंने सोचा कि यह एक भारतीय के स्वागत का त्रिनिडाडीय तरीका हो सकता है—गाने का टेप लगा दिया। ऐसा भ्रम हर उस भारतीय को होता है जो पहली बार त्रिनिडाड आता है। मुझे याद है फरवरी, 1999 में भारतीय प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के साथ आए अनेक पत्रकारों को भी यह सुखद आश्चर्य हुआ था। प्रसिद्ध इतिहास विश्लेषक प्रोफेसर मुजारी ने वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में आयोजित एक विचार-गोष्ठी में त्रिनिडाड में भारतीयों और अफ्रीकीयों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए शिकायती लहजे में कहा था कि हिंदी संगीत को समर्पित चार-चार एफ०एम०स्टेशन हैं और अफ्रीकी संगीत का एक भी नहीं। इन चैनलों से निकलता हिंदी का स्वर आपको भारत में होने का भ्रम देता रहेगा और हिंदी की कल्चरल मैगजीन तथा हर रविवार दोपहर एक बजे प्रसारित होने वाली हिंदी फिल्म देखकर आप त्रिनिडाडियों के हिंदी-प्रेम के प्रति भावुक हो उठेंगे। चलिए भावुक होने का सिलसिला चल निकला है तो आपको और भावुक कर देता हूं। विदेश में रवि महाराज, संगीता, सत महाराज, हंस हनुमान सिंह, देवकीनंदन शर्मा, चनका सीताराम, राजिन महाराज, राजेंद्रकुमार रस्तोगी, सत बालकरण सिंह, लखीरामनारायन, परसराम, अनिल, सीता, कमाल, रफी, मनवंती, सत्यानंद, लक्ष्मी आदि नाम सुनकर कैसा लग रहा है? अगर आप बाजार जाएं और आपको दूकानों के नाम प्रीतांजली, शिव ज्यूलर्स, महाराजा, अप्सरा रेस्टोरेंट, चांदनी आदि देखने को मिल जाएं तो? पोर्ट ऑफ स्पेन में घूमते हुए गलियों के नाम—कलकत्ता स्ट्रीट, पटना स्ट्रीट, फैजाबाद आदि (चाहे अंग्रेजी में ही लिखें) मिल जाएं तो? रोटी, बैंगन, करेला, धनिया आदि शब्द? ऐसे दृश्यों को देखकर मन कह उठता है—वाह हिंदी! यहां पहुंचने पर जब तत्कालीन भारतीय उच्चायुक्त की पत्नी श्रीमती नोनिता चोपड़ा ने मुझसे कहा कि यहां के प्रधानमंत्री श्री वासुदेव पांडेय हिंदी सीखने को बहुत इच्छुक हैं, क्या आप पढ़ा सकेंगे तो और वाह निकली! आपकी और वाह निकालने को मेरे पास अभी बहुत कुछ है माई बाप। बस, निवेदन यह है कि अंत में हिंदी के नाम पर थोड़ी 'आह' निकालने को कहूं तो संकोच मत कीजिएगा।

हिंदी के प्रचार-प्रसार में यहां अनेक संस्थाएं कार्यरत हैं। एक झलक प्रस्तुत है:

हिंदी निधि

वैसे तो अनेक संस्थाएं अपने अन्य कार्यक्रमों के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार में भी कार्यरत हैं परंतु हिंदी निधि केवल हिंदी के प्रचार-प्रसार में ही संलग्न है। 30 अप्रैल, 1986 में प्रोफेसर भूदेव शर्मा, चनका सीताराम, हरीनाथ श्रीराम, रामचरण गोसाई, राजेन्द्रकुमार रस्तोगी, कुमार सत्यकेतु आदि द्वारा स्थापित इस संस्था ने हिंदी को त्रिनिडाड में जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। 20 जुलाई, 1989 को एक्ट द्वारा त्रिनिडाड की संसद ने इसे मान्यता दी। आजकल इस संस्था के अध्यक्ष चनका सीताराम तथा सचिव राजिन महाराज हैं। 'हिंदी निधि' के प्रयत्नों का परिणाम है कि सन् 1993 में सरकार ने विभिन्न स्तरों पर हिंदी को एक विषय के रूप में स्वीकार किया। बहुत जल्दी विद्यालयों में माध्यमिक स्तर पर हिंदी पढ़ाई जाएगी। सन् 1992 में त्रिनिडाड में प्रथम हिंदी सम्मेलन तथा 1996 में पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन करके त्रिनिडाड में हिंदी का एक वातावरण तैयार किया। समय-समय पर हिंदी-सेवियों को सम्मानित करने के अंतिरिक्त यह संस्था विभिन्न विषयों पर गोष्ठियां भी आयोजित करती है। सन् 1996 में प्रोफेसर जगन्नाथन के सहयोग से आरम्भिक पाठ्यक्रम के लिए कुछ पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के अतिरिक्त हिंदी निधि ने 1993 से 1997 के बीच रेडियो पर हिंदी-शिक्षण का कार्यक्रम भी प्रसारित किया।

वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय

त्रिनिडाड में स्थित वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में हिंदी के पठन-पाठन की भी व्यवस्था है। यहां हिंदी अभी एक विदेशी भाषा के रूप में आरंभिक स्तर पर पढ़ाई जा रही है। बहुत जल्दी विश्वविद्यालय हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम को आरंभ करने जा रहा है। वस्तुत: यहां के छात्र हिंदी साहित्य के विषय में जानने को बहुत इच्छुक हैं परंतु पूरे त्रिनिडाड में ऐसी कोई शिक्षण-संस्था नहीं है जो हिंदी साहित्य की शिक्षा दे सके। मैं स्वयं पाठ्यक्रम तैयार कर रहा हूं।

महात्मा गांधी सांस्कृतिक संबंध संस्थान

गायन, नृत्य तथा तबलावादन की शिक्षा देने के अतिरिक्त भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की यह इकाई हिंदी-शिक्षण का पाठ्यक्रम भी चलाती है। संस्थान के निदेशक राजेश श्रीवास्तव का मानना है कि त्रिनिडाड के भारतीय मूल के लोगों में हिंदी के प्रति विशेष लगाव है। हिंदी कक्षाओं में बढ़ती विद्यार्थियों की संख्या को देखते हुए वह इस दिशा में बहुत कुछ करने को उत्सुक हैं।

वर्तमान भारतीय उच्चायुक्त प्रोफेसर परिमल कुमार दास, जो स्वयं एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री हैं, ने उच्चायोग में अपना पहला भाषण हिंदी में ही दिया था। वह इंटरनेट पर, अपने जानकारों को ई मेल भी हिंदी में, रोमन लिपि के प्रयोग द्वारा भेजते हैं। उच्चायोग में हिंदी पुस्तकों का एक विशाल पुस्तकालय भी है जिसमें हिंदी के अधिकांश प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकें पढ़ने को मिल जाती हैं। मंगलवार तथा गुरुवार को होने वाली कक्षाओं में साठ के लगभग विद्यार्थी आते हैं।

भारतीय विद्या संस्थान

अपने सीमित साधनों में यह संस्थान भी हिंदी तथा भारतीय कलाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। संस्थान के संस्थापक हरिशंकर आदेश को, जो स्वयं एक साहित्यकार, संगीतज्ञ एवं कला-विज्ञ हैं, उनके शिष्य एक 'आदर्श' गुरु के रूप में देखते हैं। अनेक स्तरों पर हिंदी पढ़ाने में प्रयत्नशील इस संस्थान में त्रिनिडाड में सन् 1974 में पहली हिंदी पत्रिका 'जीवन ज्योति' का प्रकाशन आरंभ किया। आरंभ में यह पत्रिका मासिक थी और केवल हिंदी में प्रकाशित होती थी परंतु आजकल इसने त्रैमासिक रूप ले लिया है तथा सामग्री हिंदी में कम अंग्रेजी में अधिक होती है। व्यक्तिगत बातचीत में प्रो० आदेश ने बताया कि त्रिनिडाड में हिंदी की वर्तमान स्थिति को लेकर वह संतुष्ट नहीं हैं। उनकी योजना भारत के विद्वानों को सम्मानित करने की है। संस्थान की योजना त्रिनिडाड के हिंदी लेखकों का एक संकलन 'उभरते क्षितिज' निकालने की भी है। संस्थान प्रतिवर्ष एक शिविर का भी आयोजन करता है जिसमें हिंदी की वाद-विवाद, निबंध आदि प्रतियोगिताओं के अतिरिक्त संगीत की धारा भी बहती है। अध्यापक निःशुल्क पढ़ाते हैं।

मंदिरों में हिंदी

त्रिनिडाड के मंदिर पूजा-पाठ के आयोजनों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं—हिंदी कक्षाओं का आयोजन। त्रिनिडाड में 400 मंदिर हैं जिनमें अधिकांश में हिंदी पढ़ाई जाती हैं। यहां हिंदी पढ़ाने का कार्य अधिकांशतः पंडित करते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदू महासभा, हिंदू प्रचार केंद्र, आर्य प्रतिनिधि सभा, हिंदू सेवा संघ, त्रिनिडाड अकादमी ऑफ हिंदूइज्म, कबीर पंथ, डिवाइन लाइफ सोसाइटी आदि संस्थाएं हिंदी-शिक्षण का पाठ्यक्रम उपलब्ध कराती हैं।

जन्नत की हकीकत

अगर मैं कहूं कि वर्षों से हिंदी के लिए इतना काम होने के बावजूद स्थिति यह

है कि 42 प्रतिशत भारतीय मूल के निवासियों के इस देश में एक प्रतिशत लोग भी, सही हिंदी नहीं बोल पाते हैं तो आपको कैसा लगेगा?

अगर मैं कहूं कि हिंदी पढ़ाने वाले लगभग सभी अध्यापक हिंदी में बातचीत नहीं कर पाते हैं तो ...? अधिकांश अध्यापक प्राथमिक हिंदी से आगे स्वयं भी कुछ नहीं जानते तो...?

त्रिनिडाड में आज से लगभग 154 वर्ष पहले आए भारतीय, भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते थे। अंग्रेजी उनके लिए विदेशी भाषा थी परंतु आज अधिकांश त्रिनिडाडीय भारतीयों की 'मातृभाषा' अंग्रेजी है और भारतीय भाषाएं उनके लिए विदेशी भाषा हो गई हैं। हिंदी को विदेशी भाषा के रूप में पढ़ा और पढ़ाया जाता है। हिंदी को पढ़ाने का माध्यम अंग्रेजी है। यह अजब विसंगति है। हिंदी को लेकर और भी अनेक विसंगतियां हैं। ऐसी विसंगतियों से, हे हिंदी-प्रेमी, आप भी भारत में परिचित हैं। यहां हिंदी यदि कुछ लोग बोलते भी हैं तो ऐसे कि जैसे उनकी तबियत कुछ खराब हो! अधिकांश पंडित संस्कृत मंत्रों का भ्रष्ट उच्चारण करते हैं। मंत्रों की व्याख्या संस्कृत में तो क्या कहिए हिंदी में करना भी उनके लिए बहुत कष्टदायक होता है। हिंदी भजन गाने वाले भक्त से यदि आप हिंदी में बात करें तो उनकी आंखों में शून्य तैरने लगता है। यहां तक कि हिंदी फिल्मी गानों के अतिरिक्त मोह में बंधे गायक बहुत सुरीला गाते हैं, पर उसकी लिपि रोमन होती है, और आप विश्वास नहीं कर पाते हैं कि इन्हें इस गाने का मतलब नहीं पता है। यह हिंदी फिल्मों के प्रति अतिरिक्त प्रेम का परिणाम है कि मोहम्मद रफी के गाये गीत 'सुहानी रात ढल चुकी' को यहां दूसरा राष्ट्रीय गीत कहा जाता है।

बातचीत सभा

हिंदी पढ़ाते समय मैंने अनुभव किया कि मेरे विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ने तथा हिंदी लिखने में कोई कठिनाई नहीं है। वह बोलना भी चाहते हैं पर बोल नहीं पाते हैं। वह हिंदी बोलने से कतराते हैं। एक हिचक ने उनके मन में घर कर लिया है। उनके पास वह वातावरण भी नहीं है जिसमें वह हिंदी में बातचीत कर सकें। परिवार, बाजार, समाज, कहीं भी तो हिंदी बोलने का अवसर नहीं है। मैंने इस विषय पर अनेक त्रिनिडाडीय हिंदी-प्रेमियों से, जिनमें अधिकांश हिंदी के अध्यापक थे, बात की। हिंदी में बातचीत करने का वातावरण बनाने के लिए छोटे-मोटे प्रयास भी किए। एक गोष्ठी का आयोजन किया गया। कोई विषय नहीं था, बस, एक शर्त थी कि जो भी बोलेगा वह हिंदी में ही बोलेगा। शाम पांच बजे आरंभ हुई बैठक बड़ी मुश्किल से छह बजे तक खिंची। हिंदी बोलने में सबको बहुत कष्ट हो रहा था। मैं जानता था कि मैंने केवल हिंदी में बातचीत की शर्त रखकर एक बहुत बड़ा खतरा मोल लिया है। अगर इन्हें मेरा तर्क समझ आ गया तो यह अगले शनिवार फिर आएंगे वरना धीरे-

धीरे गायब हो जाएंगे।

अगली बार सभी आए अपितु उनके साथ और भी आए।

हर शनिवार को होने वाली यह सभा अब पांच बजे आरंभ होकर कई बार आठ बजे तक चलती है तथा इस सभा में आपस में हिंदी में मजाक करने के अतिरिक्त पहले से तय विषयों पर अधिकांश हिंदी में धाराप्रवाह भी बोलने लगे हैं। अनेक हिंदी कवियों—सूर, तुलसी, कबीर पर बातचीत के अतिरिक्त नागार्जुन, केदारनाथ सिंह, कन्हैयालाल नंदन, बालस्वरूप राही, रमानाथ अवस्थी, रामदरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी, दिविक रमेश आदि की कविताओं के पाठ तथा नरेंद्र कोहली की रामकथा पर चर्चा अब तक की बातचीत का मुख्य केंद्र रही है। यह उत्साही हिंदी-प्रेमी एक हिंदी पत्रिका निकालने की भी योजना बना रहे हैं।

बातचीत सभा में ही एक दिन हमारी बातचीत का विषय था—त्रिनिडाड में हिंदी। यह विषय मेरे ही आग्रह पर रखा गया था। मैं जानने को उत्सुक था कि आखिर क्यों पड़ोस के देश सूरीनाम में लोग हिंदी में बातचीत कर लेते हैं पर त्रिनिडाड में नहीं। मॉरीशस, फीजी आदि की तुलना में त्रिनिडाड पिछड़ा हुआ क्यों है? इस विषय पर विस्तार से अध्ययन करना चाहता हूं। फिलहाल जिन निष्कर्षों पर पहुंचा हूं, उन्हें सूत्रों में लिख रहा हूं : मुख्यत: भोजपुरी भाषा के साथ त्रिनिडाड की धरती पर कदम रखने वाले भारतीय आर्थिक दृष्टि से विपन्न थे। अधिकांश अनपढ़ भारतीय तुलसी की रामचरितमानस द्वारा शिक्षित, लोकगीतों तथा लोक संस्कृति को अपने खून में बसाए, मिट्टी से सोना बनाने के लिए (परिश्रमी थे) आए तो सब यह सोचकर थे कि एक दिन अपने देश लौटेंगे पर धीरे-धीरे विदेश ने देश का आकार लेना आरंभ कर दिया। अपने खेत अपनी फसल और अपने घर ने ऐसा मोह में बांधा तथा बदले आर्थिक हालात ने ऐसी परिस्थितियां पैदा कीं कि त्रिनिडाड में एक और भारत जन्म लेने लगा। कालांतर में धनप्राप्ति को उन्होंने अपना लक्ष्य बन जाने दिया। परंतु कुछ बरस बाद सम्पन्न होने पर तथा कुछ भारतीय मिशनरियों के त्रिनिडाड में आगमन ने यह सोचने पर विवश करना आरंभ कर दिया कि अपनी संस्कृति और अपनी भाषा के अभाव में हम अपनी अस्मिता खो रहे हैं। हाबड़-ताबड़ में अपनी अस्मिता को बचाने की प्रक्रिया आरंभ हो गई। भारत के नाम पर जो मिला उसे अंगीकार करने की लालसा ने जन्म लिया। इस प्रवृत्ति का अनेक चतुरों ने सदुपयोग भी किया। बहुत कुछ हो रहा है, पर दिशाहीन।

मुझे लगता है कि फिलहाल त्रिनिडाड में हिंदी कदमताल कर रही है। एक ही स्थान पर खड़े रहकर पांव चलाने को प्रगति माना जा रहा है। हिंदी रटने वाले तोते तो तैयार हो रहे हैं, परंतु हिंदी के चिंतक नहीं!

□

यह सोचें कि हमने हिंदी को क्या दिया है

डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल

नार्वे में रह रहे हिंदी के कवि-पत्रकार डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल ने वहां रहकर हिंदी के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योगदान दिया है। उन्होंने हिंदी संबंधी अनेक सम्मेलनों में भाग लिया है तथा हिंदी-सेवा के लिए उन्हें अनेक बार पुरस्कृत भी किया जा चुका है। उनकी कलम से निकली नार्वे में हिंदी की एक समकालीन झांकी।

हिंदी विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली तीसरी भाषा होने के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यताप्राप्त भाषाओं में स्थान नहीं प्राप्त कर सकी है, परंतु हिंदी भारत की राजभाषा, मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनीडाड की सहभाषा तथा विदेशों में रहने वाले प्रवासियों की संपर्क भाषा है। छठा विश्व हिंदी सम्मेलन, हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में निर्णायक कदम सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

नार्वे में हिंदी स्कूल

नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क में मैंने देखा है कि भले ही वहां रहने वाले प्रवासी भारतीय, देश के विभिन्न प्रांतों के होते हैं परंतु वे हिंदी में बातचीत करना पसंद करते हैं।

डेनमार्क के कोपेनहेगन विश्वविद्यालय में जब मैं बहुभाषी विद्वान फिन थीसेन

उर्फ प्रेमचंद के सान्निध्य में कक्षाएं ले रहा था तो विद्यार्थियों के हिंदी ज्ञान एवं लगन को देखकर चकित रह गया था। उनके सुगम एवं प्रायोगिक हिंदी के ज्ञान ने मुझे बहुत प्रभावित किया क्योंकि उनकी बोलचाल में अंग्रेजी के शब्द नहीं थे। ओसलो विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक क्नुत क्रिस्तियानसेन ने मुंशी प्रेमचंद की कहानियों का नार्वेजियन भाषा में अनुवाद किया है। वे हिंदी भी यदि प्रवीणता से बोल सकते तो विश्वविद्यालय में हिंदी के छात्रों की संख्या अवश्य बढ़ी होती। आजकल ओसलो विश्वविद्यालय में हिंदी अध्यापन में श्रीमती रूथ स्मिथ हैं। यह स्थिति सुखद नहीं कही जा सकती कि यहां अब दो अध्यापकों की संख्या से घटकर एक रह गई है। नार्वे में सन् 1993 में बजट की कटौती का भार हमारी मातृभाषा हिंदी पर पड़ा और नार्वे के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली हिंदी की शिक्षा बंद हो गई, जिसने फिर सहयोगी भाषा का स्थान ले लिया।

ओसलो के लिन्देरूद नामक स्थान पर इन पंक्तियों के लेखक एवं क्रान्ति कुमार जैन दंपति ने पिछले कुछ समय से सप्ताह में एक बार हिंदी शिक्षा देना आरंभ किया है। यहां अभी नौ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त नार्वे में गत तीन वर्षों से पंजाबी स्कूल, सफलतापूर्वक चल रहा है। किसी भी भारतीय भाषा की शिक्षा हिंदी के विकास के लिए आवश्यक है। आज भी पंजाबीभाषी हिंदी का शब्दकोश प्रयोग में लाते हैं जो हिंदी की पंजाबी व अन्य भारतीय भाषाओं के साथ निकटता व्यक्त करती है।

हिंदी में अपनापन है, आत्मीयता है। हम भारतीय मातृभाषा के रूप में हिंदी के अतिरिक्त अन्य कोई भी भारतीय भाषा हो, उसे स्वयं से जुड़ा हुआ महसूस करते रहे हैं। हिंदी से सदा निकटता जोड़ने और समन्वय की सीख मिलती है। भारतीय ग्रंथों, भारतीय फिल्मों ने भी हिंदी के प्रचार-प्रसार में व्यापक योगदान दिया है। शायद ही कोई भारत में अथवा विश्व में ऐसा व्यक्ति हो जिसे किसी भारतीय फिल्मी अथवा लोकगीत की जानकारी न हो।

अनेकों बार लिपि को लेकर अनेक सवाल उठाए गए। यह कहा गया कि जिस प्रकार इंडोनेशिया और टर्की में वहां की मूल लिपि को रोमन लिपि में लिखा जा रहा है, हिंदी को भी लिखा जाए। यह दृष्टि देवनागरी के संबंध में ठीक नहीं जान पड़ती है।

देवनागरी लिपि एक वैज्ञानिक, प्रायोगिक और भारतीय संस्कृति की आत्मा को आत्मसात की हुई लिपि है। जैसी बोली जाती है, वैसे ही लिखी जाती है। स्कैनर के द्वारा हम देवनागरी लिपि को भी इंटरनेट में भेज सकते हैं। अतः देवनागरी लिपि को रोमन में बदलने का औचित्य समझ में नहीं आता है।

विदेशों में हिंदी पत्रिकाएं

मॉरीशस में हिंदी को विशेष दर्जा मिलने के बावजूद हिंदी का वहां कोई भी

समाचार-पत्र संभवतः नहीं है। सरकारी अनुदान से चलने वाली पत्रिका 'बसन्त' बुद्धिजीवियों तक सीमित है। मॉरीशस में अनेक स्वतंत्र पत्रिकाएं हैं जिनमें 'आक्रोश', 'आर्योदय' का नाम लिया जा सकता है। नीदरलैंड में पानोरामा पत्रिका, ओम टी०वी०, रेडियो तथा डॉ० मोहन गौतम जैसे अनेकों व्यक्ति हिंदी के लिए बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं। सती कुमार जैसे अनेक लोग डेनमार्क (स्वीडन) में गत पंद्रह वर्षों से हिंदी रेडियो 'सबरंग' के माध्यम से, चांद शुक्ल 'हादियाबादी' तथा 'इण्डिया विजन' टी०वी० के माध्यम से एच० हरथानी हिंदी की सेवा कर रहे हैं। इंग्लैंड में गत पच्चीस वर्षों से जगदीश मित्र कौशल, हिंदी साप्ताहिक 'अमरदीप' का संपादन एवं प्रकाशन कर रहे हैं। भारतीय मूल के राजनीतिज्ञों, स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ-साथ 'हिंदी समिति यू०के०', 'अहिंसम भारतीय', 'गीतांजलि', 'इंडियन एसोसिएशन' और अनेक संस्थाएं प्रति सप्ताह कहीं न कहीं काव्य-गोष्ठी, विचार-संगोष्ठी आदि आयोजित करते हैं।

लंदन में डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी के कार्यकाल में दो बार यूरोपीय हिंदी सम्मेलन हुए। डॉ० महेन्द्र वर्मा के सान्निध्य में यार्क विश्वविद्यालय में दक्षिण भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिकों का सम्मेलन हिंदी के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप की महिमा को परिचित कराता है। नार्वे में 'परिचय' ने हिंदी की पत्रकारिता का द्वार खोला जिसका शुभारंभ सन् 1978 में हुआ था। इसी लेखक ने सन् 1980 से 1985 तक *परिचय* का संपादन किया। 'परिचय' ने पाठक बनाए और बढ़ाए। धर्मवीर भारती ने अपने निजी दो पत्रों द्वारा तथा अनेक भारतीय साहित्यकारों एवं पत्र-पत्रिकाओं ने समीक्षात्मक टिप्पणी देकर इस प्रयास की सराहना की। 'दिनमान' के तत्कालीन संपादक डॉ० कन्हैयालाल नन्दन, नंदन के संपादक श्री जयप्रकाश भारती आदि ने सदा विदेशों में हिंदी पत्रकारिता की सही तस्वीर पेश की है।

लंदन से प्रकाशित पत्रिका 'पुरवाई' तथा न्यूयार्क से प्रकाशित 'सौरभ' ने विदेशों में हिंदी पत्रकारिता में चार चांद लगाए हैं। जब अमेरिका में हिंदी का जिक्र आएगा तब डॉ० वेद प्रकाश वटुक, स्व० रामेश्वर अशान्त, स्व० कुंअरचंद्र प्रकाश सिंह तथा 'विश्व विवेक' के संपादक भूदेव शर्मा और 'विश्वा' पत्रिका आदि के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

नार्वे में हिंदी पत्रकारिता के स्तंभों में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद शुक्ल, कैलाश राय एवं लेखक स्वयं हैं। इतना ही नहीं, अन्य पत्रिका 'शान्तिदूत' तथा 'इमीग्रैंट्स टाइम्स' के संपादकों द्वारा हिंदी की पत्रकारिता को नार्वे में स्थापित करने का आधारभूत योगदान रहा। विदेशों में जब तक भारतीय मूल के लोग हैं, हिंदी जीवित रहेगी। अंत में हमें यही कहना है कि यह मत सोचो कि हिंदी ने तुम्हें क्या दिया है, वरन् यह सोचो कि तुमने हिंदी को क्या दिया है।

□

फिनलैंड के हिंदी सेवी

जी० गोपीनाथन

विश्व के अनेक ऐसे हिंदी प्रेमी हैं जो हिंदी के अनुराग में सराबोर रहते हैं। प्रेमचंद जैसे शीर्ष लेखक के 'गोदान' जैसे उत्कृष्ट उपन्यास को अपनी भाषा में अनूदित करना काफी चुनौतीपूर्ण कार्य है। फिनलैंड के हिंदी सेवी बर्तिल तिक्कनेन के हिंदी अनुराग को उजागर कर रहे हैं जी० गोपीनाथन।

फिनलैंड विश्व के सबसे उत्तरी क्षेत्र में स्थित देशों में से है और यहां की भाषा और संस्कृति अन्य यूरोपीय देशों की भाषाओं और संस्कृति से बिलकुल भिन्न है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि यहां की लोक संस्कृति के अनेक तत्त्व हमें भारतीय संस्कृति में मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यहां की फिन्निश भाषा द्रविड भाषा परिवार से भी संबंधित है। मूल रूप से फिन्निश भाषा यूराल परिवार की मानी जाती है। द्रविड और जापानी भाषाओं के साथ यूराल भाषाओं की समानता दिखानेवाले अनेक तत्त्व अनुसंधानकर्त्ता खोज निकालते हैं।

जो भी हो, भारतीय संस्कृति के प्रति फिन्निश लोगों में बड़ा अनुराग दिखाई पड़ता है। पिछले पच्चीस वर्षों से हेलसिंकी विश्वविद्यालय के एशियाई अफ्रीकी संस्थान में संस्कृत के साथ हिंदी भाषा भी पढ़ाई जाती है। इस विभाग में आस्को पार्पोला जैसे भारतविद् हैं जो अपने वैदिक अनुसंधान, सिंधुलिपि का वाचन आदि के लिए प्रख्यात हैं। उनके शिष्य और दक्षिण एशियाई भाषाविज्ञान विशेषज्ञ श्री बर्तिल तिक्कनेन फिनलैंड के एकमात्र हिंदी विद्वान माने जाते हैं। वे इस समय हेलसिंकी विश्वविद्यालय के एशियाई अफ्रीका संस्थान के भारतीय अध्ययन विभाग में दक्षिण

एशियाई भाषाविज्ञान के डोसंट (अनुसंधाता) के रूप में काम कर रहे हैं।

श्री बर्तिल तिक्कनेन का जन्म 26.11.1947 को हेलसिंकी शहर में हुआ। जन्म से वे स्वीडी भाषा-भाषी हैं। उच्चशिक्षा का माध्यम होने से यहां के स्वीडी मूल के लोगों के लिए फिन्निश भाषा भी मातृभाषा के बराबर हो गयी है। सब तरह के वैज्ञानिक विषयों पर फिन्निश भाषा में ही यहां ग्रंथ और लेख लिखे जाते हैं। श्री तिक्कनेन प्रमुख रूप से फिन्निश भाषा में लिखते हैं। उन्होंने संस्कृत तथा तुलनात्मक भारत यूरोपीय भाषाविज्ञान विषय लेकर 1978 में बी०ए० किया और दक्षिण एशियाई अध्ययन विषय लेकर 1980 में हेलसिंकी विश्वविद्यालय से एम०ए० किया। संस्कृत की क्रियार्थक संज्ञाओं के अध्ययन के लिए उन्हें 1988 में हेलसिंकी विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि मिली। सन् 1976 से ही वे तमिल, हिंदी, उर्दू, संस्कृत भाषाओं के अंशकालिक अध्यापक भी रहे। उनका ज्यादातर समय हिंदी, बुरूशुस्की, डोमाकी आदि भाषाओं के अनुसंधान कार्य में व्यतीत होता है। उन्हें दक्षिण एशिया की अनेक भाषाएं आती हैं। हिंदी में वे धाराप्रवाह बोलते हैं।

श्री बर्तिल सन् 1970 से हिंदी का अध्ययन कर रहे हैं। शुरू से ही उन में हिंदी के प्रति लगाव रहा है। जब वे हाई स्कूल के विद्यार्थी थे, तभी से भारत जाने की लालसा से उन्होंने हिंदी पढ़ना शुरू किया। श्री जुनेजा, हरपाल कौर आदि भारतीयों ने उन्हें हिंदी की प्रारंभिक शिक्षा दी थी। विश्वविद्यालय में इन्होंने मुख्य विषय के रूप में संस्कृत तथा उपभाषाओं के तौर पर हिंदी और तमिल सीखी थी। आज भी हेलसिंकी विश्वविद्यालय में यही पाठ्यक्रम चल रहा है। हिंदी का गहन अध्यंयन करने में डॉ० मोहनलाल आदि भारतीय विद्वानों ने भी इनकी मदद की थी। भारत जाकर अध्ययन करने का मौका तो इन्हें नहीं मिला, फिर भी स्वाध्याय जारी रखा और हिंदी में आश्चर्यजनक दक्षता प्राप्त की। विशेषकर हिंदी व्याकरण और भाषाविज्ञान में इनकी मौलिक सूझबूझ सराहनीय है। अनुवाद कार्य भी इन्होंने काफी किया है।

डॉ० तिक्कनेन के दो ग्रंथ फिन्निश भाषा में काफी मशहूर रहे हैं पहला है 'हिंदिन किएलिओप्पि' नाम से प्रकाशित हिंदी का व्याकरण (हेलसिंकी, 1991) और दूसरा है 'प्युहा लेहमा' नाम से प्रकाशित प्रेमचंद के 'गोदान' का अनुवाद। जब उन्होंने फिन्निश विद्यार्थियों को हिंदी और उर्दू भाषाएं पढ़ाना शुरू किया तो उन्होंने देखा कि फिन्निश भाषा में इन दोनों भाषाओं के लिए कोई व्याकरण नहीं है और विद्यार्थी काफी कठिनाई महसूस कर रहे हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए पहले अप्रकाशित रूप में दोनों भाषाओं का व्याकरण विद्यार्थियों और विद्वानों के बीच प्रचारित किया और बाद में दोनों ग्रंथों को फिन्निश प्राच्य विद्या संगठन ने प्रकाशित किया। हिंदी का यह व्याकरण मुख्य रूप से क्षेत्रीय भाषाविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है।

श्री बर्तिल तिक्केन का महत्त्वपूर्ण योगदान प्रेमचंद के 'गोदान' का फिन्निश

भाषा में अनुवाद है। इस अनुवाद में क्लाउस कार्तुनेन नामक अन्य भारतविद् ने भी उनकी मदद की थी। हिंदी से फिन्निश में किया गया यह पहला सीधा अनुवाद था। हेलसिंकी के प्रख्यात प्रकाशक ओट्टवा की प्रेरणा से ही उन्होंने यह अनुवाद किया था। उनके विचार में अपने प्रकाशन काल के छह दशकों के बाद भी 'गोदान' का महत्व एक उपन्यास के रूप में और हिंदुस्तानी समाज के वास्तविक जीवन दस्तावेज के रूप में आज भी अक्षुण्ण है। इस अनुवाद के कुछ अंशों को यहां की हिंदी कक्षाओं में विद्यार्थियों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने का अवसर मुझे मिला। इस अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अंग्रेजी या जर्मन भाषाओं में जो अनुवाद हुए हैं, उनसे भी ज्यादा यह अनुवाद सहज लगता है। उसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय व्यक्ति नामों और स्थान नामों आदि को जैसे हिंदी में लिखते हैं, वैसे ही फिन्निश में लिख और पढ़ पाते हैं। उदाहरण के लिए गोबर को अंग्रेजी में 'गोबार' पढ़ा जाएगा, धनिया को 'धानिया' पढ़ सकते हैं। यह गड़बड़ी इस अनुवाद में नहीं है क्योंकि फिन्निश में दीर्घ स्वर को दीर्घ और ह्रस्व को ह्रस्व लिखा जाता है। दूसरी बात यह है कि यहां की कृषक संस्कृति में 'गोदान' में प्रयुक्त अनेक शब्दों के लिए समतुल्य मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए नजर लगना या टोना-टोटका आदि के लिए लगभग समान शब्द यहां की संस्कृति में मिल जाते हैं। भारतीय जातिनाम अवश्य ही उनको कुछ अजनबी लगते हैं। जहां पूजा आदि शब्द नहीं मिलते, वहां 'ध्यान लगाने का अभ्यास' जैसा व्याख्यात्मक अनुवाद किया है। श्री बर्तिल ने बताया कि हिंदुस्तान के पेड़-पौधों के नाम कहीं नहीं मिले, फिर भी उनके सहयोगी श्री क्लौस कार्तुनेन चूंकि एक वनस्पति विशेषज्ञ हैं इसलिए मूल पेड़-पौधों से मिलते-जुलते या उस वंश के पेड़ों के नाम दिए हैं। प्रेमचंद की ग्रामीण शैली की विशेषताओं को अनुवाद में सुरक्षित रखने के लिए अनुवादकों ने फिन्निश की स्थानीय बोलचाल के रूपों को दिया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह अनुवाद एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इधर अंग्रेजी माध्यम से अनूदित 'गॉड आफ स्माल थिंग्स' आदि उपन्यास फिन्निश में लोकप्रिय हुए हैं तो हिंदी की अच्छी रचनाएं भी पाठकों को पसंद आ सकती हैं। उत्तम अनुवाद ही इसका उपाय है।

अन्य अनेक भाषा वैज्ञानिक कार्य करते रहने के कारण श्री बर्तिल इधर हिंदी से संबधित बहुत कम काम करते रहे हैं। हां, कुछ हिंदी कहावतों का अनुवाद उन्होंने एक फिन्निश ग्रंथ के लिए अवश्य किया था। उनके अनुसार इस क्षेत्र में काफी संभावनाएं है। लेकिन कठिनाई यह है कि दो या तीन साल तक संस्कृत के साथ-साथ तक उप-ऐच्छिक भाषा के रूप में हिंदी सीख़नेवाले बहुत कम विद्यार्थी आगे हिंदी विषय लेकर अध्ययन करते हैं। यहां के कुछ विद्यार्थी अपना हिंदी का ज्ञान आदिवासियों की भाषाएं पढ़ने में इस्तेमाल करते हैं। उदाहरण के लिए क्रिस्तीना लिंडी नामक छात्रा कोर्कु भाषा का अध्ययन कर रही है, यद्यपि उसका हिंदी का ज्ञान काफी अच्छा माना जाता है।

हन्ना मान्निला नामक एक छात्रा भी आगरा में हिंदी पढ़ आयी, लेकिन वह अभी लंदन में अध्ययन करेगी। यूहा लौलानिन, हन्ना वेसलीनन जैसे कुछ अच्छे छात्र हिंदी का ज्ञान रखते हुए भी कुछ अन्य भाषाओं और विषयों का अध्ययन कर रहे हैं। असल में यह यहां के विद्यार्थियों की एक आम प्रवृत्ति लगती है। विद्यार्थी हिंदी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त करके अन्य भाषाएं या विषय अपने हिंदी ज्ञान के सहारे पढ़ना चाहते हैं। इसलिए किसी ने भी हिंदी मुख्य विषय लेकर अभी तक यहां से एम०ए० नहीं किया है, और न हिंदी शोध के लिए किसी विद्यार्थी को छात्रवृत्ति मिली है। श्री बर्तिल आशावान हैं कि आगे कुछ विद्यार्थी हिंदी मुख्य विषय लेकर पढ़नेवाले भी होंगे फिनलैंड में।

□

हिंदी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौंदर्य इसमें लाना चाहिए। हिंदी ही हमारे एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है।

डॉ० कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

मजरिस्तान में पांच साल

असग़र वजाहत

'इन्ना की आवाज़' जैसे चर्चित नाट्यकार, हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार का अनुभव—हिंदी अध्यापन के बारे में। संक्षिप्त टिप्पणी, मगर भरपूर।

'बूज़ा विराग' यानी गेहूं के फूल नामक पहाड़ियों वाले इलाके में स्थित भारतीय राजदूतावास में लोगों का आना जारी है। शाम के साढ़े पांच बजे हैं, आकाश पर घने बादल छाए हैं और सड़क पर बर्फ की सफेद चादर तनी है। पेड़ों की डालियां बर्फ के बोझ से झुक गयी हैं और कंपकंपा देने वाली ठण्डी हवा लगती है हर चीज को चाकू की तरह काटती, बह रही है। हाल में ही हंगरी आए भारतीय राजदूत महामहिम एस०जे० सिंह के कमरे की खिड़की से नीचे का दृश्य साफ दिखाई पड़ रहा है। दूतावास द्वारा आयोजित हिंदी कक्षाओं तथा भारत पर आधारित व्याख्यानमाला में हंगेरियन लोगों के आने का तांता लगा देखकर राजदूत महोदय मुझसे पूछते हैं कि भारत में हंगेरियनवासियों की रुचि का क्या कारण है? यह सवाल मुझसे पहले भी पूछा जा चुका है और मैंने इसका उत्तर भी दिया है। लेकिन हर बार यह सवाल मुझे कुछ और सोचने पर विवश कर देता है।

1992 में जब मैं आई०सी०सी०आर० द्वारा बुदापैश्त के ओत्वोश लोरान्द विश्वविद्यालय के भारोपीय अध्ययन विभाग में हिंदी पढ़ाने के लिए भेजा गया था तो यह अनुमान न था कि हंगेरियनवासी हिंदी और भारत में इतनी अधिक रुचि लेते होंगे। विभाग की हिंदी प्रोफेसर डॉ० मारिया नेज्यैशी सब कुछ एक साथ बता देने वाली महिला नहीं हैं। इस कारण उन्होंने इतना ही कहा था कि 'पढ़ाइए और स्वयं

देखिए।' विभाग में ही पता चला था कि हिंदी पढ़ने के लिए केवल उन छात्रों को ही प्रवेश दिया जाता है जो पहले वर्ष में बहुत अंक प्राप्त करते हैं—अर्थात् विश्वविद्यालय या संकाय के श्रेष्ठ छात्र ही हिंदी-संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं। पांच साल तक बुदापैश्त में हिंदी पढ़ाते हुए भी यही लगा कि विश्वविद्यालय के चुनिन्दा छात्र ही विभाग में आते हैं। हंगेरियनवासियों के हिंदी-प्रेम के अन्य कारणों में एक यह भी है कि हंगेरियनवासी मूलत: एशिया से यूरोप के उस भू-भाग में जाकर बसे थे। वे भारत को अपना पुराना पड़ोसी मानते हैं। उनका संबंध पूर्व से न केवल प्राचीन है बल्कि इस पर वे गर्व भी करते हैं। तुर्की भाषा में हंगरी के लिए जो शब्द है वह भारतीय संवेदना से मेल खाता शब्द है—'मजरिस्तान'। हंगेरियन भाषा में हंगरी को 'मजर' कहते हैं। उसी से मजरिस्तान शब्द बना है।

भारतीय भाषाओं तथा ज्ञान में हंगेरियनवासियों की रुचि सैकड़ों साल पुरानी है। भारतीय क्लासिकी साहित्य का अनुवाद पिछली कई शताब्दियों से किया जा रहा है। हंगेरियन भारतविद् अंतरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान रहे हैं और हैं। भारोपीय अध्ययन विभाग के वर्तमान अध्यक्ष प्रोफेसर तत्तोशी चाबा संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित हैं जो संस्कृत तथा अन्य क्लासिकी यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों में अग्रणी माने जाते हैं।

बुदापैश्त में पांच साल तक हिंदी पढ़ाते हुए यह भी लगातार लगता रहा कि भाषा तो दरअसल भारत तक पहुंचने का एक माध्यम है हंगेरेयिन लोगों के लिए। वे वास्तव में भारतीय इतिहास, समाज और प्राचीन संस्कृति में इतनी गहरी रुचि रखते हैं कि सैकड़ों खतरे और कठिनाइयां उठाकर भी भारतीयता की खोज करते रहते हैं। यह कोई नई प्रवृत्ति नहीं है। ओत्वोश लोरान्द विश्वविद्यालय का भारोपीय अध्ययन विभाग ही लगभग एक सौ बीस वर्ष पुराना है जबकि अनौपचारिक रूप से संस्कृत की पढ़ाई-लिखाई तो उससे भी पहले से जारी है।

भारतीय दूतावास और विदेश मंत्रालय हंगरी-भारत मैत्री के सबसे पक्के सूत्र—हिंदी के महत्त्व से भली-भांति परिचित हैं। यही कारण है कि बुदापैश्त का भारतीय दूतावास न केवल भारोपीय अध्ययन विभाग के लगातार संपर्क में रहते हुए हर तरह का सहयोग प्रदान करता है बल्कि दूतावास में हिंदी पढ़ाने का भी प्रबंध है। वास्तव में इन प्रयासों को अधिक गति देने की आवश्यकता महसूस की जाती रही है।

अपने हंगरी-प्रवास के दौरान मैं जगह-जगह, तरह-तरह के लोगों से मिला, जीवन-भर याद रखे जाने वाले अनुभव हुए, प्रकृति की अपूर्व देन से संपन्न हंगरी के प्रत्येक भाग को देखा और हर अनुभव ने इस विश्वास को पुख्ता किया कि हंगेरियन जीवन में भारतीय संस्कृति का विशेष स्थान है।

□

हिंदी
रचना खण्ड

अगली सदियों की खैरियत के लिए

कमलेश्वर

हिंदी के शीर्षस्थ कथाकार कमलेश्वर पिछले लगभग एक दशक से एक उपन्यास लिख रहे हैं 'कितने पाकिस्तान'। यह उपन्यास उस भारतीय चिंता को रेखांकित करता है जो पुरानी सभ्यताओं के टूटने से उत्पन्न, नई इंसानपरस्त सभ्यताओं की स्थापना और विकास की स्थिति से सन्नद्ध है। दुर्भाग्य से इस विकास में धर्मांधतावादी शक्तियों का वर्चस्व बढ़ता नजर आता है। दुनिया का कोई भी देश इतिहास और संस्कृति का शून्य पैदा करके कैसे जिएगा, यह एक जटिल प्रश्न है जिसे हर दिन पैदा किया जा रहा है। इस अंश में उपन्यासकार की यह प्रश्नाकुलता सहज ही देखी जा सकती है। इस उपन्यास के लिखने का ढंग भी अत्यंत दुर्गम है जिससे जूझ पाना कमलेश्वर जैसे समर्थ कथाकार के ही वश का है। 'गगनाञ्चल' को इस उपन्यास का अंश छापने का पहला सम्मान प्राप्त हो रहा है।

अर्दली जब लौट कर आया तो अदालत अपने कानों में रूई ठूंसे और आंखें बंद किए बैठी थी। कुछ देर अर्दली परेशानी में टहलता रहा, उसने जेब से सिगरेट निकाल कर पी, पर अदालत को टोकने की उसकी हिम्मत नहीं हुई।

आखिर, बड़ी खामोशी से उसने 'याद' नाम की एक परछाईं को अदालत के सामनेवाली कुर्सी पर बैठा दिया था।

कुछ देर बाद अदीब ने गहरी सांस लेकर आखें खोलीं, तो सामने बैठी यादों की परछाईं को न पहचानते हुए उसने पूछा—"आप?"

"जी, मैं! आपने शायद मुझे तलब किया है, अर्दली मुझे लाया है।"

"कहां, पाकिस्तान से?"

"जी नहीं, आपने फिर मुझे ग़लत समझा...यही ग़लती आपने लाहौर एयरपोर्ट पर भी की थी...तब भी आपने मुझे पाकिस्तानी समझा था...और मैंने आपको बताया था कि मैं पाकिस्तानी नहीं, हिंदुस्तानी हूं।"

"इंसान और इंसान की कुदरती पहचान के बीच में यह हिंदुस्तान और पाकिस्तान, सीरिया और लेबनान कहां से आ जाते हैं?"

"मुझे क्या मालूम...यह तो सुकरात से लेकर आज तक चला आ रहा है।"

"ख़ैर! सुकरात से मैं बात करूंगा लेकिन आप यहां क्यों हाजिर हुई हैं?"

"मुर्दों के बीच रहते-रहते क्या आप जिंदगी को पहचानना भी भूल गए?"

अदीब ने विश्वास न करने के अंदाज में उसे देखा।

"क्या आप मुलाकात वाली बात भूल गए?...और यह भी आप भूल रहे हैं कि आपने मुझे अपने अर्दली से तलब किया है...याद कीजिए, जब आप लाहौर से कराची जा रहे थे। आपको चीन जाना था और वह सीधी उड़ान कराची से मिलती थी...मुझे भी कराची जाना था, और एक ही उड़ान का इंतजार करते-करते हम और आप बातें करने लगे थे..."

"ओह सलमा!" अदीब उस परछाईं को पहचान कर एकाएक चीख-सा पड़ा। अर्दली भी सकते में आ गया। अदीब उसे देखता रहा! फिर बोला—"हां, मुझे अब सब याद आ गया...मैंने ही तुमसे तब पूछा था— कराची में आपके रिश्तेदार होंगे..."

"जी नहीं, रिश्तेदार तो ज्यादातर पटना में हैं...और शायद आपको पता हो कि पटना मेरे मुल्क हिंदुस्तान का एक शहर है...कराची में मेरे ज्यादा रिश्तेदार नहीं हैं। और फिर मुझे आगे जाना है क्वेटा! मैं दो-एक दिनों के लिए कराची के किसी होटल में ही ठहरूंगी..."

"किस होटल में?"

"शायद हॉलिडे इन में! वही मुझे पसंद है।"

"तब तो शायद कल नाश्ते पर मुलाकात हो सके! मैं भी उसी होटल में ठहर रहा हूं! एयरलाइन वाले वहीं ठहरा रहे हैं।"

"इंशाअल्लाह..."

तब तक एयरपोर्ट पर कराची वाली फ्लाइट का एनाउंसमेंट होने लगा था।

"मैं एक मज़ा दिखाऊं?" सलमा बोली थी।

"क्या?"

"यही कि मैं साड़ी पहने हुए हूं, और देखिए कि लाहौर एयरपोर्ट के ये लोग हिंदुस्तानी औरतों से किस तरह पेश आते हैं! ये लोग औरतों को बहुत परेशान करते हैं, हिंदुस्तानी औरतों को तो खास तौर से ..."

कहते हुए सलमा काउंटर की ओर बढ़ गई। पाकिस्तान एयरलाइंस वाले ने पहले तो उसे घूरकर देखा और टिकट देखने से पहले सवाल किया।

"कितनी साड़ियां, ब्लाउज़ और ब्रेज़ियर्स आप लाई हैं?"

"कस्टमवालों की जिम्मेदारी आप क्यों निभा रहे हैं? उन्हें जो जरूरत होगी, पूछ लेंगे..." सलमा ने कहा था।

"कितने पेटीकोट और पैंटीज़ हैं आपके सामान में और कितने दिन रुकेंगी आप पाकिस्तान में ?"

"यह सवाल भी कस्टमवाले पूछेंगे या मेरा पासपोर्ट जांच कर मालूमात हासिल कर लेंगे। आप टिकट देखिए और मुझे सीट दीजिए।" सलमा तल्खी से बोली थी।

इस बीच वह कनखियों से अदीब को देखती भी रही थी। काउंटरवाले ने उसकी इस हरकत को देख लिया था, पूछने लगा—"वो साहब आपके साथ हैं?"

"इससे आपको क्या लेना-देना?" सलमा बोली थी।

"जी! कहते हुए उसने सलमा का टिकट ड्रायर में डाला और उठकर पीछे की तरफ चला गया। सलमा को भी ताज्जुब हुआ कि आखिर यह आदमी चाहता क्या है और सोचने लगी कि ख्वामखाह उसने मज़ाक-मज़ाक में अपने लिए शायद मुश्किल पैदा कर ली है।

तभी वो काउंटरवाला एक पुलिस इंस्पैक्टर को लेकर लौटा जो शायद सलमा से सवाल जवाब करने के लिए खासतौर से लाया गया था। सलमा सहम-सी गई कि तभी उस पुलिस इंस्पैक्टर ने उसे करीब-करीब पहचानते हुए कहा— "माफ कीजिएगा...आप...आप..."

"जी, शायद आप मुझे ठीक ही पहचान रहे हैं।" सलमा की जान में जान आई—"मैं सीएसपी के जनाब आफताब अहमद की..."

"आफताब अहमद साहब...अरे वह तो हमारे "

"जी! मैं उनकी नातिन हूं और हिंदुस्तान में रहती हूं! वो मेरे नाना हैं।" सलमा ने कहा।

तब इंस्पैक्टर कुछ नाराज-सा होकर काउंटरवाले से बोला—"पहले मुसाफिर को ठीक से देख लिया करो...समझे!" इतना कहकर वह चला गया।

हालांकि काउंटरवाला मुतमइन नहीं हुआ था पर उसने शायद यही सोचा कि जब पुलिस ही अपना काम नहीं करना चाहती, तो मैं उसका काम क्यों करूं? और उसने बोर्डिंग कार्ड सलमा के आगे बढ़ा दिया।

उसके बाद सलमा उसे जहाज में ही मिली और उसके क्वेटा जाने तथा उसके

बीजिंग उड़ जाने से पहले की उनकी मुलाकात कराची के होलिडे इन के रेस्तरां में सुबह नाश्ते पर हुई।

नाश्ते के वक्त कुछ अनहोनी घटनाएं हुईं। वह जब रेस्तरां में पहुंचा, तो सलमा वहां पहले से मौजूद थी। उसने सलमा को देखा तो एकाएक देखता ही रह गया। शायद किसी ऐसी ही, हू-ब-हू ऐसी ही औरत को देखने की उसकी तमन्ना न जाने कितने बरसों से अधूरी पड़ी थी, और आज पूरी हुई थी। मन में छुपी हुई कोई बात जब एकाएक पूरी होती है तो आदमी का मन असमंजस में पड़कर बहुत सकुचाने लगता है... सपना इस तरह सामने आ जाए तो यही होता है। और फिर रात जो सपना उसने देखा था, वह थी उसकी याद में उलझा हुआ था... उस सपने में उसने सलमा को पंजाबी लिबास में देखा था और सलमा हू-ब-हू उसी लिबास में सामने थी... वह जैसे कुछ बोल ही नहीं पा रहा था। पर सलमा ने सारी स्थिति को बहुत सहज बना दिया था—"आइए, तशरीफ लाइए। मुझे उम्मीद थी कि आपके चीन जाने से पहले हमारी एक और मुलाकात ज़रूर होगी!"

वह सकुचा गया था। यही सब तो वह भी चाह रहा था...तब तक बेयरा आया और उसने नाश्ते का आर्डर दिया— 'मेरे लिए तो कार्नफ्लेक्स ब्रेडस्लाइस पर फ्राइड एग्ज़...और चिली सॉस! भई माफ करना, मुझे चिली सॉस बहुत पसंद है''... उसने सलमा की ओर देखा कर पूछा, "और आप?"

तो सलमा ने बताया कि वह अपना आर्डर पहले ही दे चुकी है।

दोनों का नाश्ता साथ ही आया और पहली अनहोनी सामने आई!

दोनों का नाश्ता एक ही था। वही कॉर्नफ्लेक्स, वही फ्राइड एग्ज़, स्लाइसों पर नहीं तो टोस्ट मक्खन आता है और वही चिली सॉस, जो नाश्ते पर होता ही नहीं।

"लगता है, यहां एक ही नाश्ता मिलता है! आपका नाश्ता भी वही आया है जो...मेरा!" उसने कहा था।

"जी नहीं, यह इत्तफाक की बात है कि मैंने भी बिल्कुल वही आर्डर दिया था, जो आपने दिया!" सलमा बोली थी।

"चिली सॉस भी!...यह तो मैंने खासतौर से बोला था।"

"जी हां, मैंने भी बोला था। मुझे भी, न जाने क्यों फ्राइड एग्ज़ के साथ चिली सॉस का हल्का-सा टच बहुत पसंद है!" सलमा ने कहा, "और शायद आपको भी...हैरत की बात है।" और हमारे बीच तब एक अजीब-सा सन्नाटा छा गया था। कहीं कुछ एक होने का सन्नाटा, या इस इत्तफाक का सन्नाटा। काफी देर हमारे बीच खामोशी रही, फिर सलमा ही बोली थी— "अजीब है कि आज रात मैंने एक डरावना-खुशनुमा-सा सपना देखा! वैसे मैं अकसर सपने नहीं देखती... शायद याद नहीं रह जाते होंगे, पर यह सपना याद भी रह गया।"

"क्या सपना देखा आपने ?"

पूछते हुए वह कुछ कुछ सहमा-सा था कि कहीं इस नाश्ते की पसंद की तरह सपना भी...सपना भी एक-सा ...कहीं...एक-सा... क्योंकि उसने सपने में देखा था कि लाहौर से कराची आनेवाला उसका जहाज किसी हादसे की वजह से एक रेगिस्तान में उतर पड़ा था और रेत की लहरों से टकराता हुआ, एक जगह आकर ऐसे रुक गया था, जैसे जहाज ने लैण्ड किया हो और सारे पैसिंजर्स सेफ थे। वह मन ही मन अपने सपने को याद करके चुपचाप सलमा को देखने लगा।

"जी, देखा यह कि..." सलमा ने बताया, "लाहौर से कराची आनेवाला हमारा जहाज किसी हादसे की वजह से एक रेगिस्तान में उतर पड़ा है..."

उसका सांस-सी रुकने लगी थी कि सलमा यह कौन-सा सपना सुना रही है, पर वह आगे बता रही थी—"जी, और हुआ यह कि जहाज रेत की लहरों से टकराता हुआ, एक जगह जाकर ऐसे रुक गया जैसे उसने लैण्ड किया हो...और ताज्जुब की बात यह कि सारे पैसिंजर्स सेफ थे! था न डरावना और खुशनुमा सपना?" सलमा इतना बता कर कॉफी पीने लगी।

उसकी सांस तो अब लगभग रुक ही गई थी। उसने भी कॉफी का एक घूंट लिया था फिर बड़ी मुश्किल से बोला था— "सलमा जी! अब मैं कैसे बताऊं कि यही, बिल्कुल यही...हू-ब-हू यही सपना मैंने भी" आगे वह कुछ कह नहीं पाया था।

दोनों अपनी-अपनी कॉफी पीते बैठे रहे थे...और सोचते रहे थे कि क्या यह कभी सचमुच मुमकिन हो सकता है कि दो अलग-अलग लोग, दो अलग-अलग कमरों में बिल्कुल एक-सा सपना, एक ही रात में देखें। यह तो अनहोनी बात थी। एक ऐसी बात जो कभी नहीं होती, जो शायद कभी हो नहीं सकती।

सलमा ने उसे देखा, जैसे कि कहीं एक-सा सपना देखने की बात वह किसी खास मसलहत से तो नहीं कह रहा है। पर वह सोचने लगी थी कि जो दो लोग घंटे दो घंटे बाद अलग रास्तों पर जाने वाले हों, जो दो लोग पहली बार यूं ही अकस्मात मिल गए हों और जो दो लोग अगली जिंदगी में शायद कभी न मिलने वाले हों, वे एक दूसरे से झूठ बोलकर क्या पायेंगे, या क्या खोएंगे... उनके बीच सिवा सच बोलने के अलावा हो ही क्या सकता है...झूठ की वहां कोई जगह थी, न ज़रूरत...

काफी देर तक वह दोनों खामोश ही बैठे रहे—एक से सपने बीच में कुछ ऐसे अटक गए थे कि मामूली बातों का सिलसिला ही खत्म हो गया था।

फिर भी महज़ कुछ बात करने की खातिर उसने सलमा से पूछा था— "क्या आप शुरू से हिंदुस्तानी हैं?"

"मतलब?"

"यही कि... आप हिंदुस्तान में पैदा हुई थीं?"

"हां... यही सच है, पर सच यह भी है कि मैंने अपनी मां की कोख में जनम लिया पाकिस्तान में, पर मैं पैदा हुई हिंदुस्तान में... असल में हम बिहार के रहने वाले

हैं...वहां की एक छोटी-सी रियासत के...मेरी नानी वहीं हैं और जिंदा हैं...पर मेरे नाना काफी पहले यहां सिंध में चले आए थे। तब हिंदुस्तान एक था। मेरे वालिद और मां भी उन्हीं के साथ यहां आ गये थे। फिर पाकिस्तान बनते ही...मेरे नाना, एक तरह से कहें, तो मोहाजिर बन गए...और अब भी उन्हें बिहार याद आता है तो कहते हैं कि हमारा मुल्क पाकिस्तान हो गया, लेकिन वतन तो हिंदुस्तान ही है...हमारी यादें तक हिंदुस्तानी हैं...नाना यहीं हैं क्वेटा में। मैं उन्हीं से मिलने जा रही हूं। वे बिहार को याद करते हैं, हम सब उन्हें याद करते हैं''

''लेकिन यह तो पहेली है कि आप ने अपनी मां की कोख में जनम लिया पाकिस्तान में और आप पैदा हुईं हिंदुस्तान में...!''

''पहेली कैसी? जब पार्टीशन हुआ, तब मैं अपनी अम्मी की कोख में थी। उस वक्त बिहार में भयानक दंगे चल रहे थे। मुसलमानों का क़त्लेआम हो रहा था... पर अब्बा और अम्मी नहीं रुके...नाना ने उन्हें बहुत रोका, पर वे यही बोले कि नानी बिहार में अकेली हैं...और फिर यह भी कि कुछ भी हो, हम अपना घर और वतन नहीं छोड़ सकते!''

अदीब ने उसे आश्चर्य से देखा, फिर धीरे से अटक-अटक कर कहा—''यह तो अजीब बात है कि जब लाखों मुसलमान हिंदुस्तान छोड़ कर पाकिस्तान आ रहे थे तब आप के अब्बा और अम्मी ने...मुसलमान होते हुए भी... हिंदुस्तान जाने का फैसला किया...दो मुसलमान...

''नहीं....नहीं... तीसरी मैं! अम्मी की कोख में मैं भी तो थी... अदीब! तुम मुसलमान की इस रूहानी तकलीफ को नहीं समझ सकते। अगर तुम हिंदू हिंदुस्तान के कदीमी बाशिंदे हो तो हम भी तो यहीं की कदीमी औलादें है... हम मुसलमान हो गए तो क्या हुआ...मज़हब बदलने से मिट्टी तो नहीं बदल जाती!''

अदीब ने सलमा को गहरी नज़रों से देखा।

''क्यों? आप इस तरह मुझे क्यों देख रहे हैं? मैंने अपने खानदान में बहुत सी मौतें देखी हैं। जब मौत आती है तब किसी को काबा याद नहीं आता, अपना घर याद आता है! मै तो यह कह ही रही हूं, यकीन न हो तो पूछिए जाके किसी भी मुल्क के मुसलमान से! यहां तक कि रियाद और तेहरान में रहने वाले मुसलमान से ....खुदा का घर सब के लिए है लेकिन अपनी मौत के वक्त सिर्फ़ अपने घर-गांव का घर अपना होता है! यही आख़िरी सच है! स्पेन, तुर्की, मिस्र, इंदोनेशिया या कहीं का भी मुसलमान अपने वतन की सरजमीं पर मरना चाहता है।''

''लेकिन...''

''लेकिन क्या? तुम आर्यों ने खुद अपने मज़हब को सीलबंद करके तोड़ा है।''

''यह तुम कैसे कह सकती हो सलमा?''

''तुम्हारे ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर!... तुमने अपना वर्णाश्रम धर्म बना लिया

था...हर बच्चा मां के पेट से पैदा होता है, पर तुम्हारे ब्राह्मणों और उनके ग्रंथों ने मां की कोख का अपमान करते हुए मनुष्य को ब्रह्मा के अलग-अलग अंगों से पैदा करने का सिद्धांत पैदा किया...आज के शब्दों में कहूं तो तुम्हारे ब्राह्मणों ने अपना पाकिस्तान बना लिया...''

अदीब सकते में आ गया। उसके पास कोई उत्तर नहीं था।

''और तब!'' सलमा बोली तो अदीब ने उसे गौर से देखा।

''और तब तुम्हारे उपनिषदों ने इंसानी मूल्यों और सम्पदा को बचाने का प्रयास किया...''

अदीब ने अकुलाते हुए फिर उसे परेशानी से देखा।

''तुम्हारे उपनिषद और कुछ नहीं... वे ब्राह्मणवादी अत्याचारों, वर्णवादी अनाचारों और ईश्वरवादी आस्था को स्थापित करनेवाले पश्चाताप के ग्रंथ हैं...उन्होंने तुम कुलीन आर्यों को ज़रूर संभाला, पर वे विश्व के बदले हुए मानसिक मानचित्र को नहीं संभाल सके...दुनिया की सच्चाइयां बदल गई थीं पर तुम आर्य इन बदली हुई सच्चाइयों को आत्मसात नहीं कर पाए! यही तुम्हारे पराभव का कारण है! धर्म के आधार पर संस्कृतियां बनती हैं...पर कालांतर में वे धर्म से मुक्त होकर मानव-संस्कृतियों में तब्दील हो जाती हैं...पर तुम और तुम्हारे लोग बार-बार संस्कृति को धर्म की ओर खींचते रहे...''

''इसका मतलब यह तो नहीं कि बाद के इक़बाल और सर सैय्यद अहमद खां ने जो रंग अख़्तियार किया, वह ठीक था?''

''कौन कहता है कि यह ठीक था!... लेकिन यह बदलाव तब आया था जब लोकमान्य तिलक ने आज़ादी के आंदोलन को गणपति उत्सव से जोड़ कर इसे आज़ादी का हिंदू आंदोलन बना दिया था...''

''लेकिन गांधी जी ने आकर इस ग़लती को सुधारा भी तो था!''

''तब तक बहुत देर हो चुकी थी। दिल तकसीम हो चुके थे!'' वे दोनों खामोशी से एक दूसरे को देखने लगे।

तब सलमा ने फिर खामोशी को तोड़ा था—''उसके बाद के इतिहास को देखो अदीब!... हुआ क्या? यह ठीक है कि गांधी जी ने सब संभाला, पर तब तक अंग्रेज इस सच्चाई का फायदा उठा चुका था...और देखो न, बाद में क्या हुआ? लोकमान्य तिलक ने अंतत: सारे हिंदूवादियों को जन्म दिया...सावरकर जैसे क्रांतिकारी हिंदूवादी हो गए। गांधीजी की हत्या की गई... तो गांधी, नेहरू, पटेल, मौलाना आज़ाद के रहते हुए भी मुसलमानों के लिए उम्मीद बची ही कहां थी...दिलों में शक बैठ गया था कि सत्ता मिलते ही धीरे-धीरे नेहरू का सेक्यूलरिज़्म मूर्छित होता जाएगा और मूर्छित हिंदुत्व होश में आ जाएगा!''

''तो क्या इसीलिए संदेहग्रस्त मुस्लिम दिमाग़ ने मुगलों के बाबर और तैमूर

चंगेज़ खां जैसों से अपना रिश्ता जोड़ा था?''

''तो संदेहग्रस्त मुस्लिम दिमाग और क्या करता? अंग्रेजों के हाथों में तो दुधारी तलवार आ ही गई थी...वे भला क्यों चूकते...और यह मत भूलिए अदीब कि मध्यकाल के सारे आक्रांता साम्राज्यवादी थे, वे धर्म के प्रचारक और प्रवर्त्तक नहीं थे...मंगोल चंगेज़ खां तो मुसलमान भी नहीं था। तब इसलाम ही नहीं था। वह तो बौद्धों से भी पहले के शायानी धर्म का मूर्तिपूजक था!''

''आपको हिस्ट्री की बहुत जानकारी है!'' उसने नाश्ता खत्म करते हुए सलमा से कहा!

''आखिर मैं हिस्ट्री की स्टूडेंट रही हूं...उसी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में, जहां से आप अदीब बनके निकले हैं...और एक खास बात कहूं?''

''कहिए!''

''जिन्ना साहब ने इतिहास नहीं बनाया था, इतिहास ने जिन्ना साहब को बनाया था! अपने इतिहास से सबक लीजिए। उसकी देग़ को मज़हब के चूल्हे पर मत चढ़ाइए...नहीं तो फिर वही हाल होगा जो तकसीम के साथ हिंदुस्तान का हुआ और आज पाकिस्तान का हो रहा है!''

उसे आश्चर्य हुआ कि सलमा इतना खुलकर कैसे बोल पा रही थी और वह भी कराची पाकिस्तान में बैठ कर। गनीमत यही थी की उस उक्त उनकी नाश्ते की मेज़ के आस-पास उसके अलावा और कोई सुनने वाला नहीं था।

तभी...

तभी कहर-सा बरपा हुआ...दस्तकों की आवाज से उसका वजूद थरथराने लगा...सलमा भी सामने नहीं थी। अदीब एकाएक चीखा—''अर्दली! मैं कहां हूं?''

''हजूर आप अपनी अदालत में हैं!''

''अदालत में! क्या कह रहे हो तुम...? मैं तो कराची के हॉलिडे इन होटल के रेस्तरां में बैठा हुआ था और सलमा से बातें कर रहा था...''

''हजूर...आपकी यादों की परछाईं का नाम क्या है, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर आपके हुकुम की तामील करते हुए उस परछाईं को मैंने ही आपके सामने पेश किया था...'' अर्दली बेहद अदब से बोला।

तब तक दस्तकें और चीखना-चिल्लाना फिर तेज हो गया था। अदालत ने हुक्म दिया—''फरियादी को पेश किया जाए।''

अपनी छाती पीटती शाहीन सामने हाजिर हुई!

''तुम कौन हो?''

''शाहीन!''

''कहां से आई हो?''

"बम्बई! हिंदुस्तान के कब्रिस्तान से..."

"क्या हुआ है तुम्हें?"

"बाबरी मस्जिद ढहाने के बाद से पूरा हिंदुस्तान जल उठा है...बम्बई में तो हैवानियत का ज़लज़ला आ गया है...मैं कब्र में पड़ी सो रही थी, मुझे भी नहीं बख्शा गया...मुझे मेरी कब्र से बेदखल कर दिया गया...कयामत के दिन मेरा फैसला होना है, पर अब बेदखल होने के बाद मेरे पास उस दिन का इंतजार करने के लिए कोई जगह नहीं है, इसलिए आपके पास हाजिर हुई हूं!"

"लेकिन यह अदालत है, कब्रिस्तान नहीं!"

"हिंदुस्तान में अब सिर छुपाने की जगह भी बाकी नहीं है, इसीलिए मैं पनाह लेने यहां आई हूं!"

"पर तुम तो इतनी कमसिन हो...क्या हक था मौत को कि वह तुम्हें खींचकर कब्र तक ले गई..?" अदालत ने भौहे टेढ़ी करके जानना चाहा।

"मौत ने मेरे साथ कोई ज्यादती नहीं की, मैंने खुद मौत को बेहतर समझा था!" शाहीन ने कहा।

"लेकिन क्यों?"

"इसलिए कि तब तक पाकिस्तान बन चुका था...और मैं पाकिस्तान नहीं जाना चाहती थी!"

"तो तुम्हें कुछ दरिंदों ने दंगों के दौरान मार डाला?"

"नहीं...मेरी मौत की कहानी बिलकुल अलग है आला हुजूर...जब मुल्क तकसीम हुआ..."

अभी अदालत ने यह जुमला सुना ही था कि बरसों-बरस लौटकर आने लगे और लहूलुहान सन् सैंतालीस सामने आकर खड़ा हो गया...

और उसी के साथ ऊपर आसमान से गिद्धों के झुण्ड उतरने लगे, जिससे अंधियारा छा गया...पंजाब से लेकर आसाम तक की नदियों का पानी खून से लाल हो गया... और अनगिनत लाशें जशन मनाते हुए पैशाची नृत्य करने लगीं...अधमरे और घायल लोग वहशत, दहशत और हैवानियत के शिकार होकर चीखने लगे। लाशों और घायलों के सीनों पर चढ़कर उधर आज़ाद पाकिस्तान का और इधर आज़ाद हिंदुस्तान का झण्डा फहराने लगे...

तभी कुछ-कुछ आवाजें आने लगीं, कौन क्या कह रहा था, कुछ पता नहीं चल रहा था। पर उन आवाजों में से पस्ती और खौफ बोल रहा था...ये आवाजें बिजलियों की तरह कड़क रही थीं और अंदीब के दिमाग पर कोड़ों की तरह बरस रही थीं—

—हिंदुस्तान की कौमी तकदीर एक है...तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा। और आज़ादी का लालक़िला मोहब्बत की बुनियाद पर खड़ा होगा... नफरत की बुनियाद पर नहीं।

—पाकिस्तान एक नफरत का नाम है।

—मुझे यह मंजूर नहीं !!!

—मैं अब भी कहता हूं...मजहब से क़ौम नहीं बनती...एक खून और एक तवारीख से क़ौम बनती है!

—अगर मजहब से क़ौम की शिनाख्त पैदा करोगे तो यह सारी दुनिया टुकड़ों में बंट जायेगी...

—अरे कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना सुनो, तुम खुद पश्तूनों, पंजाबियों, बलूचियों, सिंधियों, बंगालियों और मुहाजिरों को नहीं संभाल पाओगे... ये आपस में लड़ मरेंगे...

—मजहब काम नहीं आएगा...तब तहजीब, तवारीख और इन नसों से बहता खून ही काम आएगा, जो क़ौम की असलियत को तय करेगा!

आवाजें लगातार ऊंची और कर्कश होती जा रही थीं...अदीब कुछ समझ ही नहीं पाया, तो उसने अर्दली को आवाज दी—"इन आवाजों का पता करो...यह मेरे काम में खलल डाल रही हैं!"

अर्दली भागा-भागा गया और फौरन ही मालूम करके वापस आया—"हुजूर ये आवाजें पांच-छह बौराये हुए लोगों की हैं।"

"कौन हैं ये पांच-छह?"

"हुजूर! ये दुनिया को पागलपन से बचाते-बचाते खुद भी..."

"अजीब लोग हैं..."

"जी हां हुजूर...अब ऐसे लोग इस दुनिया में नहीं मिलते...अगर मिलते होते तो सोवियत यूनियन नहीं टूटता, यूगोस्लाविया में बोस्निया के मुसलमानों का कत्लेआम न होता, सोमालिया में लोग और बच्चे बरसों-बरस अकाल से न मरते! और चार सौ फिलिस्तीनी इसराइल की सरहद पर भूख, ठण्ड और मौत का इंतजार न कर रहे होते... उन्हें इसराइली इस बर्बरियत से मौत के मुंह में न खदेड़ देते!"

अदीब हंसा—"तो तुम इस अदालत की अर्दलीगीरी करते-करते बहुत समझदार हो गए हो...लेकिन ये लोग आखिर हैं कौन?"

"हुजूरे आला... इन बौराये हुए लोगों के जो नाम मैं पता करके लाया हूं, वो हैं..." कहते हुए अर्दली ने अपनी याद की पट्टी पर दस्तक दी—"जी हां...इनमें सबसे बड़ा नाम है—महात्मा गांधी, दूसरा है— नेताजी सुभाष चंद्र बोस, तीसरा है— भगतसिंह, चौथा है—खान अब्दुल गफ्फार खां और पांचवा है— नेहरू और छठा है— एक अदीब!"

"इन्हें खामोश करो!"

"हजूर! ये बड़े खामोश लोग हैं, पर जब भी इतिहास उधेड़ा जाता है तो इन की आत्माएं चीखने लगती हैं। और ये अपनी कब्रों और समाधियों से निकल कर इसी

तरह की बातें करने लगते हैं।''

''तो फिलहाल इन्हें रोको!''

''रोक दिया हुजूर! इन्हें मैंने इनकी मज़ारों और समाधियों की तनहाई में कैद कर दिया है। अब यह सब दुनिया को परेशान करने फ़िलहाल नहीं आएंगे।''

तब तक, शायद ऊब कर वह परछाईयोंवाली याद उसके सामने आ बैठी थी। उसके बदन में झीन की तरह पड़ते खमों और सलवटों को महसूस करते हुए तब अदीब बेसाख्ता बोल पड़ा था—''सलमा! तुम बहुत खूबसूरत हो!''

सलमा इस जुमले पर चौंकी नहीं। वह सिर्फ इतना बोली—''तकसीम न होता तो पूरी कायनात बहुत खूबसूरत होती!'' सलमा ने कहा और घड़ी देखी।

''अब उठना चाहिए...आपकी फ्लाइट कितने बजे है?''

''ग्यारह बजे। ठीक है, देखिए फिर कभी मुलाकात होती है या नहीं!''

''मैं तो समझी थी, आप कोई खूबसूरत-सा जुमला बोलकर अलविदा कहेंगे...''

''यानी? कैसा जुमला...मैं समझा नहीं...''

''कुछ ऐसा कि जैसे यह शे'र है—कहर हो या कि बला हो...काश तुम मेरे लिए होते!'' कहकर सलमा हंस पड़ी—''अच्छा...खुदा हाफिज़...''

''खुदा हाफिज़! भारत पहुंचो तो ...'' कहते-कहते उसने पेपर नेपकिन पर अपना पता लिखकर उसे थमाते हुए कहा—''हालांकि इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी, लेकिन फिर भी...''

और शुक्रिया कह कर वह चली गई। उसके जाते ही सदियों के सन्नाटे ने उसे घेर लिया। उसे एकाएक एहसास हुआ, वह सचमुच अब दूसरे देश में है, नहीं तो कल लाहौर से लेकर आज कराची की सुबह तक वह भूल ही गया था कि वह कहीं और है। सलमा तो क्वेटा के लिए चली गई पर वह अपनी बहुत गहरी महक उसके पास छोड़ गई थी।

एक और कॉफी का आर्डर देकर वह उसी महक के साथ कुछ देर और बैठना चाहता था। कॉफी आ गई और वह हैरतभरे अंदाज में सोच रहा था कि कैसे होंगे सलमा के नाना—जो पाकिस्तानी भी हैं और अपनी यादों को लेकर मोहाजिर भी। और कैसे होंगे सलमा के अब्बा-अम्मी...जब हिंदू-सिख खून के समुंदर पार करते हुए भारत की ओर भाग रहे थे और भारत के मुसलमान पाकिस्तान की ओर... तब एक मुसलमान जोड़ा पाकिस्तान छोड़ कर अपनी अगली सदियों की खैरियत के लिए किसी देश की ओर नहीं, अपनी मिट्टी की ओर भाग रहा था।

□

बेटी का घर

द्रोणवीर कोहली

भारत जैसे देश में जीवन को जीने का संघर्ष परिवार की संयुक्त इकाई की सुविधा को अपने में समाहित करके चलता है जबकि विकसित देशों में यह संघर्ष व्यक्ति को सम्पन्नता तो सौंपता है मगर साथ ही परिवार की सहजताओं को किसी हद तक सीमित भी कर देता है। एक ऐसे ही परिवार के विदेश में बस जाने की कहानी कहता है यह उपन्यास अंश। हिंदी के विख्यात लेखक के प्रकाशनाधीन उपन्यास का एक अंश।

चेतना सप्ताह-भर का खाना बना कर फ्रिज में धर दिया करती थी। बस, भोजन करने से थोड़ी देर पहले निकाला, माइक्रोवेव में गर्म किया और खा लिया। चपाती तो घर में बनती ही नहीं थी। न कोई उसकी इच्छा करता था। स्टोर से मैदे की 'पीता ब्रेड' मिल जाती थी, जिसकी शक्ल चपाती जैसी ही होती थी। फिर रोज-रोज खरीद कर लाने के झंझट से बचने के लिए पीता ब्रेड के दर्जन-भर पैकेट इकट्ठे ला रखते थे और फ्रीज कर लेते थे, जो महीनों चलते थे।

सरस्वती को यह बंदोबस्त पसंद नहीं आया। रात को भोजन करने बैठे, तो अधिकारपूर्वक बोली, "कल से मैं खाना बनाया करूंगी। यहां मेरा और काम ही क्या है।"

"नहीं, आप सिर्फ तुला को रखो। रसोईदारी करने की कोई जरूरत नहीं।" चेतना ने दो-टूक फैसला दिया।

"जब लड़की सो रही होगी, तब बना दिया करूंगी न!" सरस्वती ने स्नेहजन्य अनुरोध के साथ कहा।

श्याम रतन नाक-भौं सिकोड़ते हुए चेतना की तरफ देख रहा था। चेतना ने खाते-खाते हाथ रोक कर मां से कहा,"ममी! अगर लड़की ने हाथ-पैर जला लिए तो! आप किसी की सुन लिया करो।"

श्याम रतन ने भी हस्तक्षेप करना उचित समझा। बोला, "ममी! यहां तवे से उतार कर खाने का रिवाज नहीं है। और न सुबह-शाम बनाने की फुर्सत है किसी के पास।"

"आप देखना!" चेतना बोली, "आप सुबह सो रही होंगी, हम काम पर निकल जाते हैं।"

श्याम रतन ने इस मामले को जैसे बरखास्त करते हुए हिदायत के स्वर में कहा, "टेलिफोन के पास पैड रखा है। उस पर मैंने कुछ नंबर लिख दिए हैं। एक नंबर 911 है। कभी कोई इमरजेंसी हो जाए, तो यह नंबर मिलाओ। तत्काल पुलिस दरवाजे पर पहुंच जाती है। मैंने अपना और चेतना का नंबर भी लिख दिया है। पेजर नंबर भी। अगर कोई प्राब्लेम हो..."

"और दरवाजा किसी के लिए हरगिज नहीं खोलना!" चेतना ने सावधान किया।

"टचवुड!" श्याम रतन ने उठते हुए कहा, "वैसे, इस सबर्ब में अभी तक ऐसी कोई वारदात नहीं हुई। डरने की कोई बात नहीं है। दरवाजे के पास एक हैजर्ड (आपद) बटन लगा है। उसके बारे में बताऊंगा। दबाओ, तो घंटी सीधी पुलिस थाने में बजती है।"

देर रात सरस्वती अपने कमरे में गई, तो अपनी एकमात्र बेटी की जमी हुई गिरस्ती देख कर पूर्णतया संतुष्ट एवं तृप्त थी। फिर वह किसी समय गहरी नींद में डूब गई। बाहर बर्फ गिर रही थी। मगर भीतर घर इतना गर्म था कि हलका कंफर्टर भी ओढ़ने की जरूरत महसूस नहीं हुई।

रात को किसी वक्त नींद टूटी, तो बाथरूम जाने से पहले वह कमरे का दरवाजा खुला छोड़ती गई। लौट कर आई, तो लेटने से पहले पलंग के पीछे चौड़ी खिड़की के साथ खड़ी वेनिसी झिलमिली में से बाहर देखती रही। चारों तरफ बिछी सफेद चादर के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता था। बीच-बीच में पेड़ और कुछ घर जैसे इस सफेद चादर को फाड़ कर कुकरमुत्तों की भांति उभर आए थे। सरस्वती का मन किया कि खिड़की थोड़ी खोल कर ताजा हवा ले। लेकिन रात को ही बेटी ने आगाह कर दिया था कि ये बड़ी-बड़ी खिड़कियां यहां हवा के लिए नहीं, रोशनी के लिए रखी जाती हैं। अगर कहीं से भी कोई इनके साथ छेड़छाड़ करने की चेष्टा करेगा, तो तत्काल घर में और निकटस्थ पुलिस थाने में संकट-घंटी बजने लगेगी।

कमरे में घड़ी नहीं थी। इस मुल्क में पहले दिन सरस्वती वक्त का अनुमान नहीं लगा सकी। बस, इतना ज्ञात था उसे कि दिल्ली में इस वक्त दिन की कोई वेला होगी और बेटा राजेश्वर और पति दीन दयाल जी शायद बाहर गए होंगे। इसी उधेड़बुन में वह लेटी और जल्दी ही उसकी आंख लग गई। किसी समय खटखटाहट से नींद खुली, तो चेतना तुला को कंधे से लगाए दरवाजे पर खड़ी थी।

"ममी! मैं जा रही हूं।"

"क्या वक्त हुआ?" सरस्वती को लगा, वह देर तक सोती रह गई थी।

"सवा छह बजे हैं। आप अभी सो जाओ। तुला को मैं बेबी-सिटर के पास छोड़ जाऊंगी।"

"क्यों?" सरस्वती ने उठते हुए आपत्ति की, "मैं यहां किसलिए आई हूं?"

"ममी! आप किसी की सुन लिया करो।" चेतना ने तनिक अधीरता से कहा। 'मुझे देर हो रही है। जेटलैग के कारण एक तो आप दिन-भर गिरती-पड़ती रहोगी। फिर हो सकता है, पहले दिन तुला आपके पास न रहे।"

"इतने बड़े घर में मैं अकेली डो-डो करती रहूंगी? बच्ची के साथ तो मेरा दिल लगेगा।"

"बेबी-सिटर से बात भी करके आऊंगी।"

"इतनी जल्दी जा रही हो!" सरस्वती को अचरज हो रहा था। "इसका मतलब है, तुम लोग काफी देर पहले उठ गए थे।"

" श्याम रतन तो चले भी गए। अब मैं जा रही हूं। हमेशा सबेरे इसी वक्त निकलते हैं। रास्ते में इसे बेबी-सिटर के घर छोड़ना है।"

सरस्वती एकदम हिल गई। तुला अभी दो बरस की भी नहीं हुई थी। बाहर बर्फ पड़ रही थी और इतनी छोटी बच्ची को खींच कर गर्म बिस्तर में से निकालना! सरस्वती खुद भी नौकरी कर चुकी थी। सुबह पांच बजे उठ जाया करती थी और सब जनों का नाश्ता-पानी तैयार करके साढ़े छह की बस पकड़ती थी। लेकिन ऐसी लाचारी और हड़बड़ाहट तो न थी, जैसी अमेरिका में बस गए इन लोगों की थी।

"ममी! यहां सभी की जिंदगी ऐसी ही है। आप सो जाओ। मैं जा रही हूं।" और सोई बालिका को कंधे से लगाए वह मां को सावधान करती गई, "ममी! ध्यान से रहना।"

सरस्वती बिस्तर में बैठी रह गई। समझ नहीं पाई कि क्या करे। लौटी रहे या कोई काम करे। काम कोई हो भी क्या सकता था, बता कर भी तो नहीं गए। सरस्वती ने खिड़की की झिलमिली की दो फांकों को टेढ़ा करके बाहर देखा। बर्फ लगातार पड़ रही थी।

'इस मौसम में गाड़ी चला कर जाते हैं। इसे कहते हैं जीवन-संघर्ष।' बाहर की सफेद चादर पर टकटकी लगाए सरस्वती बुदबुदाई। फिर अपने आपसे कहती है, 'चल रे, मन: उठ।'

सरस्वती उठ खड़ी हुई। निपट कर गुसलखाने से निकली, तो बेटी के घर में उसे कई काम दिखाई पड़ गए। चेतना बिस्तर अनबना छोड़ गई थी। सरस्वती ने डबल रजाई को तहा कर बिस्तर ठीक-ठाक किया। नीचे कारपेट पर और बेडसाइड टेबलों के पीछे कई बाल-पुस्तकें उलटी-सीधी पड़ी थीं। उन्हें बटोर कर एक तरफ रखा। ड्रेसिंग टेबल का सामान भी अस्त-व्यस्त पड़ा था। उसे करीने से सजाया और ब्रश में फंसे चेतना के लंबे-काले बाल निकाले। उन्हें फेंकने गुसलखाने में गई, तो वहां भी जेरो-जबर! जैसे नहाते-नहाते बाहर बस ने हार्न दिया और तौलिया-अंडरवेयर वगैरह टब पर ही धर कर भागे हों। बेटी और दामाद के उतरे अधोवस्त्रों को बटोर कर एक जगह रखा और तौलिए ओसारे में डालने की सोची। मगर फैम्ली रूम से बाहर जाने वाला दरवाजा खोल न सकी।

फैम्ली रूम के बीचों-बीच बिछे गलीचे पर रखी ट्रेंपोलीन के इर्दगिर्द खिलौने बिखरे पड़े थे। एक कोने में विशाल 'वाक-इन' कबर्ड था। उसके रपटने वाले किवाड़ों के साथ खिलौनों से भरे प्लास्टिक के दो बड़े क्रेट रखे थे। सरस्वती ने बिखरे खिलौनों को बटोर कर क्रेटों में डाला और खिड़कियों के नीचे लंबी कतार में बिछे सोफों के अस्त-व्यस्त कपड़ों की खींचखांच कर तरतीब दी।

वहां खड़े-खड़े उसने बाहर नजर दौड़ाई। कहीं कोई आता-जाता मनुष्य या पंख मारता कोई पखेरू दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

'अजीब बस्ती है!' बरबस सरस्वती के मुख से निकला। 'लोग जैसे घरों से निकलते ही नहीं या काम पर जा चुके हैं।'

रसोईघर एकदम नया और साफ-सुथरा था। लेकिन बर्तन और खाने-पीने का सामान किचन टेबल और स्लैब पर बिखरा पड़ा था। चीनीदानी, दूधदानी, चाय वाला डिब्बा—सब खुले छोड़ गए थे।

सरस्वती चकित थी। डिशवाशर तक बंद करके नहीं गए थे। मग में चाय रखी थी।

'लो, जल्दी में चाय ही छोड़ गई!' सरस्वती ने मग में से घूंट भरा। अभी गुनगुनी थी। मगर एकदम फीकी। अवश्य ही चेतना ने अपने लिए बनाई होगी, क्योंकि वह चीनी नहीं पीती थी।

'इतनी हड़बड़ी कि चाय बनाई और पी नहीं!'

दूध का कैन गैस-चूल्हे के साथ रखा था। उसे फ्रिज में रखना तो अलग, उसका ढक्कन तक नहीं लगा कर गए थे।

सरस्वती ने एक-एक करके सारा सामान संभाला। फिर इधर-उधर देखती रही कि कोई काम बचा हो, तो लगे हाथों उसे भी निपटा डालूं। कोई नहीं दिखा, तो नहाने चली गई।

अभी कपड़े बदल ही रही थी कि टेलिफोन की घंटी बज उठी। लेकिन उसने

उठाया नहीं। चेतना और श्याम रतन पक्का करके गए थे कि पीछे फोन बजता रहे, उठाना नहीं।

सरस्वती तैयार होकर आई, तो अपने आपको खाली-खाली महसूस करने लगी। जिस स्त्री का जीवन सुबह से शाम तक घर में खटने और बाहर नौकरी में बीता हो, उसे खाली बैठा दिया जाए, तो वह अपने आपको अकर्मण्य-सा महसूस करने लगती है।

इस तरह अमेरिका में रहने वाली बेटी के घर में सरस्वती का पहला दिन उठते-बैठते, जागते-सोते बीता।

बाहर लगातार बर्फ पड़ रही थी। सरस्वती ने इस तरह गिरती बर्फ जिंदगी में पहली बार देखी थी। ऐसा प्रतीत होता था, नंगे पेड़ों और नंगी धरती की लाज ढकने के लिए प्रकृति कपड़े के थान के थान बिछाती जा रही थी। सरस्वती का बड़ा मन किया कि बर्फ को छूकर देखे।

शाम साढ़े छह बजे सारे घर में डरावनी-सी गड़गड़ाहट सुनाई पड़ी। सरस्वती चौंकी-चौंकी-सी देखने लगी। हाथ में तुला की किताब 'विनी-द-पूह' थी। एकदम बंद करके उठ खड़ी हुई। मगर जल्दी ही समझ गई कि शोर गराज का शटर उठने का था। थोड़ी देर बाद ही बेसमेंट के बंद दरवाजे के पीछे लकड़ी के जीने पर तुला के चहकने और चेतना के जूतों की आहट सुनाई पड़ी। जल्दी-जल्दी चल कर गई। उससे पहले चेतना दरवाजा खोल कर अंदर आ गई।

सरस्वती खिल उठी। तुला की तरफ हाथ फैलाते हुए बोली, "लो, मेरे बच्चे आ गए।"

"बोर तो नहीं हुए?" चेतना पूछ रही थी।

सरस्वती ने झुक कर बालिका को गोदी में लिया और छाती के साथ भींचते हुए चूम लिया।

"मैं दिन-भर बैठी-बैठी राह देखती रही। पूरे बारह घंटे बाद आए हो।" वह बालिका को देख-देख कर निहाल हुई जा रही थी।

"बास-बास!" चेतना ने कंधे से झोले उतार कर किचन की टेबल पर रखे और मां को बरजा, "इतना लाड़ मत करो। बिगड़ जाएगी।"

"इतनी जल्दी मेरा दिल थोड़े भरेगा! मेरी बेटी अब कल से बेबी-सिटर के पास नहीं जाएगी। मेरे पास रहेगी।" सरस्वती तुला को लिए-लिए आई और फैम्ली रूप के सोफे पर बैठ गई।

"तू मेरे पास रहेगी न!" उसने अंग्रेजी में पूछा।

अचरज कि नानी की तरफ देखते हुए तुला ने सिर हिला कर हामी भरी।

"देखा!" सरस्वती गद्गद हो गई और बालिका को छाती के साथ भींचते हुए

बोली, "जब ममी-पापा काम पर जाएंगे, तो पीछे हम खूब खेलेंगे।"

चेतना आई, तो उससे पूछती है,"इतने घंटे बेबी-सिटर के पास यह रह कैसे जाती है?"

"एक बच्चा थोड़े होता है! सबको रखती है। दूध पिलाती है। सुलाती है। डायपर बदलती है।"

"आफरीन है! आप लोग बारह-बारह घंटे बच्चों को दूसरों की दया पर छोड़ देते हो!"

"और चारा ही क्या है!" चेतना ने विवशता प्रकट की। "थोड़ी बड़ी हो जाएगी, तो 'डे-केयर' में डाल दूंगी।"

एकाएक फिर गराज का फाटक उठने की गड़गड़ाहट गूंजी। तुला के कान खड़े हो गए। हाथ उठा कर वह नानी को बताने का जतन करने लगी, "ओह, पापा!"

"तुला के पापा आ गए!" चेतना ने प्रसन्नतापूर्वक बेटी की तरफ देखा।

"लेट्स हाइद!" कहते हुए लड़की नानी की गोद से उतरी और फैम्ली रूम के वाक-इन कबर्ड में छिपने दौड़ी।

श्याम रतन खुले दरवाजे में से निकला और मुस्कुराते हुए सास की बगल में जा बैठा। "दिन में सोई या बोर हुईं?"

"सो कहां सकी! एक बार नींद उचट जाए, तो मैं सो नहीं सकती।"

"फिर दिन-भर क्या किया?"

"खाली जाट क्या करे, इस कोठी का धान उस कोठी में धरे।"

यह कहावत श्याम रतन ने सुनी नहीं थी। इसलिए खिलखिला कर हंसा।

चेतना बोली,"ममी खाली बैठ कैसे सकती हैं! जो बर्तन सिंक में रखे थे, उन्हें मांज-धो के रख दिया है।"

"ममी!" श्याम रतन बोला,"घर में डिशवाशर है। हाथ से क्यों धोए?"

तुला छिपी बैठी थी। सरस्वती ने कहा,"जरा बताओ तो, तुला कहां है?" और मुस्कुराते हुए कबर्ड की तरफ देखा।

"अरे, हां।" श्याम रतन ने इधर-उधर देखते हुए पूछा,"तुला कहां है?"

कबर्ड में छिप कर बैठी तुला एकदम बोल पड़ी,"ढूंढी-ढूंढी!"

श्याम रतन चुपके से गया और कबर्ड में झांका, जहां तुला दुबक कर बैठी थी। ऊपर खड़े पिता को देख खिड़-खिड़ हंसते हुए उठ खड़ी हुई।

"पकड़ लिया!" और श्याम रतन ने मचल-मचल कर हंसती-खिलखिलाती बेटी को गोद में उठाया और पूछा,"नानी कहां है?"

तुला ने बिना बोले मुंह और आंखों से सरस्वती की तरफ इशारा किया।

"इसका मतलब है, यह हिंदी समझती है।" सरस्वती ने कहा।

"बहुत कम!" अलसाई हुई-सी चेतना उधर से निकलकर आई। "एक-आध

शब्द पकड़ लेती है। दिन-भर तो 'बार्नी' देखती रहती है। हिंदी बोलती ही नहीं। इसीलिए आप इसके साथ हिंदी में बात किया करो।''

श्याम रतन ने सरस्वती से दिल्ली का हाल-चाल पूछना शुरू किया।

''श्याम!'' चेतना ने टोका,''पहले नहाओगे या चाय पीओगे?''

''दोनों में से कोई नहीं।'' वह तुला को पकड़ते हुए बोला। ''अभी तो हम तुला बेटी के साथ खेलेंगे।''

तुला अपने खिलौने निकाल लाई और गलीचे पर बैठ कर खेलने लगी। फिर ट्रैंपोलीन पर चढ़ गई और उछलते-कूदते हुए आनंदित होती रही।

''चेतना, देखा!'' आह्लादित श्याम रतन ने कहा। ''सबको घर में पाकर कितनी खुश है!''

चेतना उठ कर गई और मैले कपड़ों की बड़ी-सी गठरी उठाए-उठाए आई। बोली, ''नीचे मशीन में डालने जा रही हूं।''

''बेटे! मुझे बताओ। इतना बोझ मत उठाओ। तेरा आठवां महीना है।''

''ममी, कुछ नहीं होता।''

''आइ आलसो गो!'' तुला खेलना छोड़ दौड़ी आई और मां के साथ नीचे जाने की जिद करने लगी।

''ओके, आ।''

सरस्वती भी साथ गई। वाशिंग मशीन नीचे बेसमेंट में बाथरूम के पीछे रखी थी, जहां आलतू-फालतू सामान भरा रहता था।

''तुम मुझे बता दो। ये काम तो मैं आसानी से कर लूंगी। इस्तरी भी बता दो। प्रेस कर दिया करूंगी।''

''नहीं, ममी!'' चेतना थोड़े असहिष्णु स्वर में बोली। ''आप तुला को ही संभाल लो, इतना काफी है।''

''इस हालत में इतनी मशक्कत क्यों करती हो?''

''ममी!'' अब चेतना थोड़े तुर्श लहजे में बोली, ''आप अपनी इंडियन फिलासफी वहीं छोड़ कर आतीं, तो बेहतर था। यहां ये सब चोंचले नहीं चलते। एक दिन भी काम किए बिना गुजारा नहीं।''

सरस्वती चेतना का मुख देखे जा रही थी। जिस लड़की को इन हाथों से पाला, वही अब उपदेश देने की स्थिति में आ गई है?

''ममी!'' चेतना मां के वस्त्र मशीन में डालते हुए बोली, ''आपको ऐसे कपड़े नहीं लाने चाहिए थे जिन्हें इस्तरी करने की जरूरत पड़े।''

''मुझे क्या पता! वही लाई हूं जो रोज पहनती थी।''

''वहां भी इतने चीपड़े कपड़े पहनती हैं आप। इनसे चीपड़े और नहीं मिलते? एकदम घिसे हुए, और बदरंग। ममी, कोई चीज फेंकना भी सीखो।''

"तू अमीर बाप की बेटी है। मेरा बाप गरीबड़ा है।"

"आपको किस चीज की कमी है?" चेतना खीझ कर बोली, "दोनों अच्छी-खासी पेंशन पाते हो।"

"बेटे! रंग थोड़े फीके पड़ गए, तो क्या हुआ। कपड़ा इस तरह फेंक थोड़े देते हैं!"

चेतना इस बात से चिढ़ गई। "ममी, आप न सुधरोगे, न किसी की बात मानोगे।"

मां-बेटी ऊपर आईं।

सरस्वती ने चेतना से कहा, "अब थोड़ा आराम कर ले।"

मगर चेतना ने कान नहीं धरा। कपड़ों का ढेर लगा कर बैठ गई और इस्तरी करने लगी।"

'आफरीन है, इस बाप की बेटी को!'

अगली सुबह चेतना और श्याम रतन के जागने से पहले ही सरस्वती उठ गई। वे बालिका को जगाने लगे, तो सरस्वती ने बरज दिया, "मत जगाओ लड़की को। बाहर देखो, कितनी धुंध है।"

"ममी!" चेतना बोली। "जब तक आपसे हिल-मिल नहीं जाती, आपको परेशान करेगी। फिर बेबी-सिटर से एकदम उठाना ठीक नहीं होगा। वहां इसके दोस्त हैं। उन्हें मिस करेगी।"

"नहीं!" सरस्वती अड़ गई, "आज मैं रखूंगी। नहीं रहेगी, तो फिर चाहे कहीं छोड़ना। यह कोई बात हुई! मैं किसलिए आई हूं?"

पति-पत्नी ने गुपचुप मंत्रणा की और अंत में बालिका को नानी के पास छोड़ने का फैसला किया। फिर भी, श्याम रतन ने चेतना को चेताना उचित समझा, "सू बुरा मान सकती है।"

"यह सू कौन है?" सरस्वती ने पूछा।

"इसकी बेबी-सिटर। यहूदी स्त्री है।" चेतना बोली।

"कोई भी हो।" सरस्वती ने हड़कते हुए कहा, "इतनी सर्दी में बेचारी को रजाई में से खींच कर निकालते हो! तरस नहीं आता इस छोटी-सी जान पर?"

श्याम रत्न बोला, "तो ठीक है, ममी! लेकिन आप को एक बात का ध्यान रखना होगा। लड़की की आदतें नहीं बदलनी हैं। सुबह जैसे उठती थी, वैसे ही उठाना है इसे। दिन को बारह बजे सोती है—ठीक बारह बजे। रात आठ बजे यह क्रिब में चली जाती है।"

पति-पत्नी को देर हो रही थी। अतः जल्दी-जल्दी आवश्यक निर्देश दे रहे थे। चेतना ने मां को समझाते हुए कहा, "दूध इसे ठंडा ही पिलाना है, गर्म नहीं करना।

फ्रिज में कैन रखा है। उसमें से टंबलर में डाल कर इसे पकड़ा देना। अपने आप पीती रहती है।''

सरस्वती को घोर अचरज हुआ। बोली,''इस मौसम में फ्रिज का दूध! बाहर बर्फ पड़ रही है, और बच्ची को फ्रिज का दूध पिलाते हो!''

चेतना और श्याम रतन एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। फिर एकबारगी हंस पड़े। श्याम रतन ने पत्नी से कहा,''चेतना! मैं क्या कहता था!'' वह इस तरह बोल रहा था जैसे ऐसी आपत्ति की उसे अपेक्षा थी अपनी सास से। ''ममी ने पहला एतराज कर ही दिया।''

''ममी!'' चेतना चिढ़े स्वर में बोली,''आपसे जैसा कहते हैं, वैसा किया करो। शुरू से ही फ्रिज का दूध पीती आई है।... तुम नीचे उतरो।'' उसने श्याम रतन से कहा। ''मैं तुला को जगा देती हूं। कहीं पीछे रोने न लग जाए।''

चेतना ने तुला को जगाया, तो अचरज कि आंखें खोलते ही सबसे पहले उसने नानी को याद किया, ''व्हेयर इज नानी?''

वहीं से चेतना ने मां को इस तरह आवाज दी, जैसे छुप्पन-छुपाई खेलते समय पुकारते हैं,''नानी! वेययायायू...''

सरस्वती आई और हंसते हुए बोली,''यह क्या बोली बोल रही हो?''

चेतना ने खिलखिलाते हुए बताया,''हम लोग थोड़ी देर के लिए भी इसकी नजरों से दूर रहें, तो घर-भर में ढूंढती फिरती है। अभी साफ नहीं बोल सकती न, इसलिए 'वेयर आर यू' को 'वेययायायू' बोलती है।''

इस बात पर सरस्वती ने जो हंसना शुरू किया, तो हंसती ही चली गई। तुला भी एकाएक उठी और नानी की गोद में चढ़ गई।

''देखा!'' नानी खिल उठी, ''कहते थे, मेरी बेटी मुझसे हिली-मिली नहीं। अब बोलो...यह तो मेरा कलेजा है।'' यह कहते-कहते सरस्वती ने बालिका को चूम लिया।

''ओके!'' चेतना एकदम आश्वस्त हो गई। बालिका से बोली, ''ममा को बाय-बाय करो!'' फिर मां से कहा, ''ममी! आप इसे उठा कर जीने तक ले आओ।''

सरस्वती बालिका को गोदी में उठाए-उठाए आई। उसी सलवार-कमीज में थी जो दिन को पहनी थी। यह देख श्याम रतन ने चेतना से कहा,''ममी को अच्छा-सा गाउन ला दो।''

सरस्वती ने तत्काल विरोध किया,''नहीं, गाउन मुझसे नहीं पहना जाता। दिल्ली में तीन-चार रखे हैं।''

''ममी!'' चेतना ने आलोचना के स्वर में कहा,''दिन के कपड़े रात को पहन कर सोओ, तो मुचड़ नहीं जाते?''

श्याम रतन जीना उतर गया था। पीछे-पीछे चेतना उतरी। सरस्वती बालिका को गोद में उठाए ऊपर खड़ी थी।

"बाय!" मां-बाप ने गराज के दरवाजे पर रुक कर हाथ हिलाए।

श्याम रतन ने बेटी को तनबीह की,"पीछे नानी को परेशान न करना। बी ए गुड गर्ल!"

"बाय!" सरस्वती ने हंसते हुए ऊंचे स्वर में कहा और तुला ने चुपचाप हाथ हिला कर मां-बाप को विदा किया और नानी की गर्दन में बांहें डाल उससे चिपक गई।

"चलो, हमारी बेटी अब दूध पिएगी।" सरस्वती बालिका की पीठ सहलाते-सहलाते किचन में आई। उसे कुर्सी पर बैठा कर दूध फ्रिज से निकाला और टंबलर में डाला। तुला को फैम्ली रूम में ले आई और लंबे सोफे पर लिटा कर दूध उसके हाथों में पकड़ाया। तुला चुपचाप लेटी दूध पीती रही। जब पी चुकी, तो खुश-खुश खाली टंबलर हिलाते हुए बोली,"आल गान!"

पहले तो सरस्वती समझी नहीं। फिर खाली टंबलर देख हंसते हुए बोली, "अच्छा! सारा खत्म हो गया। और दूं ? यु वांट मोर?"

"आइ वांटु वाच बार्नी।"

सरस्वती कुछ समझ नही पाई। बोली,"बार्नी क्या?"

"आइ वांटु वाच बार्नी।"

सरस्वती की समझ में बात नहीं आई। नातिन का मुंह जोहते हुए बोली,"पता नहीं, क्या कह रही है?"

तुला ने टीवी की तरफ इशारा किया,"बार्नी..." और जैसे समझाने के निमित्त एक-एक अक्षर पर बल देते हुए बोली,"बा र नी...आइ वांटु वाज बा र नी।"

"बारनी क्या बला है?"

तभी फैम्ली रूम के कोने में रखे फोन की घंटी बजी। चेतना ने रिकार्डिंग लगा दी थी और सरस्वती को ताकीद की थी कि फोन की घंटी बजे, तो तत्काल नहीं उठाना। रिकार्डिंग शुरू हो जाए और मेरा या श्याम रतन का स्वर सुनाई पड़े तभी चोंगा उठाना। इसलिए ज्यों ही चेतना का "हैलो, ममी!" स्वर उभरा, सरस्वती ने लपक कर फोन उठा लिया।

"तुला ठीक-ठाक?" चेतना ने पूछा।

"बैठी है। दूध पी लिया।"

"परेशान तो नहीं किया?"

"परेशान क्यों करेगी? तुला इज ए गुड गर्ल...!" यह बात नानी ने तुला की तरफ देखते हुए खुशी-खुशी कही।

"मैं अभी व्यस्त हूं। थोड़ी देर बाद फिर फोन करूंगी। आल द बेस्ट..."

चेतना ने फोन बंद किया, तब सरस्वती को याद आया कि उससे पूछ लेती, तुला बार-बार 'आइ वांटु वाच बार्नी' क्या कहती है...

दो ही मिनट बाद श्याम रतन का फोन आ गया। सरस्वती ने कहा, "अभी-

अभी चेतना का फोन आया था।''

''आपकी लाडली नातिन कैसी है?'' उसने लटके से पूछा।

''एकदम हीरा है!'' सरस्वती ने उल्लसित स्वर में कहा।

''उतनी ही सख्त है, जितना सख्त हीरा होता है!'' श्याम रतन ने हंसते हुए कहा।

''हं!'' सरस्वती ने पहले यह पूछ लेना ठीक समझा, ''बार-बार कहती है, आइ वांटु वाच बार्नी, आइ वांटु वाच बार्नी।''

श्याम रतन हंस पड़ा। ''ममी, बार्नी बच्चों का मशहूर टीवी सीरियल है यहां का। हम बताना भूल गए। बार्नी के कैसेट रखे हैं। तुला बता सकती है। पर आपको लगाना नहीं आएगा। शाम को आकर बता दूंगा। ओके? आप खाना खा लेना। बाय...''

पौने बारह बजे फिर चेतना का फोन आया,''ममी, तुला को ठीक बारह बजे सुला देना। रोज इसी वक्त सोती है।''

''अभी तो अपने खिलौनों में मस्त है। सामने बैठी है। सोएगी, तो सुला दूंगी।''

''नहीं, आपसे जो कहें, सुन लिया करो।'' चेतना थोड़े असहिष्णु स्वर में बोली। ''दूध की शीशी लेकर उसे क्रिब में लिटाना और कहना, इट्स नीनी टाइम। बस, पीते-पीते सो जाएगी। पूरे बारह बजे।''

सरस्वती ने घड़ी देख कर बालिका को किब्र में डाला, जो खिलौनों वाले कमरे में रखी थी। सचमुच, लड़की दूध पीते-पीते सो गई। थोड़ी देर क्रिब पर झुकी नानी बालिका को निहारती रही। फिर हौले-हौले हट आई।

'कहते थे, अड़ियल है, जिद करती है। एक बार भी जिद की? बेचारी को वैसे ही दोष देते हैं।' सरस्वती खुद से कह रही थी।

सरस्वती अब एकदम खाली थी। नहाने की तैयारी की। मगर टब के भीतर लगे नलों में से किससे गर्म पानी आता है, यह जान नहीं पाई। हां, वाशबेसिन के नल में गर्म पानी आ रहा था। इसलिए मुंह-हाथ धोकर ही उसने कपड़े बदल लिए। फिर मन न होते हुई भी फ्रीजर में से सब्जियां निकालीं। उन्हें थोड़ी देर बाहर रख माइक्रोवेव में गर्म किया। पीता ब्रेड को टोस्टर में स्लाइस की तरह सेंका और किचन टेबल पर खाने बैठी। निवाला तोड़ कर मुंह तक ले जाते हुए हाथ नीचे कर लिया। एकदम अजीब-सा लगा। उसे याद नहीं पड़ता, कभी इस तरह अकेले बैठ कर उसने भोजन किया हो।

आधी पीता ब्रेड खाते-खाते जैसे अघा गई। ग्रास ही गले से नहीं उतर रहा था। लगता था, कई दिन की बासी रोटी के टुकड़े तोड़ रही है। फिर सब्जियों में जरा भी शीरी नहीं थी।

'आगे से मैं इन्हें सुबह-शाम ताजी रोटी बना कर खिलाऊंगी।' सरस्वती ने

बर्तन समेटते हुए निश्चय किया।

दो-तीन बर्तन ही थे। उन्हें धोकर वहीं स्लैब पर रखा और बालिका की दूध की बोतलें साफ कर दीं।

सवा दो बजे फिर चेतना का फोन आया।

"अभी सो रही है। ठीक वक्त पर सुला दिया था।" सरस्वती ने बताया।

"अब जगा दो।"

"बेचारी सो रही है। बच्चे जितना सोएं, उतना अच्छा होता है।"

"ममी!" चेतना तनिक ऊंचे स्वर में बोली, "आप बात सुन भी लिया करो। दिन में दो घंटे से ज्यादा सोएगी, तो रात को हमें सोने नहीं देगी।"

"बेटे!" सरस्वती ने महसूस किया कि चेतना गुस्सा कर रही है। "इस तरह चिढ़े स्वर में क्यों बोल रही हो! तुम्हारे पास बैठा कोई क्या सोचता होगा! किसी से लड़ाई कर रही है?"

"नहीं, यहां कोई नहीं है। आप उसे जगा दो।"

"ठीक है।"

सरस्वती ने पहले दूध की शीशी तैयार की और बालिका को जगाया। उसने आंखें खोलीं, तो नानी लाड़ करते हुए बोली, "ममी कहती है, अभी और नहीं सोना। तू सबको परेशान करती है। चलो, अब दूध पिएंगे।"

तुला चुपचाप नानी की गोद में आ गई।

"अरे, तेरा तो डायपर गीला-गीला लगता है। देखूं!" नानी ने पीछे से उघाड़ कर देखा, तो बदबू के मारे नाक सिकोड़ी।

"तूने तो हग रखा है, लड़की। चल, पहले डायपर बदलते हैं।"

चेतना मां को सिखा गई थी कि डायपर किस तरह बांधते हैं। सरस्वती ने हंसते हुए कहा था, 'पहले ये कब होते थे! बस पुराने कपड़े फाड़ कर लंगोट-सा बांध देते थे।'

तुला डायपर बदलवाते समय न रोई, न मां-बाप को याद किया। फिर चुपचाप दूध भी पी लिया। बड़ी संतुष्ट लगती थी। उठ कर गई और कबर्ड के क्रेटों से ढेर सारे खिलौने निकाल कर फैम्ली रूम के कारपेट पर बैठ गई और अपने आप खेलने लगी। एक-दो बार उसने बार्नी देखने की फरमाइश जरूर की। मगर नानी ने जब मुंह बना कर तमाशा-सा करते हुए यह कहा, "मुझे तो कैसेट लगाना आता नहीं," तो नानी को इस तरह मसखरी करते देख तुला खिलखिला कर हंसने लगी।

□

धानी का दोस्त

अभिमन्यु अनत

विश्व का कोई भी देश हो, पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की भूमिका अत्यंत जर्जर एवं दीन दिखाई पड़ती है। मगर आज विश्व की स्त्री जाग रही है और इस जाग की आग को उसने अभिव्यक्त करना भी शुरू कर दिया है। मॉरीशस के सुप्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार अभिमन्यु अनत की इस प्रस्तुत कहानी में सुरधनी एक ऐसी ही स्त्री है जो स्वनिर्णय को प्राथमिकता देती है।

सुरधनी के अपने गांव के पश्चिमी भाग में था वह स्थान जहां वह खड़ी थी। घुटनों तक की घास वाली वह पगडंडी उसके सामने से सरकती हुई दूर तक निकल गयी थी और पहाड़ के पीछे ओझल हो गयी थी। पहली बार उसने अपने पति से, सास-ससुर से अलग इसी ठौर पर अनुरोध किया था कि वह अपनी 'उस' आदत को छोड़ दे। गाय की खातिर गन्ने के अगौरे की पुलियां बांध चुकने के बाद वह यहीं आ बैठी थी। बगल के पत्थर पर बैठे रंजीत ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में ले लिया था। सुरधनी ने उसकी आंखों में झांका था, उस लत को छोड़ देने के वायदे की चाह उन आंखों में अवश्य थी किंतु उसके होंठों के बीच से वह वायदा बाहर नहीं आ पाया था। सुरधनी अपने पति की उस मुस्कान से आश्वासन-सा पाकर चली गयी थी। उसने अपने कानों में हवा की सरसराहट के साथ अतीत को बोलने दिया—'हमारी एक बेहतर जिंदगी बन जाए, बस इसीलिए ऐसा करता हूं, धानी।'

यह एक बार की कही हुई बात नहीं थी। घर पर सास-ससुर के बीच सुरधनी

ने रंजीत के सामने वह बात कभी नहीं उठायी थी। पहली बार जब उसने उससे विनम्रता के साथ वह अनुरोध किया था तो दोनों की शादी हुए आठ महीने बीत चुके थे और वह पांच महीने का गर्भ लिए हुई थी। गन्ने की कटाई के बाद उस दोपहरी में खेतों के मध्य सुरधनी ने हिम्मत की थी—"मंगली भौजी बता रही थी कि उसका भंसूर इसी लत के खातिर...!"

उसकी बात को बीच में काटते हुए रंजीत कह गया था— "खेती में काम आने वाली दवा खाकर जान दे बैठा था। तुम मुझे भी उसी की तरह कायर समझती हो क्या?" सवाल इतने तीखेपन से किया गया था कि सुरधनी की आगे उस मुद्दे पर बात करने की हिम्मत महीने भर नहीं हो पायी थी।

नीचे की उस घाटी में जहां-तहां देश के छोटे खेतिहर अपने सब्जियों के खेतों में जुटे दिखाई पड़ रहे थे। कहीं गाय पालने वाली औरतें घास काटने में लगी हुई थीं। आज सुरधनी उनके साथ नहीं थी क्योंकि आज उसे अपने पांच वर्षीय संजू को प्राथमिक पाठशाला में दाखिल कराना था। दोपहर बाद वह दोबारा स्कूल गयी थी और छुट्टी के बाद अपने संजू के साथ घर को लौटकर, घंटे बाद संजू को साथ लिए इधर आ गयी थी।

शाम को मंगली के घर से अपने ससुर के लिए अगियाखर की पत्तियां लेकर ही वह इधर आयी थी। मन को सुकून दे जाने वाले इस ठौर पर वह जिस पत्थर पर बैठी थी, वहां की धूप उस तेज ठंड के एहसास को मिटा चुकी थी। घाटी के पार एक ओर मुड़िया पहाड़ अपना प्रभुत्व जताते दिख रहा था तो दूसरी ओर पोर्टलुई के बंदरगाह का एक हिस्सा क्रेव-केर गांव की आड़ से झांकता दिखाई पड़ रहा था। क्रेव-केर ही तो वह गांव था, जहां से उसकी अपनी कहानी का वह हिस्सा शुरू हुआ था जिसमें उसने बहुत कुछ पाकर, बहुत कुछ खोया था। जब वह कहानी शुरू हुई थी तो रंजीत खेतों से जुड़ा हुआ था। वह अपने बाप के साथ कुम्हड़े और खीरे के बीज के लिए सुरधनी के चाचा के यहां आया हुआ था। सुरधनी का बाप फूल उगाता और बेचता था। शहर में उन लोगों की फूलों की एक छोटी दुकान थी। उनका परिवार आठ जनों का बड़ा परिवार था और कमाने वाला एक। पांच बहनों का एक भाई था जो पहले बच्चे के समय से हर बच्चे के जन्म पर प्रतीक्षित रहकर एकदम बाद में आया। उस घर में रंजीत के प्रथम प्रवेश के समय जब सुरधनी सत्तरह वर्ष पूरा कर रही थी, तब पंकज दो साल का, और घर की बड़ी बेटी अमृता बीस वर्ष की थी। गांव के मनोहर अहीर के बेटे के कारण सुरधनी की बड़ी बहन उसे देखने पहुंचे परिवारों के सामने कभी आयी ही नहीं। पिछली बार सब्जियों के बीज के लिए पहुंचे रंजीत के सामने जब वह आ गयी थी तो सुरधनी की मां और उसके बाप, दोनों को यह विश्वास हो चला था कि अमृता के हाथ अब पीले होकर रहेंगे। पर वह विश्वास महज कुछ दिनों तक का ही था क्योंकि रंजीत के परिवारवालों से यह स्पष्ट हुआ कि

उन लोगों ने अमृता को नहीं बल्कि सुरधनी को अपने घर की बहू बनाना निश्चित किया है। अपने मां-बाप की तरह जब सुरधनी भी द्विविधा में पड़ी—न हां बोल पाने की स्थिति में अपने को पा रही थी, और न ना; तभी अमृता उसके गले में बांहें डालकर बोली थी—"मान जा धानी।"

"तुम बड़ी हो दीदी! तुम्हारी शादी पहले होनी चाहिए।"

अमृता हंस पड़ी थी—"मैं शादी के लिए नहीं बनी हूं।"

उसने इस ढंग से 'बनी' शब्द का उच्चारण किया था कि सुरधनी को लगा कि वह किसी खिलौने की बात कर गयी हो। पर नहीं! सुरधनी को तो कुछ वर्ष बाद ही इस बात की अनुभूति हुई कि खिलौना अमृता नहीं थी बल्कि वह खुद थी। अमृता ने तो सारे रीति-रिवाजों को तोड़ सकने की हिम्मत की थी। अपने को धोखा देने वाले के बच्चे को उसने जन्मने ही नहीं दिया, और ना ही किसी मर्द के सहारे के बिना अपने को अधूरी मानने को वह तैयार हुई। आज वह सरकारी नौकरी करके अपने पूरे परिवार का पालन-पोषण, एक मां-बाप की तरह कर रही है। उसी की बदौलत सुरधनी की दूसरी बहन भी नौकरी में है।

अपने गांव की ओर देखती हुई सुरधनी अपने आप से पूछ बैठी, 'आखिर मैं रंजीत के बारे में सोचते-सोचते अपनी बड़ी बहन के बारे में क्यों सोच उठी? क्या इसलिए कि परसों उसने मुझसे यह कहा था कि जब पड़ोस का गणेश उसे उतना महत्त्व देता है तो फिर वह उसकी मांग स्वीकार करके उसकी बन क्यों नहीं जाती?'

पर इस प्रश्न का उत्तर तो वह अपनी बड़ी बहन को उसी समय दे चुकी थी। कहा था, "तुम जैसा साहस सभी औरतों में नहीं होता है, दीदी। और फिर मेरा बच्चा, मेरे सास-ससुर।"

"तुम्हारे ये सास-ससुर आज हैं, कल नहीं रहेंगे। अपने बच्चे के भविष्य का सोचो। जिस खेल को तुम खामोशी साधे खेले जा रही हो, उसमें हार ही हार है।"

"और जिस दांव की बात तुम कर रही हो उसमें जीत ही जीत हो, इसकी क्या गारंटी है? शादी करके जीत की सारी उम्मीदों के बाद भी हार खानी पड़ी। मेरा पति तो दांव पर दांव हारकर भी मुझ से कम ही हारा। मुक्ति ले ली। और मैं हूं कि बंदिनी रह गयी। और तुम मुझे अब इससे भी बड़े बंधन में बंध जाने की राय दे रही हो?"

"मैं रिश्ते की बात नहीं कर रही। एकाकीपन तोड़ने की बात कर रही हूं।"

"तुम अपने एकाकीपन को तोड़ पायी?"

उसके इस प्रश्न का बड़ी बहन ने कोई उत्तर नहीं दिया था। सुरधनी अपनी बड़ी बहन के ख्याल को हटाकर, रंजीत के बारे में सोचने लगी। रंजीत के साथ उसके साढ़े तीन वर्ष तंगहाली के बावजूद खुशियों के दिनों की तरह बहुत जल्दी से बीत गए थे, पर इधर रंजीत की मृत्यु के बाद के ढाई साल युग से लंबे लगे थे। सुरधनी सोच उठी कि कितना अंतर था बड़ी बहन के विचारों और अपनी विचारधाराओं में। बहन की

उस अधूरेपन में संपूर्णता की खुशी और उसके अपने अधूरेपन की वह टीस! बच्चे के जन्म पर रंजीत ने उससे कहा था—"अब अगर मैं नहीं भी रहा तो तुम अपने को अकेला नहीं पाओगी। मेरा बेटा तुम्हें हमेशा एक पुरुष का संरक्षण देगा।"

सुरधनी को हंसी आ गयी। उसने अपने आप से पूछा—'रंजीत के जीवन काल में मैं उसके संरक्षण में थी? उसका सबसे बड़ा साथी तो उसका जुनून था। रातों-रात धनी बन जाने की धुन । कभी-कभी तो आधी रात को नींद में भी वह बड़बड़ा उठता, 'तुम देखना दानी, एक दिन हमारा भी राजमन की तरह आलीशान मकान होगा, कार होगी, नौकरानी होगी। लोग तुम्हें मालकिन कहेंगे।'

वह सोच में गहरे डूबी थी। साढ़े तीन साल एक छत के नीचे रहकर, पति-पत्नी की तरह जीकर जब वह निकटता-अंतरंगता की इच्छा रखकर भी उसे नहीं पा सकी थी, तो फिर अब इस एकाकीपन में वह किस आत्मीय रिश्ते की चाह अपने में लिए हुई थी? सास-ससुर उसे अपनी बेटी की तरह चाहते थे, संजू उसके हृदय का टुकड़ा था तो फिर अमृता किस एकाकीपन की बात कर गयी थी?

उस दिन गणेश ने अपनी लॉरी रोककर सुरधनी और मंगली के सिर के बोझ को लॉरी में रख लिया था। दूसरे दिन मंगली ने उससे कहा था—'धानी! हर आदमी खून-पसीना एक करके दिमाग लड़ाकर अपनी जिंदगी को बेहतर बनाने में जूझा रहता है। गणेश की बन जाने से तुम्हारे और संजू के दिन भी बेहतर हो जाएंगे।'

और सुरधनी मन ही मन कह उठी थी, 'मेरा पति भी तो जिंदगी भर यही चाहता रहा। हमारी जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए अपनी कमाई के पैसे ताश के खेल से लेकर रेस के घोड़ों पर लगाते दांव में गंवाता रहा था। उसका ससुर गांव सभा का प्रधान था। पहली बार रंजीत बाजार से मिले सब्जियों के सारे पैसे पोर्टलुई की घुड़दौड़ में हार आया था तो उसने अपने बेटे से कहा था, "सारी कमाई घोड़ों को खिला आए! रातों-रात धनवान बन जाने का सपना मत देखो रंजीत। मैंने कई लोगों को इस लत के पीछे तबाह होते देखा है।"...'

बाप को रंजीत के शहर के चीनी क्लबों में ताश और दूसरे जूए के खेल की जानकारी नहीं थी। यह बात तो मंगली ने अपने बेटे से सुनकर सिर्फ सुरधनी को ही बतायी थी। अपने बाप की नसीहत का जबाव रंजीत ने इन शब्दों में दिया था—"घोड़ों पर दांव लगाता हूं लॉटरी खरीद कर। लॉटरी खरीदना जूआ कैसे हो सकता है?" सुरधनी ने अपने ससुर को एकाएक अधिक गंभीर हो जाते देखा था—"हां बेटे, लॉटरी खेलना जूआ नहीं, क्योंकि वह सरकार की इजाजत से होता है। अजीब बात हुई, जूआ जब कानूनी होता है तो जूआ नहीं होता।"

"मैं गांजा और शराब नहीं पीता हूं, पापा।"

"गांजा और शराब पीने वाले तो अपने शरीर को नुकसान पहुंचाते हैं, अपने भविष्य को बिगाड़ते हैं पर जूआ खेलने वाला तो अपने मां-बाप, बाल-बच्चे और पूरे

समाज को तबाह कर देता है।''

सुरधनी को वह दिन भी याद है जब रंजीत अपनी घड़ी तक बेचकर उसे चीनी क्लब में हार आया था। उस शाम उसके पास बस के किराए तक का पैसा नहीं बचा था और वह पोर्टलुई से नूवेल-देकूवेर्त पैदल आया था। दस बजे रात को। सुरधनी ने अपने ससुर को पहली बार बच्चों की तरह गिड़गिड़ाते हुए पाया था—''यह क्या कर रहे हो, बेटे!''

रात की समाप्ति पर भी रंजीत को बार-बार करवटें बदलते पाकर सुरधनी ने कहा था— ''पूरे घर के साथ अपनी नींद भी हराम किए हुए हो। हर महीने यदि लगभग सारी कमाई दांव पर जाती रहेगी तो हमारे बच्चे का क्या भविष्य होगा?''

''तुम्हारे और उसके भविष्य के लिए ही तो यह सब कुछ करना पड़ रहा है।''

''सौ हार कर, बीस जीतते हो और लोभ बनाए हुए हो।''

''बहुत जल्द वह बड़ी जीत होकर रहेगी।''

''तीन साल से यही सुनती आ रही हूं।''

''पुजारी जी ने कहा था न कि हमारा लड़का होगा। हुआ न? अभी एक दिन उन्होंने कहा था कि अगले सप्ताह से शुरू होने वाले देवपक्ष में दो और पांच मेरे शुभ अंक होंगे। मैंने दो और पांच नंबर घोड़े पर बारह सौ रुपए जीते थे। मैंने तो सिर्फ तीन सौ दांव पर लगाये थे, अगर बारह सौ लगाता तो बारह हजार हाथ आता।''

''तो तुम्हें अब भी विश्वास है कि पुजारी जी की भविष्यवाणी सच होकर रहेगी?''

''भविष्यवाणी नहीं, ज्योतिष की बात सच होकर रहेगी। मेरा नक्षत्र जागेगा और मैं अपने जीवन की सब से बड़ी जीत हासिल करके रहूंगा।''

''इस बुरी आदत को छोड़ दो। अब तक बहुत हार चुके।''

''दांव लगाने वाला हारता है और जो हारता है वही जीतता है। हमजा चाचा के बेटे ने पिछले महीने दो लाख रुपए जीते थे। रामबरन नाई फुटबाल पूल में पांच लाख जीतकर रहा। मेरी भी बारी आएगी और तुम्हें इस तंगहाली से निकालकर, रानी बना दूंगा।''

अपने घर से दूर बैठी सामने की घाटी को देखती हुई सुरधनी के मस्तिष्क में ये बीते हुए क्षण अपने आप नहीं मचल उठे थे। जो ख्याल हमेशा अपने आप आ जाते थे, आज सुरधनी ने उन्हें खुद अपने भीतर सजीव किया था। कल शाम जब गणेश उसके ससुर की दवाइयां छोड़ने आया था तो ओरियानी के नीचे धीरे से सुरधनी से कहा था—''तुम से बहुत जरूरी बात करनी है। कल शाम मुझे मिलो।''

जगह बताने की जरूरत नहीं थी। एक ही तो जगह थी, जहां दोनों सप्ताह में दो-तीन बार जरूर मिल लिया करते थे। घास लेकर लौटती गांव की औरतों का वहां विश्राम का ठौर था। पिछले सप्ताह अस्त हो रहे सूर्य के समय सामने के पहाड़ की

परछाई वहां की हरियाली पर पसरी हुई थी तो गणेश ने भी तो उसी तरह के शब्द कहे थे जो सुरधनी का पति कहा करता था। गणेश लगभग उसी स्वर में बोला था— "तुम बहुत जूझ चुकी इस अभाव भरी जिंदगी से। मैं तुम्हें खुशहाली की जिंदगी देना चाहता हूं। मेरे घर वाले तैयार हैं। तुम्हारे सास-ससुर को भी कोई आपत्ति नहीं होगी।"

उसका वैसा कहना पहली बार नहीं था। पर हां, सुरधनी के सास-ससुर की इच्छा का उल्लेख उसने पहली बार किया था। सूरज के पहाड़ के पीछे जाते ही धूप ओझल हो गयी और ठंड का एहसास हुआ उसे। उसने सिर उठाकर अपनी दांयीं ओर की सुनसान पगडंडी को देखा। वह जिसकी प्रतीक्षा कर रही थी उसकी जगह मंगली अपने सिर पर घास का बोझ लिए सामने आ गयी। उसके साथ की दूसरी औरतें गांव की ओर बढ़ गयी थीं। सिर का बोझ सुरधनी की मदद से नीचे उतारने के बाद मंगली ने तितलियों के पीछे मस्त संजू को आवाज देकर पास बुलाया। फिर मानो बहुत पहले से सोची हुई बात को मंगली के सामने रखती हुई बोली—"तुम कुछ भी बोलो भौजी, रंजीत ने मेरे ही कारण आत्महत्या की।"

मंगली ने अपने पल्ले से लाल चीनी अमरूद निकालकर पास आ गए संजू की ओर बढ़ाकर कहा, "लो, अमरूद खाओ।"

"अगर मैं उसे अपने मंगलसूत्र का टूट गया अंकुश बनाने को न देती तो वह नौबत नहीं आती।"

"इन ढाई वर्षों में दस से ज्यादा बार कह चुकी हो यह। और मैं भी दसवीं बार तुमसे कह रही हूं कि अगर तुम उसे वह मंगलसूत्र सुनार के पास ले जाने को न भी देती तो एक-न-एक दिन वह उसे दांव पर लगाकर ही दम लेता।"

उसकी शादी का वह दूसरा सप्ताह था। उस रात की वह अंतरंगता उससे कभी भूलाई नहीं गयी। प्यार करने से पहले रंजीत ने उसे अपने बचपन की बातें बतायी थीं और उस लंबे प्यार के बाद बोला था— 'मैं तुम्हें भी धनराज की पत्नी की तरह नई-नई साड़ियों, नए-नए गहनों में देखना चाहता हूं। आंगन में भी मोटरकार का सपना देखता हूं। धनराज स्कूल में मुझे कभी पार नहीं कर पाया, पढ़ाई में हमेशा पीछे रहा। पैसे के बल पर वह शहर में पढ़ने जाने लगा और मैं पैसे के अभाव में पीछे छूट गया। उसे अच्छी-खासी नौकरी मिल गयी और मुझे कहीं चपरासी की नौकरी भी नहीं मिल पायी। वह मुझसे हमेशा बोलता रहता था कि वह बहुत ही सुंदर लड़की से शादी करेगा, पर यहां वह मात खा गया। तुम उसकी पत्नी से कहीं अधिक सुंदर निकली। गांव के लोग तुम्हें इलाके की सबसे सुंदर दुलहनिया कहते हैं। मैं अपनी दुलहनिया को हमेशा दुलहन के रूप में देखना चाहता हूं। गांव में सबसे अधिक सजी-धजी। देख लेना, मैं अपने इस सपने को सच करके रहूंगा।"

वह मदहोशी की रात थी। सुरधनी के अपने जीवन की सबसे निराली रात। बरसात से पैदा हो आई ठंड के कारण दोनों के बदन में अंगारों की गरमी की चाहत

पैदा हो आई थी। उस मधुर रात में वे दो न रहकर एक हो गए थे। मदहोशी टूटने पर जब सुरधनी ने रंजीत के कान में धीरे से कहा था कि मैं रसोई में जा रही हूं, तो रंजीत ने आंखें मूंदे ही पूछ लिया था, "क्या सुबह हो गयी?"

"बहुत पहले।"

और आंखें खुलने पर रंजीत चौंककर चारपाई पर उठकर बैठ गया था। खिड़की से झांकते सूरज को देखकर कहा था—"अरे, सूरज इतना ऊपर तक आ गया!"

मंगली अपनी जगह से उठती हुई बोली—"तुम इंतजार करो। मैं चलती हूं।"

सुरधनी ने सहारा देकर घास के बोझ को उसके सिर पर रखवा दिया। मंगली के चले जाने पर वह फिर से विचारों में खो गयी। इस बार रंजीत नहीं बल्कि गणेश उसके मनमस्तिष्क मैं जैसे कि चिपक गया हो। वह सुरधनी के पास सबसे पहले सहानुभूति लिए पहुंचा था...फिर उसने सुरधनी को उसका सबसे बड़ा हमदर्द होने का एहसास दिया...आत्मीयता बढ़ी और वह दोस्त बन गया...और उस लंबी भूमिका के बाद एक दिन अचानक वह प्रेमी का रूप लिए सामने आ गया। पिछली बार जाते हुए गणेश ने सुरधनी से कहा था—"गांव में सभी की सहमति हमें मिलकर रहेगी।"

रात भर सुरधनी अपने आप से पूछती रह गई थी, 'कैसी सहमति? किस बात की सहमति? मेरे मालिक बनने की?'

शाम का धुंधलापन छाने लगा था जब गणेश सामने से आता हुआ दिखाई पड़ा। बहुत पहले एक बार सुरधनी ने उससे पूछ लिया था—"तुम हमेशा धुंधलके में मुझसे मिलने क्यों आते हो? लोग तुम्हें मेरे साथ न देख पाएं इसलिए?"

"नहीं धानी, ऐसी बात नहीं।"

तो फिर क्या बात थी, वह उसने सुरधनी को बताया ही नहीं। गणेश जब पास आ गया तो सुरधनी बोली, "मैंने तुम से मांग की थी कि कुछ पहले आ जाना। घर लौटकर मुझे खाना तैयार करना है।"

"मैं घंटा पहले आ जाता पर क्या करूं, रामलाल चाचा के खेत से आलू उठाकर मार्किटिंग बोर्ड छोड़ना पड़ गया।"

संजू पर नजर पड़ते ही गणेश कह उठा—"अब तुम्हें मुझसे अकेले में डर लगने लगा है क्या?"

दोनों के बीच एक लंबी चुप्पी रही। जब गणेश भी देर तक चुप्पी साधे ही रहा तो सुरधनी ने कहा— "तुम मुझसे कोई बहुत ही जरूरी बात करने वाले थे।"

"हां।"

"मंगली भौजी कहती है कि तुम उस घर में शायद ही कभी दोनों वक्त खाना खा पाती हो। अपने सास-ससुर और बच्चे को खिलाकर जो बचता है उससे पेट भर लिया करती हो?"

वह फिर चुप हो गया। उस खामोशी को लंबा पाकर सुरधनी बोली— "यही वह जरूरी बात थी?"

"नहीं।"

"तो फिर?"

उसने पतलून की जेब से एक छोटी-सी डिबिया बाहर निकालकर सुरधनी की ओर बढ़ा दिया। सुरधनी पूछ बैठी— "क्या है?"

"वही जरूरी बात, जो तुमसे कहनी थी। इसे थामो तो सही।"

सुरधनी ने उसके हाथ से डिबिया लेकर उसे खोला और दहल-सी गयी। डिबिया के भीतर से किसी बिच्छू ने मानो उसे डंसने की कोशिश की हो। वह तुरंत कुछ नहीं बोल सकी। फिर हैरानी और दर्द मिले स्वर में पूछ उठी— "यह कहां से मिला तुम्हें?"

"जिस आदमी के हाथों इसे हारा गया था, उसे दुगना दाम देकर ला रहा हूं।"

"क्यों?"

"क्योंकि यह तुम्हारा है।"

"मेरा था।"

"अब फिर से तुम्हारा है।"

सुरधनी ने अपने हाथ के मंगलसूत्र को डिबिया में रखा और गणेश को लौटा कर कहा— "नहीं, यह अब मेरा नहीं।"

"इसे तुम्हें देकर मैं तुम्हें अपनी स्त्री बनाना चाहता हूं।"

"तू ही तो एक दोस्त था मेरा।" सुरधनी के स्वर में गहरा दर्द था।

"था?"

बगैर कुछ कहे सुरधनी अपनी जगह से उठी और बेटे की ओर बढ़ गई। गणेश जहां था वहीं से पुकार उठा—"धानी!"

.....

"धानी! मेरी बात सुनो।"

सुरधनी अपने बेटे का हाथ थामकर गांव लौटने वाली पगडंडी पर चल पड़ी। पीछे से गणेश ने फिर से आवाज दी—"ठहरो, धानी!"

'अब तो संजू ही मेरा एक दोस्त है।' कहना चाहा पर वह कह नहीं पाई।

गणेश अपनी जगह पर खड़ा, मां-बेटे को जाते हुए देखता रहा। पहाड़ों के पीछे सूरज समंदर की गहराई में डूब चुका था।

□

दोस्ती की चौथी लड़ाई

महीप सिंह

"विमल, मैं नीता की जिंदगी से पूरी तरह निकल आया हूं... तुम उससे कोई चक्कर चलाना चाहो तो बड़ी खुशी से चलाओ...मुझे कोई एतराज नहीं है।" विमल को लगा, कमल ने सरेआम उसे ऐसा थप्पड़ मार दिया है जिसकी गूंज दूर-दूर तक सुनाई दे रही है।...हिंदी के वरिष्ठ कहानीकार की कहानी।

अचानक वे दोनों एक-दूसरे के सामने पड़ गए और अचकचा गए। दोनों में किसी ने भी ऐसा नहीं सोचा था कि इस तरह वे एक-दूसरे के सामने आ जाएंगे। बीच में एक लंबा अंतराल था, लगभग पच्चीस वर्षों का। दोनों के माथे ज्यादा चौड़े हो गए थे। सिर पर जितने बाल थे, उनसे साफ लगता था कि दोनों ही डाइ का इस्तेमाल करते हैं। कमल के सिर के बीच की चंदिया तो पच्चीस साल पहले ही थोड़ी-थोड़ी नजर आने लग गई थी। अब वह कुछ बड़ी हो गई थी।

दोनों एक-दूसरे को देखते रहे पर कुछ क्षण दोनों में से कोई नहीं बोला। बीच में जैसे सर्दी की जमी हुई सख्त बर्फ हो।

फिर विमल खींच कर मुस्कुराहट अपने चेहरे पर लाया, "कैसे हो?"

"ठीक हूं। तुम कैसे हो?" कमल के चेहरे पर मुस्कुराहट नहीं आई थी। न उसने लाने की कोई कोशिश की थी।

"समय के प्रवाह में जितना ठीक रह सकता था, उतना ठीक हूं।" विमल मुस्कुराया। उसकी मुस्कुराहट में फीकापन काफी था। उसे महसूस हुआ था कि उससे

मिलकर कमल के चेहरे पर कोई परिवर्तन नहीं आया था। वह उतना ही सख्त था, जितना पच्चीस साल पहले।

दोनों बैंक में मिल गए थे। दोनों अपने ट्रेवलर चेक भुनाने आए हुए थे। दोनों का इस शहर से पुराना नाता था। दोनों अब इस शहर में नहीं रहते, लेकिन दोनों ही यहां आते रहते थे।

"मैं रिटायर हो चुका हूं। यहां यूनीवर्सिटी में एक वायवा लेने आया था।" विमल बोला, "तुम कहां हो...क्या कर रहे हो?"

"मैं कलकत्ते में ही हूं। अपना फारेन एसाइनमेंट खत्म करके कई साल पहले वापस आ गया था।" कमल बोला।

"बम्बई कैसे आना हुआ?"

"भतीजा...बड़े भाई साहब का बेटा यहीं है। एक एडवरटाइजिंग कंपनी में एक्जेटिव है। उसी से कुछ काम था।" कमल बहुत धीरे-धीरे खिल रहा था।

दोनों ने कैशियर से अपने रुपए ले लिए थे और बाहर निकलने को थे। दोनों के सामने एक बात बार-बार कौंध रही थी, वे बाहर निकलेंगे...एक-दूसरे को देखकर हल्का-हल्का और फीका-फीका मुस्कराएंगे...फिर हाथ मिलाएंगे...फिर अलग-अलग रास्तों पर चल देंगे।

विमल ने पूछा, "बहुत साल पहले तुम्हारी शादी की बात सुनी थी...कितना बड़ा परिवार है?"

"एक लड़का और एक लड़की।"

दोनों बैंक से बाहर निकल आए थे। सामने एक उडीपी रेस्तरां दिखाई दे रहा था।

"इतने बरसों बाद मिले हैं..." विमल कुछ संकोच से बोला, "एक-एक प्याला कॉफी पी लें।"

उसके मन में आया था कि कमल कहेगा, 'नहीं...मुझे जल्दी पहुंचना है।' तब वह कैसा महसूस करेगा? उसका मूड एकदम खराब हो जाएगा। सारा दिन यह बात उसे टीसती रहेगी।

"आओ...।" कमल बोला और वह उडीपी रेस्तरां की तरफ बढ़ने लगा। विमल ने बहुत हल्का महसूस किया।

दोनों रेस्तरां के अंदर आकर बैठ गए आमने-सामने। उसे याद आया। पहले जब कभी वे किसी रेस्तरां में जाते थे, दीवारों के साथ लगे सोफों पर अलग-बगल बैठते थे। आमने-सामने बैठना उन्हें बहुत फार्मल लगता था। जैसे दोनों बिजनेसमैन हों और किसी बिजनेस डील के लिए मिल रहे हों।

कुछ समय तक दोनों जापान में थे। एक रेस्तरां में जब वे खाना खा रहे थे, विमल का ध्यान सामने बैठे एक युवा जापानी जोड़े की तरफ गया। उस कोने में

आमने-सामने दो कुर्सियां रखी थीं, जिन पर वे दोनों बैठे हुए थे। बीच में एक मेज थी। उस पर उनके कॉफी के प्याले रखे हुए थे। ऐसा लगता था कि वह जोड़ा वहां काफी देर से बैठा था। दोनों चुप थे। बीच-बीच में जब वे कॉफी का प्याला उठाकर अपने मुंह से लगाते थे तो एक-दूसरे से एक-दो शब्द बोल लेते थे।

विमल ने कहा था, "यह जापानी जोड़ा कॉफी का एक-एक प्याला लिए काफी देर से यहां बैठा लगता है। दोनों प्रेमी-प्रेमिका तो लगते हैं पर बोल बहुत कम रहे हैं।"

कमल हंसा था,"जापानी चरित्र बहुत विचित्र होता है। यह जोड़ा सुबह से शाम तक एक प्याला कॉफी लेकर यहां बैठा रहेगा और सारे दिन में आपस में बीस-तीस शब्दों का आदान-प्रदान करेगा।"

"हमारे प्रेमी-प्रेमिका तो बहुत बोलते हैं।" विमल जोर से हंसा था।

वेटर को आर्डर देने से पहले विमल ने पूछा,"कुछ खाओगे?"

"भूख तो लगी है। इडली मंगवा लो।"

दोनों यादों की लंबी और गहरी खंदकों में उतर गए।

उनकी दोस्ती उस समय शुरू हुई थी जब दोनों मैट्रिक पास करके कालेज में आए थे। उन्हें जो अध्यापक हिंदी पढ़ाता था वह बहुत थुल-थुल किस्म का व्यक्ति था। धोती-कुर्ते में उसका पेट इस तरह हिलता रहता था जैसे गीले-उबलों चावलों को किसी पतली चादर की गठरी में बांधा गया हो। उनका नाम हलुआ पंडित पड़ गया था।

एक दिन विमल ने बातों-बातों में उनका जिक्र किया,"हलुआ पंडित दिखता चाहे जैसा हो, पर पढ़ाता अच्छा है।"

उस समय उसकी कक्षा के तीन-चार साथी सड़क पर खड़े चाट खा रहे थे। विमल की बात सुनकर कमल का चेहरा बल खाने लगा था।

"तुम्हारे बाप का रंग काला है। मेरा ख्याल है कि मुहल्ले वाले उन्हें कलुआ महाराज कहते होंगे।"

उसकी बात सुन कर विमल तिलमिला गया था।

"इतना गुस्सा क्यों खा रहे हो? हलुआ पंडित तुम्हारे बाप तो नहीं लगते।"

दोनों के बीच खूब तकरार हुई थी। साथियों के बीच सभी उनकी दोस्ती से परिचित थे। इस बात पर इनमें इतनी तकरार हो जाएगी, इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। लेकिन साथियों ने दोनों के बीच जो कुछ हुआ, उसका खूब मजा लिया और हलुआ पंडित के साथ ही कलुआ महाराज भी प्रसिद्ध हो गए।

विमल सोचता रहा, हलुआ पंडित कहने पर कमल इतना चिढ़ क्यों गया? सभी तो कहते हैं। उसने भी कह दिया तो कौन-सा गुनाह हो गया? उसने दोस्ती का कुछ भी लिहाज नहीं किया...सीधा बाप तक पहुंच गया!

कमल सोचता रहा, विमल ने मुझे चिढ़ाने के लिए...मुझे सुनाकर...हलुआ पंडित कहा...यह जानते हुए भी कि मैं इनका कितना सम्मान करता हूं...मेरे पिताजी के वे मित्र हैं।

दोनों में बोलचाल बंद हो गई।

यह उनकी दोस्ती के पानीपत की पहली लड़ाई थी!

कुछ समय बाद ही दोनों को महसूस होने लगा कि छोटी-सी बात पर दोनों लड़ बैठे हैं। कमल ने सोचा, हो सकता है, विमल को सारी बात मालूम ही न हो।

विमल को कमल बहुत ही अच्छा लगता था। उसमें छिछोरापन नहीं था। वह हमेशा बड़ा संजीदा रहता था। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि इस बात पर वह अपनी सारी संजीदगी कैसे भूल गया।

फर्स्ट इयर पास करके दोनों सेकिंड इयर में पहुंच गए। एक दिन लायब्रेरी में दोनों आमने-सामने पड़ गए।

विमल ने उसका हाथ थाम लिया,"छोटी-सी बात पर तुम इस कदर रूठ जाओगे, मैंने नहीं सोचा था।"

कमल शर्मिंदा-सा दिखा, "विमल, मुझे यह बात हमेशा टीसती रही कि तुम्हारे पिताजी के मित्र के प्रति बड़ी भद्दी टिप्पणी करके मैंने तुम्हारा दिल दुखाया।"

दोनों ने एक-दूसरे के हाथों को खूब दबाया और पीरियड बंक करके कैंटीन की तरफ चले गए।

दोनों बी०ए० फाइनल में आ गए। इन दिनों में विमल ने कालेज की कई वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लिया और पुरस्कार जीते। कमल ने कालेज की क्रिकेट टीम की कप्तानी की और इंटर कालेज मैचों में अपने कालेज के लिए बहुत-सी ट्राफियां जीतीं। विमल कहता, कमल किसी दिन बहुत अच्छा बॉलर बनेगा और क्रिकेट की दुनिया में उसका नाम चमकेगा।

कमल सोचता, विमल में अच्छा वक्ता होने के गुण तो हैं ही, वह अच्छा लेखक भी बनेगा।

कालेज मैगजीन में छपी उसकी कहानी उसे बहुत अच्छी लगी थी।

एक दिन कमल बोला, "विमल, इस बार तुम कालेज की स्टुडेंट यूनीयन के अध्यक्ष पद का चुनाव लड़ो।"

विमल ने इस बारे में कुछ सोचा नहीं था। बोला,"विचार बुरा नहीं है। लेकिन इस काम के लिए तुम अपना मन बनाओ। मैं तुम्हारा धुआंधार प्रचार करूंगा। देखना, तुम जरूर जीतोगे।"

"ये मेरे बस का रोग नहीं है। तुम कालेज में मुझसे ज्यादा पापुलर हो। डिबेट्स के कारण तुम्हारी काफी धाक जम चुकी है।" कमल ने कहा।

'मेरी धाक डिबेट्स के कारण है और तुम्हारी डेट्स के कारण।" विमल

ठहाका लगाकर हंसा। "कैसा चल रहा है....?"

कमल कुछ उदास हो गया।

"क्या बात है? नीता ठीक है ना?"

"वह ठीक है... पर मैं ठीक नहीं हूं।"

"तुम्हें क्या हुआ है? तुम तो एकदम ठीक हो। नीता का बाप तो बीच में नहीं आ रहा है?"

"देखो..." कमल बोला, "नीता बहुत महत्वाकांक्षी लड़की है। तुम मुझे जानते हो...मेरी सीमाओं को भी जानते हो। पोस्ट आफिस के बड़े बाबू की संतान आखिर कितनी बड़ी छलांग लगा सकती है? लांग जम्प की बहुत प्रेक्टिस करूं तो एक नाला पार कर जाऊंगा। मुझसे नदी भी पार नहीं होगी और वह समुद्र पार करना चाहती है।"

विमल ने कहा, "कमल, इस मामले में तुम कुछ ज्यादा ही संजीदा हो रहे हो। हर लड़की शुरू में बहुत महत्वाकांक्षी होती है। वह कल्पनाओं में जीती है। उसे लगता है, जो भी नौजवान उसकी जिंदगी में आएगा, वह एक राजकुमार होगा। ऐसा तो होगा ही कि जो उसकी पलकों में बसे सपने पढ़ सकेगा। फिर धीरे-धीरे सभी लड़कियां यथार्थ की पथरीली जमीन पर आ जाती हैं।"

"यही फर्क है। मुझे लगता है, वह मेरे साथ रहेगी तो बहुत जल्दी पथरीली जमीन से उसका वास्ता पड़ जाएगा। फिर बात-बात पर वह मुझे अपने कटे हाथ दिखाएगी और साड़ी पर पड़े हुए हल्दी के दाग।"

"नीता बहुत बड़े बाप की बेटी तो नहीं?" विमल ने पूछा

"सरकारी दफ्तर में अंडर सेक्रेट्री किसी फन्नेखां से कम नहीं होता।"

लेकिन नीता किसी फन्नेखां की बेटी नहीं थी। उसे इस बात का गुमान ही नहीं था। उससे कमल क्यों कतराने लगा है, उसके प्रति कमल के रवैये में इतना ठंडापन क्यों आता जा रहा है, उसकी समझ में बिल्कुल नहीं आ रहा था। वह अनुमान लगाती, कमल के जीवन में और कोई लड़की तो नहीं आ गई है? लेकिन उसे ऐसा भी कुछ नहीं लग रहा था।

वह एक दिन विमल से मिली।

"विमल जी... आप मेरे और कमल के बारे में सब कुछ जानते हैं। हम दोनों बचपन से एक-दूसरे को पसंद करते रहे हैं। बरसों तक एक-दूसरे के पड़ोसी रहे हैं। दोनों परिवारों में बड़ा स्नेह संबंध रहा है।"

"मैं यह सब जानता हूं... लेकिन यह सब तुम मुझे क्यों बता रही हो?"

नीता कुछ शरमा गई। फिर उसके चेहरे पर उदासी छा गई।

"क्या आप यह नोटिस नहीं कर रहे हैं कि कमल का रवैया मेरे प्रति बहुत बदलता जा रहा है?"

"तुम्हें ऐसा क्यों महसूस हो रहा है?"

"सारी बात तो महसूस करने की ही है।" नीता की आंखें डबडबा आई थीं।

"तुम क्या समझती हो? अगर तुम्हारी बात ठीक है तो इसका कारण क्या हो सकता है?"

"यही तो रोना है।" वह सचमुच रोने लगी," दुनिया में हर अच्छी या बुरी बात का कारण होता है और वह समझ में भी आ जाता है। लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आती...यह ऐसी गुत्थी है, जिसका सिरा ही मेरी पकड़ में नहीं आता।"

उसने अपनी आंखें विमल पर गड़ा दी थीं। "विमल जी...आप कमल के दोस्त हैं...कहूं कि जिगरी दोस्त हैं...एक बात पूछूं...?"

विमल ने देखा, उसके चेहरे की गहरी उदासी में एक चमकीली मुस्कुराहट आग पर रखे हुए तवे की कालिमा में एक चिंगारी की तरह इधर-उधर दौड़ रही है।

"मुझसे कुछ भी पूछने में तुम्हें संकोच नहीं होना चाहिए।"

"कहीं कमल की जिंदगी में कोई और लड़की तो नहीं आ गई है?"

"धत् तेरे की..." वह हंस दिया, "एक लड़की... जिसका नाम है नीता उसके दिलो-दिमाग में इसी तरह भरी हुई है जैसे किसी ब्लैकिए व्यापारी के गोदाम में छतों को छूती हुई अनाज की बोरियां भरी हुई हों। उसमें और किसी की गुंजाइश ही कहां है?"

वह ठहाका लगाकर हंस पड़ा। नीता भी हंसने लगी," वाह, क्या उपमा सूझी है आपको? एक तरफ मेरा और कमल का इतना नाजुक रिश्ता...दूसरी तरफ ब्लैक मार्केट में अनाज बेचने वाले बेईमान व्यापारी के गोदामों में ठसाठस भरी हुई अनाज की बोरियां...वाह क्या बात है! आप भी कमाल के आदमी हैं विमल जी।"

"कमाल का आदमी तो हूं...लेकिन तुम्हारे मामले में कुछ कमाल दिखाऊं तो कुछ बात बने।" वह संजीदा हो गया, "देखो नीता...कमल के मन में तुम्हें लेकर कोई काम्प्लेक्स बैठ गया लगता है।"

"कैसा काम्प्लेक्स?" वह भौचक्की-सी उसे देखने लगी।

"बाहर की दुनिया में जो कुछ घटता है उसका कारण ढूंढ निकालना मुश्किल नहीं है। लेकिन अंदर तो ऐसा गहरा सागर है जिसकी तह आज तक किसी को मिली नहीं। बस हाथ-पैर मारते रहो और छोटी-छोटी लहरों को पकड़ने की कोशिश में लगे रहो।"

विमल ने देखा, नीता उसी तरह उस पर आंखें गड़ाए हुए है।

"इस बात का पता लगाने की कोशिश करो...।"

वह कुछ देर बैठी सोचती रही फिर एकदम बिफरकर बोली थी, "प्लीज विमल जी...आप मेरी मदद कीजिए। कमल मुझसे दूर हो गया तो मेरी जिंदगी में सिर्फ कीचड़ ही कीचड़ रह जाएगा।"

नीता विमल से मिली है, यह बात कमल को पता लग गई। कुछ ऐसा हुआ कि दोनों के संबंधों के जल के ऊपर काली हरी काई आ गई। विमल को अहसास हो गया कि कमल जानता है कि नीता उससे मिली थी। वह कमल को सारी बात बताना चाहता था। लेकिन कमल की चुप्पी देखकर वह सहम गया था।

कई दिन बाद कालेज की कैंटीन में दोनों आमने-सामने बैठे चाय पी रहे रहे थे। विमल कुछ बोलना चाहता था, अपनी सफाई देना चाहता था, पर कमल की गंभीर मुद्रा उसे बोलने नहीं दे रही थी।

कुछ देर बाद कमल बोला,"नीता तुम्हें मिली थी?"

उसके चेहरे पर बल थे जैसे वह किसी बहुत बड़ी साजिश की जांच-पड़ताल कर रहा हो।

विमल उसके सवाल से अचकचा गया। "हां, मिली थी।"

कमल ने उसी मुद्रा में पूछा, "तुमने मुझसे बताया क्यों नहीं?"

"इसलिए कि तुमने मुझे इसका मौका ही नहीं दिया।" विमल बोला,"नीता मुझसे मिली है, यह बात तुम्हें दूसरे ही दिन पता लग गई होगी। जो सवाल तुम मुझसे आज कर रहे हो वह उसी दिन कर सकते थे। लेकिन तुमने तो तुरंत चुप्पी का एक लबादा अपने ऊपर ओढ़ लिया। मुझमें इतनी हिम्मत ही नहीं हुई कि मैं उस लबादे को हटा कर तुमसे दो बातें कर सकूं।"

कमल का चेहरा एकदम तन गया और आंखों में लाली उतर आई। "मैं कोई भूत या पिशाच नहीं हूं... न ही शेर या भेड़िया हूं...! तुम मुझे गलत ढंग से पेंट कर रहे हो।"

विमल उसे एकटक देखने लगा। "मैंने ऐसा तो नहीं कहा।"

"अब तुम मुझसे क्या कहोगे? कहने-सुनने के लिए तुम्हें नीता जो मिल गई है।"

विमल का चेहरा एकदम विकृत हो गया था। "तुम कहना क्या चाहते हो? नीता को मैं बुलाने नहीं गया था... वह स्वयं आकर मुझसे मिली थी। जिसने तुम्हें यह बताया कि वह मुझसे मिली थी, कितना अच्छा होता कि उसने यह भी बताया होता कि उसने मुझसे कया कहा..? क्या बातें कीं?"

कमल के चेहरे पर अजीब-सी विद्रूपता उभर आई थी। "तुम्हारी उससे क्या बातें हुईं, यह जानने की न मुझे जरूरत है, न ही इसकी मुझे कोई गरज है।" फिर वह कुछ देर सामने पड़ी चम्मच से चाय के खाली प्याले को बजाता रहा और उसका चेहरा एकदम सहज-सा दिखा।

"विमल, मैं नीता की जिंदगी से पूरी तरह निकल आया हूं...तुम उससे कोई चक्कर चलाना चाहो तो बड़ी खुशी से चलाओ...मुझे कोई एतराज नहीं है।"

विमल को लगा, कमल ने सरेआम उसे ऐसा थप्पड़ मार दिया है जिसकी गूंज

दूर-दूर तक सुनाई दे रही है।

"ऐसी बात कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई, पर सुनकर मुझे जरूर आई है।"

विमल एक झटके में कैंटीन से बाहर निकल गया था।

यह उनके पानीपत की दूसरी लड़ाई थी।

तीसरी लड़ाई एक विदेशी भूमि पर लड़ी गई थी। लेकिन दूसरी और तीसरी लड़ाई के बीच एक लंबा अंतराल था। विमल एम०ए० करके बम्बई के एक कालेज में लेक्चरार लग गया था। कमल अपनी पढ़ाई पूरी करके कलकत्ता चला गया। उसके पिता की बदली कलकत्ता हो गई थी। वहीं वे सेवामुक्त हो गए थे, फिर वहीं वे स्थायी रूप से बस गए थे।

विमल की शादी हो गई। कमल ने अविवाहित रहने का फैसला किया। नीता ने भी शादी नहीं की थी। उसने नर्सिंग कोर्स करके आर्मी में कमीशन ले लिया था, और देश की सीमाओं पर स्थित अस्पतालों में घायल-बीमार सैनिकों के बीच रहकर अपने होने की तलाश करने लगी थी।

यह अंतराल पांच-छह साल का तो था ही।

दोनों एक-दूसरे से सैंकड़ों मील की दूरी पर थे। दोनों में कोई संबंध नहीं था। कोई हवा इधर-उधर से नहीं आ-जा रही थी।

तभी एक दिन अचानक विमल को कमल का एक पत्र मिला। विमल की एक कहानी को किसी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिला था। कमल ने वह कहानी पढ़ी। एकाएक उसे महसूस हुआ कि यह उसके बचपन के अभिन्न मित्र की लिखी कहानी है। वह मित्र, जिसके साथ सड़क पर खड़े-खड़े उसने कितनी बार चाट खाई थी, मैटिनी शो देखने के लिए कितनी बार क्लास बंक की थी, कालेज की विभिन्न समितियों के चुनाव लड़ने के लिए सारी-सारी रात जागकर पोस्टर बनाए थे, जीवन के कितने सपने साथ-साथ देखे थे।

कमल का पत्र काफी लंबा था। उसने बीच के लंबे अंतराल की स्याही में अपने आपको डुबो-डुबोकर सब कुछ लिखा था। शुरू में उसने लिखा था, 'तुम अच्छे लेखक बनोगे, यह मैं जानता था। तुम्हारी यह कहानी पढ़कर ऐसा लगा जैसे तपती धूप में हवा के कुछ ठंडे-ठंडे झोंके पास से गुजर गए हैं।' और अंत में उसने लिखा था, 'मुझे जापान में एक विश्वविद्यालय में नियुक्ति मिल गई है। मैं तीन दिन बाद ही यहां से उड़ जाऊंगा। जापान का पता लिख रहा हूं। तुम्हारे पत्र की वहीं प्रतीक्षा करूंगा।'

विमल को लगा जैसे किसी फुहार ने आकर सारी मिट्टी को धो-पोंछकर साफ कर दिया है, जैसे एक पत्र ने इतनी लंबी छलांग भरी है कि बीच के कितने वर्ष-महीनों, दिनों और घंटों को लांघते हुए बस कुछ क्षणों में बदल गए हैं।

कमल जापान से लंबे-लंबे पत्र लिखता था। विमल ने एक बार अपने पत्र में

पूछा था, 'सुना है, चपटी नाक के बावजूद जापान में सौंदर्य की कोई कमी नहीं। यह भी सुना है कि जापान की गीशा लड़कियां अपने मेहमानों की बड़ी, दिल लगाकर सेवा करती हैं। क्या इसमें से किसी ने तुम्हारी तपस्या भंग करने की हिम्मत नहीं की। साफ पानी में पड़ा हुआ पत्थर बड़ा अच्छा लगता है, पर उस समय और भी अच्छा लगता है जब उसमें से बुलबुले निकलते हैं। क्या जल में डूबे तुम्हारे पत्थर में से अभी तक कोई बुलबुला नहीं निकला?'

उसने जवाब दिया, 'अगर नदी का बहाव किसी मोड़ पर आकर रुक ज़ाए तो वहां जलाशय बन जाता है। जलाशय का मतलब गंदा तालाब ही नहीं होता। नदी का पानी रोककर ही बांध बनाए जाते हैं। तुम जानते ही हो कि मैं पत्थर नहीं हूं और मुझसे बुलबुले सदा ही उठते रहते हैं। रुका हुआ बहाव जरूर हूं। जब चाहूंगा बांध तोड़ दूंगा और आम नदियों की तरह बह निकलूंगा।'

जापान के उसी विश्वविद्यालय ने विमल के लिए एक वर्ष का एक रिसर्च प्रोजेक्ट भिजवा दिया। दोनों ही बहुत खुश थे। बरसों बाद दोनों इकट्ठे हो रहे थे।

उसी विदेशी भूमि पर उनके पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई।

शुरू के एक-दो महीने दोनों मित्रों में गहरी छनी। फिर उन्हें महसूस होने लगा, कहीं कुछ गड़बड़ है। ऐसा लगने लगा, जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ी है, जैसे-जैसे उनका अनुभव और रुतबा बढ़ा है, उनकी चमड़ी भी सख्त हुई है। उनके स्वभाव, उनकी आदतों में कितना बेलोचपन आ गया है।

एक दिन कमल बोला, ''तुम्हें महसूस नहीं होता कि जापान के लोग कितने सफाई-पसंद हैं। घर के अंदर या बाहर लोग कागज का एक टुकड़ा इधर-उधर पड़ा हुआ नहीं देखना चाहते। तुम हो कि जो चाहा, इधर-उधर फेंक दिया। जहां चाहा, थूक दिया। यहां तुम्हारी ऐसी आदतें मुझे बेहिसाब परेशानी में डाल देती हैं।''

विमल तिलमिला गया, पर बोला कुछ नहीं।

दोनों दिन भर अपने-अपने प्रोजेक्टों को पूरा करने में लगे रहते। शाम को दोनों साथ-साथ कुछ ड्रिंक लेते, फिर किसी रेस्तरां में खाना खाने निकल पड़ते थे।

शाम को जब दोनों भुनी मूंगफली या बादाम के साथ कुछ पी रहे होते, उनमें बहस छिड़ जाती। बहस राजनीति पर भी होती और इतिहास पर भी, वर्ण व्यवस्था पर भी, अस्पृश्यता पर भी। अर्थ-व्यवस्था के मार्क्सवादी माडल पर भी और पूंजीवादी खुले बाजार पर भी। स्कैंडेनेवियन देशों की उन्मुक्त सेक्स-दुनिया पर भी और भारत जैसे वर्जनाशील समाज और परिवार के ढांचे पर भी।

दोनों महसूस करते कि उनके विचारों में कोपनहेगन और फतेहपुर की दूरी सदा बनी रहती है। कमल सोचता—यह आदमी इतना पढ़-लिखकर भी पोंगा का पोंगा रहा। विमल सोचता—यह आदमी बुरी तरह से कुंठित है। अधेड़ उम्र में आया अविवाहित व्यक्ति अनेक कुंठाओं का शिकार हो जाता है, खास तौर से तब, जब

चढ़ती उम्र में कोई लड़की गले की खराश बनकर अंदर अटक गई हो।

पास के ही एक शहर में कमल का एक मित्र था—अभिजीत। वह वहां किसी मल्टीनेशनल कंपनी में काम करता था और अपनी जापानी पत्नी और दो बेटियों के साथ जापान में बरसों गुजारने के बावजूद यह बात एकदम नहीं भूला था कि वह बंगाली है। उसकी बेटियां अपनी मां के साथ जापानी में बातचीत करती थीं, लेकिन अपने पिता को 'बाबा' कहती थीं और बांग्ला ही बोलती थीं।

एक बार अभिजीत परिवार के साथ कमल ने लंबी सैर का कार्यक्रम बनाया। विमल भी उनके साथ था।

उस यात्रा में विमल और अभिजीत अच्छे दोस्त बन गए। पर यह बात कमल को कुछ अच्छी नहीं लगी। लंबी यात्रा से लौटते समय वह बिल्कुल उखड़ गया था। उसने भुतहे घर जैसी चुप्पी साध ली थी, जो सिर्फ सन...सन बजती ही नहीं, भयावह भी लगती है।

वर्ष के कुछ ही महीने शेष रह गए थे। विमल अपना प्रोजेक्ट पूरा करने में लगा हुआ था। इन दिनों उसे कमल से कुछ डर-सा लगने लगा था। कमल की मुद्रा बहुत गंभीर हो गई लगती थी। इसी मुद्रा में उसने एक दिन पूछा था, "विमल, तुम्हारा काम तो संतोषजनक ढंग से चल रहा है ना?"

वह एकदम चौंक गया था। "हां...हां...बिल्कुल चल रहा है...मैं इसे समय से पूरा कर लूंगा।"

कमल ने उसी मुद्रा में कहा था, "सवाल सिर्फ प्रोजेक्ट को जैसे-तैसे पूरा करने का नहीं है...उसकी क्वालिटी भी होनी चाहिए। मैंने अपनी जिम्मेदारी पर तुम्हें यहां बुलवाया है...मैं प्रोजेक्ट डायरेक्टर के प्रति जवाबदेह भी हूं।"

विमल कुछ सहम गया था। एकाएक उसे लगा, उसके सामने उनका बॉस बैठा हुआ है और बड़ी पैनी निगाहों से उसके द्वारा किए जा रहे काम की जांच-परख कर रहा है।

'मैं पूरी मेहनत और लगन से काम कर रहा हूं। तुम्हारी जवाबदेही भी मैं समझता हूं।" वह बोला, लेकिन उसे महसूस हुआ, हर शब्द उसके गले में मछली के कांटे की तरह अटक भी रहा है और चुभ भी रहा है।

कमल कुछ रिलैक्स हो गया। सामने पड़ी मेज पर टांगें फैलाते हुए बोला, "हम भारतीयों में अपने काम के प्रति न तो निष्ठा होती है, न उन्हें जिम्मेदारी का अहसास होता है। वे तो सिर्फ बेगार काटते हैं। बस जैसे-तैसे काम पूरा करो। उनके मुकाबले, जरा जापानियों को देखो। हर काम एकदम चुस्त-दुरुस्त।"

दोनों चाय पी रहे थे। विमल को लगा, एक चम्मच चीनी डालने के बावजूद चाय कड़वी लग रही है। उसने शुगर पाट से एक चम्मच चीनी और लेकर अपनी चाय में डाल ली।

कमल बोलता जा रहा था, "तुमने यहां के दफ्तर में लोगों को काम करते देखा है। एक ही हाल में साठ-सत्तर लोग बैठे काम कर रहे होते हैं। कोई किसी से बात-चीत करता नहीं दिखाई देता। सभी आंखें झुकाए काम करते रहते हैं। बॉस आ जाए तो भी लोग अपनी कुर्सी से नहीं उठते। एक आदमी ट्राली में चाय लेकर दिन में तीन- चार बार आता है। जिसे उसकी जरूरत होती है वह आंख के इशारे से मांग लेता है...बस।" विमल चाय पीते-पीते अपना सिर हिला रहा था। कमल की सारी बातें ठीक हैं। आखिर उसे अपना प्रोजेक्ट पूरा करना है।

कमल दो दिन के लिए ओसाका चला गया। उसी दिन शाम को अभिजीत का फोन आया। "विमल बाबू, आज रात का खाना आप हमारे साथ खाएंगे।"

वह बोला, 'लेकिन कमल तो ओसाका गया है। उसे लौटने में दो-एक दिन लग जाएंगे।'

अभिजीत हंस दिया। "आप किसी पतिव्रता स्त्री से कम नहीं हैं। पति से पूछे बिना वह घर से कदम नहीं निकालती है।"

विमल ने हंसते हुए कहा,"अभिजीत बाबू...पतिव्रता स्त्री नहीं, स्वामिभक्त सेवक कहिए।"

वह बहुत जोर हंसा। "हे सेवक, आज तुम्हारा स्वामी यहां नहीं है। स्वामी का मित्र भी तो तीन-चौथाई स्वामी होता है। इस नाते आज मैं ही तुम्हारा स्वामी हूं। आज्ञा मानो और शाम को समय से आ जाओ।"

जापान की बेस्वाद मछली की जगह उसे रसीली बंगाली मछली खाने को मिली। आधी रात तक वह उस परिवार के साथ बैठा गप्पे मारता रहा। अभिजीत की दोनों लड़कियों में बंगाली और जापानी चेहरों के घुले-मिले नक्श दिखाई देते थे। होठों और ठोढ़ी की बनावट बाप जैसी और नाक तथा आखें, मां जैसी।

कमल वापस आया तो उसने बताया, "परसों रात का खाना मैंने अभिजीत के साथ खाया। महीनों बाद देसी खाने का स्वाद मिला। सचमुच बहुत मजा आया। अभिजीत के परिवार में जाकर बहुत अच्छा लगा।"

दोनों शाम को चाय पी रहे थे। कमल एकदम गंभीर था।

"अभिजीत के घर तुम कैसे पहुंच गए?"

"उसका फोन आया था।"

उसकी गंभीरता और बढ़ गई। कुछ पल वह चाय के प्याले में झांकता रहा। फिर बोला, "तुम जानते हो... इस समय मेरी-उसकी बोलचाल बंद है।"

"अरे...!" वह चौंक गया था,"क्या कहते हो? यह कब हुआ? मुझे तो इसका आभास भी नहीं।"

"तुम्हें यह सब बताने की मैंने जरूरत नहीं समझी। वह मेरा दोस्त था। तुम्हारी उससे एक-दो दिन की जान-पहचान मेरे ही कारण हुई थी।"

विमल भौंचक्का-सा उसका मुंह देख रहा था।

"तुम्हारा उसके घर जाना मुझे अच्छा नहीं लगा।"

"पर... कमल, मुझे तो यह पता ही नहीं था कि इस समय तुम्हारे उसके साथ कैसे संबंध हैं।"

"लेकिन, तुम्हें उसके घर जाने की जरूरत ही क्या थी?" कमल का चेहरा एकदम सख्त हो गया था।

विमल के अंदर जैसे कोई बेहिसाब कड़वी चीज उतर गई। "क्या मुझे कहीं आने-जाने के लिए तुमसे अनुमति लेनी पड़ेगी?"

"हां।" वह एकदम बोल पड़ा। उसके ओंठ फड़फड़ा रहे थे और आंखों से ढलते सूरज की लाली झांक रही थी। 'तुम यहां मेरे निमंत्रण कर आए हो। तुम्हारी मन-मरजी नहीं चलेगी।"

विमल भी तीखा हो गया। 'देखो विमल, तुम्हारे बुलावे पर मैं यहां एक प्रोजेक्ट पर काम करने आया हूं। मैं तुम्हारा गुलाम नहीं हूं। और फिर इस तरह मेरा अपमान करने का अधिकार तुम्हें नहीं है।"

कमल एकदम उठा और कमरे से बाहर निकल गया। विमल अपने प्याले में झांकता रहा जो अभी तीन-चौथाई भरा हुआ था।

यह थी तीसरी लड़ाई। विमल ने अपने बचे हुए एक-डेढ़ महीने में अपना काम पूरा किया और अपनी रिपोर्ट विश्वविद्यालय के दफ्तर में दे दी। फिर उसने एयरलाइंस के दफ्तर जाकर अपनी वापसी की सीट रिजर्व करा ली।

कमल उसे विदा करने नहीं आया।

फिर लगभग पच्चीस साल बाद दोनों बम्बई के एक बैंक में ट्रेवलर चेक भुनाते हुए मिल गए थे।

उडीपी रेस्तरां में इडली खाकर और कॉफी पीकर जब दोनों बाहर निकले तो दोनों के चेहरों से एक सवाल किसी पत्ते पर पड़ी हुई ओंस की एक बूंद की तरह लुढ़क आया—अब?

फिर दोनों के मुंह से निकला, "अच्छा...!"

और मुड़कर दोनों ही अलग-अलग दिशाओं की ओर चल पड़े।

यह पानीपत की चौथी लड़ाई थी, जो बहुत दारुण थी और निर्णायक भी। □

अवसान

सुषम बेदी

हिंदी की सुप्रसिद्ध लेखिका सुषम बेदी पिछले अनेक वर्षों से अमेरिका में रहती हैं और कोलंबिया यूनिवर्सिटी से संबद्ध हैं। भारतीय समाज और पश्चिमी समाज के रहन-सहन के संस्कारों को उन्होंने बहुत गहराई के साथ महसूस करते हुए, अपनी रचनाओं में उकेरा है। यहां प्रस्तुत है उनकी एक मार्मिक कहानी।

जिस तरह से दिवाकर जी रहा था उसे बिल्कुल अंदाज नहीं था कि कल वह इस दुनिया में नहीं होगा!

यूं तो अपने जाने की खबर किसी को नहीं होती पर उसे खास तौर से नहीं थी। इसकी जायज वजहें भी थीं उसके पास।

पहली बात यह कि संसार के जिस सर्वोन्नत देश में वह रह रहा था, वहां छप्पन-सत्तावन साल की उम्र जीवन का मध्य माना जाता है, अंत का सूचक नहीं। फिर सामान्य तौर पर उसकी सेहत भी ठीक-ठाक रहती थी। दूसरों की बीमारियां ठीक करते-करते अपनी नश्वरता की चिंता करने की कभी फुरसत ही नहीं मिली थी उसको।

यही बात मानकर उसने पचासवें में कदम रखते ही तीसरी शादी की थी। यूं शादी, तलाक... ये आम बातें हैं इस देश में। पर वह यहां के अनलिखे नियमों के अनुसार हर सात साल बाद तलाक करता था और तलाक के पांच साल के भीतर ही अगली शादी। इस तरह उसके पांच बच्चे भी पैदा हो चुके थे, जिनमें से चार अपनी-अपनी दुनिया में थे। छह साल का छोटा लड़का उसकी तीसरी पत्नी हेलन से था।

शहर के प्रमुख चर्च में हो रही इस अंत्येष्टि क्रिया में शहर भर के तमाम लोग जमा थे। कम से कम चार-पांच सौ लोग तो होंगे ही। फूलों के ढेर सारे गुलदस्ते हॉल को महकाए थे। जीवन की ताजगी और महक से मौत का अभिषेक किया जा रहा था। उन फूलों की जीवंतता को देखते-देखते सहसा मौत से ध्यान हट जाता था, पर फिर महज उन फूलों की उपस्थिति मात्र ही उसका बरबस ध्यान दिला डालती थी। एक बड़े से लकड़ी के बक्से में रखा फूलों से ही सजा-ढका दिवाकर का जीवनरिक्त शरीर मृत्यु के घट जाने को भुलवा कैसे सकता था?

पादरी बाइबल के सफों से पढ़ रहा था, "प्रभु मेरा चरवाहा है तो मुझे क्या कमी है, वह मझे हरियाले मैदानों से लेटाता है, शांत जल की ओर ले जाता है, वही मेरे आत्म की रक्षा करता है और मुझे सही रास्ता दिखाता है।"

पादरी की आवाज में दिलासा है—कयामत का दिन, स्वर्ग की कामना। मृत के लिए इतरलोक के श्रेयस्कर की कामना। जीवितों के लिए एक लाचार तसल्ली।

लोग मौत की अवश्यंभाविता से डरे, खामोश, अपनी-अपनी कुर्सियों पर अवस्थित।

शंकर को अजीब लग रहा था कि एक केवल वही हिंदुस्तानी था। बाकी सब दिवाकर के डॉक्टरी पेशे से जुड़े लोग थे—अस्पताल के साथी कर्मचारी... डॉक्टर, नर्सें, मरीज। इसमें काले, हिस्पैनिक और गोरे सभी किस्म के लोग मौजूद थे। पिछले तीस बरसों से तो वह यहां काम कर रहा था। इसी शहर के सबसे बड़े अस्पताल का प्रमुख डॉक्टर था। कितने ही मरीजों ने उससे जीवन पाया था जो हमेशा के लिए उसके शुक्रगुजार थे।

उसकी तीनों पत्नियों के परिवार भी मौजूद थे।

दरअसल पहले की दोनों पत्नियों के परिवारों और उनसे जन्मे अपने बच्चों के साथ अब भी उसका रिश्ता बना हुआ था। अभी भी वह उन बच्चों के कॉलेजों की फीसें दे रहा था। उनके जन्मदिनों पर उपहार भेजता था और उन्हें खाने पर बाहर रेस्तरां ले जाता था। पर बच्चे फिर भी उसके न थे। वह उनके जीवन में एक बाहरी तत्त्व था जो किसी दयानतदार रिश्तेदार की तरह अपनी भलमनसाहत की वजह से मदद किए जा रहा था। इसके एवज में उसे उन बच्चों से प्यार नहीं मिलता था। हां, वक्त पर पैसा न पहुंचने की शिकायत जरूर मिल जाती थी। पर वे उससे उपकृत जरूर महसूस करते होंगे, तभी उसके जन्मदिन या क्रिसमस पर वे उसे शुभकामनाओं का कार्ड जरूर भेज देते थे। आज भी वे सभी बच्चे अपनी मांओं के परिवारों के साथ अंत्येष्टि में आए हुए थे।

पर उसके अपने परिवार का कोई भी उसके मृत्यु-संस्कार पर मौजूद नहीं था। रिश्तेदार भारत में ही थे। यूं उनमें अब उसकी मां और बहन ही बची थीं। यहीं पर कुछ मित्र थे, जिनसे मिलना-जुलना चलता रहता था।

वह ज्यादा हिंदुस्तानियों से नहीं मिलता था। पत्नी अमेरिकी थी तो दोस्तों का समूह भी वैसा ही था। शंकर ही उसका करीबी हिंदुस्तानी मूल का दोस्त था। दोनों मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज के दिनों से ही एक-दूसरे को जानते थे। उनकी आज तक दोस्ती बने रहने की शायद यह वजह भी थी कि शंकर की अमेरिकी पत्नी के साथ उसकी पत्नी की निकटता थी। घरों में आना-जाना भी था और बच्चों का भी आपस में मिलना-मिलाना था।

अस्पताल से ही लाश सीधे फ्यूनरल गृह लाई गई थी और आज गिरजाघर में सर्विस थी।

वह नास्तिक था इसलिए उसकी ईसाई पत्नी को ऐसा करने में कुछ गलत नहीं लगा। दोनों की शादी भी कोर्ट में ही हुई थी। यूं भी वह कहां किसी मंदिर के पुजारी को खोजकर क्रिया-कर्म करवाती। शंकर ने कहा तो था कि वह पंडित का इंतजाम कर देगा। अब तो यहां काफी लोग बस गए हैं, अच्छा पंडित भी ढूंढ़ा जा सकता है।

पर हेलन एकदम नर्वस हो कर बोली थी, "प्लीज शंकर! उस बखेड़े में मत डालो मुझे। जो जिंदा होते हुए कभी हिंदू नहीं बना, अब उस पर यह सब क्यों लादना जरूरी है।"

और शंकर कुछ कह नहीं पाया था। विवाद का मौका नहीं था। वह दोस्त की पत्नी के लिए चीजों को आसान बनाना चाहता था। पहले ही शोक से सताई हुई महिला को और कष्ट में नहीं डालना चाहता था। मुश्किल से सात साल ही तो हुए थे उसकी शादी को। दोनों का प्रेम विवाह था। हेलन तो दिवाकर से करीब बीस साल छोटी रही होगी। क्या पता था कि इतनी कम देर जीना था उसे! अचानक उसकी जिंदगी में तो तूफान आ गया था।

पर शंकर को मन में लगा था कि ब्राह्मण परिवार में पैदा होने वाला उसका दोस्त दिवाकर क्या इस इंतजाम से संतुष्ट होगा? शंकर खुद भी नास्तिक ही था। पर फिर भी यह मानता था जो हिंदू पैदा हुआ है वह हिंदू ही रहता है, सो दाह-संस्कार किसी भी दूसरे तरीके से क्यों?

लेकिन हेलन और उसकी पत्नी ने भी हेलन की हां में हां मिलाते कह डाला था कि यह तो खाली सुविधा की बात है। चर्च का सारा इंतजाम साफ-सुथरा है। वहां तो प्रतिदिन फ्यूनरल सर्विस होती ही है। आनेवालों को भी सुविधा रहेगी, पहचानी जगह है। और फिर मंदिर कौन से इस तरह के कामों में अनुभवी है। फालतू में ही घचपच होगी। हवन वगैरह की किसी को समझ भी नहीं। फिर उसके मित्र भी ज्यादातर तो अमेरिकी हैं। किसको समझ में आएंगे संस्कृत के श्लोक!

मन ही मन शंकर को दिवाकर पर गुस्सा भी आ रहा था। यूं ही अचानक बिना बतलाए चल दिया। यह सब तो उसके साथ डिस्कस करके जाना था। अब शंकर न तो उसकी पत्नी पर किसी तरह का जोर डालना चाहता था, न ही दोस्त से दगाबाजी।

यूं नास्तिक होते भी दोनों ने गीता, महाभारत, रामायण सब पढ़ रखे थे। गीता के तो कई श्लोक दोनों को जबानी रटे थे। बल्कि अपनी जिंदगी में संतुलन बनाए रखने के लिए कभी-कभी वे एक-दूसरे के व्यवहार पर श्लोकों के जरिए टिप्पणी करते थे। जैसे कि शंकर उसे कहता था, "भई ये सारे बच्चों की कॉलेज और स्कूल की पढ़ाई का इतना भारी खर्चा तुम्हारा सच्चा निष्काम कर्म ही मानना चाहिए। वरना बीवी छोड़ने पर बच्चों को इतना सिर चढ़ाने की क्या जरूरत है! तुम तो अभी भी पूरी निष्ठा से लगे हो।"

दिवाकर हंसा था, "सबके अपने-अपने कर्मों का फल है। वे अपने हक का ले रहे हैं और मैं अपना धर्म निभा रहा हूं। फिर अब सात समंदर पार आकर मेरा धर्म तो भ्रष्ट हो ही गया है। उसकी एवज में इतनी दौलत आ रही है तो वे भी क्यों न इसका सुख भोगें। शायद ऐसे खटकर मैं अपना पुनर्जन्म सुधार लूं।"

एक बार किसी बात पर बड़ा गुस्सा था शंकर, तो दिवाकर गीता के दूसरे अध्याय का बासठवां श्लोक गाने लगा था, "क्रोध से संमोह होता है और संमोह से स्मृतिनाश, स्मृति न रहने से विचार-शक्ति का नाश होता है और बुद्धिनाश से सर्वनाश।" शंकर का गुस्सा दूर करने के लिए ही इस बाण का उपयोग किया गया था और उसका असर हुआ भी।

पर यह सब बौद्धिक अभ्यास ही था, किसी आस्था का सुबूत नहीं। बस, अजीब बात यह थी कि खुद को नास्तिक कहकर भी उनकी शब्दावली, संदर्भ, सब हिंदू शास्त्रों से ही जुड़े थे। और यह सब अनायास होता था। मूल बात यह थी कि दिवाकर के समूचे व्यक्तित्व में एक उदारता थी, हर तरह के देने में खुलापन था—प्यार, पैसा, विचार, सलाह। यह और बात है कि अमेरिकी पत्नियां होने के कारण वह अपने हिंदुस्तान में बसे घरवालों को अपने यहां ज्यादा बुला न पाता था। पर वक्त-बेवक्त पैसों की खुली मदद जरूर कर देता था। खुद जाकर उन्हें मिल भी आता था।

शंकर से हेलन ने खास इल्तजा की थी, "क्या तुम उसकी मां-बहन को यहां आने से रोक सकते हो? मुझ पर सबसे बड़ा उपकार यही होगा।"

शंकर को एकदम से धक्का लगा था। शायद यह समझकर ही हेलन ने कहा था, "देखो शंकर, एक तो यहां का ही सब कुछ मुझे स्वयं संभालना होता है। ऊपर से मां-बहन के आने से मुझे उनकी भी सेवा में लगना होगा। मैं इस वक्त तन और मन, हर तरह से बहुत कमजोर महसूस कर रही हूं। फिर अब जब कि दिवाकर रहा ही नहीं, तो मुझसे उन सबकी देखभाल का बोझ नहीं ढोया जाएगा। यूं भी कौन ज्यादा मिलना-जुलना था। पांच-पांच साल बाद तो मुश्किल से वह घर जाता था। और व्यक्तिगत रूप से मेरा तो उनसे कुछ लेना-देना था ही नहीं। मैं तो एक बार से ज्यादा उनसे कभी मिली ही नहीं।"

शंकर ने कहा, "सो तो तुम सही कह रही हो हेलन। पर वे इसरार तो करेंगी

ही। आखिर बेटे या भाई का चला जाना... मौत पर वे आना तो चाहेंगे ही। सगे तो ऐसे मौकों पर आते ही हैं।''

हेलन बोली, ''मेरे पास पैसा नहीं है उनकी टिकटें भेजने का।''

''वह मैं दे दूंगा। वे शायद मांगेंगी भी नहीं। पैसा उनके पास भी काफी है। फिर कोई पैसे की परवाह नहीं करता ऐसे मौके पर।''

''तभी तो तुमसे कह रही हूं। वे तो आने को तैयार बैठी हैं। तुम उनके करीबी दोस्त थे। तुम्हारी बात वे समझ लेंगी। मैंने बार-बार उनसे न आने को कहा है पर वे सोचती हैं कि मैं औपचारिक हो रही हूं। जैसे भी समझाऊं, उनको समझ भी नहीं आता।''

''हेलन! वे लोग तुमसे चाहे न भी मिलना चाहें पर उन्हें पोते-पोतियों से तो मिलना होगा।''

''सो मैं उसे छुट्टियों में भारत भिजवा दूंगी। उसकी पहली बीवियां जो करना चाहें करें। मैं अपने बेटे का तो वचन देती हूं, उनसे मिलने जरूर भेजूंगी। पर तुम किसी तरह अभी उनका आना रोक लो।''

और शंकर ने फोन पर कहानियां गढ़कर रोक लिया था:

''हेलन को रोज काम पर जाना होगा। उसके पास आपके साथ बिताने का वक्त नहीं होगा। उसकी तबियत भी ठीक नहीं है। बेचारी बहुत अकेली पड़ गई है...

''बच्चों के भी स्कूल खुले हैं। उनकी जिंदगी में खलल डालना सही नहीं होगा...

''आप लोग यहां आकर करेंगी क्या? सब तो कामों में बिजी होंगे। फिर हवाई अड्डे से लाना-ले जाना, खाना-पिलाना... ये सब बंदोबस्त भी तो हेलन को करने होंगे। ऐसी हालत में कैसे कर पाएगी बेचारी। पहले ही उसका हाल बुरा है। आखिर उसके लिए तो भरी जवानी में ही पति चल बसा। पहले खुद को तो संभाले, औरों की जिम्मेवारी कैसे ले पाएगी...

''दिवाकर तो चला गया जिसके साथ नाता था, उठना-बैठना था। अब यहां किसके लिए आएगी...

''बच्चे आपसे मिलने आएंगे, छुट्टियों में। तब साथ वक्त बिताने का भी मौका मिलेगा। कुछ धैर्य से काम लें। जो गया वह तो लौटेगा नहीं।''

मन में बहुत कष्ट हुआ था शंकर के, पर वह हेलन का नजरिया भी समझता था। बेचारी सच में कैसे संभालेगी उन पक्की हिंदुस्तानी सास-ननद को। छुआछूत, शाकाहारी, पता नहीं कितने तो झमेले होंगे। उसकी अपनी पत्नी जैकी भी तो कितनी नर्वस होती है उसके घरवालों से मिलकर। लाख ख्याल रखने पर भी उससे कोई न कोई गलती हो ही जाती है। कभी पल्ला ठीक नहीं लिया तो कभी पांव को हाथ नहीं लगाया। वह तो खुद इन चक्करों से परेशान हो अकेले ही जाकर मां से मिल आता

है। शुरू में जैकी भी गई थी उसके साथ। अब वह भी अपने कामों में उलझी रहती है और वे दोनों अपनी-अपनी छुट्टियां अपनी-अपनी मर्जी से बिताते थे। साल-दो साल में एक बार बस बच्चों के साथ पारिवारिक छुट्टी वहीं अमेरिका या यूरोप वगैरह में मनाई जाती थी। पिछली बार वह बेटी को भारत साथ ले गया था दादी से मिलवाने। पर बच्चे हर बार साथ चलना भी नहीं चाहते। उनके हमउम्र साथी न हों तो उन्हें कहीं भी जाना भला नहीं लगता।

शंकर ने दुबारा गौर किया कि उस दोस्त के अंतिम संस्कार पर एक भी हिंदुस्तानी नहीं था और शंकर को बहुत अजीब-सा लग रहा था। उसके कान जैसे किन्हीं मंत्रोच्चार के लिए खुले थे, आंखें जैसे आग की लपटों को देखने के लिए आकुल। नासिकाओं में घी और सामग्री की चिकनी गंध कुलबुला रही थी।

पर गिरजाघर के हॉल में सिर्फ पादरी की आवाज गूंज रही थी।

शंकर इस सारे माहौल में बड़ा कुंठित-सा हो रहा था। उसके मन की बात कोई नहीं कह रहा था। वह इस सारे आयोजन में एक दर्शक की तरह था। किसी से कुछ बांट ही नहीं पा रहा था। कितना कुछ तो था उन दोनों के बीच जो अभी भी सांस ले रहा था... शंकर की आंखों के आगे वह नजारा घूम गया जब वह पहली बार इस शहर की जमीन पर उतरा था हवाई जहाज से। दिवाकर ही उसे हवाई अड्डे पर लेने पहुंचा हुआ था। शुरू के कुछ दिन उसी के घर पर टिका था। वहीं उसकी अमेरिकी गर्लफ्रेंड से भी मुलाकात हुई थी। उन दिनों शहर में कोई भी हिंदुस्तानी रेस्तरां नहीं होता था। भारतीय खाने की हुड़क उठती तो खुद ही जुगाड़ करना पड़ता। बस दोनों छड़े-छड़ांग, तरह-तरह के खानों के प्रयोग में जुट जाते। हिंदुस्तानी खाना बनाने और अस्पताल के कर्मचारियों के साथ व्यवहार के तौर-तरीकों से लेकर लड़कियों से डेटिंग तक हर चीज में वही शंकर का गुरु था। यूं वह था तो शंकर से एक ही साल बड़ा पर हर बात में अगुआ। उन दिनों इस शहर में गिने-चुने ही हिंदुस्तानी रहते थे, इसलिए एक-दूसरे का साहचर्य और भी ज्यादा कीमती था। हर बात में एक-दूसरे से सलाह, एक-दूसरे के साथ की चाह। कॉलेज के दिनों की दोस्ती और भी गहरी जड़ें जमाती गई थी।

शंकर की स्मृति उसे और भी दूर, और भी पीछे ले जाती जा रही थी। दिल्ली के तालकटोरा गार्डन में यूथ फेस्टिवल चल रहा था। उन्नीस बरस के शंकर ने जिंदगी में पहली बार एक लड़की को चूमा था और आसमान में उड़ता हुआ धरती पर उतर ही नहीं पा रहा था। तब दिवाकर ने कत्थे-चूने वाला पान उसके मुंह में डालकर कहा था, *"ले खा ले। नशा कुछ नीचे उतरेगा।"*

दिवाकर ने ही उसे कविता और संगीत की ओर खींचा था। डॉक्टरी की दुनिया में उलझे शंकर को कभी भी इनकी खबर न रहती। दिवाकर ने उसे गालिब पढ़वाया था, टैगोर की कविता की खूबसूरती पहचाननी सिखाई थी और रवींद्र संगीत की कोई

भी धुन वह दिवाकर को याद किए बिना सुन नहीं सकता था। उनके इतवारों की दुपहरियां और शामें ज्यादातर हिंदुस्तानी संगीत सुनने में ही निकलती थीं।

अब शंकर के भीतर ही सब कुछ कसमसा रहा था।

पादरी ओल्ड टेस्टामेंट की पंक्तियां पढ़ रहा था—"राख से राख, धूल से धूल, जिस मिट्टी से निकले हैं, उसी में मिल जाना है..."

सहसा कोई सांप-सा सरक गया शंकर की रीढ़ पर से। जैसे कोई मनों मिट्टी के नीचे उसे दफन किए दे रहा हो। अजीब घुटन-सी हुई उसे।

हॉल में एकदम खामोशी थी। सिर्फ पादरी के शब्द कानों के परदों से टकरा रहे थे।

शंकर जैसे मनन कर रहा था अपने पक्के दोस्त की रुखसती पर। भीतर कुछ चिरता जा रहा था। सब खत्म...सब कुछ मिट्टी में... बस, यही था होना...जीवन, हस्ती...अस्तित्व...दुनिया-भर का फैलाव, साजो-सामान...अपने इतने करीबी दोस्त का इस तरह चला जाना...जैसे जिंदगी का काई मायना ही नहीं रहा था...सब कुछ झूठ...भुलावा...क्या सच में कोई सार नहीं, क्या सच में दिवाकर का होना, लोगों के लिए इतना कुछ करना...उसकी दोस्ती, उसका प्यार...यूं ही...अर्थहीन मिट्टी...ये सब लोग...वह खुद...!

कुछ गूंज रहा था शंकर के भीतर...बजने लगा था उसकी शिराओं में...कितना कुछ संचित...अरसे से अर्जित...गुना-मथा हुआ...कहीं दबा-छुपा हुआ...

पादरी 'आमेन' करके डायस से नीचे उतरने ही वाला था कि शंकर सहसा खड़ा हो गया और तेज लेकिन सधे कदमों से डायस की तरफ चला। लोग उसे देख रहे थे, हल्की-सी हलचल मची। लोग हैरान पर चुप थे।

बहुत संयत आवाज में शंकर ने कहा, "अपने दोस्त के लिए गीता के कुछ श्लोक..." और उसने संस्कृत और अंग्रेजी अनुवाद करते हुए एक के बाद एक श्लोक उच्चारित करने शुरू कर दिए। गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक थे ये...'ये न कभी हत होता है, न हत्यारा, न कभी जनमता है, न विनशता, जन्म-मरण से परे देह नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता...जिस तरह जीर्ण वस्त्रों का त्याग कर नए धारण करता है, उसी तरह घिसी देह का त्याग कर नई अपनाता है देह।"

सब उसी खामोशी से सुन रहे थे जिस खामोशी से पादरी को सुना था। शंकर का संस्कृत उच्चारण भी बहुत कर्णप्रिय था। पर फिर भी लोग उस तरह सहज नहीं थे जैसे अब तक थे। शायद उन स्वरों की ध्वनियां उन्हें अजनबी लग रही होंगी। फिर भी उन ध्वनियों में सत्व था, आग्रह था, एक आंतरिक संगीत था जिसे यूं ही अनसुना नहीं किया जा सकता था। सबने सुना और चुपचाप अपनी जगह टिके हुए सुनते रहे।

शंकर की निगाह अपनी पत्नी से मिली। भौचक-सी देख रही थी वह उसे। समझ नहीं पा रही थी शायद कि दाद दे या हैरान हो! उसकी हिम्मत को सराहे या कि इस

अटपटे व्यवहार पर डांट लगाए। शंकर को लगा कि वहां जैकी नहीं, हेलन ही खड़ी हो।

एक डरावनी-सी काली छाया उसके शरीर को दो टुकड़ों में काटती चली गई। सामने कुछ नहीं दीखता था अब। बस, अंधेरे का गाढ़ा काला घोल। पता नहीं कितनी-कितनी परछाईयों से लड़ रहा था उसका अवचेतन! शंकर को लगा, उसकी आवाज खामोश हो रही है। उसके कान में फिर से पादरी की आवाज बजने लगी...मिट्टी से बनकर मिट्टी में ही मिल जाना है! उसे लगा जैसे वह अपना ही अवसान देख रहा है...इसी तरह...ठीक इसी तरह उसकी पत्नी...गिरजाघर की दीवारें...लंबी रंगीन खिड़कियां...बाइबल की पंक्तियां...अनजाने चेहरों का सैलाब...डरे हुए...पस्त चेहरे...धूल मिट्टी के अंतहीन अंबार!

और उसने फिर से जोर लगाया...पल-भर को वह कुछ और देख-सुन नहीं पा रहा था। फिर सहसा...जैसे पानी को काटता हुआ कोई जलपोत...उसके ओठों से फिर से फूट निकला...काट न सकते शस्त्र आत्मा को, आग न कभी इसे जलाती... विकृतिरहित है अविचल आत्म...जन्म नित्य है तो मरण नित्य...

अचानक उसे लगा, ताबूत में खामोश लेटे दिवाकर का चेहरा उसकी ओर देखकर मुस्कुराया है। शंकर के रोंगटे खड़े हो गए। पल के भी छोटे से हिस्से में उसे महसूस हुआ कि दिवाकर कहीं नहीं गया, यहीं है। उसके आसपास। पर वह मुस्कान थी या खिल्ली, इसका फैसला शंकर नहीं कर पाया।

हॉल में अब लौटने वालों के पदचापों और फुसफुसाहटों का शोर शुरू हो गया था। शंकर की आवाज शोर में डूब चुकी थी, पर उसे लग रहा था कि अपनी आवाज वह अभी भी सुन पा रहा है।

□

जापान में वसंत

डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल

हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल आजकल जापान में हिंदी का अध्यापन कर रहे हैं। जापान के विकास और उत्तम स्तर वाले जीवनयापन को वे उनके राष्ट्रभाषा प्रेम से जोड़कर बताते हैं कि जापानी भाषा ने जापानी चिंतन की सांस्कृतिक लय को खंडित नहीं होने दिया है। वे कहते हैं, "भाषा ही 'स्वाधीन आदमी' निर्मित करती है—यह बात जापान ने गांठ बांधकर ही प्रगति की है।" प्रस्तुत है यह यात्रा-संस्मरण।

दूर देश की यात्रा के नाम पर घबरा जाने वाला हिंदू मन इस बार जापान आने के लिए कैसे तैयार हो गया, इसकी एक अपनी ही राम-कहानी है। इस राम-कहानी में दिल्ली के अपने दुःखते-कसकते अनुभव हैं, उन अनुभवों का हाड़-फोड़ दर्द और चित्त की हरारत। अपनी स्थिति-परिस्थिति से संघर्ष करता हुआ जापान—तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज के हिंदी विभाग की ओर चल पड़ा। जापान में मार्च के महीने की रंगत चित्त को उत्साह से भर देनेवाली होती है। बहुत पहले कभी सुना था कि जापान को 'फूलों का देश' कहा जाता है। जैसा सुना था; वैसा ही पाया तो उछल पड़ा। नारिता हवाई अड्डे से निकलते ही चारों ओर साकुरा के फूलों का सौंदर्य। दूधिया हंसी का आकर्षण इतना लुभावना कि मैंने प्रोफेसर तोषियो तनाका जी से संकोच के साथ पूछ ही लिया—"इन फूलों का क्या नाम है?" मधुर-मितभाषी तनाका जी ने मुस्कान भरे मुख से कहा, "साकुरा के फूल। साकुरा का वृक्ष यहां बहुत

पवित्र माना जाता है—देव-वृक्ष है यह! जापानी जीवन-सौंदर्य की अनेक स्मृतियां इस वृक्ष के साथ जुड़ी हुई हैं।'' उनके कथन पर गौर करते हुए मैंने पाया कि जापानी संस्कृति में साकुरा-फूलों का भाव-सौंदर्य है, प्रकृति-लय है और इस लय में तदाकार जीवन। आधुनिकता की मार ने जापान को कैसे छोड़ दिया, मैं सोचने लगा। वृक्ष और फूल की नगर में कदम-कदम पर अद्भुत अदा और अनोखी बहार। वृक्षों के कटने से जो उजाड़-बंजरपन बड़े महानगरों में पैदा होता है—वह तोक्यो में नहीं है। तोक्यो तो फूलों से चित्त को भरमाता है।

जापान में मार्च का महीना वहां वसंत आने का संदेश है। खुला हुआ दिन और गुलाबी ठंडी रातें। सुहावनी सुकुमार धूप साकुरा के वृक्षों पर पड़ती है; अपनी ओर खींचती है और कह देती है कि यह सूरज का देश है—प्रकाश के शत-शत झरनों से नहाता हुआ देश। सफेद साकुरा के फूलों पर चित्त जाता है तो हमारे मन में हूक और हुड़क उठती है। क्यों न उठे? फूल पुष्पधन्वा कामदेव की लीला के भाव जो हैं। इस भाव का अर्थ भारतीय मन न जाने कब से समझता आया है। जापान में वसंतागमन पर 'पुष्पोत्सव' मनाया जाता है—जिसे जापानी भाषा में 'हाना-मत्सूरी' कहते हैं। 'हाना-मत्सूरी' में भारतीय 'मदनोत्सव' की थोड़ी-सी ध्वनि है। मदनोत्सव में दोपहर के बाद पूरा नगर मधुर संगीत से गूंज उठता था और नगर के लोग मदमत्त हो जाते थे। भवभूति के नाटक 'मालती-माधव' में मदन-उद्यान का उल्लेख है—नृत्य-गीत, फूल-क्रीड़ा का उत्सव। अंत:पुर के अशोक वृक्ष तले होनेवाली मदन-पूजा की स्मृति मन में उमड़ती है। 'सुवसंतक' वसंतावतार का दिन है। प्रकृति ने अपने उल्लास से मानव के चित्त को उमंग से भर दिया तो उल्लास ने विलास को पुकार लिया।

ऐसे मनोरम मौसम की पृष्ठभूमि में अपनी धरती के स्पर्श से दूर किसी अन्य देश में होने की भावना और अधिक तीखी होकर उभर आती है, जैसे कोई प्रिय वस्तु दूर हो जाए तो उसकी याद हर उल्लास के अवसर पर हृदय में उठने लगे। हमारा भीतरी मनोभाव ही बाहरी भाव को निर्मित करता है, मनोभावों की परछाईं ही बिंब बन जाती हैं। शहर, मकान, सड़क, फूल, लोग—सब कुछ मन के अनुसार ही दिखाई देता है। जब हम पराये देश को अपने व्यक्तिगत दायरे से निकलकर निर्वैयक्तिक-भाव से देखते-समझते हैं तभी उसका यथार्थ हमारी पकड़ में आता है। इसी कारण जापान का वसंत क्षणभर के लिए मन को अपनी मनोहरता में लुभा गया। 'फूलों का देश' जापान को कहना, अतिशयोक्ति नहीं है—वस्तुस्थिति का एक सीधा-सच्चा साक्षात्कार है। हर जगह स्वच्छता को देखकर भारत की कूड़े और दुर्गंध से भरी राजधानी दिल्ली आंखों के सामने आ जाती है। आजादी के बाद जैसे हमारा मन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक गंदगी से पटता गया है—वैसे ही हमारी राजधानी दिल्ली। विचार, धर्म, दर्शन, राजनीति, राष्ट्रीयता, भाषा, नदी, जल, संचार-व्यवस्था, मूल्य-व्यवस्था का अंधापना कैसे लाया जाना है—यह आजादी के बाद के इतिहास

का एक ऐसा पक्ष है जिस पर विदेश में सोचते ही छाती भर जाती है।

जापान में सबसे ज्यादा आकृष्ट करने वाला पक्ष है—जापानी भाषा के प्रति प्रेम। रेलवे स्टेशन, बाजार, सड़क कहीं भी अंग्रेजी का बोलबाला नहीं है। हर काम जापानी में हो रहा है। यह देश कंप्यूटर-टेक्नालॉजी में आधुनिकतम क्रांति कर रहा है—पर जापानी भाषा में। जापानी में सोच रहा है— जापानी में बाजार-व्यापार-व्यवसाय कर रहा है। हम भारतीय अंग्रेजी में बात करना शुरू करते हैं, पर जापानी उसे समझता नहीं है। समझता है तो अंग्रेजी बोलता नहीं है। बहुत गिड़गिड़ाने पर जापानी व्यक्ति अंग्रेजी में बात करने को तैयार होता है, जबकि आज के जापान पर 'अमेरिकावाद' का जुनून सवार है। बाजार में जापान के लड़के-लड़कियां फैशन में अमेरिका के पीछे दीवाने दिखाई देते हैं। लेकिन जापानी भाषा है कि उनके भीतर के जापानीपन को, संस्कृति-संस्कार को ढाल बनकर बचाए हुए है। विश्वविद्यालयों में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का माध्यम उच्चस्तर तक जापानी है। विदेशी ज्ञान-विज्ञान का, प्रौद्योगिकी की रिसर्चों का यहां ज़ापानी में धड़ाधड़ अनुवाद-कार्य हो रहा है, पर जापानी आज भी अनुवादजीवी भाषा नहीं है। अपनी जातीय लय और प्रकृति, विचार और संवेदना की मौलिकता के साथ अपनी भाषायी अस्मिता को बरकरार रखे हुए है। विश्वभर का ज्ञान-विज्ञान जापानी में मजे से खप रहा है और जापानी 'डाइट' (संसद) में गर्व से जापानी भाषा बोली जा रही है। जबकि दुर्भाग्य से भारत की अपनी विशाल क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा—हिंदी को धकियाकर, सांप्रदायिक भाषा का भाव देकर, अंग्रेजी का साम्राज्यवाद कायम किया गया है। आज कई तथाकथित बुद्धिजीवी कह रहे हैं कि भारत की एकता को अंग्रेजी भाषा ही कायम रखे हुए हैं नहीं तो न जाने कब से यह देश टुकड़े-टुकड़े हो गया होता। वे नहीं सोच पाते कि अंग्रेजी ने ही सभी भारतीय भाषाओं का बंटाढार कर दिया है—उनकी छाती पर सवार होकर, उनके साहित्य को क्षेत्रीयताओं-प्रदेशों में बांट दिया है! भारत में अनेक भाषाओं के रहते हुए भी हिंदी ही एक ऐसी है जिसमें कभी प्रदेश नहीं बोला है—देश बोला है। हिंदी को दबाने-कुचलने का अर्थ है—अंग्रेजी साम्राज्यवाद को सुरक्षित रखना। भाषा के क्षेत्र में हम आज भी जापान से सीख सकते हैं। हम स्वाभिमान, स्वभाषा, जातीय अस्मिता से अपने स्वतंत्र चिंतन का निर्माण कर सकते हैं। भाषा छोटी चीज नहीं होती अस्तित्व और व्यक्तित्व—दोनों की विचार क्षमता और स्वतंत्रता से जुड़ी होती है। पर भारत में भाषा का प्रश्न उठाना 'अरण्य रोदन' जैसा है।

यहां जापान में एक भारतीय्र के लिए इतना नयापन है कि भावना, ज्ञान और तर्क पर अंकुश लगाना कठिन है। जापानी मानसिकता पर स्वतंत्र चिंतन की गहरी छाप है। 'प्रगति' और 'विकास' के क्षेत्र का मॉडल इनका अमेरिका है, पर ये लोग अमेरिका के पिछलग्गु बनकर नहीं रह जाना चाहते। अपने ढंग से अपनी 'प्रगति' का नक्शा बनाना चाहते हैं। अपने पुराने संस्कारों को मांजकर, संशोधित कर आधुनिक

होना चाहते हैं। दूसरे को सम्मान् देना, दूसरे से बहुत आत्मीय व्यवहार करना जापान की सामाजिक-सांस्कृतिक संवेदना का अंग है।

कई दिनों तक तोक्यो में जहां-तहां घूमता रहा। यहां के खुले दिन, हवा में एक स्फूर्तिदायक हलकापन। देखते-देखते आसमान बादलों से भर जाता है—झमाझम पानी बरसता है और फिर एकदम आसमान साफ, धूप निकल पड़ती है। बारिश से धुला नीला आकाश एक गजब का आकर्षण पैदा करता है। आपने सोचा चलो मौसम अच्छा है, किचोजोजी स्टेशन के पास इनोकाशिरा पार्क चलते हैं। ठीक तरह से कपड़े पहने और निकले। थोड़ी दूर 'सनरोड' तक ही आप पहुंच पाए कि हवा मिली वर्षा ने प्यार से घेर लिया। घर से छाता-बरसाती लेकर चले तो वर्षा का नाम नहीं। ज्यादातर जापानी वर्षा से अपने को बचाने के लिए छाता-बरसाती को बहुत ध्यान से रखते हैं। धूप से बचने के लिए टोप तो आदमी-औरत दोनों ही बड़े ठाठ से लगाए घूमते हैं। नये से नये ढंग के पर्स, झोले लेकर चलने का जापानी महिलाओं को बहुत शौक है। दिन भर साइकिल पर बाजार जाना और घरेलू सामान ढो-ढोकर लाते रहना— जीवन का अंग बन गया है। प्रेमीगण अपनी साइकिलों पर प्रेमिका को खड़ा करके लड़ियाते हुए गलियों में मटरगश्ती करते दिखाई देते हैं। यह अनुभव बहुतों को हुआ होगा कि यह देश अपने मौसम की तरह ही उन्मत्त है—भावुक है और भावाकुलता में तरंगायित। 'साके' पीकर झूमता है और 'साके' पीना नशा करना नहीं है—जीवन को आनंद से जीने की मनोदशा में पाना है। इसलिए 'साके' यहां हर अवसर पर पी जाती है, देवता को पिलाई जाती है। इसमें जीवन का पवित्र भाव भी है और चावल के रस से निकला सोमरस भाव भी। यहां का बौद्धिक बहुत-सी 'आइडियालॉजीज' (विचारधाराओं) के नरक की यातना से दूर है। एक जापानी से पूछिए तो वह 'विचारधारा' का तूफान खड़ा नहीं करता, अपने ढंग से अपने सामाजिक-राजनीतिक असंतोष को व्यक्त करता है—जापान-प्रेम के साथ। उसकी जापान-भक्ति बहुत पक्की है। वह कहता भी है कि प्रगति की एक ही परिभाषा है कि आपके बाजार माल से भरे हों और खरीददारों के चेहरों पर प्रसन्नता का भाव हो। दर्शनीय स्थानों पर लोग मस्ती से घूम रहे हों, पिकनिक मना रहे हों, बच्चे उछल रहे हों, समुद्र में मछली पकड़ रहे हों, गर्म सोतों के जल में स्नान कर रहे हों और विविध प्रकार के 'सी फूड' ताजे-गर्म भोजन का लुत्फ ले रहे हों। जापान में गर्म सोतों के स्नान से शरीर को स्वस्थ रखा जाता है। गोरे-तगड़े-मांसल-सुंदर जापानी का स्नान-योग अनुपम है। यहां की युवा पीढ़ी नावों की दौड़ों, तैरने की प्रतियोगिताओं में बहुत दिलचस्पी रखती है। स्वयं तोक्यो विश्वविद्यालय में एक पूरा दिन इन प्रतियोगिताओं को दिया जाता है।

एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी है, पर यहां की द्रुतगामी ट्रेन-व्यवस्था बहुत अच्छी है, हर दो-तीन मिनट पर ट्रेन आती रहती है। बच्चों और बूढ़ों तक को चढ़ने

में सुविधाजनक। वृद्धों के लिए ट्रेन में अलग से सीटें। नई पीढ़ी में पुरानी पीढ़ी के प्रति सम्मान का भाव है। दिल्ली की बसों में पिसा हुआ मेरा मन जापान की यातायात-व्यवस्था को देखकर दंग रह गया। तोक्यो दुनिया के बड़े महानगरों में से एक है, पर इतनी गजब की यातायात-व्यवस्था। रेलवे की जमीन का ऐसा सदुपयोग। पुल बनाकर खड़ा शहर और उनमें आधुनिक बाजार-व्यवस्था। उपयोगिता की दृष्टि से यातायात-व्यवस्था में जापानी दिमाग की कला का कमाल। साफ-सुथरा व्यवस्थित यातायात का जीवन। बसें बहुत कम और बहुत किराया लेने वाली। इसलिए रेल-यात्रा ही जनता को जीवन दिए रहती है। साइकिलें चलती हैं और चारों ओर एक ताजगी, एक उमंग फैली दिखाई देती हैं। 'विदेशी' व्यक्ति की सहायता के लिए हरदम तैयार जापानी अपना काम छोड़कर 'विदेशी' की सहायता करना—पता नहीं यह देव-संस्कार कहां से आया है। जापानी दुकान में घुसिए—दुकान का मालिक स्वागत-भाव में फूल बिखेर देगा—व्यापार-कला में उस्ताद। सबसे बड़ी बात है कि यहां हर जगह रात-दिन लड़कियां अकेली घूमती हैं—बहुत उत्तेजक-आधुनिक पोशाकें पहनती हैं पर कोई भी युवक उन्हें छेड़ते या उन पर ताना कसते या उन्हें घूरते नहीं मिलता है। इनकी नई पीढ़ी का आपस में यह व्यवहार मेरे जैसे भारतीय को चक्कर में डालता है और इसके कारणों को मैं समझ नहीं पाया हूं। जापान में लड़कियां-महिलाएं एकदम सुरक्षित और निर्भय। इस निर्भयता और सुरक्षा के भाव ने यहां की लड़कियों में एक स्वतंत्र मानसिकता का व्यक्तित्व विकसित किया है। और इस नई पीढ़ी का अपना संघर्ष कम नहीं है, हाड़तोड़ प्रतिस्पर्धा कम नहीं है, जीवन की चिंताएं, विषमताएं, प्रश्नाकुलताएं, अकेलापन कम नहीं है।

जीवन-स्तर काफी ऊंचा होते हुए भी उस स्तर के अनुपात में समस्याएं कम हैं— पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक समस्याएं। हां, भीतर से जापानी समाज 'अलगाववाद' से पीड़ित है—भीतरी पारिवारिक व्यवस्था टूट-फूट रही है—पिता-पुत्र के संबंध बड़े ही जटिल-कुटिल और दूरी के हो गए हैं। उदासी, आत्मनिर्वासन, अकेलापन, ऊब-विसंगति, आत्महत्या कम नहीं है—अपनी व्यथा को भीतर ही भीतर झेलता जापानी। अमेरिकी संस्कृति-सभ्यता की मार से घायल जापानी की अपनी अलग व्यथा-कथा है। उसका मन अभी भी शिंतों या बौद्ध-धर्म में शरण पाए हुए है—तमाम अपने देवी-देवताओं को पुकारता मन है—जीवन-रस को पूरी तरह भोगने को बेचैन मन!

तोक्यो विश्वविद्यालय के विदेशी भाषा-विभागों में संसार भर से आए अतिथि-प्रोफेसर। धीरे-धीरे अजनबीपन को तोड़ते हैं— केवल देखकर मुस्कराने के साथ। फिर एक दिन एक झटके में हाथ मिलाकर कहते हैं — 'इंडियन'। बातचीत शुरू होने पर अपने कमरे में आने का निमंत्रण देते हैं। जाने पर कोई औपचारिकता नहीं। आपको लगता है कि अलग देश, अलग भाषा, अलग धर्म-रिवाज आदि के होने पर भी आदमी भीतर से कितना एक है। वह आत्मा-विस्तार चाहता है; सहयोगी बनकर

आपके मन में अपना स्थान बनाना चाहता है। आदमी के भीतर का आदमी यहां दिखाई दे जाता है। भाषा की दूरी को भाव की सहज आत्मीयता मिटा देती है। प्रो० तनाका मुझे हिंदी में समझा देते हैं। उन्हें मिलकर मुझे शुरू से ही ऐसा लगता रहा हैं कि हम दोनों न जाने कितने जन्मों से परिचित हैं। दोनों में 'हृदय-संवाद' चलता है—कोई कठिनाई नहीं। खाने-पीने में एक-दूसरे की पसंद का ख्याल। तनाका जी ने अभी हाल ही में दस वर्ष तक लगातार गुजराती सीखकर, गुजराती से जापानी में गांधी जी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' का अनुवाद किया है। वे गांधी जी की आत्मकथा के अनुवादक ही नहीं हैं—गांधी विचार-दर्शन के परम भक्त भी हैं। भारत में वे अज्ञेय, यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, रघुवीर सहाय जैसे साहित्यिकों के मित्र रह चुके हैं। भारत के भीतर रचे-बसे और हिंदी के स्वनामधन्य रचनाकारों से परिचित राही मासूम रज़ा और हरिशंकर परसाई के रचनाकर्म पर आशिक, आजकल निर्मल वर्मा के सृजन-विचार-लोक की अंतर्यात्रा में पूरी तरह तन्मय-समर्पित।

श्री तनाका जी के साथ 'हृदय-संवाद' सेतु बने अभी दो-तीन दिन ही हुए थे कि वे मुझे साकुरा-वृक्षों के फूलों की बगिया में ले गए। यह बगिया तो क्या श्मशान भूमि का मनोरम-पावन स्थल है। भव्य-रमणीय और काव्यमय स्थल। उस स्थल को दिखाते हुए उन्होंने कहा कि, "यह स्थान अज्ञेय जी को बहुत पसंद था। जापान-यात्रा के दौरान वे मेरे पास ही ठहरे थे और कई स्थानों पर घूमे थे।" इस बात को सुनकर मैं चौंक पड़ा—मुंह से निकल पड़ा, "अज्ञेयजी!" इस प्रकार का विचार इसलिए भी ध्यान में आया कि अज्ञेय जी हिंदी के उन इने-गिने लेखकों में से एक रहे हैं जिन्हें प्रकृति से गहरा लगाव है। भारत में 'प्रगति' के नाम पर वनों पर जो आरे चल रहे हैं, निर्ममता से वृक्षों को काटा जा रहा है—उसकी चिंता से अज्ञेय जी बेचैन रहते थे। 'नन्दा देवी' के वन-विनाश पर उन्होंने बहुत-सी कविताएं लिखीं। पर्यावरण प्रदूषण और बौद्धिक प्रदूषण—दोनों से उनमें बेचैनी थी। सघन वृक्षों की भव्यता मानव-मन को आनंद से भर देती है। जापानियों का यह विश्वास है कि आसमान की दिव्य शक्तियां ऊंचे वृक्षों का सहारा लेकर धरती पर उतरती हैं और धरती के मानव को जीवन में श्रेय और प्रेय दोनों की प्राप्ति का संदेश देती हैं। इन विचारों का अज्ञेय जी के रचनाकार-मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने 'असाध्यवीणा' की कथा का जापानी ढंग से प्रियवंद बनना स्वीकार किया और नए सृजन की असाध्यवीणा को बजाकर ही दम लिया। जापान से 'हाइकू' ही नहीं लिया—'चक्रांत शिला' की कविताओं में वह प्रकृति भाव-दर्शन भी विचार-मंथन से व्यक्त किया जो भारत और जापान की आंतरिक लय है। यही विचार-लय अज्ञेयजी को 'जेन बुद्धिज्म' की ओर ले गई। जापान में बौद्धधर्म की चार धाराएं हैं—चार सम्प्रदाय हैं; (1) होनेन् का अमित-सम्प्रदाय (2) शिनरन् का शिन् सम्प्रदाय (3) निचिरेन का विचार और (4) दोजेन का

जेन् सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायों में से अज्ञेय जेन्-सम्प्रदाय या ध्यान-सम्प्रदाय की ओर ही क्यों मुड़े? जबकि उन्हें अपने विचारों की दृढ़ता के लिए भीषण यंत्रणाएं सहने वाले साधक निचिरेन् की ओर मुड़ना चाहिए था, पर वे दोजेन की ओर ही क्यों गए? इस प्रश्न का एक संभावित उत्तर यही हो सकता है कि अज्ञेय ने दोजेन् (बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के जेन् सम्प्रदाय पर ध्यान इसलिए भी दिया कि दोजेन् ने चीन से लौटने के बाद बौद्ध-विहारों के संगठन और अनुशासन में जीवन समर्पित कर दिया। यह बात अज्ञेय के व्यक्तित्व के काफी अनुकूल थी क्योंकि वे भी तो विदेशों से आकर भारत में साहित्यिक संगठन के कार्य में लग जाते थे— व्यवस्था और अनुशासन के साथ। मुझे लगता है कि व्यक्तित्व के स्तर पर अज्ञेय का हेमिंग्वे से दूर का संबंध है, लेकिन दोजेन् से पास का। क्योंकि जेन-सम्प्रदाय एक ऐसी विचारधारा है जिसका उद्देश्य 'पूर्ण मानव स्वतंत्रता' है। इसमें युक्तियों और विचारों और सिद्धांतों की गुलामी को जगह नहीं है। इनका मानना है कि चित्त-समाधि से ही अंतिम सत्ता का अनुभव किया जा सकता है—यह अनुभव वैयक्तिक भेदों, सामयिक परिवर्तनों से रहित हैं। अतः इस सत्ता का वैयक्तिक रूप में नहीं वैश्विक रूप में अनुभव किया जा सकता है। जेन-दर्शन आत्मनियंत्रण के साथ निर्भय और स्थिर रहने का संदेश देता है। इसीलिए बड़े-बड़े योद्धा 'तोकियोरि' तथा 'तोकिमुने' तक जेन-मत में साधक बनकर आए। जेन-मत की पूरी स्थिति अज्ञेय की मनोभूमिका के अनुकूल थी। वे भी तो विपत्तियों की चट्टानों से टकरानेवाले, निर्भय रहनेवाले स्थिर भाव-भूमिका के योद्धा थे। अपनी बौद्धिक साधना में निर्भय और चित्त-समाधि के साधक। इस तरह की बातें बहुत देर तक मैं प्रो० तनाका से करता रहा। प्रो० तनाका ने अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' पर चिंतन-विश्लेषणपरक कार्य किया है और अज्ञेय जी के मित्रों में से रहे हैं, इसलिए अज्ञेय पर उनसे बात करना अपने में विशिष्ट अनुभव है। मैंने पाया कि जापान में अज्ञेयजी का आदर बहुत है। शायद अज्ञेयजी स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के हिंदी साहित्य के अकेले रचनाकार हैं, जिनके नाम और सृजन से जापानी लेखक और पाठक परिचित हैं।

'स्वतंत्र व्यक्ति ही स्वतंत्र चिंतन कर सकता है' इसलिए 'स्वतंत्रता' ही जीवन का सर्वोपरि मूल्य है—यह बात जापान के चिंतन में आज भी ध्वनित है। जापान पर अमेरिकी संस्कृति का प्रभाव ऊपरी तौर पर है, पर वह भीतर तक भिद नहीं पाया है। इसका कारण है कि जापानी भाषा ने जापानी चिंतन की सांस्कृतिक लय को खंडित नहीं होने दिया है। भाषा ही 'स्वाधीन आदमी' निर्मित करती है—यह बात जापान नें गांठ बांधकर ही प्रगति की है। यह भाषा का लगाव भी अज्ञेयजी को जापान की ओर ले जाता है क्योंकि अज्ञेय जी तो लगभग पांच-छह दशकों तक हिंदी में भाषा-अस्मिता संवेदना-मौलिकता-परंपरा की बात पूरी निष्ठा से करते रहे। विकसित देशों में जापान की ओर उनका ध्यान जाने का विशेष कारण जापान का अपनी भाषा से

प्रेम भी था जिसका भारत में घोर अभाव उन्हें गहरी पीड़ा देता था।

और अंत में, आश्चर्य की बात है कि जापान के शिक्षित समुदाय में कबीर-निराला-प्रसाद की चर्चा नहीं है। हिंदी से जुड़े लोग भी यहां कबीर-निराला की चर्चा नहीं करते हैं। लेकिन मौका पाते ही मोहन राकेश, रघुवीर सहाय और निर्मल वर्मा की चर्चा करते हैं। भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' का जापानी अनुवाद यहां लोकप्रिय है और मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' भी चर्चित है। असल में जापान में 'आइडियालॉजीज़' का वह भंवरजाल नहीं है जिसमें फंसकर भारत का बुद्धिजीवी छद्म-बुद्धिजीवी भी कहलाने का अधिकारी नहीं रहा है। जापान में अपनी जमीन से जुड़ने का भाव प्रबल है और परंपराओं के प्रति आदर का भाव। □

मदुरै में मीनाक्षी

रूपसिंह चंदेल

दक्षिण भारत की यात्रा पर जाकर पता लगता है कि यदि मदुरै नहीं गए तो यह यात्रा अधूरी रह जाएगी। विश्व प्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर वाला यह नगर प्राचीन काल से ही एक दिव्य नगरी के रूप में विख्यात रहा है। तमिल भाषा का भी यह मुख्य केंद्र रहा है। इसकी अद्यतन यात्रा करा रहे हैं सुप्रसिद्ध रचनाकार रूपसिंह चंदेल।

तमिलनाडु में चेन्नै के बाद मुदरै दूसरा महत्त्वपूर्ण शहर है। लगभग बारह लाख की आबादी वाला यह शहर दक्षिण का प्रमुख व्यावसायिक केंद्र है। यहां धूल भरे फुटपाथ और किसी अव्यवस्थित शहर की छाप भी देखी जा सकती है। कुछ सड़कें स्वच्छ और सुंदर हैं। होटल से बाहर निकलते ही कुछ अजीब लगा। अब तक की यात्रा में जिस शांत वातावरण से होकर हम आए थे, यहां से वह कोसों दूर था। मैसी रोड में चलना कठिन था और बस अड्डे के पास मुख्य मार्ग पर वाहनों की भीड़ किसी महानगर से होड़ लेती प्रतीत हो रही थी। लेकिन वह क्षेत्र रोशनी में नहाया हुआ था।

'होटल तमिलनाडु' के रिसेप्शन पर मुझे 'कोडैकनाल' जाने के विषय में कुछ सूचना लेने का मोह था। मैं कुछ देर वहां तैनात कर्मचारी से बातें करता रहा। बात नहीं बन रही थी। उसके पास ही एक अधेड़ महिला बैठी थी। वह बोली, ''आपको 'बेटर' सलाह देती हूं... आप प्राइवेट टुअर्स वालों के चक्कर में न पड़ें। प्रायः वे 'चीट' करते हैं। आप यहां से तमिलनाडु राज्य परिवहन की बस ले लें। चार घंटे की यात्रा

है कोडैकनाल की। वहां बस अड्डे से टूरिस्ट बस या टैक्सी ले सकते हैं। घूमकर रात तक लौट भी सकते हैं।''

''यहां मदुरै में कौन-कौन से दर्शनीय स्थल हैं?'' मुझे वह महिला काफी भली लगी।

''यहां मीनाक्षी मंदिर, अळगर कोयिल (मंदिर), तिरुमलैनायक महल, गांधी म्यूजियम...'' वह कुछ रुकी, फिर समझाने की दृष्टि से बोली, ''मीनाक्षी मंदिर यहां से दो किलोमीटर होगा और उससे एक किलोमीटर दूर है नायक महल।''

''और अळगर कोयिल...।''

''वह थोड़ा दूर है... आप ऑटो ले सकते हैं। या यहां से चार नंबर बस जाएगी। और भी हैं देखने योग्य स्थल। चार किलोमीटर की दूरी पर पळमुदिर चोलै मंदिर है।''

मैंने उस भद्र महिला को धन्यवाद दिया और होटल से बाहर आ गया। अभी सीढ़ियां उतर ही रहा था कि दो लोगों ने घेर लिया, ''सर, कौडैकनाल...एक सौ साठ रुपए में घुमाना, ब्रेकफास्ट और लंच...सुबह सात बजे की बस...''

''नो थैंक्स।''

''आप अभी बुकिंग करवा लें...आप जहां भी ठहरें होंगे, बस आपको वहां से पिकअप कर लेगी। डीलक्स बसें हैं सर...।''

हमने उत्तर नहीं दिया। वे एजेंट सड़क पार करने तक हमारे पीछे चलते रहे—छायाओं की भांति। सड़क पार कर कुछ कदम बढ़े ही थे कि एक व्यक्ति, हाफ शर्ट के ऊपर लुंगी लपेटे पीछे लगा, ''सर कहीं ठहरना मांगता...अच्छा होटल है सर! कोडैकनाल, रामेश्वरम जाने का...सब अरेंजमेंट है साब...।''

''नो थैंक्स।''

''आप कोई उत्तर ही न दें... जितनी बार उत्तर देंगे...इसका हौंसला बढ़ता जाएगा।'' पत्नी ने सलाह दी।

हम एक ऐसे भोजनालय की तलाश में थे जहां चावल-चपाती मिल सकें। लेकिन कहीं कुछ दिख नहीं रहा था। हम उहापोह में आगे बढ़ते रहे। हर दो मिनट बाद कोई न कोई टकराता रहा जो दो-चार मिनट हमारे पीछे चलता और हमें कहीं घुमाने का प्रस्ताव देता, या होटल तक छोड़ देने या होटल दिला देने की बात करता। रिक्शेवाले साथ चलते और ऊंचे किराये से कम करते दो-चार रुपए तक आ जाते। लेकिन हमने तय कर लिया था कि किसी को भी उत्तर नहीं देना। वे बोर होकर चले जाएंगे। और होता यही रहा।

सड़क में कहीं तेज रोशनी थी तो कहीं हल्की और कहीं एकदम अंधेरा ...खासकर होटल से बस अड्डे तक। मन में आशंका होती, कहीं ये लोग हल्के अंधेरे का लाभ उठा हम पर झपट न पड़ें। अजनबी शहर, जब तक हम शोर मचाएंगे और

लोग समझ पाएंगे, तब तक ये कुछ भी कर सकते हैं। अब हमें चिंता थी कि किसी प्रकार किसी रेस्तरां में पेट में कुछ डाल, होटल में पहुंचें और अगले दिन का कार्यक्रम तय करें।

इसी बीच हम रास्ता भटक गए। फिर लौटे और सही रास्ता लिया। समाने एक होटल दिखा। देखा, संभ्रांत लोग भोजन कर रहे हैं। वहां चावल-सांबर का स्वाद ले हम जब होटल में पहुंचे, साढ़े नौ से ऊपर हो चुका था।

होटल पहुंचकर पत्नी ने घोषणा कर दी कि मीनाक्षी मंदिर और नायक महल देखने के बाद हम रामेश्वरम प्रस्थान कर देंगे। कोडैकनाल नहीं जाएंगे।

रात भर मैसी रोड जागती रही। वाहनों का कर्णकर्कश शोर बार-बार मुझे जगाता रहा।

सुबह आठ बजे हम मीनाक्षी मंदिर के लिए पैदल ही निकल पड़े। चौराहे पर मैसी रोड से दाहिने मुड़ते ही मीनाक्षी मंदिर दिख रहा था। एक रिक्शावाला पीछे पड़ गया। दस रुपए मांगने लगा मंदिर तक के जाने के। मंदिर सामने दिख रहा है और दस रुपए मांग रहा था? मुझे हंसी आयी।

सड़क में भीड़ अधिक नहीं थी। अधिकांश लोग पैदल या रिक्शा में थे। हवा में ताजगी थी। स्वच्छ और ताजी हवा को मैं फेफड़ों में भर लेना चाहता था।

मंदिर का भव्य आकाश से बातें करता उन्नत दक्षिणी गोपुर हमारे सामने था और हम चित्रखचित-से निर्निमेष उसे निहार रहे थे।

मदुरै के मध्यभाग में स्थित है मीनाक्षी मंदिर जिसे दक्षिण भारत का गौरव कहा जाए तो अनुचित न होगा। दक्षिण भारत के शिल्प, चित्र, मूर्ति और वास्तुकला का अद्भुत सौंदर्य इस मंदिर में विद्यमान है।

मीनाक्षी मंदिर के विषय में एक दंत कथा प्रचलित है। कहते हैं कि लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व, जहां आज 'लोटस पॉण्ड' है, उसके चारों ओर घना जंगल हुआ करता था। 'लोटस पॉण्ड' के स्थान पर इंद्रदेव ने शिव के स्वयंभूलिंगम स्वरूप की घोर तपस्या की जिससे यह स्थान पोला हो गया। बाद में पांडिय नरेश कुलशेखर ने वहां पर एक मंदिर का निर्माण करवाया, जंगल को साफ करवाया और मंदिर के चारों ओर कमल की आकृति में नगर बसाया। जिस दिन नगर का नामकरण किया जाना था, एक समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर भगवान शिव वहां साक्षात् उपस्थित हुए। वहां की जनता और भूमि-मंगल के लिए शिव ने अपनी जटाओं से मधुर (अमृत) वर्षा की। परिणामस्वरूप उस नगर का नाम मधुरापुरी रखा गया, जो कालांतर में मदुरै हो गया। अत: कहा जा सकता है यह दक्षिण भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है। रामायण और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त उल्लेखों से इस नगर की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। 302 ईसवी पूर्व में भारत आए यात्री मेगस्थनीज़ ने भी इसका उल्लेख किया है। ईसवी सन् 77 में प्लिय

(Pliy) और 140 ईसवी सन् में आए यात्री पोलेमी (Ptolemy) ने मदुरै के विषय में अपने यात्रा-संस्मरणों में स्पष्ट उल्लेख किया है। 293 ईसवी सन् में मार्को पोलो ने मदुरै की यात्रा की थी और बतूता, जो 1333 ईसवी में भारत आया था, ने भी मदुरै का उल्लेख किया है।

प्राचीन काल में मदुरा पांडिय राजाओं की राजधानी रहा। व्यापार और राजनीति का यह प्रमुख केंद्र था। यह नगर आज भी शिक्षा, व्यापार और उद्योग का प्रमुख केंद्र है। यह बैगई नदी के तट पर बसा हुआ है। आज यह नगर नदी के दोनों ओर विकसित है। मंदिर और पुराना शहर नदी के दक्षिणी छोर पर और आधुनिक मदुरै शहर उत्तरी किनारे पर है, जहां अनेक टैक्सटाइल मिलें, और इंजीनियरिंग उद्योग हैं।

मीनाक्षी मंदिर के दक्षिण द्वार के सामने एक छोटा-सा हनुमान मंदिर है, जिसके द्वार के बाहर जूते रखने की व्यवस्था है। जूते-चप्पलें वहीं छोड़ हम मंदिर में प्रविष्ट होते हैं। अंदर की भव्यता हमें मुग्ध करती है। श्रद्धालुओं की भीड़ है। मीनाक्षी मंदिर के एक भाग में देवी मीनाक्षी है और दूसरे भाग में सुंदरेश्वर (शिव) की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। यह भारत के विख्यात शक्ति मंदिरों में से एक है। कई शताब्दियों तक यह मंदिर साहित्य, कला, और नृत्य का मुख्य केंद्र रहा। किंवदंतियों के अनुसार जब तीसरी और अंतिम तमिल 'कलासंघं' (अकादमी) की मदुरै में बैठक हुई, तमिल का संपूर्ण साहित्यक कृति-कर्म इस मंदिर के तालाब में फेंक दिया गया। मान्यता है कि दैवी शक्ति के परिणामस्वरूप, उल्लेखनीय कृतियां ऊपर तैरने लगीं और महत्त्वहीन साहित्य पानी की सतह में डूब गया।

मीनाक्षी मंदिर का निर्माण भले ही पांडिय राजाओं द्वारा करवाया गया हो, लेकिन इसे विस्तार दिया नायक वंशी राजा तिरुमलै ने। इस मंदिर के विषय में कहा जाता है कि मीनाक्षी देवी किसी पांडिय नरेश की कन्या थीं, जिन्होंने अपनी भक्ति और तपस्या के बल पर शिव का वरण किया था। पांडिय और नायकवंशीय राजाओं के बाद भी इस मंदिर के विस्तार और सज्जा का कार्य किया जाता रहा। इस मंदिर का क्षेत्रफल है 65000 वर्ग फीट। त्रिकोणात्मक आकार में बने इस मंदिर की लंबाई है 847 फीट और चौड़ाई 792 फीट है। मंदिर के चारों ओर चार गौरवपूर्ण गोपुर हैं, जिनमें उत्तरी और दक्षिणी गगनचुंबी गोपुरों की भव्यता बेमिसाल है। पूर्वी और पश्चिमी गोपुर अपेक्षाकृत छोटे हैं। दक्षिणी गोपुर की ऊंचाई है 160 फीट और इसका निर्माण सोलहवीं शताब्दी में करवाया गया था। इस गोपुर के शीर्षस्थ स्थान से चित्रलिखित-सी मदुरै का दृश्य अद्भुत दिखाई देता है। मंदिर के अन्य ग्यारह गोपुर भी इससे देख जा सकते हैं। दक्षिणी गोपुर को 1500 बहुरंगीय चित्रों से सजाया गया है। सबसे पुराना गोपुर है पूरब का, जो सुंदरेश्वर मंदिर के सामने है और जिसका निर्माण तेरहवीं शताब्दी में जातवर्मन सुंदर पांडिय नरेश ने करवाया था। मुख्य मंदिर में प्रवेश के लिए छोटा-सा द्वार है और गोल्डन 'टेम्पल टैंक' (स्वर्ण कमल

जलाशय) उसकी बायीं ओर है। उसके उत्तर में शिवगंगा जमींदार द्वारा मंदिर को भेंट किया गया उत्कृष्ट कोटि का पीतल का द्वार है, जहां से सुंदरेश्वर मंदिर के लिए प्रविष्ट होते हैं, जो लंबे-चौड़े बरामदों (कारीडॉर्स) से घिरा हुआ है, जिनमें पंक्तिबद्ध स्तंभ हैं। इन स्तंभों में विशिष्ट मदुरा शैली के दर्शन होते हैं।

मीनाक्षी मंदिर की निर्मिति अद्‌भुत है। 'अइरम्कल मण्डपम' को हजार स्तंभों वाला मंडप कहा जाता है। इस मंडप में 985 स्तंभ हैं, जिन पर स्थापत्य कला का अद्‌भुत कार्य द्रष्टव्य है। प्रत्येक स्तंभ पर उच्चकोटि का कलात्मक और अलंकारिक कार्य किया गया है, जो आज भी जीवंत है। एक विशेष कोण से देखने पर स्तंभ एक ही पंक्ति में दिखाई देते हैं और यह शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना है। बाहरी 'कॉरीडार' में भिन्न प्रकार के संगीतात्मक स्तंभ हैं, जिन्हें थपथपाने से मधुरसंगीत ध्वनि गूंजती प्रतीत होती है। जनवरी-फरवरी में यहां राजा तिरुमलै नायक का जन्मोत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर देवी मीनाक्षी और सुंदरेश्वर की मूर्तियों को मदुरै से पांच किलोमीटर दूर मरियम्मन तेप्पाक्कुलम तालाब में जलावतरण करवाया जाता है। इस अवसर पर नाव में सैंकड़ों दीपक जलाए जाते हैं और लोक-संगीत की धुनें बजायी जाती हैं। इस तालाब के उत्तर की ओर मरियम्मन का प्रसिद्ध मंदिर है, जो तमिलनाडु की ग्राम्य देवी कही जाती है।

मीनाक्षी देवी और सुंदरेश्वर के दर्शनार्थ श्रद्धालुओं की अच्छी-खासी भीड़ थी। लोग झुण्ड में चल रहे थे और एक-एक दृश्य को आंखों में समेट लेना चाहते थे। हमसे कुछ आगे एक युवती और चार विदेशी पर्यटक थे। हर मूर्ति के समक्ष रुककर युवती उन्हें उसके विषय में विस्तार से बताती और उन्हें कुछ देर रुकने के लिए कह स्वयं पूजार्थ आगे बढ़ जाती। छरहरी, गोरी, कुर्ता-पायजामा में वह आकर्षक लग रही थी और प्रारंभ में मुझे लगा था कि शायद वह उन विदेशियों के साथ है। लेकिन वास्तव में वह उनकी गाइड थी।

समय हमारे पास कम था। हम अपिरक्कल मंडप के सामने थे कि भीड़ देखकर रुक गए। वहां लोग एक हाथी के चारों ओर एकत्रित थे। महावत हाथी के पास खड़ा था। बच्चे हाथी की सूंड पर पैसे रखते, हाथी सूंड उठाकर बच्चे के सिर पर उसे आशीर्वाद देता, पैसे महावत की ओर बढ़ा, हाथी फिर स्थिर हो जाता। मेरे बच्चों ने भी हाथी का आशीर्वाद पाया। हम स्तंभों को देखते उन पर चित्रित शिल्पकारों की कला पर मोहते उत्तरी गोपुर की ओर गए। पश्चिमी गोपुर की ओर से घूम कर हम बाहर आ गए। चलते-चलते हनुमान मंदिर भी देख लेना चाहते थे। यह विशिष्ट मंदिरों के बीच एक अति-साधारण मंदिर है।

हम तिरुमलैनायक महल देखना चाहते थे। बताया गया एक किलोमीटर दूर है। रिक्शा लेना चाहते थे, किंतु पैदल चलने से शहर देखने के भी अवसर थे। हम पैदल ही चले पूछते हुए। यह महल भारतीय-अरबी स्थापत्य शैली का उत्कृष्ट नमूना है। चूने

के महीन कार्य से निर्मित इसके गुंबद और मेहराब आकर्षक हैं। शिल्पकला का एक अन्य भव्य उदाहरण है 'स्वर्ग विलासम' जो ईंटों और चूना-गारा से निर्मित है और किसी बल्ली या शहतीर का सहारा लिये बगैर खड़ा है। महल के चार मीटर गोलाकार और 20 मीटर ऊंचे सफेद स्तंभ भी पर्यटकों को आकर्षित करते हैं।

'साइट एंड साउंड' कार्यक्रम यहां प्रतिदिन होता है, जिसमें तिरुमलै काल का वर्णन होता है। वहां बिछी कुर्सियों में हम कुछ देर बैठकर स्वस्थ होते हैं। कॉरीडार में बायीं ओर मरम्मत का कार्य चल रहा था। सामने भी, जहां कभी राजा तिरुमलै का दरबार लगता रहा होगा, मरम्मत और रंगाई का कार्य चल रहा था। हम बायीं ओर से बरामदे में चढ़ते हैं। छत में ईंटें झांक रही हैं। विशाल हॉल में राजा तिरुमलै का चित्र है और पास ही उसकी वह कुर्सी जिस पर राजदरबार में वह बैठता रहा होगा। सामने म्यूजियिम है। हम प्रविष्ट होते हैं। कोई टिकट नहीं। वहां पत्थरों की प्राचीन मूर्तियों और अति-प्राचीन पत्थर, अस्त्र-शस्त्र आदि प्रदर्शित हैं। वहां का एक कर्मचारी हमारे साथ घूमने लगता है और प्रत्येक मूर्ति के विषय में बताता है। सभी संग्रहालयों की परंपरा का निर्वाह यहां भी किया गया है, सभी मूर्तियों-शिलाओं के समक्ष परिचय और वर्ष का उल्लेख करती पट्टी हैं।

हम बाहर निकल रहे हैं और एक टूरिस्ट बस के यात्री महल में प्रवेश कर रहे हैं। बाहर एक व्यक्ति मट्ठा बेच रहा है, एक रुपए में एक छोटा गिलास। दही और मट्ठा दक्षिण भारत में सर्वत्र सहज उपलब्ध है। हम मट्ठा पीते हैं। मट्ठा पी हम सामने की सड़क पर आ जाते हैं। साड़ियों की दो 'कोआपरेटिव' दुकानें दिखती हैं। वास्तव में बाहर केवल बोर्ड लगे हैं। साड़ियों की दुकानें काफी अंदर हैं। ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए दोनों के बाहर एक-एक व्यक्ति तैनात है। पत्नी का ध्यान आकर्षित होता है। वह मदुरै की कोई स्मृति ले जाना चाहती हैं। और एक भारतीय स्त्री के लिए साड़ी से अच्छी वस्तु क्या हो सकती है।

हम पैदल ही होटल पहुंचते हैं। थोड़ी देर बाद होटल के दो कर्मचारी सामान लेने आ जाते हैं। एक ऑटो लेने चला जाता है। हमें रामेश्वरम की बस पकड़ने के लिए 'अन्ना बस अड्डा' जाना है।

□

ब्रिटेन में भारतवंशियों के बीच

जगदीश चतुर्वेदी

हिंदी के चर्चित एवं विवादास्पद कवि जगदीश चतुर्वेदी ने पिछले वर्षों की अपनी लंदन यात्राओं को शब्दबद्ध किया है। यहां इन यात्राओं की कुछ यादें ताजा करते हुए वे 'लंदन' शीर्षक से कुछ कविताएं भी हमें उपलब्ध करा रहे हैं।

भारतीय साहित्य के साथ यूरोपीय साहित्य और विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य में मेरी रुचि बचपन से ही रही। शेक्सपियर के नाटक मैंने कॉलेज में पढ़े थे और उनका प्रभाव आज भी बना हुआ है। मैंने अनेक यूरोपीय भाषाओं की कविताओं के अनुवाद भी हिंदी में किये हैं।

मुझे अगस्त, 1997 में भारतीय उच्चायोग, लंदन का पत्र मिला कि उनके सहयोग से हिंदी समिति यू०के०, भारत की स्वाधीनता की स्वर्ण जयंती के उपलक्ष्य में लंदन, मैनचेस्टर तथा बर्मिंघम में अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन एवं कविता-पाठ का आयोजन कर रही है। सितंबर में आयोजित इस समारोह में सम्मिलित होने के लिए मुझे निमंत्रित किया गया था। मैंने अपनी स्वीकृति भेज दी और सितंबर के दूसरे सप्ताह में लंदन रवाना हो गया। मैं कई वर्षों से लंदन जाने की सोच रहा था और इस अवसर पर विभिन्न देशों के हिंदी रचनाकारों से परिचय तथा सान्निध्य का भी आकर्षण था।

ब्रिटेन के कई नगरों में कविता-पाठ हुए और वहां के स्थानीय साहित्यकारों से परिचय हुआ। हिंदी समिति, लंदन के भव्य आयोजनों के साथ ही गीतांजली, बर्मिंघम एवं अहिंसम भारतीय, मैनचेस्टर के साहित्यिक कार्यक्रम भी रोचक तथा प्रभावपूर्ण थे।

सभी कार्यक्रमों में ब्रिटेन स्थित भारतवंशियों की सक्रिय भागीदारी दिखाई दी।

लंदन के पिकेडली स्क्वायर में कबूतरों के झुंड, टेम्स के किनारे गुमसुम खड़े संसद भवन, बिग वैन टावर तथा सैंट पाल कैथेड्रल स्मृति में चिरस्थाई बन गए। यह संयोग ही था कि कुछ समय पूर्व ही राजकुमारी डायना का निधन हुआ था। उनकी स्मृति में यूरोप तथा लंदनवासियों द्वारा समर्पित पुष्प-गुच्छों के ढेर बर्मिंघम पैलेस के द्वार पर एकत्रित थे। हमने भी डायना का पुनर्स्मरण वहां खड़े होकर किया।

मुझे यहां शेक्सपियर की जन्मभूमि देखना थी। हमारे साथ तत्कालीन भारतीय उच्चायुक्त सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता तथा साहित्यकार डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी भी थे। शेक्सपियर की जन्मभूमि तथा निवास को कवि नाटककार की पांडुलिपियों, पुस्तकों तथा चित्रों से सज्जित किया गया है। 'स्ट्रेटफोर्ड-अपोन-एवन' में सिंघवी जी ने शेक्सपियर संग्रहालय के सामने वाले, पार्क में टैगोर की भी प्रतिमा स्थापित की है। तमाम विश्व से आए शेक्सपियर प्रेमी, टैगोर की प्रतिमा को भी आत्मीयता से देख रहे थे।

रोमेंटिक युग के अत्यंत सुदर्शन कवि कीट्स को मैं रुचि से पढ़ता रहा हूं। कुछ कवि मित्रों के साथ कीट्स हाउस देखने गया। अंग्रेजी कविता के स्वर्ण युग से साक्षात्कार उस निवास को देखकर हुआ। उसकी कविताएं, पत्र तथा विभिन्न मुद्राओं के चित्र उसकी स्मृति को जीवंत कर गये।

लंदन के पास के कुछ और दुर्लभ स्थान देखना चाहता था कि अन्य भारतीय कवियों के साथ लौटना पड़ा। सौभाग्य से हिंदी समिति, लंदन का आमंत्रण पुन: अगस्त, 1998 में मिला और मैं सितंबर, 1998 में फिर लंदन पहुंच गया।

इस बार मादाम तुसाड का संग्रहालय देखा। मोम के पुतले साक्षात् मनुष्य-जैसे दिखाई दे रहे थे। इंग्लैंड के शाही परिवार के सभी सदस्यों को मोम की सजीव दिखती आकृतियां विस्मित कर रही थीं। इन मोम की साक्षात् सजीव दिखाई देती आकृतियों में नेहरू जी, इन्दिरा गांधी, वल्लभ भाई पटेल तथा राजीव गांधी की मानवाकार प्रतिमाएं भी मोम की बनी थीं। एक लंबे कमरे में यूरोपीय देशों की उन लोमहर्षक घटनाओं को चित्रित किया गया था, जो भयावह, हृदय विदारक एवं यातनामय इतिहास की साक्षी थीं।

लंदन से चलने के एक दिन पूर्व चार्ल्स डिकेन्स के जन्म स्थान लैंडपोर्ट भी गया। विक्टोरिया युग के सर्वश्रेष्ठ, लोकप्रिय उपन्यासकार की स्मृतियां उनके संग्रहालय को देखकर साकार हो गईं। उसका बचपन अभावों में बीता था। बचपन में उसने मजदूरी कर उदरपूर्ति की थी। उन रोमांचक स्मृतियों को 'डेविड कॉपर फील्ड' में उसने पुनर्जीवित किया है। वह नौ वर्ष की आयु में लंदन चला गया था और जीवन पर्यंत वहीं रहा। उनके उपन्यासों की पृष्ठभूमि में भी लंदन के बाजार और गलियां हैं और उसके चरित्र भी उन गलियों के बच्चे, मजदूर, वृद्ध जन और प्रौढ़ महिलाएं हैं।

उसकी कहानी कहने की शैली अद्भुत थी।

मैनचेस्टर से एक दिन तमाम दोस्तों के साथ समुद्रतट पर स्थित खूबसूरत शहर ब्लैक पूल गया। यहां का मौसम सुहाना और सारा शहर बार, कैसिनो तथा विभिन्न प्रकार के बौद्धिक तथा मनोरंजक खेलों एवं क्रीड़ा-कलापों से परिपूर्ण है।

इंग्लैंड-प्रवास की स्मृति में वहीं लिखी कुछ कविताएं प्रस्तुत हैं:

लंदन / एक

डायना की मौत के बाद लंदन उदास है।
एक चुप्पी में बदल गया है सारा माहौल
युवतियां उदास, प्रौढ़ा धीरे-धीरे बतियातीं
स्कूली बच्चे हाथों में फूलों के गुच्छे लिए
चले जा रहे हैं बकिंघम पैलेस की ओर।
ट्रेफलगर स्कवॉयर के कबूतर चुपचाप बैठे हैं मुंडेरों पर
हाइड पार्क में बैठे युग्म ताक रहे हैं आसमान
एक युवा मृत्यु ने चेहरों पर बिखेर दी है क्लांति
तमाम सदाबहार फूलों की रंगत गुम हो गई है
अब नहीं खिलेंगे डेफोडिल के फूल!

लंदन / दो

लंदन से मैनचेस्टर जाते हुए बर्मिंघम के
एक रेस्तरां में मिली थी वो;
उसकी आंखें नीली थीं
त्वचा भारतीय कश्मीरियों-सी
वेशभूषा यूरोपियन पर कपोलों पर बिखरी ताजगी में
भारतीय लज्जा की लालिमा!
मैंने पूछा था—क्या भारत गई हैं कभी?
'नहीं, पर जाऊंगी जरूर!'—वह बोली थी
किसी ने बताया था कि उसकी मां अंग्रेज थी
और पिता सिख।
मैं उसके चेहरे पर पिता को ढूंढ रहा था।

लंदन / तीन

स्ट्रेटफोर्ड-अपोन-एवन:
शेक्सपियर की जन्मभूमि
सोलहवीं शताब्दी की पाषाण और काष्ठ वास्तुकला से निर्मित इमारत

शांति छाई है चारों ओर
बागीचा, हरी-भरी लताएं और लंबी, पतली टहनियों वाले दरख्त
घनी हरी घास भरे लान
और मैं अवाक् हूं
देखकर संग्रहालय!

कवि-नाटककार की स्मृतियों को संजोया गया है
पांडुलिपियों,
चित्रों, पोर्ट्रेट एवं पुस्तकों से
वह अमूल्य संग्रह
शेक्सपियर को पुनर्जीवित करता है!

रॉयल थियेटर में एक नाटक हो रहा है
शेक्सपियर का
निकट से बहती शांत एवन नदी के किनारे
स्थित है शेक्सपियर की समाधि
और उस पर अंकित है एक शिलालेख:
मैं शिलालेख पढ़ते-पढ़ते शेक्सपियरमय हो जाता हूं।

लंदन / चार

रोमेंटिक युग का सुंदर कवि कीट्स हमारी स्मृति में है
उसकी मासूमियत से सुंदरियों को प्यार था
कीट्स हाउस में उसकी स्मृतियां सुरक्षित हैं
उसकी पुस्तकें, उसके पत्र, लिखने की सुंदर मेज

और विभिन्न मुद्राओं के चित्र;
हम उस युग में पहुंच गये हैं
जो था अंग्रेजी कविता का स्वर्ण-युग!
रवीन्द्रनाथ इस सदी के प्रारंभ में
कीट्स हाउस के समीप ही जाकर रहे थे
यहीं था उनका लंदन-निवास
इसी सुंदर यादगार के प्रांगण में कवीन्द्र
अपने मित्र कीट्स से चर्चा करते होंगे
यहीं रवीन्द्र को कीट्स का
परोक्ष सान्निध्य मिला होगा।
हम कीट्स हाउस से लौटे तो सुंदर मुखाकृति वाला
कीट्स हमारे साथ था।

लंदन / पांच

दस दिन ब्रिटेन में भारतवंशियों के बीच रहा
विस्मित हुआ उनका भारत, भारतीयता तथा हिंदी प्रेम देखकर;
नेहरू हाउस, भारतीय विद्याभवन के सभागार में
एकत्रित जनसमूह:
लंदन ही नहीं
बर्मिंघम तथा मैनचेस्टर में हिंदी कवियों को देखने
अपार भीड़;
लोग कविताएं सुनते रहे
लोग कविताओं पर दाद देते रहे
बाहर होती तेज बारिश को नजरअंदाज कर
भारतीय वेशभूषा में पुरुष-नारियों की उपस्थिति!

मैं इस आत्मीयता से अभिभूत रहा!

□

डायरी का एक उदास पन्ना

कुसुम अंसल

हिंदी की सुप्रसिद्ध लेखिका अभी हाल ही में विदेश यात्रा से लौटकर आई हैं तथा इस यात्रा में एक पन्ने को उदास पन्ना मानकर हमारे सम्मुख हैं। भारत दर्शन-शास्त्र का देश है जो मृत्यु की अवधारणा पर दूर तक विचार करता है। विदेश के एक समाधि-क्षेत्र में 'टहलती' लेखिका की कुछ अनुभूतियां।

अब तक हम सब बहुत सारी सीढ़ियां चढ़ चुके थे। जब चढ़े थे तो उतरना भी था ही। थके हुए शरीर और दुखते पैरों को घसीटते हुए किसी तरह बर्मिंघम से लंदन जाने वाली रेलगाड़ी में सवार भी हो चुके थे। यात्रा का प्रयोजन समाप्त हो जाए तो लौटना तो होता ही है। मुझे लगता है, यह यात्राएं बहाना-भर हैं, जिनके सहारे हम अपनी देह को उठाकर इतिहास और भूगोल की निश्चित लकीरों पर चलने लगते हैं तथा नए अनुभव, नए मित्र, नए-नकोर विश्वास-नियम, तौर-तरीके हमारी उपलब्धियां बन जाते हैं। फिर यहां इंग्लैंड की धरती पर नदियां, घाटियां, खेत, शहर और सुव्यवस्थित सजे-सजाए बगीचे—जिनके सलीकेदार फूल मन में रंगीन सौंदर्य या रोमांच के स्थान पर व्यवस्था को ज्यादा उकेरते हैं। परंतु मैं हूं कि व्यवस्था से हटकर ही चलना पसंद करती हूं...! खैर, मेरे हाथ में पुस्तकें हैं, बीच-बीच में पढ़ भी लेती हूं—पुस्तकों में लिखे फार्मूले, समीकरण, मिसालें या दलीलें मुझे कुछ न कुछ समझाते भी हैं। ईसा से पूर्व, ईसा के बाद तक का संचित कितना कुछ है, उन्माद, प्रेम, यातनाएं—जिन पर बड़े-बड़े पोथे लिखे गए हैं, शास्त्र रचे गए हैं। प्रेम में जीने-मरने के नाटक और नाटक में प्रेम की सजीव नाटकीयता, क्या किसी के

वास्तविक जीवन में घटता है सब कुछ? मंचित होता है प्रेम? तो क्या है प्रेम? किसके बीच? कौन-सा है वह 'ढाई-आखर' प्रेम का जो पढ़ा ही नहीं जाता? मैं हमेशा परिभाषाओं में सत्य तलाशती हुई अपने को नाकाबिल पाती हूं। या शायद मेरा विश्वास मुझे भटकाता है कि वैसा प्रेम इस संसार में होता ही नहीं है! जिंदगी जहां से आरंभ होती है, वहां केवल परंपराएं होती हैं—कुछ घर की चारदीवारी के भीतर, कुछ बाहर और कुछ परंपराएं हम अपने अनुभूत के सत्य की बुनियाद पर गढ़ लेते हैं। सच को देखने के कुछ कोण भी होते हैं और जीवन हमें कुछ पद्धतियां हाथ में पकड़ाता भी है — परंतु बहुत से सच उनमें से गुजर जाने के बाद ही समझ में आते हैं। तभी तो हम अपनी यात्राओं में, नए-नए लोगों में, मित्रों में बैठकर अपने उपचेतन में उन्हें तलाशते रहते हैं।

हम सब लोग कॉफी पी चुके थे। बहुत-सी बातों पर हंस भी चुके थे। वह भी मित्र थे आसपास जो बेवजह — वजह बनाते हुए दूर रह गए थे। मैं हूं कि एक बिंदु पर ठहर गई हूं! मुझे लग रहा है कि अब तक हम सबने जो भी बातें की हैं, वह सब बीते हुए कल की हैं। अपनी उपलब्धियों-अनुपलब्धियों की हैं।

बर्मिंघम में संपन्न हुए छोटे-से सेमीनार, पढ़ी गई कविताओं की बातें या फिर डॉ० कृष्ण कुमार और चित्रा जी के भावभीने उस अमूल्य आतिथ्य की, जो हमारी आत्मा तक उतर गया था। उनका स्नेह जैसे अब भी धीमी फुहार-सा हमारे साथ-साथ चल रहा था। तो क्या 'ढाई आखर' यही था? बर्मिंघम में बी०बी०सी० की रिकार्डिंग के बाद कविताओं, कवि-सम्मेलनों से निपटकर लगा था, इतनी दूर चले आने का उद्देश्य और यात्राएं समापन तक जा पहुंची हैं! तभी तो अपने को खाली पाकर सुषमा और अंजू के साथ मैं सैर को चल पड़ती हूं। रात को तितिक्षा ने ही बताया था कि डॉ० साहब के घर से जुड़ी एक 'सीमेट्री' है जहां वह सैर को जाती है! बस मेरे कदम चलते चले गए। मन ने स्वीकारा — हां, कब्रिस्तान खूबसूरत तो होते हैं परंतु सैरगाह नहीं। ढेर सारे घने छायादार पेड़ों के नीचे तरतीबवार बनी वह कब्रें अनाकर्षक भी नहीं थीं। पता नहीं क्यों मैं झुककर हर कब्र पर अंकित नाम पढ़ने का प्रयास करती हूं। मैं क्यों जानना चाहती हूं उन्हें? मेरा उनसे क्या रिश्ता? रिश्तों की हिपोक्रेसी या झूठ तो यहां नहीं हो सकता। क्योंकि यहां पत्थरों को छाती पर ओढ़कर सोए शव... सच की कगार पर ठहरे हुए मानव के बाहर के अस्तित्व हैं, जो एक प्रयोजन जी चुके थे। अचानक मुझे याद आया बचपन में अलीगढ़ के घर की दीवार से जुड़ा 'सय्यद' जिससे मेरी पहचान बनी थी। पहले वह एक उपेक्षित-सा चबूतरा-भर था परंतु अब वह मन्नत मानने के लिए एक ऐसे स्थल में परिवर्तित हो गया था, जहां धूप-अगरबत्तियां, फूल चादरें चढ़ते थे। तभी मेरी चेतना में एकाएक सिर उठाने लगा अभी कुछ महीने पहले न्यूयार्क के निकट 'डैलेवअर' नदी के किनारे का वह छोटा-सा घर (रोबलिंग इन) जहां हम छुट्टी मनाने गए थे— उसके साथ भी जुड़ा हुआ था एक कब्रिस्तान।

और वह कब्र उस छोटे-से शहर के बड़े लेखक 'ज़ेन ग्रे' की, जिसने अनेक उपन्यास लिखे थे और जिन पर फिल्में भी बनी थीं। वह वहीं रहा था, वहीं सोया भी हुआ था चिरंतन नींद, जीवन के साथ जुड़ी शाश्वत मृत्यु! अभी कल ही तो गए थे हम सब 'स्ट्रेटफोर्ड-अपोन-एवन,' शेक्सपियर जैसे महान लेखक का जन्मस्थल। वह भी वहीं जिया था, कालजयी रचनाओं का लेखन किया था और वहीं 'एवोन' नदी के किनारे 'होली ट्रिनीटी चर्च' के भीतर श्रापित किसी पत्थर के नीचे अपने ताबूत में बंद मृत्यु के आगोश में लिपटा पड़ा था। जाने कैसे ये लेखकों की कब्रें अचानक मेरे रास्ते में आ जाती हैं, या मैं ही उन्हें तलाश लेती हूं? डॉ० साहब के घर से जुड़ा यह कब्रिस्तान महज इत्तफाक है या मेरी यात्राओं का अभिन्न अंग? शब्द सोचने लगती हूं परंतु सभी शब्द उन चट्टानों से भी भारी प्रतीत होते हैं जो उन कब्रों के सीने पर धरी हैं। तभी तो वह सभी फूल प्रयासरत लगते हैं कि खुशबू उकेरकर, मृत्यु को, बासी महक को सहला कर सहज कर दें... और मौत का भय-दहशत नन्हें पक्षी के भारहीन पंख-सा उनके साथ उनकी बांहों में बांहें डालकर जंगली हवा में उड़ जाए। परंतु तभी एक लंबी-सी गाड़ी हम सबको अपने आप में लौटाती सामने से गुजरती है — उसमें धरी हैं ढेर सारे फूलों से लदी-सदी एक कौफिन...! पीछे कतारबद्ध अन्य कारें। काले कपड़ों में सज्जित स्त्री-पुरुष... शोक-संपन्न परिवार जन... साथ में छोटी-सी एक लड़की! नहीं, मैं नहीं जानना चाहती उस ताबूत में कौन है? हवाओं के हाथ सिकुड़ जाते हैं — फूलों की खुशबू थर्रा जाती है — छोटी बच्ची की आंखों में बह रहा था कुछ, वह जो स्पर्श से बाहर चला गया था। क्या?

मौत का समीकरण धरती पर हर कहीं एक-जैसा है क्या? सर्वोच्च सत्य के लिए मनुष्य की चेतन अनुभवशीलता क्या यही है? फिर मुझे अपनी कविता में बह जाने दो...

मुझे याद है...वर्षों पहले का
वह शहर...मेरे जन्म का शहर...जहां
मेरे घर की दीवार से सटा था वह
छोटा-सा चबूतरा
जिसके निकट कांटेदार बेल थी
सफेद फूलों की...गुलाब की...
मैं हमेशा स्कूल से आते-जाते
वहां ठहरती...फूलों को झोली में भरती
चबूतरे पर रखकर
कहती थी अपनी शिकायतें
जो मां के चले जाने के बाद

मैं किसी से नहीं कह पाती थी!
मैं नहीं जानती थी वह एक कब्र थी
या कौन साया था उसके तले
वह 'सय्यद' था या 'पीर'
मेरे नन्हें मन के लिए
वह श्रद्धा का पूजास्थल था...
एक चबूतरा भर...उपेक्षित-सा...
बहुत वर्षों बाद—
वहां लौटने पर मुझे लगा
खुली हवा मेरे भीतर भर आई है
बिखेर गई है जंगली-बासी गंध
और उपेक्षित उस कब्र के द्वार
खुल गए हैं मेरे लिए
मिटे हुए शब्दों में लिखा था
किसी औरत का नाम
इससे पहले मैं अपने फूलों का तोहफा
वहां सोए कंकाल को समर्पित करूं
मैंने देखा बहुत पहले के... मेरे गुलाब
वैसे के वैसे संजोए रखे थे...
मेरे मन ने कहा,
अवश्य ही यह कब्र किसी मां की रही होगी
तभी तो फूल जीवंत थे...खुशबू से गमकते
मां ही तो होती है जो मर जाने पर भी
अपने दीमक खाए ताबूत में बंद
समय की निरंतरता को ठहराकर
संभाले रखती है अपनी बेटी की सौगात
समर्पण-भाव...प्यार
तभी तो वहां कंकाल के स्थान पर
उस शांति-यज्ञ की ताजी राख भी थी
वह यज्ञ जो कुछ समय पहले
मां के श्राद्ध के दिन
मैंने अकेले अपने पूजागृह में किया था!

□

सारी दुनिया का पूश्किन

डॉ० रणजीत साहा

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० रणजीत साहा ने पिछले दिनों मॉस्को में आयोजित रूसी कवि पूश्किन की 200वीं जयंती समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया था। वह देश अपने महाकवि की स्मृति में कितना संलग्न है, इसकी झलक लेखक की इस यात्रा-डायरी में दी गई है। श्री साहा साहित्य अकादेमी में उप सचिव हैं।

सोवियत रूस के विघटन के कोई आठ-दस साल बाद वर्ष 1999 में अलेक्सांद्र सेर्गेयेविच पूश्किन (1799-1836) की 200वीं जन्म-जयंती का आयोजन न केवल रूस के लिए बल्कि किसी भी देश के लिए महान ऐतिहासिक एवं भावनात्मक उपलब्धि है। इसका आभास हमें तभी हो गया था जब रूसी अकादेमीशियन ई० चेलिशेव ने कोई साल भर पहले दिल्ली में, फीरोजशाह मार्ग स्थित रूसी संस्कृति एवं विज्ञान केंद्र में आयोजन से जुड़ी समिति की अध्यक्षता करते हुए रूस और भारत में विचार-गोष्ठियां और अन्य कार्यक्रमों के संभावित आयोजन पर आमंत्रित विद्वानों से परामर्श किया था।

जब अचानक मुझे रूसी फेडरेशन के दूतावास द्वारा यह संदेश मिला कि पूश्किन की 200वीं जन्म-जयंती के अवसर पर 1 से 10 जून, 1999 को मॉस्को में आयोजित प्रमुख कार्यक्रमों में मुझे भारत का प्रतिनिधित्व करना है तो मेरी प्रसन्नता और उत्कंठा का ठिकाना न रहा। मेरे लिए इसकी कल्पना करना कठिन था कि इस ऐतिहासिक अवसर पर मुझे कोई सम्मिलित होने की दावत देगा। 3 जून, 1999 को

सीधी उड़ान द्वारा दिन के एक बजे मॉस्को के लिए रवाना हो सका। हवाई जहाज में ही, मैं पूश्किन से संबंधित सामग्रियों और अपने पिछले नोट्स को लगातार पढ़ता रहा। सौभाग्य से मेरी सीट खिड़की से लगी थी इसलिए मेरी आंखें बार-बार कभी नीचे कुहासे और धुंधले में लिपटी जमीन पर और फिर तैरते बादलों पर ठहर जातीं। चटियल रेगिस्तानों, पहाड़ों और आड़ी-तिरछी रेखाओं को पार कर जब हम रूस की सीमा में घुसे तो अचानक दूर-दूर तक हरियाली और खेतों के लंबे-चौड़े दृश्य नजर आने लगे।

मॉस्को के हवाई अड्डे पर मेरी अगवानी के लिए, हाथ में रूसी और अंग्रेजी में मेरे नाम की तख्ती लिए एक गोरा-चिट्टा और नाटा-सा आदमी मिला—जुलेमान। उसे अंग्रेजी नहीं आती थी। हवाई अड्डे से होटल 'रूस्सिया' तक का रास्ता तेज रफ्तार से चलने वाली गाड़ियों से धड़क रहा था। पूश्किन के पोस्टर झांक रहे थे, जिनकी ओर जुलेमान की उंगलियां पहले ही संकेत कर देती थीं। चार से छह जून तक विशेष राजकीय समारोहों में मुझे सम्मिलित होना था। मैं ठीक समय पर मॉस्को पहुंच गया था। अंत में उसने मुझे रूसी में छपे कार्यक्रम की फोटोकॉपी पकड़ा दी — जो लिखे ईसा और पढ़े मूसा वाली कहावत दोहरा गई। थोड़ी देर बाद ही हम रेड स्क्वायर और क्रैमलिन के एकदम निकट स्थित अठारह मंजिलों वाले होटल रूस्सिया के स्वागत हॉल में खड़े थे। रात के भोजन के बाद मुझे इसी होटल के बारहवीं मंजिल के एक कमरे में ठहराया गया।

सुबह नहा-धोकर जलपान के लिए दूसरी मंजिल स्थित एक और रेस्तरां में पहुंचा तो वहां का नजारा ही कुछ और था। पूश्किन के इस समारोह में भारत और विश्व के विभिन्न देशों से आए कोई तीस अतिथियों की अगवानी के लिए रूसी संस्कृति विभाग के अधिकारी और दुभाषिए खड़े थे। मारिया नाम की एक लंबी और दुबली-पतली युवती मेरे लिए अंग्रेजी में दुभाषिया का दायित्व निभा रही थी। रेस्तरां की बड़ी-बड़ी खिड़कियों पर लगे झीने पर्दे से सामने का कोई भी दृश्य पिक्चर पोस्टकार्ड की तरह मोहक और सजीला लग रहा था — ऐतिहासिक क्रैमलिन की इमारतें, रेड स्क्वायर के इर्द-गिर्द खड़े खूबसूरत और खामोश गिरजाघर और स्मारकों पर चमकती छोटी-बड़ी गुंबदों की रौनक, सामने सड़कों पर आते-जाते लोग...पर्दे की सरसराहट या गाड़ियां इस खामोशी को तोड़ जाती थीं।

मॉस्को में पूश्किन से संबंधित कार्यक्रमों की रंगारंग शुरुआत पूश्किन स्क्वायर में स्थापित उनकी विशालकाय प्रतिमा के सामने वाले पार्कनुमा स्थान पर हुई। इसमें तीस-पैंतीस हजार दर्शक उपस्थित थे। समारोह का उद्घाटन दिन के दस बजे शुरू हुआ जिसमें रूसी विद्वानों ने पूश्किन की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि इक्कीसवीं सदी में भी पूश्किन का रचनात्मक व्यक्तित्व रूस के लिए प्रकाश-स्तंभ की महान भूमिका निबाहता रहेगा। यह एक तरह से उन्हीं विचारों की

प्रतिध्वनियां थीं जो आज से बहुत पहले रूस के महान लेखक दोस्ताएवस्की ने पूश्किन के विराट कवि-व्यक्तित्व के बारे में कहा था, 'यह ऐसा धनी और विलक्षण रचनाकार है, जो न तो पहले कभी सुना गया और न पहले कभी देखा गया। यह सच है कि यूरोपीय साहित्य में शेक्सपीयर, सर्वांतीस और शिलर जैसे कालजयी लेखक हो चुके हैं लेकिन इन महान प्रतिभाओं में वह विशेषता नहीं थी जैसी कि पूश्किन में और वह थी उनक़ी वैश्विक संवेदना।' मेरी दुभाषिया मुझे भाषणों का आशय समझाती जाती और मैं अपनी नोटबुक में टीप लेता रहा और श्रोताओं के साथ तालियां भी बजाता रहा।

भाषणों के बाद उनकी रचनाओं पर आधारित धुनों पर रंग-बिरंगी पोशाकों में सजे नर्तकों एवं नर्तकियों ने नृत्य किया। तालियों की गड़गड़ाहट के साथ परंपरागत बैले नृत्य, रोमा या जिप्सी नृत्य तथा लोकनृत्यों की लुभावनी और मनमोहन टुकड़ियां कई शैलियों में नृत्य प्रस्तुत करती रहीं। मंच के चारों ओर खड़े दर्शक धूप में दो घंटे तक चलने वाले इस कार्यक्रम का आनंद लेते रहे। इस रंगारंग उद्घाटन कार्यक्रम के समाप्त होने के बाद पूश्किन की प्रतिमा पर हम जैसे भाग्यशाली अतिथियों को विशेष तौर पर पुष्पांजलि के लिए ले जाया गया। प्रतिमा-स्थल के पास रखी जयंती-पुस्तिका पर पूश्किन के बारे में अपने विचार लिखने को कहा गया। टेलीविजन कैमरे और वीडियो के साथ मीडिया के लोग पूश्किन के बारे में हमारे विचार रिकॉर्ड करते रहे। मैंने अपनी बातें रखीं कि पूश्किन भारत में कितने लोकप्रिय हैं और अपनी श्रेष्ठ रचनाओं के चलते वे इस महान रूसी जाति की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पहचान और प्रतिमान बन गए हैं।

रूसी भाषा को ठीक-ठीक समझ न पाने के कारण, पूश्किन से संबंधित कार्यक्रमों एवं विद्वानों द्वारा भाषणों का सारांश प्रस्तुत कर पाना मेरे लिए असंभव है। लेकिन पूश्किन के प्रति व्यक्त उद्‌गार और लोगों का उनके प्रति असीम प्यार समझ पाना कोई कठिन न था। पूश्किन संग्रहालय में एक अन्य आयोजन से यही जान पड़ा कि रूस के सारे बुद्धिजीवी इसमें शामिल हैं। इस संग्रहालय की निदेशिका डॉ० आई० मिहाईलोवा दिल्ली में मॉस्को दिवस के दौरान सितंबर, 1998 में भारत आ चुकी थीं और साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित कार्यक्रम में शामिल थीं। याद दिलाते ही वे मुझे पहचान गईं और बड़े प्यार से संग्रहालय की एक-एक महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ सामग्री दिखाती रहीं। पुश्किन के व्यक्तिगत जीवन, लेखन और मूल्यांकन से संबंधित सारे दस्तावेज, पत्राचार, पुस्तकों के प्रथम संस्करण, उन पर लिखी पुस्तकें, कागजात, कटिंग, ऐतिहासिक मुहरें और दैनंदिन उपयोग की वस्तुएं एवं परिधान आदि। उनके चित्रों, मूर्तियों और अन्यान्य उपस्करों तथा उपकरणों से परिचय कराती हुई डॉ० मिहाईलोवा ने अपनी पिछली भारत-यात्रा को अविस्मरणीय बताया। इसी परिसर में बने सभागार में पूश्किन की कृतियों पर आधारित नाट्‌यांश, काव्यपाठ के साथ संगीत

रचनाओं का कार्यक्रम भी हो रहा था। विशिष्ट लेखकों और कलाकारों से संस्कृति विभाग के पदाधिकारियों ने हमारा परिचय भी कराया। इस अवसर पर पूश्किन के समग्र लेखन और व्यक्तित्व से जुड़े प्रसंगों और रचना-प्रस्थानों पर सचित्र और सजिल्द स्मारिका, लघु प्रतिमा और स्मृतिस्वरूप 'मैडेलियन' भी आमंत्रित अतिथियों को प्रदान किए गए। इनसे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने बड़े पैमाने पर यह आयोजन किया जा रहा था। मॉस्को की तमाम मुख्य सड़कों और केंद्रीय स्थल, बाजार, पुल, पार्क, पत्र-पत्रिकाएं, अखबार और दुकानों के शोरूम पूश्किन के चित्रों और बैनरों से पटे थे। खुले स्थानों पर जगह-जगह अस्थाई मंच बने थे, जहां स्थानीय कलाकारों के सहयोग से आयोजित विभिन्न कार्यक्रम टी०वी० के दो चैनलों पर लगातार प्रसारित हो रहे थे। पूश्किन की रचनाओं के प्रसिद्ध पात्रों के वृहदाकार 'कटआउट' सड़कों के बीचों-बीच, छोटे-छोटे और लंबे मंच बनाकर स्थापित किए गए थे, जिन पर रोशनी की गई थी। कहीं-कहीं पूश्किन की कद-काठी से मिलते-जुलते लोग पूश्किन की जानी-पहचानी पोशाक में, उन्हीं की तरह चिरपरिचित मुद्रा में, वैसा ही स्वांग रचाये घूम रहे थे। रूस में पूश्किन की रचनाओं — यूजीन-ऑनिगिन, जिप्सी, बख्चीसराय, रूसलम और ल्युदमिला, कप्तान की बेटी आदि — की संगीतमय प्रस्तुतियों की लंबी परंपरा रही है, जिन्हें समय-समय पर यहां के प्रसिद्ध संगीतकारों ने लयबद्ध किया है। ऐसी प्रस्तुतियों के कई कैसेट्स और अलबम भी बिक रहे थे।

शाम को मैं अन्य अतिथियों के साथ रूस के महान और ऐतिहासिक बोल्शेविक थिएटर हाल में पूश्किन की रचनाओं का मंचन देख रहा था। इस सातमंजिला थिएटर हॉल में गोलाकार प्रेक्षागार है और इसकी हर मंजिल पर प्रेक्षकों के लिए बनी अर्धचंद्राकार बालकनी है। यह थिएटर अपनी भव्यता में न केवल विश्व के अग्रणी थिएटरों में एक है बल्कि अपनी प्रस्तुतियों में भी विश्वप्रसिद्ध रहा है। अभिनेताओं और कलाकारों के लिए अपनी सफलता और स्वीकार्यता का पर्याय। जैसे ही पूश्किन के हस्ताक्षर एवं रूसी साहित्य के यशस्वी लेखकों द्वारा उनकी प्रशस्तियों से अंकित मंच पर से झीना पर्दा उठा वैसे ही आर्केस्ट्रावादकों की स्वरलहरी की माधुरी प्रेक्षागार में गूंजने लगी। थोड़ी देर बाद, अनगिनत कलाकारों द्वारा पूश्किन की अमर रचनाओं से पाठ, चुने हुए अंशों के श्रेष्ठ कलाकारों द्वारा प्रदर्शन के बीच-बीच में दर्शकों की तालियां बजने लगतीं। मुख्य कंपोजर तथा आर्केस्ट्रावादकों की संगत में पूश्किन के गीतों, सानेटों और गेय अंशों की अभिनव प्रस्तुति ने उपस्थित दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया था। प्रेक्षागार से निकलते हुए हम सभी दर्शकों द्वारा टिकट या आमंत्रण-पत्र दिखाने पर पूश्किन लिखित दो पुस्तकों के पैकेट के साथ एक मैडेलियन भी बांटा गया। इस तरह यह आयोजन और भी यादगार बन गया।

इस कार्यक्रम के बाद ही, रूस की संस्कृति मंत्री ने विदेशों से आए प्रतिनिधियों

और विशिष्ट आमंत्रितों के सम्मान में रूस्सिया होटल में डिनर की दावत दी थी। मुझे लगा, यह दावत खाने-पीने की औपचारिकता तक सीमित रहेगी। लेकिन परस्पर परिचय आदि के बाद, यह एक साहित्यिक आयोजन में तब्दील हो गई। मीडिया के लोग भी उपकरणों से लैस थे। आमंत्रित अतिथियों में से कुछ ने पूश्किन की रचनाओं का पाठ किया और मूल रचनाओं के स्पैनिश, जर्मन, अंग्रेजी, सिंहली, जापानी, चीनी और फ्रेंच अनुवाद पढ़े गए। सौभाग्य से मेरे बैग में साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'बिखरे नक्षत्रों के बीच' की एक प्रति थी। मैंने भी अंग्रेजी भूमिका के साथ पूश्किन की दो लंबी कविताओं के अंशों का पाठ हिंदी में किया। उपस्थित श्रोताओं को अच्छा ही लगा होगा तभी काफी देर तक ताली बजती रहीं।

6 जून को हम अतिथियों को रूस के सुप्रसिद्ध राजकीय संग्रहालय ट्रेट्याकोव गैलरी के अवलोकनार्थ ले जाया गया। रविवार होने के कारण वहां आने वाले दर्शनार्थियों की संख्या काफी थी। सौ साल से अधिक पुराने इस गैलरी के संस्थापक पावेल मिखाइलेविच ने इसका निर्माण कर ट्रेट्याकोव ने देश के अलग-अलग क्षेत्रों से और अलग-अलग समय में बने हजारों चित्र (जिनकी संख्या अब तक लाख से ऊपर पहुंच चुकी है), मूर्तियों, अनगिनत अलंकृत उपकरण, कलात्मक फर्नीचर तथा पात्र एकत्रित किए थे। इस संग्रहालय के परिदर्शन के उपरांत रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 1930 में अपनी 'रशियार चिठि' में लिखा कि रूसियों ने क्रांति के दौरान किस जीवट के साथ इन अमूल्य चित्रों और धरोहरों को नष्ट होने से बचा लिया था। अपने दुश्मनों का सफाया जहां बड़ी चतुराई से किया, वहीं बड़ी समझदारी से अपनी सांस्कृतिक पहचान और कलात्मक थाती को बचा लिया ताकि जातीय और सांस्कृतिक इतिहास की साक्षी देने वाली चीजें आने वाली पीढ़ी के लिए सुरक्षित रहें। ट्रेट्याकोव गैलरी ऐसी ही धरोहरों का विलक्षण केंद्र है। यहां पूश्किन का वह प्रसिद्ध तैलचित्र भी रखा है जो ओरेस्ट किप्रेन्स्की ने 1827 में बनाया था। साथ ही, उस विशाल तैलचित्र का उल्लेख किए बिना तो यह विवरण अधूरा ही रहेगा, जो अलेक्जेंडर इवानोव (1806-1858) में 'ईसा मसीह के आगमन' शीर्षक से बनाया है। 20 x 25 फीट चौड़े इस चित्र को बनाने में उन्हें इक्कीस साल (1837-1857) लगे और आज भी यह चित्र जहां दर्शकों के आकर्षण का केंद्र है वहीं चित्रकला का अप्रतिम एवं अविस्मरणीय निदर्शन।

इसी शाम को रूसी संस्कृति विभाग के विशालकाय सभागार में पूश्किन की विशिष्ट रचनाओं का वाचन, नाट्यांश प्रस्तुति और संगीत-रचना के साथ रूस के सुप्रसिद्ध कलाकारों द्वारा प्रस्तुत गीत एवं नृत्य का रंगारंग कार्यक्रम आयोजित हुआ। यह पूश्किन की 200वीं जन्म-जयंती से जुड़े कार्यक्रमों की पूर्णाहुति थी, जिसमें मॉस्को महानगर के साहित्यकार, कलाकार और संस्कृति प्रेमी पधारे थे। पूश्किन के बहाने एक रंगारंग, मनोरंजक और यादगार शाम। गायकों और नर्तकों का दल मंच

से उतरकर हम दर्शकों तक चला आता और हमारा अभिवादन कर वापस चला जाता। यहां भी उस बड़े सभागार में कोई तीस-पैंतीस बड़ी-बड़ी मेजें रखी थीं, जिन पर पचीसों खाने-पीने की बेहिसाब सामग्री रखी थी। तीन घंटे तक चलनेवाले नृत्य-गीत-संगीत से सराबोर इस रोचक कार्यक्रम को विभिन्न प्रकार के पेयों ने और भी उत्तेजक बना दिया। पूश्किन की रचनाओं में से वही अंश प्रस्तुत किए जा रहे थे जो प्रकृति के उत्सव को, रूसी जाति के हर्ष और उल्लास को व्यंजित करते हैं।

इस सभागार में अपने-अपने घराने की विशिष्ट छाप लिए पूरा रूसी समाज उपस्थित था — अपनी परिचित किंतु विशिष्ट पोशाकों और अभिजात परिधानों में। कहीं अचकन और रूसी टोप वाले युवक थे तो कहीं थ्री-पीस सूट में सजे पुरुष और लंबा चोगा और जालीदार नकाब और ऊंची एड़ी में बनी-ठनी युवतियां और शालीन महिलाएं। स्वस्थ, संपन्न और सदाशयी रूसी समाज का यह किताबी और गुलाबी चेहरा अखबारी और मीडिया संसार द्वारा उकेरे गए चित्र से एकदम भिन्न था, जिसमें मस्ती थी, बेफिक्री थी और पूश्किन से जुड़ने की एक अभिजात प्रसन्नता भी थी।

दुभाषिए मित्र अनातोली ने मेरी रूस यात्रा को रोचक और रंगीन बना दिया। क्रैमलिन में सैनिकों और राजनयिकों की समाधियां, स्मृति-स्तंभ, प्रतिमाएं, विभिन्न चर्च, क्रैमलिन स्थित संसार-प्रसिद्ध संग्रहालय, दुनिया की सबसे बड़ी तोप, सबसे बड़ा घंटा, यहां की भव्य मीनारें, सुनहरी गुंबदें, लालचौक परिसर से जुड़ी ऐतिहासिक इमारतें, प्लाजा, डिपार्टमेंटल स्टोर्स, सब-वे, पार्क और पुल के बारे में बताता हुआ वह बिंदास दुभाषिया पुरानी हिंदी फिल्मों के गानों की धुनें गुनगुनाने लगता। विशेषकर 'आवारा' और 'चार सौ बीस' जैसी फिल्मों के। वह ठेठ रूसी था — गपोड़, हंसोड़ और झक्की। उसका तर्क था कि पैदल चलकर ही किसी शहर की धड़कनों से रू-ब-रू हुआ जा सकता है। यहां के कई लोगों से मिलकर मैं आश्वस्त हो गया था कि रूसियों के मन में भारतीयों के लिए प्यार और मैत्रीभाव है। यहां का हर रूसी भारत की सैर पर आना चाहता है — चाहे वह दिल्ली-मुंबई-चेन्नई हो, कश्मीर हो या फिर आगरा-जयपुर। आर्थिक उदारीकरण और ग्लोबलाइजेशन के बाद, बड़ी-बड़ी कंपनियों के लंबे-चौड़े शोरूम पूरी चमक-दमक और तामझाम के साथ खरीदारों और सैलानियों के स्वागत में खुले थे।

जिस दिन मुझे वापस आना था, यानी आठ जून को, उस दिन अपने थैले में कैमरा लेकर होटल से निकला और रेड स्क्वायर पारकर डिपार्टमेंटल स्टोर्स पहुंच गया। रूस का सबसे बड़ा मार्केट कॉम्पलैक्स। फाइबर ग्लास से ढकी इसकी दोमंजिला इमारत में अनगिनत दुकानें हैं। दो-तीन खिलौने, टाफियों के पैकेट्स, हेयरपिन, लिपस्टिक, पिक्चर पोस्टकार्ड और स्टिकर्स खरीदने के बाद जिस चीज पर मेरा जी ललचा गया, वह थी बाइनाक्यूलर्स। मोलतोल जैसी कोई बात थी नहीं — आठ सौ अस्सी रूबल में इसे खरीदकर मैं फिर क्रैमलिन से होता लाल चौक पहुंचा।

इसके खुले प्रांगण के बीचों-बीच खड़े होकर मैं वहां से एक-एक इमारतों के शिखरों, गुंबदों, अलंकरणों और बारीकियों को जी भरकर बाइनाक्यूलर्स से देखता रहा। कुछ की तस्वीरें भी उतारीं। मेरे मन में इस बात की कोई चाह नहीं रही कि जीवन में दोबारा कभी यहां न भी आ पाया तो कोई मलाल रहेगा। मुझे रूस से जितना स्नेह और सम्मान मिला था, वह मेरी पात्रता से कहीं अधिक था।

हम रोशनी से झिलमिलाती और कारों से पटी सड़क पर तेजी से आगे बढ़ रहे थे। अचानक अनातोली ने उस स्थान पर कार की रफ्तार को धीमा कराया — जहां पर दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान मॉस्को पर हमला करने को तैयार जर्मन सेना ने पड़ाव डाला था और मॉस्को शहर जर्मन हमलावरों से केवल 22 किलोमीटर दूर रह गया था। इस जगह पर लंबी-लंबी कंक्रीट की बीमों से बना एक प्रतीक खड़ा है — एक विशाल पदक्षेप के तौर पर। इस समय मेरे लिए संभव नहीं था कि कैमरे में उसे उतार लूं। रास्ते में मैंने अनातोली के बहाने सारे रूसवासियों और मित्रों को धन्यवाद दिया। अनातोली ने अपने ब्रीफकेस से रूसी गुड़ियों का एक पैकेट उपहार में दिया। मैंने उसे नमकीन भुजिया का पैकेट थमाया। मैं नहीं चाहता था कि उसे मेरी वजह से देर हो। मुझे और कुछ देना चाहता है, कहकर उसने अपने ब्रीफकेस से चार वाटरकलर में बने छोटे-छोटे चित्र निकाले, जिन्हें उसने खुद बनाया था। फिर वह एक-एक कार्ड के पीछे हमारी दोस्ती का कसीदा लिखने लगा — कविता की तरह। देर हो रही थी, लेकिन उसे इसकी जरा भी परवाह नहीं थी। खामोश हवाई अड्डा रोशनी में नहा रहा था। हम फिर गले मिले। दुआ की, कई-कई बार 'दस्वीदानिया' कहा और आगे बढ़े। मेरा टिकट, वीजा वगैरह चेक किया गया।

छोटी-मोटी औपचारिकताओं और घोषणाओं के बाद मेरी वापसी उड़ान दिल्ली के लिए रवाना हुई। हवाई जहाज की अंडाकार खिड़की से मैं लगातार आंखों से ओझल होते मॉस्को शहर को देखता रहा। अचानक मुझे लगा कि किसी अपरिचित और अदृश्य लोक की मायाविनी ने गुस्से में अपना हीरों का बेशकीमती हार नीचे फेंक दिया हो और उसमें जड़े अनमोल मोती और जवाहर छिटककर दूर-दूर तक बिखर गए हों।

□

हिंदी बसी विदेश

गोपाल चतुर्वेदी

हिंदी के व्यंग्यकार को एक ऐसे दिन का मुंह देखना पड़ा जबकि झुग्गीवाले से उसने अंग्रेजी में डांट खाई और कुत्ते की काट से वह तब बच पाया जब कुत्ते के निजी सेवक ने "चैपी, नो" कहकर कुत्ते को शांत किया। भारत में सब कुछ यूरोप के माध्यम से आता है और अब वाया लंदन हिंदी का अपने देश में आ जाना तय है।

सहअस्तित्व भारत की परंपरा है। कल हम कवि, आलोचक और उसके अलावा भी बहुत कुछ श्री आतताई के घर जा रहे थे। यकायक हमें अहसास हुआ कि आतताई जी परंपरा के बीचों-बीच रहते हैं। चलते-चलते हमने देखा कि आतताई की सरकारी बस्ती में एक बंगले के अनुपात में दस झुग्गियां हैं। पूंजीवाद और समाजवाद पर सुखद सहअस्तित्व है। जिसके घर के सफर से अंतर का अंधकार दूर हो और विचारों का बल्ब खुद-ब-खुद जल उठे, वह आदमी वाकई महान है। हम आतताई की महानता पर और सोचते कि पास की झुग्गी से गूंजती अंग्रेजी स्वर-लहरी ने हमारा ध्यान भंग कर दिया। दुनिया काम पर निकली है और झुग्गी में संगीत गूंज रहा है। झुग्गी में रोशनी के लिए एक छेद था। हमने वहां से झांका तो पाया कि टी०वी० का अंग्रेजी चैनल इस मधुर संगीत का स्रोत है। एक युवा को हमारी हरकत नागवार गुजरी। उसने संगीत के शोर के ऊपर अपना स्वर सप्तम में कर हमें डपटा— "अंकल! प्लीज, डोंट डिस्टर्ब।" हमें विश्वास हो गया, अंग्रेजी अधिकार की भाषा है। हमारे बड़े बाबू हमें अंग्रेजी में ही डांटते हैं। झुग्गी वाले ने भी हमें अंग्रेजी में ही

डपटा।

हम आतताई जी के बंगले तक पहुंचे तो वहां गेट पर अंग्रेजी में चेतावनी लगी थी—'बीवेयर ऑफ डॉग्स।' हमने घंटी बजाई तो अंदर से भौंकने की आवाज आई। हमने एक पैर गेट के अंदर और एक बाहर रखा। अगर स्वागत के लिए कुत्ता बाहर आया तो भागने में सुविधा होगी। लॉन के उस पार दरवाजा खुला और एक चोबदार अवतरित हुआ। वह हमारे पास पहुंच पाता कि उसके पहले अंदर से एक दौड़ता, गरजता, चौड़ा, ऊंचा एलसेशियन गेट तक आ धमका। हमने पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अंदर का पैर बाहर खींचा, गेट बंद किया और 'बचाओ, बचाओ' चिल्लाते, दर्शन के बजाय दौड़ के लिए प्रस्तुत हो गए। चोबदार ने हम पर दया दिखाई और जोर से चीखा, "चैपी, नो!" इतना सुनना था कि श्वान के रूप में हमें चबाने आने वाला यमदूत वहीं का वहीं ठहर गया। जैसे चौराहे पर पुलिस वाले की सीटी से ट्रैफिक रुक जाए। हमारी जान में जान आई। हिंदी में हमारी कातर पुकार का कुत्ते पर कोई असर नहीं हुआ था। वहीं पर अंग्रेजी के आदेश का उसने तत्काल पालन किया। हमारे ज्ञानचक्षु खुल गए। अधिकारी के कुत्ते सिर्फ अंग्रेजी समझते हैं।

इस श्वान-आक्रमण से अपनी सिट्टी-पिट्टी गुम हो चली थी। चोबदार हमारे पास तक आ गया। हमारे गले की नली ने बोलने की कोशिश की पर कोई स्वर नहीं फूटा। उसने पहल की, "कहिए", हमने गले की ओर इशारा किया। खांसा-खंखारा कि भय के अटके रोड़े से गले को मुक्ति मिले। इधर-उधर देखा तो आवाज रुकने का राज अपने पल्ले पड़ा। हांफता, दुम हिलाता चैपी अभी भी वहीं खड़ा होकर हमें संभावित शिकार के बतौर घूर रहा था। हम मौन थे जैसे गिटपिट-गिटपिट धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलने वाले साहब के सामने उसका चपरासी। अंग्रेजी आदेश की ही नहीं, डराने की भी भाषा है। गुंडे-बदमाशों से अपना साबका नहीं पड़ा है। हां, पुलिस और नेताओं से पड़ा है। हिंदी फिल्मों की हमारी जानकारी के हिसाब से चोर-डाकू और माफिया का हर गिरोह अपने आका को 'बॉस' के सम्मानित संबोधन से पुकारता है। जब बॉस अंग्रेजी में 'यस प्लीज' भी बोलता है तो उसका गिरोह थर-थर कांपता है। यह अंग्रेजी का ही जादू है कि वह भाषा डराने-धमकाने का एक कारगर हथियार है।

चोबदार ने हमारी चुप्पी से तंग आकर आवाज ऊंची की और दोहराया— "कहिए! वॉट डू यू वांट?" हमारे मुंह से घबराहट में 'हातमताई' और 'ताथाताई' जैसे अनर्गल शब्द निकले, फिर हमने अपनी गलती सुधारी, "हमें आतताई जी से मिलना है।" "आपका अपाइंटमैंट है?" उसने जानना चाहा। हमें लगा कि हम कितने भाग्यवान हैं। ऐसे हिंदी के विद्वान से मिलने आए हैं जिसके नौकर-चाकर भी अंग्रेजी में पारंगत हैं। हमने चोबदार को उत्तर दिया —"नहीं।"

"आप यहां रुकिए, मैं साहब से पूछ के आता हूं," कहकर चौकीदार चैपी को हमारी निगरानी के लिए छोड़ अंदर अंतर्ध्यान हो गया। चैपी ने हमें अकेला पाकर

फिर धीरे से गुर्र की। हमने 'चैपी, नो' कहकर उसके मुंह पर ताला लगाया। अंग्रेजी की इस महत्ता से अपने आत्म-सम्मान को थोड़ा धक्का तो लगा पर क्या करते। 'श्वान! चुप' कहने से काट लिए जाते। जान है तो जहान है।

चोबदार फिर प्रकट हुआ, "साहब बाथरूम में हैं। आप तब तक ड्राइंगरूम में इंतजार कर लीजिए।" उसने हमसे अंदर चलने को कहा। हमने चैपी की ओर इशारा किया। उसने चैपी को 'गो' का हुक्म दिया और वह आज्ञाकारी कुत्ता जैसा दौड़ता-कूदता आया था वैसे ही अंदर प्रस्थान कर गया। एक बार हमारी इच्छा चोबदार से यह दरियाफ्त करने की हुई कि साहब लोग घर पर 'बाथरूम' और दफ्तर में 'मीटिंग' में ही क्यों रहते हैं? जीवन में खाना खाना, टी०वी० देखना, दोस्तों से गपशप करना जैसे और भी सामान्य काम हैं। साहब लोग इनमें भी व्यस्त हो सकते हैं। फिर बाथरूम और मीटिंग तथा आजकल 'प्रेयर' में 'बिजी' होने का ही बहाना क्यों बनाते हैं। हमने जिज्ञासा को जब्त किया। चोबदार तो हुकुम का गुलाम है। बाथरूम और मीटिंग में 'बिजी' होने की बहानेबाजी का राज तो आतताई जैसे साहब ही बता सकते हैं। उनसे ऐसे सवाल पूछने की हिम्मत हम अभी तक नहीं जुटा पाए हैं। ज्ञानी आतताई के ज्ञानभरे ड्राइंगरूम में बैठकर हमें अक्ल आ गई। उसमें चारों ओर अंग्रेजी की किताबें सजी थीं। यह कहना कि साहब 'बैठक' या 'शौचालय' में व्यस्त हैं, कुछ शोभा नहीं देता है। शायद इसी कारण 'मीटिंग' और 'बाथरूम' किसी को टालने के प्रचलित और स्वीकृत बहाने हैं। अंग्रेजी बड़े लोगों के लिए बहानेबाजी की भी भाषा है। इतने में आतताई आंधी की तरह आए और "मुझे पोयट्री के एक सेमिनार में जाना है," कहते हुए तूफान की तरह चले गए। हम उनके पीछे-पीछे दौड़े। उन्होंने फिर मिलने के आश्वासन से हमें आश्वस्त किया और उनकी कार 'फुर्र' हो गई।

हमने घर लौटने के लिए बस पकड़ी तो उसमें कॉलेज-विश्वविद्यालय के छात्र भरे थे। सब फर्राटेदार अंग्रेजी में वार्तालाप कर रहे थे। हमारे पड़ोस में एक सज्जन बैठे थे। हमने उनसे शिकायत की कि क्या हिंदुस्तान से हिंदी लोप हो गई है? उन्होंने चौंककर 'वॉट', 'वाट' कहा और फिर अपने अंग्रेजी अखबार के पारायण में खो गए। हमारे घर आते-आते बस खाली हो गई थी। कंडक्टर ने एक सीट के नीचे से अंग्रेजी अखबार निकाला और उसकी तस्वीरें देखने लगा। हमने उससे जानना चाहा कि क्या वह हिंदी अखबार नहीं पढ़ता है? उसने उत्तर दिया—"हिंदी का चार पन्ने का अखबार दो रुपए का है। अंग्रेजी के तीस-पैंतीस पन्नों के अखबार की कीमत एक रुपया है। हम तो तस्वीरें देख लेते हैं। खर्चा तो रद्दी बेचकर वसूल हो जाता है, अगल-बगल वालों पर रुआब पड़ता है सो अलग।" कंडक्टर की बात से हमें अपनी पत्नी का तर्क याद आ गया। उनका दृढ़ विश्वास है कि हिंदी की क्यों किसी भी अखबार की खरीद फिजूल-खर्ची है। दिन भर दूरदर्शन पर समाचार आते हैं फिर

समाचार-पत्र की क्या आवश्यकता है। कभी उन्हें हिंदी की पत्रिकाएं पढ़ने का शौक था। जबसे पत्रिकाओं के मालिकों ने उन्हें बंद करने का निश्चय किया, वह बेहद खुश हैं। बिना उनके व्यक्तिगत प्रयास के उनका बचत अभियान सफल हो गया। हमें लगा कि अंग्रेजी सस्ती है और हिंदी महंगी। जाहिर है कि सस्ती फितरत के लोग अंग्रेजी का इस्तेमाल करें।

हम घर पहुंचे तो हमारी पत्नी और पुत्र टी०वी० पी रहे थे। उसमें एक हिंदी फिल्म आ रही थी और नायिका 'आई लव यू' जैसा कोई गाना गा रही थी। खलनायक नायक को अंग्रेजी की गालियां दे रहा था। हमने चैनल बदला तो सरकार के सचिव जी एक जापानी प्रतिनिधिमंडल के साथ किसी करार पर हस्ताक्षर कर रहे थे। उन्होंने अंग्रेजी के लिखित भाषण की घास काटी। उनके चेहरे को देखकर लग रहा था कि जैसे इस श्रमसाध्य कार्य से उनके पेट में मरोड़ हो रही है। जापानी ने अपनी भाषा में कुछ बोला जो किसी के पल्ले नहीं पड़ा। समारोह के समापन पर सचिव जी ने नमस्कार न कर शेक हैंड के लिए हाथ बढ़ाया, जापानी ने सिर झुकाया। हमारी पत्नी ने ठहाका लगाया और टिप्पणी की, "अपनी भाषा और तहजीब से कतराने वालों के लिए यही सजा सही है।" हमें एक नेता का ख्याल आया जो अंग्रेजी बोलकर जनता को हंसाते हैं। हमें विश्वास होने लगा कि अंग्रेजी मनोरंजन का भी साधन है। हमारे नेता जानबूझकर उसका प्रयोग करते हैं जिससे दूरदर्शन के दर्शक ऊबने से बचें।

हमारे देश में लोग खोज के बड़े शौकीन हैं। बड़े लोग अकसर सत्य जैसी शाश्वत खोज में जीवन बिता देते हैं। पत्रकार खबर के चक्कर में अफवाह खोजते हैं, बेकार नौकरी और साधू-संत ईश्वर। सबकी अपनी-अपनी खोज है। शाम को शर्मा जी घर आए। हमारी पत्नी ने हमेशा की तरह हमारा मजाक उड़ाया—"आपके मित्र आज छुट्टी के दिन भी न जाने किस तलाश में भटकते रहे हैं।"

शर्मा जी ने पकौड़ी की भरपाई की, "क्यों भाई जान, भाभी के रहते आप किस खोज में खो गए।"

हम दिन भर के अनुभव से खीजे हुए थे। हमने झल्लाकर स्वीकारोक्ति की, "हम हिंदी खोज रहे थे।"

"कुछ कामयाबी मिली?"

हमने इंकार में सिर हिलाया। शर्मा जी ने ज्ञान दिया, "घर की मुर्गी दाल बराबर होती है। हिंदी पूरे हिंदुस्तान में है। उसे खोजने की जरूरत ही क्या है। यह जरूर है कि जब वह विदेश से 'पैक' होकर आएगी तो उसका महत्त्व और मूल्य अधिक होगा।"

"हमें तो लगता है कि भाषा के अभाव में देश गूंगा होता है।"

"आप पर यह हिंदी का भूत कैसे सवार हो गया?" शर्मा जी ने जिज्ञासा

जताई।

"हम आजादी के बाद भारतीय भाषाओं की प्रगति पर शोध-कार्य करना चाहते हैं।"

शर्मा जी मुस्कराने लगे। उन्होंने सुझाव दिया, "तब तो आप टोकियो जाइए। पिछली बार आतताई ने वहां पंद्रह दिन बिताए और वह पूरा एक कविता-संग्रह साथ लेकर आए।"

हमने उसके लिए अर्थ की विवशता बताई। शर्मा जी ने पकौड़ी का नमक अदा किया— "यों आप शोध के लिए झुमरीतलैया भी जा सकते हैं। वहां के लोगों का हिंदी फिल्मी गीतों की लोकप्रियता में अभूतपूर्व योगदान है।"

हमारा पी-एच०डी० का इरादा अभी भी केवल इरादा है। यों शर्मा जी का वायदा है कि हिंदी हिंदुस्तान में जरूर आकर रहेगी। बस, थोड़े सब्र और वक्त की दरकार है। भारत में अकसर विचार, साहित्य, फैशन, उपभोक्ता-सामग्री यूरोप के माध्यम से आते हैं। इस बार विश्व हिंदी सम्मेलन अंग्रेजी के जन्म-स्थल लंदन में हो रहा है। अब हिंदी का हिंदुस्तान में वाया लंदन आना तय है।

□

अंगरेजी की रंगरेज़ी

राजकुमार गौतम

अंगरेजीमय माहौल में रहते हुए सबसे अधिक संकट निम्न और मध्य वर्ग के समाज को है जो उस उच्चतर दिशा में जाना चाहता है जिसका रास्ता अंगरेजी की फिसलन और अपमानपूर्ण प्रणाली से सुसज्जित है। इस व्यंग्य में यही चिंता चित्रित है।

मैं जब उनके यहां पहुंचा तो देखा कि वे उदास हैं। उनका उदास दीखना मेरे लिए आठवें आश्चर्य से कम न था। मैंने पूछा, "क्या बात है? सब कुशल-मंगल तो है न?"

वे बोले, "बच्चों का भविष्य कुशल-मंगलमय रहे, इसीलिए उदास हूं।"

उनकी पहेली मेरी समझ में नहीं आई। उन्हें मैं बरसों से जानता हूं। वे मेरे शहर ही के हैं और एक विशिष्ट व्यक्तित्व के स्वामी तथा ईर्ष्या करने लायक सम्पन्न करोबारी हैं। साथ-ही-साथ वे मस्त जीव भी हैं। हर वक्त हंसी-ठहाकों के दौरान विचरने वाले संतुष्ट गृहस्थ। कहां इनका इतना धनी परिचय और कहां यह उदासी...पहेली!

"मैं कुछ समझा नहीं।" मैंने अचकचाकर कहा।

"अभी तुम्हारी शादी होगी, फिर बच्चे...फिर उनका स्कूल में एडमिशन...तब तक तुम्हें यह पहेली समझने का इंतजार करना होगा।" वे रहस्यपूर्ण स्वर में बोले।

"ओफ्फो! आप तो पहेली-ऊपर-पहेली जोड़ रहे हैं...साफ-साफ कहें तो कि माजरा क्या है?"

"मेरा अपमान हो गया...!" वे कराहते हुए बोले, "इस अंगरेजी की वजह

से...आज मेरा अपमान हो गया।''

आदत के मुताबिक वे एक बार फूट पड़े तो फिर फूट पड़े। अगले तीन-चार मिनट के उनके संभाषण से ही मुझे पता लग गया कि वे आज दिल्ली गए थे, बच्चों के एडमिशन के चक्कर में। उस महाअंगरेज स्कूल में प्रवेशार्थ बच्चों का कम और मां-बाप का इम्तिहान ज्यादा लिया जा रहा था। साक्षात्कार समिति के सदस्य 'फूं-फां-फुर्र!' छाप अंगरेजी उच्चारण वाले उत्कृष्ट अंगरेजीदां मालूम पड़ते थे। जब पहले सवाल को समझने के लिए उन्होंने तीन बार 'पार्डन' लुढ़काया तो वे इनकी अंगरेजी की लियाकत समझ गए। इतना ही नहीं, इन्होंने अंगरेजी में ही उत्तर देने की जब कोशिश की तो प्रिंसिपल का मन पसीज गया। वे बोले, ''कोई बात नहीं, आप हिंदी में ही उत्तर दे दीजिए।''

प्रिंसिपल की यह छूट उन्हें अच्छी तो लगी थी मगर वहां उपस्थित अन्य लोगों की आंखों में उगा उपहास इन्होंने देख लिया था। कमेटी के बाकी सदस्य इनकी अल्प जानकारी और फर्राटेदार अंगरेजी न बोल पाने के कारण काफी देर तक इनके साथ खेलते रहे थे। जैसे चूहे को मारने से पहले बिल्ली खेलती है, कुछ-कुछ वैसे ही। बाद में इनके अपने नालायक बच्चों ने बस में रास्ते-भर इनकी खिल्ली उड़ाई, सो अलग।

''तो इसमें इतनी उदासी की क्या बात है? आप तमिल, कन्नड़ या मलयालम को तो इतना भी नहीं जानते हैं, जितना अंगरेजी को...इसमें अपमान की क्या बात है?''

''बच्चों का भविष्य!'' वे बुदबुदाए और फिर से उदास हो गए।

मैं अब तक उनकी उदासी के मर्म तक पहुंच चुका था। मैंने कहा, ''देखिए, आप यह गलतफहमी मन से निकाल दीजिए कि अंगरेजी माध्यम के बगैर पढ़ाई का होना एकदम अनाथ पढ़ाई जैसा होता है...यह तो एक औपनिवेशिक साजिश का हिस्सा है जो हमें मानसिक रूप से अपनी कूटनीति का शिकार बनाता है। अंगरेजी खुद फ्रेंच के चंगुल से छूटकर बमुश्किल अपने ही घर में अपनी सत्ता कायम कर पाई थी। एक जमाना था जब वहां अंगरेजी को भी गंवारों की बोली समझा जाता था।''

''मगर भाई!'' वे बोले, ''आज की तमाम हायर एज्यूकेशन, मेडिकल, स्पेस, इंजीनियरिंग, इलेक्ट्रॉनिक्स, साइंस...सब कुछ तो अंगरेजी के माध्यम से मिलता है। जिन स्कूलों में शिक्षा का यह स्टैंडर्ड उपलब्ध है, वहीं के बच्चे इन कंपीटिशंज में टॉप करते हैं...। अब मैं तुम्हें कैसे समझाऊं कि मैं अपने बच्चों को ए क्लास इंजीनियर, एडमिनिस्ट्रेटर, डॉक्टर या साइंटिस्ट देखना चाहता हूं...मगर...।''

''गलत सोचते हैं आप।'' मैंने उन्हें बीच में ही टोका, ''क्या रूस के लोग यह सब नहीं करते? जापान, चीन, जर्मन, फ्रांस या स्पेन के लोग क्या अंगरेजी न पढ़ने-जानने के कारण पिछड़ गए हैं?''

मेरे इस तर्क से उनकी आंखों में कुछ चमक उभरी तो मैंने उचित मौका ताड़ा और धाराप्रवाह बोलता चला गया। मैंने कहा, ''अंगरेजी एक विषय के रूप में मान्य

हो सकती है। कुछ समय तक इससे प्रशासनिक काम भी लिया जा सकता है तथा अंतरदेशीय या अंतरराष्ट्रीय संपर्क भाषा के रूप में इसका दोहन भी किया जा सकता है मगर इसका गुलाम बनकर नहीं रहा जाना चाहिए। बल्कि मैं तो कहता हूं कि इस भाषा के कुछ अत्यधिक प्रचलित शब्दों को हिंदी का ही बना दिया जाए और उसे समकालीन शब्दावली की मुख्य धारा के हवाले कर दिया जाए।''

अब तक मुझे लगने लगा था कि वे उदासी के जंगल से बाहर निकल चुके हैं।

''हां मित्र, है तो कहीं गड़बड़ी जरूर, नहीं तो ऐसी हम लोगों की हीन भावना क्यों विकसित हुई कि बिना अंगरेजी के पढ़ाई का कोई मायने ही नहीं?''

''अब देखो, करना हमें कुछ ऐसा चाहिए कि हम अंगरेजी को मान्यता मात्र एक भाषा के रूप में दें, कोई अनुचित पक्षपात या घृणा न करते हुए, अपनी सभी भाषाओं को हम समुचित दर्जा दें। हां, अंगरेजी के छलावे से जरूर बचें।'' मैंने कहा।

वे याद करते हुए बोले कि, ''हां, एक महान लेखक ने एक बार कहा था कि अंगरेजी एकमात्र ऐसी भाषा है जो गलतफहमी पैदा करने में अव्वल है। यानी इसका थोड़ा-सा जानकार भी यह मानने लगता है कि वह इस भाषा का अधिकारी है और इसीलिए उसे अकसर मुंह की खानी पड़ती है।''

इस बीच वे सामान्य हो गए थे। पत्नी से कहकर उन्होंने चाय बनवाई और झूठी उदासी से उबारने के लिए मुझे धन्यवाद दिया। मैंने उन्हें कई उदाहरण देते हुए बताया कि अफरा-तफरी के इस अंगरेजी के माहौल में हम लोग क्या-क्या कर, लिख या कह जाते हैं, जैसे :

बाई गॉड की कसम...

डैड बॉडी की लाश...

स्पेशलिस्ट इन चाइनीज डिसीज़ (डिशेस)...

सुरापान के बाद अंगरेजी का जबान पर अवतार ले लेना...

क्रोध के वक्त अंगरेजी में ही छूटते शब्द-बाण...

और भी बहुत-सी बातें मैंने बताईं। इनमें से एक मुख्य सूचना तो वह थी जो हमारे एक बंबइया दोस्त ने दी थी। दोस्त ने बताया था कि आजकल कुछ रूपाजीवा भी इंगलिश स्पीकिंग कोर्स या रेपिडेक्स इंगलिश स्पीकिंग कोर्स आदि का सहारा ले रही हैं ताकि वे ग्राहकों को अतिरिक्त रूप से आकर्षित कर सकें और फलत: अपना रेट भी बढ़ा सकें। दूसरी घटना एक बड़े लेखक से संबंधित थी जो पिछले तीस वर्षों से जापान में रहता है, भारत आया तो वह जहां भी जाए, वहीं अंगरेजी। इंडियन एयर लाइंस में गया तो पता लगा कि वहां भी अंगरेजी की ही गिटर-पिटर। हारकर उसे कहना ही पड़ा, 'माफ कीजिए, भाई साहब। मैं पिछले बीस वर्षों से भारत से बाहर हूं, इसलिए अंगरेजी भूल गया हूं...!'' अन्य घटना एक और मित्र के साथ घटी, जब वह अपने एक अन्य मित्र के साथ किसी अहिंदी प्रदेश में बस-यात्रा कर रहे थे।

कंडक्टर पास आया तो उन्होंने अंगरेजी के माध्यम से टिकट मांगे। टिकट लेकर वे दोनों मित्र फिर आपस में हिंदी में बातें करने लगे। कंडक्टर ने जब सुना तो बोला, "जब हिंदी आती है तो अंगरेजी में क्यों बोलता है?"

एक घटना मैंने उन्हें और सुनाई। वह घटना थी कुछ ग्रामीणों को लेकर। हुआ यह कि नंगे पांव रहने और चलने के अभ्यस्त कुछ ग्रामीणों को एक बारात में जाने का मौका मिला तो उन्होंने इस अवसर पर जूते खरीदना मुनासिब समझा। बारात में चले तो जूते उन्हें तंग करने लगे। उनमें से कुछेक ने जूते उतारकर हाथ में ले लिए और कुछ ने लाठियों पर लटका लिए। मगर एक नौजवान ने ऐसा नहीं किया। वह डगमगाता हुआ चलता रहा। तभी राजवाहे की पटरी पर वे लोग पहुंचे। ढलान तथा फिसलन-भरी पटरी पर नंगे पांव वाले तो सब सुगमता से चल रहे थे, मगर जूते पहने नौजवान को काफी दिक्कत पेश आ रही थी। अंततः वह लड़खड़ाकर राजवाहे में गिर ही पड़ा। तब साथ वालों में से किसी एक ने कहा, "ले, गिर पड़ा ना? ज्यादा ही रंगरेज बन रहा था।"

इस घटना को सुनकर वे खूब ठठाकर हंसे। मैंने देखा, अब तक अंगरेजी द्वारा परोसा गया झूठा अपमान उनके चेहरे और आंखों के इलाके से अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर गायब हो चुका था।

□

लंदन में अटल जी का एकल काव्य-पाठ

सुरेन्द्र अरोड़ा

''मुझे याद आ रही है छः वर्ष पूर्व की वह ललछौंही शाम, जब लंदन के निरभ्र आकाश पर सूरज का बड़ा-सा गोला अपनी लालिमा से आकाश ही नहीं, पृथ्वी को भी आभामंडित कर रहा था। यूं तो लंदन में सूर्य देवता के दर्शन दुर्लभ ही होते हैं किंतु उस दिन 28 जून, 1992 को लंदन अरुणमय था। हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री एवं कवि श्री अटल बिहारी वाजपेयी लंदन पधारे थे। मुझे निर्देश दिया गया था कि ब्रिटेन में तत्कालीन उच्चायुक्त डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के निवास पर अटल जी के एकल काव्य-पाठ का आयोजन करने की समुचित व्यवस्था की जाए। डॉ० सिंघवी के निर्देशानुसार उनके निवास पर सम्पन्न अटल जी का एकल काव्य-पाठ लंदन के भारतवंशियों के लिए ही नहीं, स्वयं अटल जी के लिए भी एक यादगार शाम बन गया था। अटल जी ने सिंघवी जी को एक स्नेह सिंचित आत्मीय पत्र लिखा, जिसे यहां प्रस्तुत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूं।''

श्री अटल बिहारी वाजपेयी लंदन में हैं। अटल जी और डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी राजनेता ही नहीं दोनों कवि भी हैं। यह दो कवियों का मिलन है। सिंघवी जी के विशेष अनुरोध पर अटल जी ने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकाल कर एकल काव्य-पाठ करने की स्वीकृति दे दी है।

The Goring Hotel

BEESTON PLACE, GROSVENOR GARDENS, LONDON SW1W 0JW
TELEPHONE: 071-834 8211
TELEX: 919166 FACSIMILE: 071-834 4393

१ जुलाई १९९२

प्रिय ठाकुर साहब, कमलाजी,

धन्यवाद देकर अपनत्व की मधुरिमा में औपचारिकता के परायेपन का पुट देने की भूल मैं नहीं करूँगा।

मैं लन्दन अनेक बार आया। इसी भवन में ठहरा। आतिथ्य मिला, किंतु ऐसा स्नेह, ऐसा सत्संग, ऐसा सान्निध्य पहले कभी नहीं मिला।

'काव्य संध्या' तो मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगी। बरसों से मन में ललक थी, एक कसक थी कि कोई मेरे कवि को थपकी दे, उसे दुलराये। यह भारत से कोसों दूर, समुद्र के पार, किसी कूटनीतिज्ञ के हाथों होगा, इसकी कल्पना भी नहीं थी।

किंतु आप मात्र राजदूत नहीं, भारत की अस्मिता के प्रबल प्रवक्ता और राष्ट्रीय नवोन्मेष के जागरूक प्रतिनिधि हैं। शुभकामनाओं के साथ — अटल बिहारी वाजपेयी

ऐसे सभा जुड़ी है, जैसे कोई महोत्सव हो। यह सुखद संयोग है कि स्वर साम्राज्ञी लता मंगेशकर भी पधारी हैं। भारतीय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के पूर्व अध्यक्ष राज सिंह डूंगरपुर भी उपस्थित हैं। भा०ज०पा० के डॉ० हरिदास, हिंदू सेंटर के श्री ऋषि अग्रवाल, श्री लालचंद पुंज, आर्यसमाज के तत्कालीन अध्यक्ष श्री वीरेंद्र वीर वर्मा, महामंत्री श्री राजेन्द्र चोपड़ा, इंडियन एसोसिएशन, मेनचेस्टर के अध्यक्ष श्री विरमानी के अलावा अनेक विभूतियां मौजूद हैं। डॉ० सिंघवी जी कैंब्रिज विश्वविद्यालय के डॉ० स्टुअर्ट मेकग्रेगर और डॉ० रूपर्ट स्नेल की प्रतीक्षा में हैं। सुप्रसिद्ध भाषाविद डॉ० मेकग्रेगर और ब्रजभाषा के कवि मनीषी डॉ० रूपर्ट स्नेल ने ब्रिटेन में हिंदी भाषा व साहित्य को पल्लवित-पुष्पित करके अमूल्य योगदान दिया है।

काव्य-संध्या की शुरुआत होती है अटल जी व लता जी के स्वागत से। सिंघवी जी कहते हैं, ''आज़ दो महान् विभूतियां हमारे बीच हैं। यह एक ऐसी घटना है, जो बरसों तक याद रहेगी, क्योंकि आज एक ओर एक ऐसी महान् विभूति का सान्निध्य हमें प्राप्त हो रहा है, जिन्होंने हमारे कानों में वाणी का अमृत घोल दिया और दूसरी ओर एक ऐसी महान् विभूति का सान्निध्य हमें प्राप्त हो रहा है, जिन्होंने राजनीति में होते हुए भी हमारी संस्कृति को अपूर्व गौरव प्रदान किया है। राजनीति इतना कुछ ले लेती है कि हमारे पास देने को कुछ शेष नहीं रह जाता है। हम राजनीति से ऊपर उठ कर ऐसे मनीषी का स्वागत कर रहे हैं, जिनमें न केवल राष्ट्र के संकट को समझने की क्षमता है, बल्कि वह राष्ट्रीय संस्कृति व साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं। भारत सरकार ने अटल जी को पद्मविभूषण से सम्मानित कर पद्मविभूषण का ही आदर किया है। अटल जी का व्यक्तित्व अविचल रूप से सांस्कृतिक व्यक्तित्व है, इसीलिए उनकी वाणी में इतना ओज है। मैं इस संस्कृति स्तंभ का स्वागत करता हूं।

''आज मुझे इस बात की भी खुशी है कि मैं अटल जी के साथ-साथ स्वर-साम्राज्ञी लता जी का भी स्वागत कर रहा हूं। हमारे बीच प्रो० स्टुअर्ट मेकग्रेगर भी मौजूद हैं, जिन्होंने विश्व हिंदी सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। ब्रजभाषा के बाद ही खड़ी बोली की शुरुआत हुई। हमारे बीच ब्रजभाषा के कवि डॉ० रूपर्ट स्नेल भी मौजूद हैं। मैं इन दोनों विद्वानों का भी स्वागत करता हूं। यह उचित ही होगा कि एकल काव्य-पाठ की शुरुआत डॉ० रूपर्ट स्नेल की कविता से की जाए।''

डॉ० रूपर्ट स्नेल ने एक दोहे से शुरुआत की है:

''वरुणी बंद रहें सदा यह अपराधी नैन
रतिया मारत नींद को दिनहुं चुरावत चैन।''

डॉ० रूपर्ट स्नेल के शुद्ध उच्चारण, उनके हृदय की गहराई से निकलती मर्मभेदी आवाज से समस्त श्रोतागण विभोर हैं।

तत्पश्चात् अटल जी अपनी ओजस्वी वाणी में शुरुआत करते हैं, ''आज की सांझ सचमुच बड़ी अटपटी हो गई है। इस सांझ के सृष्टिकर्ता हैं डॉ० सिंघवी। लंदन में हाई कमिश्नर के निवास पर काव्य-संध्या का आयोजन एक सुखद संयोग है। यह मेरे लिए भी सौभाग्य की बात है कि लता जी हमारे बीच मौजूद हैं, जो स्वर-सम्राज्ञी हैं। मैं तो अ-सुर हूं। ससुर भी नहीं हुआ...''

क्षण भर के लिए वाजपेयी जी रुकते हैं और पूरे सभा-कक्ष में उन्मुक्त हास्य बिखर जाता है। हंसी की खनखनाहट थमती है तो वाजपेयी जी की ओजस्वी वाणी फिर से लयात्मक हो जाती है, ''यदि मैं जानता कि डॉ० सिंघवी का इस तरह का आयोजन होगा तो मैं राजनीति में न आता, मैं कविता ही लिखता। सचमुच कविता मुझे विरासत में मिली है। मेरे बाबा संस्कृत के पंडित थे। कवित्व सुनने-सुनाने में उन्हें

आनंद आता था। पिता तो सचमुच कवि थे।

"मैंने पहली कविता शायद तब लिखी, जब मैं नाइन्थ में था, 'ताजमहल'। किंतु प्रेम से भिन्न मानवीय धरातल पर एक अलग संवेदना को ले कर लिखी गई थी यह कविता। और दसवीं कक्षा में मैंने कविता लिखी 'परिचय'।'' और वह 'परिचय' कविता की कुछ पंक्तियां सुनाते हैं। फिर रुकते हैं। चारों ओर सन्नाटा है। फिर उनकी वाणी गूंजने लगती है, "मैंने स्वतंत्रता-सेनानियों के सम्मान में लिखा। देश स्वाधीन हुआ। बंटवारा हुआ। उसकी पीड़ा मैंने व्यक्त की। फिर पत्रकार बन गया। फिर राजनीति में आ गया। कभी-कभी मेरे ऊपर आरोप लगता है कि मैं भाषण में कविता करता हूं। डॉ० साहब ने फैक्स द्वारा मेरी कविताएं मंगाईं। डॉ० साहब गुणी भी हैं, गुण ग्राहक भी। मैं अपनी एक रचना से शुरुआत करता हूं। कविता का शीर्षक है: "पहचान''—

पेड़ के ऊपर चढ़ा आदमी
ऊंचा दिखाई देता है।
जड़ में खड़ा आदमी
नीचा दिखाई देता है।
आदमी न ऊंचा होता है,
न नीचा होता है,
न बड़ा होता है, न छोटा होता है;
आदमी सिर्फ आदमी होता है।
इससे फर्क नहीं पड़ता
कि आदमी कहां खड़ा है?
पथ पर या रथ पर?
तीर पर या प्राचीर पर?
फांसी के तख्ते पर
या दिल्ली के तख्त पर?
फर्क इससे पड़ता है कि जहां खड़ा है,
या जहां उसे खड़ा होना पड़ता है
वहां उसका धरातल क्या है?''

और मंत्रमुग्ध श्रोता हॉल को तालियों से गुंजायमान कर देते हैं। फिर अटल जी क्षण भर रुकते हैं। फिर उनके आत्मकथ्य के दूसरे अध्याय की शुरुआत होती है, "एमरजेंसी के दौरान एक वर्ष जेल में रहा। उस दौरान कविता लिखी थी—'एक बरस बीत गया।' सब भाव-विह्वल हैं। सुन रहे हैं सब।

पथ निहारते नयन, गिनते दिन, पल, छिन
लौट कभी आएगा

मन का जो मीत गाया,
एक बरस बीत गया।''

फिर तीसरा अध्याय खुलता है, ''उन दिनों मैं अस्पताल में था। जहां मुझे रखा गया था, पास में मार्चुअरी थी। भोर होते ही नींद उचट जाती थी। स्वजनों की मृत्यु पर करुण क्रंदन की सुनाई देती आवाज हृदय को दहला जाती थी। तब एक कविता लिखी थी, 'दूर कहीं कोई रोता है।'

तन पर पहरा, भटक रहा मन,
साथी है केवल सूनापन,
बिछुड़ गया क्या स्वजन किसी का,
क्रंदन सदा करुण होता है
दूर कहीं कोई रोता है।''

मैंने देखा, लता जी की आंखें आर्द्र हो आई हैं। वह बड़े आदरपूर्ण भाव से अटल जी को निहारती हैं। अटल जी अगला अध्याय खोलते हैं तीन कविताओं के साथ। तीन मन: स्थितियों को एक साथ व्यक्त करती हुई तीन कविताएं। उदास मन: स्थिति की कविता देखिए:

''अपनों के मेले में मीत नहीं पाता हूं...'' अटल जी की जादुई आवाज़। और वाह-वाह से सारा वातावरण गूंज उठता है। ''और मन: स्थिति बदलती है तो क्या लिखा जाता है, देखिए—गीत नया गाता हूं—

टूटे हुए तारों से फूटते वासंती स्वर,
पत्थर की छाती में उग आया नव अंकुर,

झरे सब पीले पात,
कोयल की कुहुक रात,
प्राची में अरुणिमा की रेख देख पाता हूं।
गीत नया गाता हूं।
टूटते हुए सपने की सुने कौन सिसकी?
अंतर को चीर व्यथा पलकों पर ठिठकी।
हार नहीं मानूंगा रार नई ठानूंगा
काल के कपाल पर लिखता-मिटाता हूं।
गीत नया गाता हूं।"

अटल जी के ओजस्वी व सुदृढ़ व्यक्तित्व को दर्पण-सा प्रतिबिंबित करती उनकी ये काव्य-पंक्तियां सुनकर श्रोतागण के अधर आशापूर्ण स्मित से भीग आए हैं। वाह-वाह के साथ मुस्कानों के फूलों की छटा है।

अब विषय बदल गया है। अटल जी श्रीनगर पहुंच गए हैं: ''उन दिनों अपेक्षाकृत शांति थी, जब मैंने श्रीनगर में यह कविता लिखी थी—

न मैं चुप हूं, न गाता हूं
सवेरा है मगर पूरब दिशा में घिर रहे बादल,
रुई से धुंधलके में मील के पत्थर पड़े घायल,
ठिठके पांव,
ओझल गांव,
जड़ता है न गतिमयता,
स्वयं को दूसरों की दृष्टि से मैं देख पाता हूं।
न मैं चुप हूं, न गाता हूं।''

तालियों की गड़गड़ाहट। अटल जी पानी का एक घूंट भरते हैं। फिर कहते हैं, ''दो-तीन साल से अपने जन्म-दिन पर कविताएं लिख रहा हूं।'' इस बीच एक श्रोता प्रश्न करते हैं, ''आपकी जन्म तिथि क्या है?'' ''मैं 25 दिसंबर को पैदा हुआ था।'' अटल जी बताते हैं और फिर अटल जी जन्म दिन की कविता सुनाते हैं:

''नए मील का पत्थर पार हुआ।
कितने पत्थर शेष न कोई जानता?
अंतिम कौन पड़ाव नहीं पहचानता?
अक्षय सूरज, अखंड धरती,
केवल काया, जीती-मरती,
इसीलिए उम्र का बढ़ना भी त्योहार हुआ।
नए मील का...''

पल-पल कटती हुई सांस की डोरी पर इतने सहज ढंग से कही गयी बात के गहन दर्शन पर सभी श्रोता अभिभूत हो उठते हैं।

कवि हो और अपने वक्त के दु:ख-दर्द से विचलित न हो? पंजाब की पीड़ा पर अटल जी की कविता 'दूध में दरार पड़ गई' मार्मिक लगती है सबको। मैं देख रहा हूं, कोई पलक भी नहीं झपक रही है। अटल जी की ओजस्वी वाणी गुंजायमान हो रही है:

''भेद में अभेद खो गया।
खून क्यों सफेद हो गया?
बंट गए शहीद, गीत कट गए,
कलेजे में कटार गड़ गयी।
दूध में दरार पड़ गई।
खेतों में बारूदी गंध,

टूट गए नानक के छंद,
सतलुज सहम उठी, व्यथित सी वितस्ता है,
वसंत में बहार झड़ गई।
दूध में दरार पड़ गई।
अपनी ही छाया से बैर,
गले लगने लगे हैं गैर,
खुद्कुशी का रास्ता,
तुम्हें वतन का वास्ता
बात बनाएं, बिगड़ गई।
दूध में दरार पड़ गई।''

लता जी, सिंघवी जी, कमला जी सभी तालियों की करतल ध्वनि से कवि-मनीषी की संवेदनशीलता के प्रति आभार व्यक्त कर रहे हैं। अब अटल जी भारत-पाकिस्तान संबंधों पर कविता सुनाने से पहले कहते हैं, ''डॉ० साहब ने कहा कि इसे जरूर सुनाना, भले आखिरी छंद छोड़ देना।'' फिर उन्मुक्त ठहाका लगाते हैं, रुकते हैं। और फिर कहते हैं, ''उन दिनों लिखी थी, जब भारत-पाकिस्तान में बड़ा तनाव पैदा हो गया था, लगता था लड़ाई हो कर रहेगी।'' उनकी ओजस्वी वाणी गूंजने लगती है:

''जंग न होने देंगे—
हम जंग न होने देंगे!
विश्व शांति के हम साधक हैं, जंग न होने देंगे।''

लोग चित्रलिखे से सुन रहे हैं: *''हथियारों के ढेरों पर जिनका है डेरा/मुंह में शांति, बगल में बम, धोखे का फेरा/कफन बेचने वालों से कह दो चिल्लाकर/दुनिया जान गई है उनका असली चेहरा/कामयाब हो उनकी चालें, ढंग न होने देंगे/हम जंग...''* कविता लोगों के सामने एक पेंटिंग की तरह चल रही है। एक चित्र बन रहा है साकार। *''जो हम पर गुज़री, बच्चों के संग न होने देंगे/हम जंग न होने देंगे...हम...''*

जीवन के नाना रंगों की छटा बिखेरते अटल जी छोटी-छोटी अनुभूतियों का भी चित्रण अपनी कविता की कूची से बड़ी सहजता से कर जाते हैं। वे आगे कहते हैं, ''डॉक्टर साहब ने एक कविता का उल्लेख किया है। एक छोटी-सी कविता सुना दूं 'हरी-हरी दूब पर':

हरी-हरी दूब पर
ओस की बूंदें
अभी थीं, अब नहीं हैं।

ऐसी खुशियां
जो हमेशा हमारा साथ दें
कभी नहीं थीं
कहीं नहीं हैं।''

इस रचना के बाद अटल जी श्रोतागण को संबोधित करते हुए कहते हैं, ''आप डॉ० साहब से कविता नहीं सुनना चाहेंगे? कवि अकेला दम तोड़ रहा है।'' और समवेत स्वरों में ठहाके गूंज उठते हैं।

''आज आपका दिन है,'' सिंघवी जी कहते हैं और प्रशंसा-भाव से अटल जी को देखते हैं। अटल जी एक दार्शनिक कविता से अपना एकल काव्य-पाठ समाप्त करते हैं:

''ऐसी ऊंचाई,
जिसका परस,
पानी को पत्थर कर दे,
ऐसी ऊंचाई
जिसका दरस हीन भाव भर दे,
अभिनंदन की अधिकारी है,
आरोहियों के लिए आमंत्रण है,
उस पर झंडे गाड़े जा सकते हैं,
किंतु कोई गौरेया,
वहां नीड़ नहीं बना सकती,
न कोई थका-मांदा बटोही,
उसकी छांव में पल भर पलक ही झपका सकता है।
सच्चाई यह है कि
केवल ऊंचाई ही काफी नहीं होती''

कविता पाठ सलिल सरिता-सा प्रवाहमान है:

''शून्य में अकेला खड़ा होना,
पहाड़ की महानता नहीं,
मजबूरी है।
ऊंचाई और गहराई में
आकाश-पाताल की दूरी है।''

काव्य-सागर में सराबोर श्रोतागणों के चेहरों पर मानो एक ही शब्द लिखा है, 'आभार'। अटल जी के एकल काव्य-पाठ की यह संध्या श्री ओझा के धन्यवाद-ज्ञापन के साथ सम्पन्न होती है। □

दिविक रमेश

समकालीन हिंदी कविता में एक महत्त्वपूर्ण नाम। कई कविता-संग्रह प्रकाशित। अनेक पुरस्कारों से भी सम्मानित।

बहुत कुछ है अभी

कितनी भी भयानक हों सूचनाएं
क्रूर हों कितनी भी भविष्यवाणियां
घेर लिया हो चाहे कितनी ही आशंकाओं ने
पर है अभी शेष बहुत कुछ
बहुत कुछ
जैसे होड़।

अभी मरा नहीं है पानी
हिल जाता है भीतर तक
सुनते ही आग।

अभी शेष है बेचैनी बीज में
अकुला जाता है जो
भूख के नाम से।

अभी नहीं हुई चोट अकेली
है अभी शेष दर्द
पड़ोसी में उसका।

है अभी घरों के पास
मुहावरों में
मंडराती छतें।

है अभी बहुत कुछ
बहुत कुछ है पृथ्वी पर।

गीतों के पास हैं अभी वाद्ययंत्र
वाद्ययंत्रों के पास हैं अभी सपने
सपनों के पास हैं अभी नींदें
नींदों के पास अभी रातें
रातों के पास हैं अभी एकांत
एकांतों के पास हैं अभी विचार
विचारों के पास हैं अभी वृक्ष
वृक्षों के पास हैं अभी छाहें
छाहों के पास हैं अभी पथिक
पथिकों के पास हैं अभी राहें
राहों के पास हैं अभी गंतव्य
गंतव्यों के पास हैं अभी क्षितिज
क्षितिजों के पास हैं अभी आकाश
आकाशों के पास हैं अभी शब्द
शब्दों के पास हैं अभी कविताएं
कविताओं के पास हैं अभी मनुष्य
मनुष्यों के पास है अभी पृथ्वी।

है अभी बहुत कुछ
बहुत कुछ है पृथ्वी पर
बहुत कुछ
जैसे होड़।

दहाड़

कह सकते हैं क्या
सांझ से छोड़ने को अपनी कालिमा?
कह सकते हैं क्या
पेड़ से छोड़ने को अपनी छांह?
क्या कह सकते हैं आकाश को
कि छोड़ दे अपनी धरती?
जो भी हो
एक रंग है
मेरे भी चेहरे की पहचान का।
एक छांह है
मेरी भी
अपने थके हुए दोस्तों के लिए।
एक धरती भी है —
मेरी सांस —
जाने कितने ही चढ़-उतर रहे हैं
जिसको पकड़े
मेरे अपने, मेरे जन।
मैं नहीं जानता
क्या है आखिरी परिभाषा प्रेम की
नहीं जानता
क्या है आखिरी अर्थ न्यौछावर होने का
बस इतना जरूर जानता हूं
कि जब-जब हिलाया है मुझे
युद्ध की दहाड़ ने
मुझे लगा है
जैसे हुक्म दिया गया है सांझ को
अपनी कालिमा छोड़ने का
जैसे हुक्म दिया गया है पेड़ को
अपनी छांह तजने का
जैसे कहा गया है आकाश को
अपनी धरती छोड़ने को।

□

विजय किशोर मानव

हिंदी के प्रतिभावान कवि। कविताओं में कथात्मकता उनकी अतिरिक्त उपलब्धि है। कई पुरस्कारों से सम्मानित। हाल ही 'ऋतुराज पुरस्कार' उन्हें प्राप्त हुआ है। 'राजा को सब क्षमा है' नव्यतम कविता-संग्रह।

साझे की नींद

एक छत के नीचे
बंद कमरे में साथ रहते चुपचाप
गुजर जाए उम्र
शीतयुद्ध लड़ते एक जोड़े की तरह
या आसमान तले
हजारों मील का सफर
तय कर लें साथ-साथ
रेल की पटरियों की तरह
मंजिलें एक होते हुए भी
कभी नहीं मिल पाते दोनों

अभिशप्त गंधर्व की या
यक्ष की कथा से भी त्रासद
कथा का साक्षी मैं
मुग्ध हूं
चिड़िया के जोड़े की प्रेम-कथा पर
निरापद नहीं है घोसला
कभी भी आंधी-पानी का आ धमकना

और बिल्ली की तेज आंखों का डर
बहुत करीब होता है घ़ोसले के
लेकिन बसेरा लेता है जोड़ा
निश्चिंत
एक दूसरे की गरमी महसूस करता

आंख खुलते ही साफ करते हैं चोंचें
दोनों आपस में
निकल पड़ता है जोड़ा चिड़िया का
भूख से लड़ता-हांफता
लेकिन हारता नहीं
बीच-बीच में हौसला देता एक-दूसरे को
लौटता है दिन ढले थका हुआ
लेकिन संतुष्ट

साझे की नींद सो जाता है
बिना शिकायत के।

यह जो भागना है

यह जो भागना है
थकाता है
दम फूल जाता है
गंतव्य तक पहुंचने से बहुत पहले ही
असल बात है चलना
सहज, निरंतर, अविराम

रास्तों पर चलना
चलना है रास्तों के पीछे
बंधे हुए कोल्हू के बैल की तरह
वृत्तों पर चलातीं
उम्र भर लंबी यात्राएं
कहीं नहीं पहुंचाती, उसकी चरही के सिवा

पेट भरने की इसी यात्रा में
थक जाती हैं सांसें
भागना भूख ही है
भूख सबसे आगे रहने की
लेकिन वृत्तों पर भागते लोगों में
कौन होता है आगे?
कोई भी चलता हुआ
काटकर वृत्त निकल जाता है
अपनी राह खुद बनाता
पीछे चल पड़ती हैं भीड़ें
उसके पदचिह्न देखतीं
और वहीं खत्म हो जाती हैं
भीड़ों की यात्रा
जहां से आगे
नहीं मिलते पदचिह्न
मिट जाते हैं

अपने ही रास्ते पर चलता
कलाबाजियों के बगैर
नन्हें चूहे पर गणेश की तरह
न थका, न हांफता
दंभ के बिना बौना करता सबको
कोई चले तो देखूं
बहुत मन है कोई ऐसे चले
इस भीड़ में, मारामारी में।

□

नीलेश रघुवंशी

हिंदी की महत्त्वपूर्ण युवा कवयित्री। 'भारत भूषण अग्रवाल सम्मान' तथा 'आर्य स्मृति साहित्य सम्मान' से पुरस्कृत। 'घर-निकासी' पहला कविता-संग्रह।

प्रतीक्षा

प्रतीक्षा हाथ पर बैठी चिड़िया
प्रतीक्षा नाम है पगडंडी का
प्रतीक्षा पहाड़ का दूसरा नाम।
प्रतीक्षा समुंदर का अंजुरी भर पानी
प्रतीक्षा कुएं का खारा जल
प्रतीक्षा सवार है नाव पर।
प्रतीक्षा है आहट
प्रतीक्षा एक लंबी नींद
प्रतीक्षा के पास रास्ते हैं अंतहीन।
जाने कहां से शुरू हुई प्रतीक्षा
कब खत्म होगी प्रतीक्षा!
उत्सुकता में छिपी है प्रतीक्षा
मेरे जैसे कितने ही लोगों के भीतर बसी है प्रतीक्षा
प्रतीक्षा में दूर-दूर तक पछतावा नहीं है।
चढ़ते दिन की प्रतीक्षा
उतरती शाम की प्रतीक्षा
प्रतीक्षा थककर चूर हो गई है
और रात सुबह की प्रतीक्षा में
प्रतीक्षा

तुम मेरा साथ न छोड़ना भागती रात की तरह।
प्रतीक्षा नाम है प्यार का
प्रतीक्षा कशिश
कशिश तुम्हारी आंख का पहला आंसू।

बादलों की तरह

बर्फ से ढके पहाड़
रूई के फाहे सफेद झक्क
आसमान पहाड़ पर झुका हुआ
या पहाड़ आसमान को छूते हुए
इतने करीब पहाड़ और आसमान।
पहाड़ों की कतार उस पर छाई बर्फ!
छूती हूं बर्फ
हथेलियों में पहाड़ों का कंपन
पहाड़ों की तरह विशाल मेरा संसार।
ये प्यार के अत्यंत अपने निजी क्षण
बर्फ की तरह मुलायम अपने में लपेटे
बादल हैं कि झुकते चले आ रहे हैं मेरे ऊपर
मन में एक साथ कई शब्द कई पंक्तियां
मुझे डायरी अपने साथ ले आनी चाहिए थी।
अचानक...
बर्फ का एक गोला मेरे भीतर सरसराता
एक हाथ समेटता है मुझे अपने में
झुकता है कोई मेरे ऊपर
अटकती हैं सांस
सरसराती हवा पिघलती हुई बर्फ
पहाड़ों से टिकी है मेरी पीठ
मुझे डायरी नहीं चाहिए
चाहिए पहाड़ और बर्फ
और
बादलों की तरह झुका प्यार।

□

राजा खुगशाल

हिंदी के जाने-माने कवि जो अपनी कविताओं को सहजता से बुनने में विश्वास करते हैं। यही सहजता इनकी कविताओं को विश्वसनीय बनाती है।

कहां जाये आदमी

जीवन के लफड़ों से तंग आकर
अगर आदमी सोचे, सब कुछ यहीं छोड़कर
वह कहीं चला जाये
तो कहां जाये आदमी?

जाये तो कहां आदमी
अनर्गल शोर-शराबे की इस दुनिया में
एक भी ऐसी जगह नहीं जहां चैन से जिया जा सके
एक भी उम्मीद ऐसी नहीं जो साबुत बची हो
एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं
जिस पर यकीन किया जा सके पूरी तरह
इतनी बड़ी दुनिया में अकेला है हर आदमी

कोई नदी ऐसी नहीं
जिसका पानी पीने योग्य हो
कोई जंगल ऐसा नहीं जो जल नहीं रहा हो
जिसकी हवा में कुछ देर चैन की सांस ली जा सके

चारों ओर धुआं ही धुआं है
घास के जले हुए तिनके तैरते हैं हवा में
सड़कें ही सड़कें हैं हर तरफ मोटर-गाड़ियों से भरी हुई

दूर-दूर तक बिछी सड़कों के दोनों ओर
धूल से लकदक हैं पेड़ों की पत्तियां

सिर्फ धरती थी जिस पर निर्भय घूम सकता था आदमी
कहीं भी पहुंच सकता था
धरती पर यकीन किया जा सकता था
लेकिन धरती भी दरक रही है अब
धरती धंस रही है, प्रकंपित है
धरती ढह रही है, बिखर रही है
अस्थिर इस धरती के अनिश्चय में
जाये तो कहां जाये आदमी?
लटकता रहे किसी उपग्रह के भरोसे
भटकता रहे अंतरिक्ष में
या दुबका रहे धरती की किसी खोह में!

वहां पहाड़ से पहले समुद्र था

वहां पहाड़ से पहले समुद्र था
समुद्र में मछलियां थीं
शंख और सीपियां भी
पहाड़ से पहले वहां शून्य था, बादल थे
वहां पहाड़ से पहले ये था, वो था

यहां अधिक चर्चा इस बात की है
वहां पहाड़ से पहले क्या था, क्या नहीं था

वहां समुद्र से पहले पहाड़ हैं
मछलियों से पहले बर्फ और ग्लेशियर हैं
शंख और सीपियों से पहले जीवन है

वहां पहाड़ हैं, धरती है, लोग हैं
जंगल, नदियां और झरने हैं
वहां पहाड़ पर दरारें हैं
चट्टानें धंस रही हैं, गांव उजड़ रहे हैं
वहां भय और अनिश्चय है
वहां संकट में है मनुष्य का जीवन

यहां पहाड़ का अतीत आकाश बन चुका है
वहां पहाड़ का वर्तमान
समा रहा है भूगर्भ में।

बचपन के एक दोस्त के लिए

बचपन में
हमने एक पत्थर लुढ़काया था पहाड़ से
वह पत्थर आज भी लुढ़क रहा है
मेरी स्मृति में

बचपन में मेरी कापी का एक फटा हुआ पन्ना
उड़कर दूर चला गया था
करौंदे के झुरमुटों में
वह पन्ना आज भी फरफरा रहा है
मेरे ख्यालों में

बचपन में ही वह
पढ़ने-लिखने के लिए
शहर चला गया था
तब से वे देवदारु नहीं महके
मेरी कविताओं में
जिनकी छाया में हम
खेला करते थे
घंटों बैठे रहते थे

जंगल के वे फूल भी नहीं खिले तब से
जिनके आसपास हम
तितलियां छेड़ते थे

जाड़े के वे दिन भी नहीं लौटे तबसे
जिनकी गुनगुनी धूप में सरसों खिलती थी
संतरे पकते थे।

□

हरजेन्द्र चौधरी

हिंदी के जाने-माने कवि और समीक्षक। हिंदी भाषा के अनन्य प्रेमी। यह कविता उनके इसी लगाव को प्रतिबिंबित करती है।

नहीं जाऊंगा मैं अपनी मां को छोड़कर

जैसे भी हो
हिमालय की हिमाच्छादित ऊंचाइयों पर से होकर
उड़ने के सम्मोहन से छुटकारा पा लूंगा
जैसे भी हो
टाल जाऊंगा मैं अकेले कज़ाकस्तान जाना
कभी नहीं जाऊंगा मैं
अपनी मां को छोड़कर

जैसे भी हो
भूल जाऊंगा मैं अल्माअता का वह पुराना नाटक-घर
और वह अंधेरा
अंधेरे में दो आंखों की धुंधलाती चमक
उस दुभाषिणी छात्रा का वह थरथराता अचरज
कि हिमालय के उस पार
दुनिया में एक ऐसा देश भी है—भारत
एक ऐसा शहर भी है—नई दिल्ली
जहां अनेक लोग अपनी भाषा पर
गर्वित कम, लज्जित अधिक हैं
गर्व से दिखाते हैं अंग्रेजी की किताबें

'वर्न्याक्युलर' पर चढ़ा लेते हैं मोटी जिल्द...
अचरज से मर ही गई होती बेचारी
वह कज़ाक छात्रा मेरा बोला सच सुनकर!
पर जो भी हो...जैसे भी हो
मैं सच बोलकर ही बचाना चाहता हूं
दुभाषिणी छात्रा और अपनी भाषा को
जो मेरी मां है...

अब जब भी जाऊंगा मैं
अल्माअता
या दुनिया में कहीं भी
अपनी मां को साथ लेकर जाऊंगा।

□

ग़ज़ल

उदय प्रताप सिंह

शिक्षाविद, पूर्व सांसद और पिछड़ा वर्ग आयोग के वर्तमान सदस्य घनाक्षरी से लेकर गीत और ग़ज़ल विधाओं के समर्थ हस्ताक्षर।

फिर कोई आकाश से टूटा सितारा, देखना
हू-ब-हू यह हश्र होना है हमारा देखना।

हमने इस अंदाज़ से दुनिया को देखा है कि ज्यों,
रेल की खिड़की से बाहर का नज़ारा देखना।

जो भी है सब बांधकर गट्ठर समय ले जाएगा,
लकड़ियां जो बांधता है लकड़हारा देखना।

नाविकों में हौसला होना ज़रूरी है मगर,
हौसले से पहले मौसम का इशारा देखना।

जाने क्यों दौलत के पीछे भागता है आदमी,
क्या मदद करता है तिनके का सहारा देखना।

काम जो आए नहीं, वह स्वर्ग भी किस काम का?
डूबने वाले का बेमतलब किनारा देखना।

जो भी कहता है वो कहता है कि अच्छा है 'उदय,'
खाक में मिल जाएगा एक दिन बिचारा देखना।

□

यतीन्द्र तिवारी

हिंदी के कवि यतीन्द्र तिवारी बुखरेस्ट (रोमानिया) में प्रध्यापक हैं। उनकी कविताओं में से जीवन का नवरस झरता प्रतीत होता है।

अहसास

मैं
पेड़ की तरह
उगना चाहता हूं
जमीन में अपनी जड़ें जमाये।

चिड़ियों की तरह
उड़ना चाहता हूं
आकाश को अपने में समाये।

चमकना चाहता हूं
आकार लेते स्फुरणियों की तरह
सचेत अनुभूतियों की आग जगाये

चकोर की तरह
अपलक निहारना चाहता हूं
तुम्हारा रूप अपनी स्मृतियों में संजोये।

लिपट जाना चाहता हूं
भुजंग की तरह
तुम्हारी चंदनवर्णी काया से
अपने ही विष में समाये।

जानता हूं कि
पेड़, चिड़िया, चकोर और भुजंग
एक साथ नहीं हो सकता
एक अहसास है
जिसे लेकर
जी सकता हूं।

घोंसला

मेरे
कमरे की छत से लगे
रोशनदान में
एक गौरय्या रहती है।
वह बीन-बीन कर लाती है
बार-बार लाती है
ढ़ेर सारे
डोरे और दूब के तिनके
कुछ मेरी किताबों पर गिराती हैं
कुछ से घोंसला सजाती हैं
इतमिनान से रहती है
लाख-लाख सपने बुनती है
नहीं जानती
ध्वसत हो जाएंगे सारे सपने
बिखर जाएंगे सारे अपने
उद्दंड़ हवा का झोंका
जब उड़ा ले जाएगा घोंसला...
वह निश्चिंत है
फिर बीन-बीन कर लायेगी
तिनके, डोरे, दूब के रेशे
और बुनेगी एक नया घोंसला
सच है—
जीती जाती हैं
इसी तरह हारी हुई लड़ाइयां
और तिनकों से नापी जाती हैं
सागर की गहराइयां।

□

डॉ० विजय कुमार मेहता

अमेरिका में चिकित्सक डॉ० मेहता अनेक वर्षों से न्यूयार्क में रह रहे हैं। अब तक दो काव्य-संग्रह प्रकाशित। उनकी प्रस्तुत कविता हिंदी कविता का एक रूप सामने रखती है।

न्यूयार्क

नव युग के नूतन नगर बोल!

ये स्वर्ण कलित ये रजत महल,
नभ में कुसुमित ये शीश कमल,
नव इन्द्र धनु की किरणों के,
पहले छविमय मधु भाल विमल।

नव युग के सुषमित नव कुमार,
नव संस्कृति के प्रतिनिधि अमोल,
नव युग के नूतन नगर बोल!

फैला कर पाषाणों की बाहें,
नभ को क्या भू पर लाना है।
झिलमिल इन स्वर्ण झरोखों से,
क्या तारों को तुम्हें लुभाना है।

फैला आलोक विजन नभ में,
क्या ढूंढ रहे हो आज बोल?

नव युग के नूतन नगर बोल!

ज्ञान, कला, विज्ञान सकल,
कुसुमित अगनित मधुमय शतदल।
मधु तट पर खिलते नव प्रसून,
सुरभित, छविमय, मधुमय शीतल।

आंगन छवि का था इंद्रजाल,
कानों में मेरे क्षेत्र खोल,
नव युग के नूतन नगर बोल!

मधुमय स्वतंत्रता की देवी,
करती ललाट पर मधु चंदन,
नित रोज तिरोहित होते हैं,
स्वाधीन मनुज के स्पंदन

नव भौतिकता के अंबार महा,
करती समृद्धि पल-पल किलोल,
नव युग के नूतन नगर बोल!

नव न्याय तुला पर तोल रहे,
मानवता की मधुमय लड़ियां,
नैतिकता की आधारशिला,
संस्कृति की चिर स्वर्णिण कड़ियां।

किस नव भविष्य की ओर चले,
ओ महातपी कुछ भेद खोल!
नव युग के नूतन नगर बोल!

इन रजत वीथियों पर कितने,
मणि, स्वर्ण लुटेरों का प्रांगण,
मधु आशाओं के दीप जला,
आते कितने तेरे आंगन।

कितने कुबेर के महल बने,
कितने बिक जाते बिना मोल
नव युग के नूतन नगर बोल!

तेरे महलों की छांव तले,
वह देख कराहती मानवता।
कुछ दीन-हीन कुछ वस्त्र हीन,
उन्माद, निरंकुश, अराजकता।

हे महाबली! मत देख गगन,
निज दृष्टि धरा की ओर खोल।
नव युग के नूतन नगर बोल!

यह कोलाहल, यह आकुलता,
बेकल सांसें उर की धड़कन,
किस नई दिशा को जाना है?
क्यों गतिमान तेरा कन-कन?

क्षण-क्षण, पल-पल तू जाग रहा,
क्या खोज रहा निधियां अमोल?
नव युग के नूतन नगर बोल!

हडसन के तट के महानगर!
दो क्षण तो पलकें बंद करो,
क्या जाने कुछ उन्माद घटे,
यह तीव्र गति कुछ मंद करो।

ओ कोलाहल के महानगर!
नूतन भविष्य को नाप-तोल।
नव युग के नूतन नगर बोल!

□

डॉ० उषा ठाकुर

नेपाल में हिंदी विषय का अध्यापन कर रहीं कवयित्री हिंदी के अनेक मंचों पर सक्रिय हैं। 'गगनाञ्चल' में उनकी कविताएं पहले भी प्रकाशित हुई हैं।

दिग्भ्रमित मानव

दूर...दूर...
बड़ी दूर, अनंत तक...
संपूर्ण ब्रह्मांड में,
ढूंढता रहा—
असीमित प्रयत्न
करता रहा मानव।
पूरब से पश्चिम,
पश्चिम से पूरब,
हताश
भागता रहा मानव!

ओह, यह कैसी विडंबना?
प्रकाश पुंज में,
भयावह अंधेरा।
हर अंधेरे में,
झांकता वह सबेरा।
थकित, विस्मित,
नयन झपकाता वह बार-बार।
कुछ करुण, कुछ दारुण
स्वर थरथराता वह बार-बार।
यह माया महल—

यह विश्व प्रकृति अनूठी।
क्या है सच?
झूठ क्या है?
इस शून्य, महाशून्य में,
गोता लगाता रहा मानव।
यह शून्य हो
या बिंदु
गहराई नाप कौन पाया?
ज्ञान-विज्ञान के चमत्कार में
अपना परिवेश,
भूलता गया मानव।
खुद की पहचान,
कहीं दूर—
छोड़ आया मानव।
होकर दिग्भ्रमित,
कहीं अंधेरे में—
खो गया मानव!

विक्षिप्तावस्था में कभी,
अट्टहास करता वह!
एकांत में कभी
अपने हृदय को टटोलता वह।
ओह,
यह कैसा द्वंद्व?
कैसी मर्मांतक पीड़ा?
बार-बार
उसके अंत का आह्वान!
आ गया समय अब
पाञ्चजन्य में, फूंक भर दो—
गांडीव की प्रत्यंचा की,
टंकार कर दो।
निष्काम कर्म की साधना से,
यह गगन-वसुंधरा मंगलमय हो जाए।
सत्यम् शिवम् सुंदरम् के
अमरत्व में खो जाए।

□

बल्गारिया की चार कविताएं

हिंदी के रचनाकारों में विश्व के कविता साहित्य को हिंदी में अनूदित करने की प्रखर प्रतिभा रही है। बच्चन, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, गिरधर राठी आदि के साथ-साथ कवि विनोद शर्मा इस क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं। उनके द्वारा अनूदित चार बल्गारी कविताएं।

ब्लागा दिमित्रोवा

बल्गारिया के उप राष्ट्रपति पद को सुशोभित कर चुकीं कवयित्री की कविताएं वियतनाम, बेल्जियम तथा भारत में प्रकाशित हो चुकी हैं। कई उपन्यास भी प्रकाशित।

सड़क पर अकेली एक औरत

इस दौर में भी तकलीफ और जोखिम है
मर्दों के लिए ही बनाई गई इस दुनिया में।
घात लगाए बैठे हैं हर नुक्कड़ पर अपमान और गुस्ताखियां।
यहां तक कि गलियां भी बता देती है तुम्हें
अजीबोगरीब नजरों से तुम्हारी औकात।
सड़क पर अकेली एक औरत।
तुम्हारी असुरक्षा ही
एकमात्र उपाय है तुम्हारे पास अपने बचाव के लिए।

सहारे के लिए नहीं किया तुमने तब्दील
किसी मर्द को किसी कृत्रिम अंग में,
या किसी पेड़ के तने में
या आश्रय के लिए किसी दीवार में
नहीं रखा तुमने अभी कोई कदम किसी मर्द पर
यों कि जैसे हो कोई पुल या गोता-तख्ता।
अपनी मर्जी से पकड़ी है तुमने यह राह
ताकि मिल सको तुम उससे समान स्तर पर
और कर सको उससे सच्चा प्यार।
तुम काफी आगे जाओगी या गिर पड़ोगी कीचड़ में
या धुंधला जाएगी तुम्हारी दृष्टि क्षितिज के विस्तार में
मैं नहीं जानती / मगर तुम चली जा रही हो।
और अगर इस यात्रा के दौरान वे तुम्हें कुचल भी दें
तो रवाना होना तुम्हारा इस सफर पर
किसी भी तरह कम नहीं किसी उपलब्धि से।

सड़क पर अकेली एक औरत।
मगर तुम चल रही हो और तुम रुकने वाली नहीं।
कोई मर्द इतना अकेला नहीं हो सकता
जितनी कि एक औरत जो अकेली है!
तुम्हारे सामने दरवाजे पर लगाता है ताला अंधकार।
रात को सफर पर नहीं निकलती कभी औरत।
द्वार खोलता है तुम्हारे लिए दुनिया का
पौ फटने पर सूर्य किसी दरबान की तरह।

मगर तुम चलती रहती हो अंधकार में भी निडर
अपने कंधों के पीछे देखे बगैर
और हर कदम जो तुम उठाती हो प्रतीक है तुम्हारी आस्था का।
उस अंधकार में, ओ मर्दानी!
जिससे डराते आए हैं वे तुम्हें बरसों से
गूंजते हैं पत्थरों पर पड़ते तुम्हारे कदम।
सड़क पर अकेली एक औरत।
सबसे ज्यादा शांत और निडर कदम एक अपमानित दुनिया में उठाए गए
उस दुनिया में/जो खुद भी एक औरत है
अकेली सड़क पर। □

वेस्सेलिन हान्चेव

सन् 1919 में जन्मे बल्गारिया के इस कवि ने द्वितीय विश्व युद्ध में सक्रिय भाग लिया। संपादन तथा आकाशवाणी से जुड़े क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया। 'लिरिक्स' उनका महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह है।

सत्यकाम

वह अच्छा छात्र था कक्षा में सर्वश्रेष्ठ
खिड़की के साथ वाले
बाईं ओर के पहले बेंच पर बैठा करता था
उसका कद छोटा था
बाल लाल और सीधे खड़े, आग की मानिंद
और दोनों गालों पर सुनहरे चकत्तों का एक पूरा नक्षत्र-समूह।
वह बहुत अच्छा छात्र था
हर सबक उसने सीखा
उसने साफ और सही जवाब दिए
चुप नहीं रहा वह
जब मास्टर ने डेस्क पर से उठ सवाल पूछे:
" कौन थे दूसरे बल्गारी साम्राज्य के राजा?
" ऐजोर कहां है?
" सोडियम में चांदी के तीन परमाणु मिलाने से
हमें क्या हासिल होता है?"
वह अच्छा छात्र था कक्षा में सर्वश्रेष्ठ

एक दिन बिल्कुल अचानक
एक सरकारी अफसर अंदर आया
मास्टर के डेस्क के पीछे खड़े होकर

अफसर ने खिड़की के साथ वाले
बाईं ओर के पहले बैंच की ओर इशारा किया और कहा :
''यहां आओ
बताओ
इन सवालों के साफ और सही जबाब दो''

यह सबक आतंक का था
दीवार से मानो अंधेरी काल-कोठरी से
बोतेव और लेवेस्की देख रहे थे

पसरा हुआ था डर
खाली बेंचों पर करता हुआ अनुबोधन :
''कौन थे वे जिनसे तुम्हें मिलना था?
उन्हें तुम किस जगह मिले?
उन्होंने तुम्हें क्या दिया?
तुमने वह चीज किसे दी?''

यह सबक हिम्मत का था
वह अच्छा छात्र था कक्षा में सर्वश्रेष्ठ
वह श्यामपट्ट तक गया
चाक के बादलों से ढके काले आकाश की पृष्ठभूमि में
उसके लाल चमकदार बाल
उसका चेहरा शांत
निर्विकार: सुनहरे चकत्तों के नीचे
वह बहुत अच्छा छात्र था कक्षा में सर्वश्रेष्ठ
लेकिन वह कुछ नहीं बोला
तमाम सवालों के उत्तर उसने खामोशी से दिए

वह चुप रहा जब उन्होंने कक्षा में सवाल पूछे
वह चुप रहा तब जब वे उसे बाहर ले गए
वह चुप रहा जब उन्होंने उसे
प्रांगण में दीवार के सामने खड़ा किया
वह चुप रहा
जब राइफलों ने आखिरी फरमान जारी किया!

वह बहुत अच्छा छात्र था
वह चुप रहा और अव्वल रहा
अमरता की उस अग्निपरीक्षा में।

□

निकोला वप्त्सारोव

विश्वविख्यात बल्गारियाई क्रांतिकारी कवि ने अपनी कविताओं में राष्ट्र के मर्म को उद्घाटित किया है। मामूली आदमी की छवि संवारकर तथा मनुष्य की गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित कर उसने अभूतपूर्व लोकप्रियता अर्जित की। उनकी दो कविताएं यहां प्रस्तुत हैं।

काल कोठरी से

क्रूर और दुर्धर्ष है युद्ध
यह युद्ध दूसरा महाभारत है
ऐसा लोग कहते हैं

धराशायी हो चुका हूं मैं
और कोई दूसरा ले रहा है मेरी जगह
क्यों किया जाय, अलग छांटकर कोई एक नाम?

बंदूकधारी जल्लाद दस्ते के बाद
कीड़े हरकत करेगें सिर्फ कीड़े

बस इतना मामूली-सा है
ज़िंदगी का तर्क।

मगर तूफान में हम तुम्हारे साथ होंगे साथियों!
हमने प्यार जो किया है तुम्हें।

पत्नी के लिए

अलविदा
कभी
जब होओगी तुम नींद में डूबी हुई

मैं आऊंगा मैं
अप्रत्याशित मेहमान

मत रहने देना मुझे बाहर—गली में
बंद न रखना द्वार
चुपचाप भीतर आऊंगा मैं

दबे पांव होले से बैठूंगा तुम्हारे करीब
और देखूंगा तुम्हें अंधेरे में एकटक

और जब बुझा चुकेंगी अपनी प्यास
मेरी आंखें / मैं तुम्हें चूमूंगा
और चला जाऊंगा।

□

अनुवादक: विनोद शर्मा

चेस्वाव मिवोश

पोलैंड के कवि चेस्वाव मिवोश ने पोलिश कविता को समकालीन विश्व कविता में श्रेष्ठ स्थान पर स्थापित किया है। नोबल पुरस्कार से अलंकृत कवि आधुनिक विश्व कविता को विशिष्ट स्वाद-गंध की कविता प्रदान करने वाले अंतरराष्ट्रीय ख्याति के कवि हैं। कुछ दिनों पहले मिवोश की पुस्तक 'सड़क किनारे का कुत्ता' प्रकाशित हुई है, उसमें वस्तु और शिल्प के वैविध्य को देखा जा सकता है। प्रस्तुत हैं उस पुस्तक से दो अनूदित अंश।

योकि मुरा

एक बार मैंने टी०वी० पर अजन्मे बच्चों का कब्रिस्तान देखा। उनकी छोटी-छोटी कब्रों पर जापानी औरतें मोमबत्ती जला रही थीं और फूल चढ़ा रही थीं। कुछ क्षण के लिए मैंने खुद को उनमें से एक की जगह देखा, जो गुलदाउदी की टहनी चढ़ाने को झुक रही थी।
—मेरे बेटे, तुम मेरे प्यार के बीज थे, बस यही कुछ मैं तुम्हारे बारे में जान सकूंगी तुमने मुझसे पृथ्वी पर जीवन की भयावहता के बारे में सुन लिया होगा, पर तुम बच गए।
दुर्भाग्य से घिरने के बारे में भी सुना होगा, और तुम नहीं समझ सकते कि हम जैसे अनोखे जीव आतंकित होंगे, दूसरों की तरह।
शायद तुम्हें मेरी जैसी जिंदगी मिली होती और पीसते अपने दांत, ढोते अपना भाग्य बरसों तक, जैसे हरेक को करना होता है।
दु:ख, मैंने सोचा, शायद तुमने दाय से पाई मेरी अभिशप्त दृढ़ता और स्वयं को भ्रम में रखने की क्षमता।
मुझे मिली तसल्ली, कम से कम, तुम हो सुरक्षित—कहा खुद से।
जैसे हो नाखुदी पालने में, या रेशम के कृमिकोष के समान।

तुम क्या हुए होते? हर दिन मैं कांपती जानने के लिए/तुममें क्या है रमणीय शकुन-अपशकुन/महानता या पराजय का एक दाना काफी है/पलड़ा डिगाने के लिए।
आदमियों के अहसान और मान या द्वेषी मनुष्य की चारदीवारें।
नहीं, मैं निश्चित हूं कि तुम ताकतवर और बहादुर हुए होते—उन्हीं सबकी तरह, जो प्यार से पैदा हुए।
लिया मैंने निर्णय/मालूम है मुझे यही होना था/कोई नहीं है इसका दोषी। जब मैं आड़ू कुतरती हूं, देखती उगता चांद, खुश होती जब दिखते पहाड़ों पर चीड़ के जंगल
लेती हूं हर चीज का तुम्हारी बजाय/तुम्हारे नाम पर।

पेलिकन्स

हैरान हूं—पेलिकन्स करते हैं लगातार मेहनत
समुद्री सतह पर उनकी नीची उड़ान
एकटक किसी मछली पर, सफेद छपाक—
सारे दिन, सुबह छह बजे से/क्या है विचार
उनके लिए क्या है नीला सागर, एक ताड़ का वृक्ष, अंतरिक्ष
(कहीं ज्वार-भाटे पर, दूर जहाज जैसे,
उभरते शिलाखंड और चमकते,
लाल, पीले और जामुनी?)
न आओ सच्चाई के इतने नज़दीक
रहो प्रतिमूर्ति समान / अदृश्य चीजों का
जो रहती हैं सूरज के ऊपर
मुक्त, भूख और आवश्यकताओं से विरक्त।

□

अनुवादक : हरिमोहन शर्मा

प्रेमचंद, श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद की लघु कथाएं

हिंदी कथा-साहित्य का इतिहास अधिक पुराना नहीं है, मगर सौभाग्यवश इस भाषा के साहित्य को प्रारंभ में जो कथाकार मिले, वे दिव्य कथा-अवतार थे। कालांतर में उनका लेखन मानो 'कथा-सत्य' बन गया और आधुनिक काल में भी हिंदी के साहित्यकार उन्हें अपना आदर्श मानते हैं। प्रेमचंद, श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा जयशंकर प्रसाद जैसे कालजयी कथाकार अपनी रचनाओं में आज भी सार्थक और प्रासंगिक हैं। हिंदी की इस आदर्श धरोहर को संजोने की परंपरा में हम उक्त तीनों कथाकारों की चुनिंदा लघु कथाएं यहां प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि उनके इस अपेक्षाकृत अल्पज्ञात योगदान को सुरक्षित रखा जा सके एवं उसे सर्वज्ञात भी किया जा सके।

प्रेमचंद

देवी

रात भीग चुकी थी। मैं बरामदे में खड़ा था। सामने अमीनुद्दौला पार्क नींद में डूबा खड़ा था। सिर्फ एक औरत एक तकियादर बेंच पर बैठी हुई थी। पार्क के बाहर सड़क के किनारे एक फकीर खड़ा राहगीरों को दुआएं दे रहा था: खुदा और रसूल का वास्ता...राम और भगवान का वास्ता...इस अंधे पर रहम करो।

सड़क पर मोटरों और सवारियों का तांता बंद हो चुका था। इक्के-दुक्के आदमी नजर आ जाते थे। फकीर की आवाज, जो पहले नक्कारखाने में तूती की आवाज थी, अब खुले मैदानों की बुलंद पुकार हो रही थी। एकाएक वह औरत उठी और चौकन्नी आंखों से देखकर फकीर के हाथ में कुछ रख दिया और फिर बहुत धीमे से कुछ कहकर एक तरफ चली गयी। फकीर के हाथ में कागज का एक टुकड़ा नजर आया, जिसे वह बार-बार मल रहा था। क्या उस औरत ने कागज दिया है?

क्या यह रहस्य है? उसको जानने के कुतूहल से अधीर होकर मैं नीचे आया और फकीर के पास खड़ा हो गया। मेरी आहट पाते ही फकीर ने उस कागज के पुर्जे को दो उंगलियों में दबाकर मुझे दिखाया और पूछा, ''बाबा, देखो यह क्या चीज है?''

मैंने देखा : दस रुपये का नोट था! बोला, ''दस रुपए का नोट है, कहां पाया है?'' फकीर ने नोट को अपनी झोली में रखते हुए कहा, ''कोई खुदा की बंदी दे गयी है।''

मैंने और कुछ न कहा। उस औरत की तरफ दौड़ा, जो अब अंधेरे में बस एक सपना बनकर रह गई थी। वह कई गलियों में होती हुई एक टूटे-फूटे, गिरे-पड़े मकान के दरवाजे पर रुकी, ताला खोला और अंदर चली गयी। रात को कुछ पूछना ठीक न समझकर मैं लौट आया।

रात भर मेरा जी उसी तरफ लगा रहा। एकदम तड़के मैं फिर उस गली में जा पहुंचा। मालूम हुआ, वह एक अनाथ विधवा है। मैंने दरवाजे पर जाकर पुकारा, 'देवी, मैं तुम्हारे दर्शन करने आया हूं।'' औरत बाहर निकल आयी, गरीबी और बेकसी की जिंदा तस्वीर। मैंने हिचकते हुआ कहा, ''रात आपने फकीर को.....'' देवी ने बात काटते हुए कहा, ''अजी वह क्या बात थी, मुझे वह नोट पड़ा मिला था, मेरे किस काम का था।'' मैंने उस देवी के कदमों पर सिर झुका दिया।

राष्ट्र का सेवक

राष्ट्र के सेवक ने कहा, 'देश की मुक्ति का एक ही उपाय है, और वह है : नीचों के साथ भाईचारे का सलूक, पतितों के साथ बराबरी का बर्ताव। दुनिया में सभी भाई हैं, कोई नीच नहीं, कोई ऊंच नहीं।'' दुनिया ने जय-जयकार की, ''कितनी विशाल दृष्टि है, कितना भावुक-हृदय।'' उसकी सुंदर लड़की इंदिरा ने सुना और चिंता के सागर में डूब गयी।

राष्ट्र के सेवक ने नीची जाति के नौजवान को गले लगाया। दुनिया ने कहा,

"यह फरिश्ता है, पैगंबर है, राष्ट्र की नैया का खेवैया है।" इंदिरा ने देखा और उसका चेहरा चमकने लगा।

राष्ट्र का सेवक नीची जाति के नौजवान को मंदिर में ले गया, देवता के दर्शन कराए और कहा, "हमारा देवता गरीबी में है, जिल्लत में है, पस्ती में है।"

दुनिया ने कहा, "कैसे शुद्ध अंतःकरण का आदमी है! कैसा ज्ञानी।" इंदिरा ने देखा और मुस्करायी।

इंदिरा राष्ट्र सेवक के पास जाकर बोली, "श्रेद्धय पिताजी, मैं मोहन से ब्याह करना चाहती हूं।" राष्ट्र के सेवक ने प्यार की नजरों से देखकर पूछा, "मोहन कौन है?"

इंदिरा ने उत्साह भरे स्वर में कहा, "मोहन वही नौजवान है, जिसे आपने गले लगाया, जिसे आप मंदिर में ले गये, जो सच्चा बहादुर और नेक है।" राष्ट्र के सेवक ने प्रलय की आंखों से उसकी ओर देखा और मुंह फेर लिया।

बाबाजी का भोग

रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आकर बोला, "बच्चा, तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।" रामधन ने जाकर स्त्री से कहा, "साधु द्वार पर आए हैं, उन्हें कुछ दे दें।"

स्त्री बर्तन मांज रही थी और उस घोर चिंता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था, किंतु यहां दोपहर ही को अंधकार छा गया था। उपज सारी की सारी खलिहान से उठ गई। आधी महाजन ने ले ली, आधी जमींदार के कारिंदों ने वसूल ली, भूसा बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा। बस, थोड़ी-सी गांठ अपने हिस्से में आई। उसी को पीट-पीटकर एक मन भर दाना निकला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ। अब आगे क्या होगा। क्या बैल खाएंगे, क्या घर के प्राणी खाएंगे, यह ईश्वर ही जाने! पर द्वार पर साधु आ गया है, इसे निराश कैसे लौटाएं, अपने दिल में क्या कहेगा। स्त्री ने कहा, "क्या दे दूं, कुछ तो रहा नहीं?" रामधन: "जा, देख तो मटके में, कुछ आटा-वाटा मिल जाए तो ले आ।" स्त्री ने कहा: "मटके झाड़-पोंछकर तो कल ही चूल्हा डाला था। क्या उसमें बरक्कत होगी?" रामधन: "तो मुझसे तो यह न कहा जाएगा कि बाबा घर में कुछ नहीं है। किसी के घर से मांग ला।"

स्त्री: "जिससे लिया, उसे देने की नौबत नहीं आई, अब और किस मुंह से मांगू?"

रामधन: "देवताओं के लिए कुछ अगौवा निकाला है न, वही ला, दे आऊं!"

स्त्री: "देवताओं की पूजा कहां से होगी?"

रामधन : "देवता मांगने तो नहीं आते? समाई होगी, करना, न समाई हो, न करना।"

स्त्री: "अरे तो कुछ अगौवा भी पसेरी दो पसेरी है? बहुत होगा तो आध सेर। इसके बाद क्या फिर कोई साधु न आएगा? उसे तो जवाब देना पड़ेगा।"

रामधन: "यह बला तो टलेगी, फिर देखी जाएगी।"

स्त्री झुंझला कर उठी और एक छोटी-सी हांडी उठा लाई, जिसमें मुश्किल से आध सेर आटा था। वह गेंहू का आटा बड़े यत्न से देवताओं के लिए रखा हुआ था। रामधन कुछ देर सोचता रहा, तब आटा एक कटोरे में रखकर बाहर आया और साधु की झोली में डाल दिया।

महात्मा ने आटा लेकर कहा, "बच्चा, अब तो साधु आज यहीं रमेंगे। कुछ थोड़ी-सी दाल दे तो साधु का भोग लग जाए।" रामधन ने फिर आकर स्त्री से कहा। संयोग से दाल घर में थी। रामधन ने दाल, नमक, उपले जुटा दिए। फिर कुएं से पानी खींच लाया। साधु ने बड़ी विधि से बाटियां बनाईं, दाल पकाई और आलू झोली में से निकाल कर भुरता बनाया। जब सारी सामग्री तैयार हो गई तो रामधन से बोले, "बच्चा, भगवान के भोग के लिए कौड़ी-भर घी चाहिए।"

रामधन: "बाबाजी, घी तो घर में न होगा।"

साधु: "बच्चा, भगवान का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बातें न कह।"

रामधन: "महाराज, मेरे पास गाय-भैंस कुछ नहीं है, घी कहां से होगा?"

साधु: "बच्चा, भगवान के भंडार में सब कुछ है, जाकर मालकिन से कहो तो?"

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा, "घी मांगते हैं, मांगने को भीख, पर घी बिना कौर नहीं धंसता!"

स्त्री: 'तो इसी दाल में से थोड़ी लेकर बनिये के यहां से ला दो। जब सब किया है तो इतने के लिए उन्हें नाराज क्यों करते हो?" घी आ गया। साधु ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घंटी बजाई और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गए। थाली, बटली और कलछुली रामधन घर में मांजने के लिए उठा ले गाया।

उस रात रामधन के घर में चूल्हा नहीं जला। खाली दाल पकाकर ही पी ली। रामधन लेटा तो सोच रहा था, मुझसे तो यही अच्छे!

□

श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी

पाठशाला

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहां बुलाया गया था। वहां के प्रधान अध्यापक का एकमात्र पुत्र, जिसकी अवस्था आठ वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू के बैल की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुंह पीला था, आंखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतलता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राण-रक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने, न मानने का शास्त्रार्थ कर गया और इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया।

यह पूछा गया कि तू क्या करेगा? बालक ने सिखा-सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोकसेवा करूंगा। भीड़ 'वाह-वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था।

एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम मांगे, वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिंता में लगे कि देखें, यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक मांगता है।

बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आंखों में दीख रही थी। कुछ खांसकर गला साफ कर नकली परदे के हट जाने से स्वयं विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू'।

पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वास घुट रहा था। अब मैंने सुख की सांस भरी। उन सब ने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोंटने में कुछ उठा नहीं रखा था, पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है, क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की अलमारी की सिर दुखाने वाली खड़खड़ाहट नहीं।

गालियां

एक गांव में बारात जीमने बैठी। उस समय स्त्रियां समधियों को गालियां गाती हैं, पर गालियां न गाई जाती देख नागरिक सुधारक बाराती को बड़ा हर्ष हुआ। वह ग्राम के एक वृद्ध से कह बैठा, ''बड़ी खुशी की बात है कि आपके यहां इतनी तरक्की हो गई है।''

बुड्ढा बोला, ''हां साहब, तरक्की हो रही है। पहले गलियों में कहा जाता था...फलाने की फलानी के साथ और अमुक की अमुक के साथ...लोग-लुगाई सुनते थे, हंस देते थे। अब घर-घर में वे ही बातें सच्ची हो रही हैं। अब गालियां गाई जाती हैं तो चोरों की दाढ़ी में तिनके निकलते हैं। तभी तो आंदोलन होते हैं कि गालियां बंद करो, क्योंकि वे चुभती हैं।''

भूगोल

एक शिक्षक को अपने इंस्पेक्टर के दौरे का भय हुआ और वह क्लास को भूगोल रटाने लगा। कहने लगा कि पृथ्वी गोल है। यदि इंस्पेक्टर पूछे कि पृथ्वी का आकार कैसा है और तुम्हें याद न हो तो मैं सुंघनी की डिबिया दिखाऊंगा, उसे देखकर उत्तर देना। गुरु जी की डिबिया गोल थी।

इंस्पेक्टर ने आकर वही प्रश्न एक विद्यार्थी से किया और उसने बड़ी उत्कंठा से गुरु की ओर देखा। गुरु ने जेब में से चौकोर डिबिया निकाली। भूल से दूसरी डिबिया आई थी। लड़का बोला, ''बुधवार को पृथ्वी चौकोर होती है और बाकी सब दिन गोल।''

□

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद

मधुप अभी किसलय-शय्या पर मकरंद-मदिरा पान किये सोए थे। सुंदरी के मुख-मंडल पर प्रस्वेद बिंदु के समान फूलों के ओस अभी सूखने न पाये थे। अरुण की स्वर्ण किरणों ने उन्हें गरमी न पहुंचायी थी। फूल कुछ खिल चुके थे, परंतु थे अर्ध-विकसित। ऐसे सौरभपूर्ण सुमन सवेरे ही जाकर उपवन से चुन लिए थे। उन्हें अंचल में छिपाये हुए सरला देव-मंदिर में पहुंची। घंटा अपने दंभ का घोर नाद कर रहा था। चंदन और केसर की चहल-पहल हो रही थी। अगरु-धूप-गंध से तोरण और प्राचीर परिपूर्ण था। स्थान-स्थान पर स्वर्ण-शृंगार और रजत के नैवेद्य-पात्र, बड़ी-बड़ी आरतियां, फूल-चंगेर सजाये हुए धरे थे। देव प्रतिमा रत्न आभूषणों से लदी हुई थी।

सरला ने भीड़ में घुसकर उसका दर्शन किया और देखा कि वहां मल्लिका की माला, पारिजात के हार, मालती की पालिका और भी अनेक प्रकार के सौरभित सुमन देव-प्रतिमा के पदतल में विकीर्ण हैं। शतदल लोट रहे हैं और कला की अभिव्यक्तिपूर्ण देव-प्रतिमा के ओष्ठाधार में रत्न की ज्योति के साथ बिजली सी मुस्कान रेखा खेल रही थी, जैसे उन फूलों का उपहास कर रही हो। सरला को यही विदित हुआ कि फूलों की यहां गिनती नहीं, पूछ नहीं। सरला अपने पाणि-पल्लव में पर्णपुट लिए कोने में खड़ी हो गयी।

भक्तवृंद अपने नैवेद्य उपहार देवता को अर्पण करते थे, रत्न-खंड, स्वर्ण-मुद्राएं देवता के चरणों में गिरती थीं। पुजारी भक्तों को फल-फूलों का प्रसाद देते थे। वे प्रसन्न होकर जाते थे। सरला से रहा न गया। उसने अपने अर्ध-विकसित फूलों का पर्णपुट खोला भी नहीं। बड़ी लज्जा से, जिसमें कोई देखे नहीं, ज्यों का त्यों, फेंक दिया; परंतु वह गिरा ठीक देवता के चरणों पर। पुजारी ने उसकी आंख बचा कर रख लिया। सरला फिर कोने में जाकर खड़ी हो गई। देर तक दर्शकों का आना, दर्शन करना, घंटे का बजाना, फूलों का रौंद, चंदन-केसर की कीच और रत्न-स्वर्ण की क्रीड़ा होती रही। सरला चुपचाप खड़ी देखती रही।

शयन आरती का समय हुआ। दर्शक बाहर हो गए। रत्न-जटित स्वर्ण-आरती लेकर पुज़ारी ने आरती आरंभ करने के पहले देव-प्रतिमा के पास फूल हटाये। रत्न-आभूषण उतारे, उपहार के स्वर्ण-रत्न बटोरे। मूर्ति नग्न और विरल-श्रृंगार थी। अकस्मात् पुजारी का ध्यान उस पर्ण-पुट की ओर गया। उसने खोलकर उन थोड़े से अर्ध विकसित कुसुमों को, जो अवहेलना से सूखा ही चाहते थे, भगवान् के नग्न

शरीर पर यथावकाश सजा दिया। कोई जन्म का अतृप्त शिल्पी ही जैसे पुजारी होकर आया है। मूर्ति की पूर्णता का उद्योग कर रहा है। शिल्पी की शेष कला की पूर्ति हो गयी। पुजारी विशेष भावापन्न होकर आरती करने लगा। सरला को देखकर भी किसी ने न देखा, न पूछा कि तुम इस मंदिर में क्यों हो?

आरती हो रही थी, बाहर का घंटा बज रहा था! सरला सोच रही थी, मैं दो-चार फूल-पत्ते लेकर आयी, परंतु चढ़ाने का, अर्पण करने का हृदय में गौरव था। दान किया सो भी किसे! भगवान को! मन में उत्साह था, परंतु हाय! 'प्रसाद' की आशा ने, शुभकामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बना कर अभी तक रोक रखा। सब दर्शक चले गए, मैं खड़ी हूं किसलिए। अपने उन्हीं अर्पण किए हुए दो-चार फूल लौटा लेने के लिए। तो चलूं!

अकस्मात् आरती बंद हुई। सरला ने जाने के लिए आशा से एक बार देव प्रतिमा की ओर देखा कि उसके फूल भगवान के अंग पर सुशोभित हैं, पर ठिठक गयी। पुजारी ने सहसा घूमकर देखा और कहा, "अरे तुम! अभी यहीं हो, तुम्हें प्रसाद नहीं मिला, लो।" जान में या अनजान में, पुजारी ने भगवान की माला सरला के नत गले में डाल दी। प्रतिमा प्रसन्न होकर हंस पड़ी।

पत्थर की पुकार

नवल और विमल दोनों बात करते हुए टहल रहे थे। विमल ने कहा, "साहित्य-सेवा भी एक व्यसन है।"

"नहीं मित्र, यह तो विश्व भर की एक मौन सेवा-समिति का सदस्य होना है।"

"अच्छा तो फिर बताओ, तुमको क्या भला लगता है? कैसा साहित्य रुचता है?"

"अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।" नवल की गंभीर हंसी कुछ तरल हो गयी। उन्होंने कहा, "इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है। स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, इसी का गान हमें आता है। बस, यह भी एक भांग-गांजे की तरह नशा है।" विमल का हृदय स्तब्ध हो गया। चिर प्रसन्नवदन मित्र को अपनी भावना पर इतना कठोर आघात करते हुए कभी भी उसने नहीं देखा था। वह कुछ विरक्त हो गया। मित्र ने कहा, "कहां चलोगे?" उसने कहा, "चलो, मैं थोड़ा घूमकर गंगा-तट पर मिलूंगा।" नवल भी एक ओर चला गया।

चिंता में मग्न विमल एक ओर चला गया। नगर के एक सूने मुहल्ले की ओर जा निकला। एक टूटी चारपाई अपने टूटे झिलंगे में लिपटी पड़ी है। उसी के बगल

में दीन कुटी फूस से ढकी हुई है, अपना दरिद्र मुख भिक्षा के लिए खोले हुए बैठी है। दो-एक टांकी और हथौड़े, पानी की प्याली, कूची, दो काले शिलाखंड परिचारिक की तरह उस दीन कुटी को घेरे पड़े हैं। किसी को न देखकर एक शिलाखंड पर न जाने किसके कहने से विमल बैठ गया। यह चुपचाप था। विदित हुआ कि दूसरा पत्थर कुछ धीरे-धीरे कह रहा है। वह सुनने लगा : "मैं अपने सुखद शैल में संलग्न था। शिल्पी, तूने मुझे क्यों ला पटका? यहां तो मानव की हिंसा का गर्जन मेरे कठोर वक्षस्थल का भेदन कर रहा है। मैं तेरे प्रलोभन में पड़कर यहां चला आया था, कुछ तेरे बाहुबल से नहीं, क्योंकि मेरी प्रबल कामना थी कि मैं एक सुंदर मूर्ति में परिणत हो जाऊं। उसके लिए अपने वक्षस्थल को क्षत-विक्षत कराने को प्रस्तुत था। तेरी टांकी से हृदय चिराने में प्रसन्न था कि कभी मेरी इस सहनशीलता का पुरस्कार, सराहना के रूप में मिलेगा और मेरी मौन मूर्ति अनंतकाल तक उस सराहना को चुपचाप गर्व से स्वीकार करती रहेगी। किंतु निष्ठुर, तूने अपने द्वार पर मुझे फूटे हुए ठीकरे की तरह ला पटका। अब मैं यहीं पर पड़ा-पड़ा कब तक अपने भविष्य की गणना करूंगा?"

पत्थर की करुणामयी पुकार से विमल को क्रोध का संचार हुआ। और वास्तव में इस पुकार में अतीत और करुणा दोनों का मिश्रण था; जोकि उसके चित्त का सरल विनोद था। विमल भावप्रवण होकर रोष से गर्जन करता हुआ पत्थर की ओर से अनुरोध करने को शिल्पी के दरिद्र कुटीर में घुस पड़ा।

"क्यों जी, तुमने इस पत्थर को कितने दिनों से यहां ला रखा है? भला वह भी अपने मन में क्या समझता होग? सुस्त होकर पड़े हो, उसकी कोई सुंदर मूर्ति क्यों न बना डाली?" विमल ने रूक्ष स्वर से कहा।

पुरानी गुदड़ी में ढंकी हुई जीर्ण-शीर्ण मूर्ति खांसी से कांपकर बोली, "बाबू जी आपने तो मुझे कोई आज्ञा नहीं दी थी।"

"अजी तुम बना लिए होते, फिर कोई न कोई तो इसे ले लेता। भला देखो तो यह पत्थर कितने दिनों से पड़ा तुम्हारे नाम को रो रहा है।" विमल ने कहा। शिल्पी ने कफ निकालकर गला साफ करते हुए कहा, "आप लोग अमीर आदमी हैं। अपनी कोमल श्रवणेंद्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हंसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं और उसकी पुकार से दत्तचित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते हैं, किंतु क्या कभी दुःखी हृदय के नीरव क्रंदन को भी अंतरात्मा की श्रवणेंद्रियों को सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं, वास्तविक रूप है?"

विमल के अतीत और करुणा-संबंधी समस्त सद्भाव कठोर कर्मण्यता का आह्वान करने के लिए उसी से विद्रोह करने लगे। वह स्तब्ध होकर उसी मलिन भूमि पर बैठ गया।

कलावती की शिक्षा

श्यामसुंदर ने विरक्त होकर कहा, "कला, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।" कलावती ने लैंप की बत्ती कम करते हुए सिर झुकाकर तिरछी चितवन से देखते हुए कहा, "फिर मुझे भी सोने के समय यह रोशनी अच्छी नहीं लगती।"

श्यामसुंदर ने कहा, "तुम्हारा पलंग तो इस रोशनी से बचा है। तुम जाकर सो रहो।"

"और तुम रातभर यों यहीं जागते रहोगे।" अब की धीरे से कलावती ने हाथ से पुस्तक भी खींच ली। श्यामसुंदर को इस स्नेह में भी क्रोध आ गया। तिनक गए, "तुम पढ़ने का सुख नहीं जानती, इसलिए तुमको समझाना ही मूर्खता है।" कलावती ने प्रगल्भ होकर कहा, "मूर्ख बनकर थोड़ा समझा दो।"

श्यामसुंदर भड़क उठे। उनकी शिक्षिता उपन्यास की नायिका उसी अध्याय में अपने प्रणयी के सामने आई थी। वह आगे बातचीत करती; उसी समय ऐसा व्याघात। 'स्त्रीणामाद्य प्रणय-वचनं' कालिदास ने भी इसे नहीं छोड़ा था। कैसा अमूल्य पदार्थ! अशिक्षिता कलावती ने वहीं रसभंग किया। बिगड़कर बोले, "वह तुम इस जन्म में नहीं समझोगी।"

कलावती ने और भी हंस कर कहा, "देखो, उस जन्म में भी ऐसा बहाना न करना।"

पुष्पाधार में धरे हुए नरगिस के गुच्छे में अपनी एकटक देखती हुई आंखों से चुपचाप यह दृश्य देखा और वह कालिदास के तात्पर्य को बिगाड़ते हुए श्यामसंदुर की धृष्टता न सहन कर सका। और शेष 'विभ्रमोहि प्रियेसु' का पाठ हिलकर करने लगा।

श्यामसुंदर ने लैंप की बत्ती चढ़ाई। फिर अध्ययन आरंभ हुआ। कलावती अब की अपने पलंग पर जा बैठी। डिब्बा खोल कर पान लगाया, दो खीली लेकर फिर श्यामसुंदर के पास आई। श्याम ने कहा, "रख दो।" खीली वाला हाथ मुंह की ओर बढ़ा, कुछ मुख भी बढ़ा, पान उसमें चला गया। कलावती फिर लौटी और एकचीनी की पुतली लेकर उसे पढ़ाने बैठी, "देखो, में तुम्हें दो-चार बातें सिखाती हूं, उन्हें अच्छी तरह रट लेना। लज्जा कभी न करना, यह पुरुषों की चालाकी है जो उन्होंने इसे स्त्रियों के हिस्से कर दिया है। यह दूसरे शब्दों में एक प्रकार का भ्रम है, इसलिए तुम भी ऐसा रूप धारण करना कि पुरुष, जो बाहर से अनुकंपा करते हुए तुमसे भीतर-भीतर घृणा करते हैं, वह भी तुमसे भयभीत रहें, तुम्हारे पास आने का साहस न करें। और कृतज्ञ होना दासत्व है। चतुरों ने अपना कार्य साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसलिए इसकी ऐसी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, किंतु है यह दासत्व। यह शरीर का नहीं, किंतु अंतरात्मा का दासत्व है। इस कारण

कभी-कभी लोग बुरी बातों का भी समर्थन करते हैं। प्रगल्भता, जो आजकल बड़ी बाढ़ पर है, बड़ी अच्छी वस्तु है। उसके बल से मूर्ख भी पंडित समझे जाते हैं। उसका अच्छा अभ्यास करना, जिसमें तुमको कोई मूर्ख न कह सके, कहने का साहस ही न हो। पुतली, तुमने रूप का परिवर्तन भी छोड़ दिया है, यह और भी बुरा है। सोने के कोर की साड़ी तुम्हारे मस्तक को अभी भी ढंके है, तनिक इसे खिसका दो। बालों को लहरा दो। लोग लगे पैर चूमने, प्यारी पुतली! समझीं न?''

श्यामसुंदर के उपन्यास की नायिका भी अपने नायक के गले लग गयी थी, प्रसन्नता से उसका मुख-मंडल चमकने लगा। वह अपना आनंद छिपा नहीं सकता था। पुतली की शिक्षा उसने सुनी कि नहीं, हम नहीं कह सकते; किंतु वह हंसने लगा। कलावती को क्या सूझा, लो वह तो सचमुच उसके गले लगी हुई थी। अध्याय समाप्त हुआ। पुतली को अपना पाठ याद रहा कि नहीं, लैंप के धीमे प्रकाश में कुछ समझ न पड़ा।

□

प्रस्तुति : प्रवर जी

रचनाकार

डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
18,विलिंग्डन क्रिसेंट,
नई दिल्ली-110001

महावीर प्रसाद द्विवेदी

सीताराम केसरी
7, पुराना क़िला रोड,
नई दिल्ली-110001

हिमांशु जोशी
7/सी-2, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स
मयूर विहार, फेज-I,
दिल्ली-110091

पद्मेश गुप्त
10, Bell Meadow, Dulwich
Avenue, London, SE19 IHP
(U.K)

रतन लाल भगत
उपसचिव (हिंदी), विदेश मंत्रालय,
साउथ ब्लॉक,
नई दिल्ली-110011

हरीश नवल
15 सी, हिंदू कालेज बंगले,
यूनिवर्सिटी रोड, दिल्ली-110007

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा
डी-213, इला अपार्टमेंट्स
बी-7, वसुंधरा एन्क्लेव,
दिल्ली-110096

डॉ० सत्येन्द्र श्रीवास्तव
Flat No. 25, 8, Newton Street,
London WC2 (U.K)

प्रहलाद राजवेदी
ई-149, श्याम विहार,
गोयला डेयरी रोड, दीनदारपुर,
नज़फगढ़, नई दिल्ली-110043

शेरजंग गर्ग
जी-261 ए, सेक्टर-22,
नोएडा-201301 (उ०प्र०)

प्रकाश मनु
545, सेक्टर-29,
फरीदाबाद-121008 (हरियाणा)

रामविलास शर्मा
सी-358, विकासपुरी,
नई दिल्ली-110018

कमलेश्वर
5/116, ईरोज़ गार्डन, सूरजकुंड रोड,
नई दिल्ली-110044

प्रभाकर श्रोत्रिय
निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्,
36-ए, शेक्सपियर सरणी,
पो० बो०-16130, कलकत्ता-700017

विश्वमोहन तिवारी
ई-143, खंड-21,
नोएडा-201301 (उ०प्र०)

द्रोणवीर कोहली
ई-163, ग्रेटर कैलाश-II,
नई दिल्ली-110048

डॉ० के०एल०गांधी
डी-II/364, पंडारा रोड,
नई दिल्ली-110011

डॉ० कमल किशोर गोयनका
ए-98, अशोक विहार,
फेज़-I, दिल्ली-110052

ममता वाजपेयी
के-210, सरोजनी नगर,
नई दिल्ली-110023

लल्लन प्रसाद व्यास
सी-13, प्रेस एन्क्लेव,
नई दिल्ली-110017

डॉ० सुरेश ऋतुपर्ण
17 सी, विश्वविद्यालय मार्ग,
दिल्ली-110007

मनमोहन चड्ढा
7, जानकीशंकर,
गणंजय हाउसिंग सोसायटी,
कोथरूड, पुणे-411029

युट्टा औस्टिन
4 Pershore End, Lexden,
Colchester, Essex, CO3 5UZ
(England)

सुरेश उनियाल
बी-8, प्रेस अपार्टमेंट्स
23, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन
दिल्ली-110092

विनोद अग्निहोत्री
एच-103, सैक्टर-27,
नोएडा-201301 (उ०प्र०)

डॉ० श्रीप्रकाश शुक्ल
सहायक निदेशक (राजभाषा),
विदेश मंत्रालय, साउथ ब्लॉक,
नई दिल्ली-110011

राधेश्याम तिवारी
एफ-119/1, फेज़-II,
अंकुर एन्क्लेव, करावल नगर,
दिल्ली-110094

बलराम
53-सी, ऊना एन्क्लेव,
मयूर विहार, फेज़-I,
दिल्ली-110091

अशोक गुप्ता
बी-11/45, सेक्टर-18,
रोहिणी, दिल्ली-110085

डॉ० परमानन्द पांचाल
222 ए, पॉकेट-1, मयूर विहार,
फेज़-I, दिल्ली-110091

डॉ० कमलेश सिंह
41, व्हाइट हाउस, पंचवटी,
अहमदाबाद-380006 (गुजरात)

डॉ० वी०पी० कुंज मेत्तर
अतिथि प्रोफेसर, गेंट विश्वविद्यालय,
(बेल्जियम)

डॉ० वेद प्रकाश 'वटुक'
Folklore Institute,
P.O.Box 1142, Berkley,
CA 94701 (USA)

डॉ० तामिओ मिज़ोकामि
प्रोफेसर ऑफ इंडियन लैंग्वेज़ेज
साउथ एशियन स्टडीज़,
डिपार्टमेंट ऑफ एरिया स्टडीज़,
ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन
स्टडीज़, जापान

राजेश कुमार
एसोशिएट प्रोफेसर (हिंदी),
जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केंद्र,
भारतीय राजदूतावास, मॉस्को (रूस)

डॉ० ल्युदमिला खखलोवा
रीडर, अफ्रीकी और एशियाई
अध्ययन विभाग,
मॉस्को राज्य विश्वविद्यालय, रूस

एयराप्येतोवा येल्येनोरा सम्सानोव्ना
उपनिदेशक (विदेशी भाषाएं),
छात्रावास विद्यालय संख्या 19
(हिंदी स्कूल), नोवेचिर्योमुश्किस्काया
48, मॉस्को (रूस)

उल्फत मुखीबोवा
South Asian Languages Deptt.
Tashkent State Institute of
Oriental Studies, Tashkent,
Uzbekistan-700047

ओम्प्रकाश सिंहल
61/5, रामजस रोड, करौलबाग,
नई दिल्ली-110005

प्रो० थाङ रन हू
अध्यक्ष, पूर्वी भाषा विभाग,
पेइचिङ विश्वविद्यालय,
बीजिंग (चीन)

प्रेम जनमेजय
Visiting Professor (Hindi),
West Indies University,
Port of Spain, Trinidad and
Tobago (West Indies)

डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल
Editor—SPEIL, Bevereien 19,
L-31/N-0596, OSLO, Norway.

जी० गोपीनाथन

असग़र वजाहत
79, कला विहार, मयूर विहार,
फेज़-I, दिल्ली-110091

अभिमन्यु अनत
संवादिता, त्रिओले,
मॉरीशस

महीप सिंह
एच-108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली-110026

सुषम बेदी
कोलंबिया यूनिवर्सिटी,
608 ए कैंट हाल, न्यूयार्क-10027

डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल
B-203, 2-16-1 Kichijoji,
Higashi-Cho, Musashino-Shi,
TOKYO-180 (Japan)

रूपसिंह चंदेल
10-ए/22, शक्ति नगर,
दिल्ली-110007

जगदीश चतुर्वेदी
सी-2/32 ए, लारेंस रोड,
दिल्ली-110035

कुसुम अंसल
'विश्रांति', एन-148, पंचशील पार्क,
नई दिल्ली-110017

डॉ० रणजीत साहा
उपसचिव, साहित्य अकादेमी,
रवींद्र भवन, नई दिल्ली-110001

गोपाल चतुर्वेदी
डी-II/298 विनय मार्ग,
चाणक्यपुरी, नई दिल्ली-110021

राजकुमार गौतम
64, पंचवटी,
दिल्ली छावनी-110010

सुरेन्द्र अरोड़ा
ई-202, सागर सदन,
113, आई० पी० एक्सटेंशन,
पटपड़गंज, दिल्ली-110092

दिविक रमेश
बी-2/95, सेक्टर-20,
नोएडा-201301 (उ०प्र०)

विजय किशोर मानव
ए-34, अरूणा पार्क, शकरपुर,
दिल्ली-110092

नीलेश रघुवंशी
13 बी, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
भोपाल (म०प्र०)

राजा खुगशाल
ई-146, सेक्टर-27,
नोएडा-201301 (उ०प्र०)

हरजेन्द्र चौधरी
61, मदनगीर गांव,
नई दिल्ली-110062

उदय प्रताप सिंह
सी-II/37, मोती बाग-I,
नई दिल्ली-110068

यतीन्द्र तिवारी
विज़िटिंग प्रोफेसर (हिंदी)
फैकल्टी ऑफ फ़ॉरेन लैंग्वेज़ेज
यूनिवर्सिटी ऑफ बुकारेस्ट,
बुकारेस्ट (रोमानिया)

डॉ० विजय कुमार मेहता
108-15, 68th Drive,
Forest Hills, New York-11375

डॉ० उषा ठाकुर
पो० बॉ० न० 6631, काठमांडू (नेपाल)

विनोद शर्मा
195-डी, एम० आई० जी० फ्लैट्स,
राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027

डॉ० हरिमोहन शर्मा
194, कादम्बरी, सैक्टर-9/19,
रोहिणी, दिल्ली-110085

प्रवर जी
37 ज़ेड, चित्रगुप्त रोड,
पहाड़गंज, नई दिल्ली-110055 □